नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त
और
भारतीय संविधान

(राजस्थान व अन्य विश्वविद्यालयों की प्री-यूनिवर्सिटी एवं हायर सेकेन्ड्री कक्षाओं के नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार)

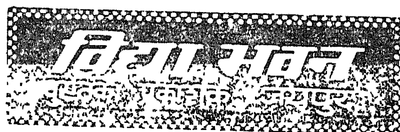
लेखक

चन्द्रकला मित्तल, एम० ए० (राजनीति-विज्ञान)
प्राध्यापिका, आनन्दमयी सेवासदन म्यु० महिला कालेज, हरिद्वार

तथा

नेमिशरण मित्तल, एम० ए०
प्राध्यापक व अध्यक्ष, राजनीति-विज्ञान विभाग,
जे० वी० एस० एम० कालेज, हरिद्वार
[भू० पू० अध्यक्ष, राजनीति विभाग, अग्रवाल कालेज, जयपुर]





प्रकाशक : विद्या भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रथम संस्करण १९६१
द्वितीय संस्करण १९६२

मूल्य : सात रुपये पचास नये पैसे मात्र

मुद्रक : डिलाइट प्रेस, चूड़ीवालान, दिल्ली

प्रस्तावना

श्रीमति चन्द्रकला मित्तल और श्री नेमिशरण मित्तल द्वारा लिखित 'नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त और भारतीय संविधान' नाम की पुस्तक के परिचय के रूप में कुछ शब्द लिखने में मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। मैंने पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ा है, और ज्यों-ज्यों मैं उसे पढ़ता गया हूँ उसके सम्बन्ध में मेरी प्रशंसा की भावना दृढ़ होती गई है। पुस्तक मूलतः पाठ्यपुस्तक के रूप में लिखी गई है, इस कारण उस में नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त तथा भारतीय नागरिक जीवन और सांविधानिक विकास से संबंध रखने वाले उन सभी विषयों का समुचित समावेश कर लिया गया है जिन पर विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार विवेचन करना आवश्यक था। परन्तु यह पुस्तक पाठ्य पुस्तक होते हुए भी सामान्य रूप से मिलने वाली पाठ्य पुस्तकों से भिन्न है; इसकी रचना के पीछे एक नवीन, मौलिक और रचनात्मक दृष्टिकोण है। परिणामतः यह पुस्तक न केवल प्रीयूनिवर्सिटी और हायर सेकेन्ड्री परीक्षाओं की दृष्टि से ही उपयोगी बन गई है अपितु नागरिक जीवन में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पढ़ने व सोचने के लिए उसमें प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

मेरी दृष्टि में आने वाली इस विषय की अनेकों पुस्तकों में से केवल यही पुस्तक ऐसी है जो विद्यार्थियों को परीक्षा की दृष्टि से पर्याप्त सहायता पहुंचाते हुए उन्हें देश और समाज की समस्याओं पर नये ढंग से सोचने की प्रेरणा देती है। भाषा सरल, परिमार्जित और ओजपूर्ण है। पाठ्यपुस्तकों के लिए उनका विषय की दृष्टि से ठोस होना ही काफी नहीं है, भाषा और शैली की दृष्टि से भी उन्हें आकर्षक होना चाहिए। इस पर विशेष ध्यान दिलाना इसलिए आवश्यक हुआ कि हिन्दी में प्रकाशित होने वाली असंख्य पाठ्य पुस्तकों में बहुत कम ऐसी हैं जिन्हें भाषा व शैली की दृष्टि से विद्यार्थियों के लिए उचित मार्ग प्रदर्शक माना जा सके। यह पुस्तक इस दृष्टि से बहुत अच्छी है।

संक्षेप में पुस्तक सभी दृष्टियों से अभिनन्दनीय है और इसकी रचना के लिए मित्तल दम्पति बधाई के पात्र हैं।

राजस्थान कालेज,
जयपुर
८ नवम्बर, १९५९

शांतिप्रसाद वर्मा
अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान-विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

दो शब्द

भारतीय गणतन्त्र राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से शिक्षा की दिशा में कटिबद्ध हुआ है, यह हमारे लिए गर्व, गौरव और सुविधा की बात है। इससे भी अधिक गौरव की बात यह होगी कि हम अपने शास्त्रीय अध्ययन में भारतीय ज्ञान- श्रृंखला का उपयोग भी करने लग जायें। हमने प्रस्तुत पुस्तक वैसा एक नम्र प्रयास किया है। नागरिक शास्त्र एक लोकप्रिय विषय है साथ ही श्रेष्ठ नागरिकता के निर्माण और लोकतन्त्र की सफलता की शिक्षा का वह एक सबल माध्यम भी है। हमारा सौभाग्य है कि हमें ऐसे विषय पर लिखने का अवसर मिला है।

प्रस्तुत पुस्तक को हमने हर दृष्टि से उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। विद्यार्थियों से हमारा निवेदन है कि वे परीक्षा में किसी प्रकार तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण होने का लक्ष्य बना कर सस्ते नोट्स के जाल में उलझने के बजाय थोड़ा गहरा अध्ययन करें, इससे उनका ज्ञान तो विस्तृत होगा ही वे जीवन के व्यावहारिक संघर्ष के लिए अधिक तैयार भी हो सकेंगे। विद्या कष्ट साध्य होती है, उसके लिए परिश्रम करने की तैयारी होनी चाहिए। यह पुस्तक परिश्रम करने वाले विद्यार्थियों को बहुत सी सामग्री दे सकेगी ऐसी हमारी आशा है।

विद्वान प्राध्यापकों एवं प्राध्यापिका भाई बहिनों की सेवा में नम्र अनुरोध है कि ज्ञान के नम्र साधक होने के नाते वे हमारे ऊपर इतनी कृपा अवश्य करें कि प्रस्तुत पुस्तक के दोषों के बारे में हमें सूचित कर दें ताकि हम ज्ञान-यज्ञ में अपना धर्म निबाह सकने के लिए अधिक योग्य बन सकें।

अनेक विद्वानों की श्रेष्ठ कृतियों का अध्ययन हमने किया है और उनके विचारों से प्रस्तुत पुस्तक को अधिक समृद्ध बनाने की चेष्टा की है। उन सबको हमारे नम्र प्रणाम्। प्रो० श्री रामप्रकाश श्रीवास्तव (अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग) हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सक्रिय सहयोग के बिना यह पुस्तक कभी पूरी ही नहीं हो सकती थी। प्रोत्साहन एवं मार्ग दर्शन के लिए हम विद्वान प्रिंसिपल श्री एल० पी० वैश्य और प्रो० नाथूलाल जी गर्ग (अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग) अग्रवाल कालेज, जयपुर के बहुत ऋणी हैं।

राजनीति विज्ञान के महान् पंडित एवं विद्वान शिक्षाशास्त्री डा० शांतिप्रसाद वर्मा एम० ए०, डी०, लिट् (प्रिंसिपल, राजस्थान कालेज, जयपुर) ने अपने अत्यधिक व्यस्त कार्यक्रम में से पुस्तक को प्रकाशन काल में ही आद्योपान्त देखने और इसके लिए प्रस्तावना के रूप में आशीर्वचन लिखने के लिए समय निकालकर हमारे ऊपर जो कृपा की है उसके लिए हम उनके अत्यन्त ऋणी हैं।

ईश्वर हमारा मार्ग दर्शन करे।

दीपावली १९५९
१०—सी, बापू नगर, जयपुर

चन्द्रकला मित्तल एम० ए०
नेमिशरण मित्तल एम० ए०

द्वितीय संस्करण

प्रस्तुत पुस्तक को विद्वान सहयोगियों एवं वरिष्ठ-प्राध्यापकों का आशीर्वाद मिला है। यह देखकर आनन्द होता है। वर्तमान-संस्करण में पुस्तक को आद्योपान्त दोहरा दिया गया है तथा इसकी कमियों को दूर करने की चेष्टा की गई है। पुस्तक का कलेवर भी कुछ कम किया गया है तथा इसकी भाषा का स्तर हायर सेकेन्ड्री एवं प्री-यूनिवर्सिटी कक्षाओं के स्तर के अनुरूप कर दिया गया है, आशा है वर्तमान संस्करण प्राध्यापकों व विद्यार्थियों को अधिक रुचिकर होगा।

हरिद्वार, चन्द्रकला मित्तल एम० ए०
१ अगस्त १९६२ नेमिशरण मित्तल एम० ए०

विषय-सूची

भाग १

नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त

भाग २

भारत का नागरिक जीवन और संविधान

भाग १

नागरिक शास्त्र के सिद्धान्त

अध्याय १

नागरिक शास्त्र का परिचय

यतेमहि स्वराज्ये। (हम स्वराज्य के लिए सर्वदा प्रयत्नशील बने रहें।)— ऋग्वेद (५।६६।६)

वयं राष्ट्रे जागृयाम। (हम अपने राष्ट्र में सदा जाग्रत रहें।) शुक्ल यजुर्वेद (६।२३)

मनुष्य एक समाजिक प्राणी है, वह जन्म से मृत्यु तक समाज में रहता है। समाज में रहने पर उसके मन में स्वाभाविक रूप से कुछ प्रश्न पैदा होते हैं जैसे--जिस समाज में वह रहा है उसके साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? समाज में उसका क्या स्थान है ? मनुष्य और समाज की परिभाषा किस प्रकार की जाये ? समाज के भीतर विविध समुदायों के साथ मनुष्य का क्या सम्बन्ध स्थिर किया जाए ? मनुष्य के सुख में समाज क्या सहयोग दे सकता है तथा किस प्रकार ? समाज-हित के लिए मनुष्य को क्या करना चाहिये ? सुखी और समृद्ध समाज कैसे बने ? इस प्रकार के प्रश्नों के समाधान के लिए समाजशास्त्रियों ने एक नये शास्त्र की रचना की, जिसे 'नागरिक-शास्त्र' के नाम से पुकारा जाता है। अंग्रेजी में इसे सिविक्स (Civics) कहते है। सिविक्स शब्द लेटिन भाषा के सिविस (Civis) और सिविटास (Civitas) शब्दों से बना है। इन दोनों शब्दों के अर्थ क्रमशः नागरिक और नगर हैं। आधुनिक काल में इस शास्त्र का प्रादुर्भाव सर्व प्रथम ग्रीस में हुआ था। प्राचीन ग्रीस में छोटे-छोटे स्वतन्त्र नगर राज्य(City States) होते थे। इनके भीतर सभ्यता का गहरा विकास हुआ था। इन नगर राज्यों के उन निवासियों को जो राज प्रबन्ध में भाग लेते थे नागरिक कहा गया तथा नागरिक-जीवन को सुव्यवस्थित व सुखी बनाने के अभिप्राय से नागरिक शास्त्र के सिद्धान्तों की रचना की गई। उस काल में यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकों प्लेटो व अरस्तु की रचनाओं से इसको बहुत बल मिला।

सामान्य अर्थ में नागरिक से हमारा तात्पर्य नगर में रहने वाले व्यक्ति से है, किन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह व्यक्ति जो नगर में रहे वही नागरिक कहा जाता है। नागरिक शब्द का अर्थ व्यापक है, उसके अन्तर्गत देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने वाले वे सभी व्यक्ति आ जाते है जिन्हें राज्य की ओर से सामाजिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों, चाहे वे नगरों में रहे अथवा ग्रामों मे। नागरिक शास्त्र उन सबकी सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन करता है।

नागरिक शास्त्र की परिभाषा

नागरिक-शास्त्र एक सामाजिक-विज्ञान है। समाज में रहते हुए हम मनमाना आचरण नही कर सकते। यदि हम अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करने लग जाएँ तो समाज की एकता नष्ट हो जाएगी। समाज की एकता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के व्यवहार के कुछ नियम बनाये जाएँ। ये नियम सदा किसी विधान-सभा में बैठ कर ही नहीं बनाये जाते वरन् इनका विकास धीरे-धीरे होता रहता है और रीति-रिवाज के आधार पर ये दृढ़ होते रहते है। समाज के भीतर मनुष्य के आचरण की जो विद्या बनी है उसे हम नागरिक-शास्त्र कहते हैं। समाज में रहने वाला मनुष्य दूसरे के लिए कुछ काम करता है उन कामों को कर्त्तव्य(Duty करते योग्य काम) कहते है और दूसरे लोग उसके लिए जो काम करते हैं इनको व्यक्ति का अधिकार (Right) कहा जाता है। समाज के भीतर इन कर्त्तव्यों और अधिकारों का अध्ययन करना नागरिक-शास्त्र का काम है। मनुष्य समाज में तो रहता ही है वह विविध समुदायों और राज्य का भी सदस्य होता है। नागरिक-शास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन के साथ ही उसके सामुदायिक और राजनीतिक जीवन का भी अध्ययन करता है।

विभिन्न विद्वानों ने नागरिक शास्त्र की परिभापा भिन्न प्रकार से की है। यहाँ हम कुछ परिभाषाओं का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे—

(१) **भारतीय विद्वान् पुन्ताम्बेकर**—'नागरिक शास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।'

(२) **एफ० जी० गोल्ड**—'नागरिक शास्त्र उन संस्थाओं, स्वभावों, क्रियाओं तथा भावनाओं का अध्ययन है जिनके द्वारा कोई पुरुष अथवा स्त्री किसी राजनीतिक समुदाय की सदस्यता का लाभ उठा सके तथा अपने दायित्वों की पूर्ति कर सके।'

(१)**डा० ई० एम० ह्वाइट**—'नागरिक शास्त्र मानवीय ज्ञान की वह उपयोगी शाखा है जो नागरिकों से सम्बन्धित (सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक पहलुओं सहित) समस्त भूत, वर्तमान व भविष्य कालीन तथा स्थानीय, राष्ट्रीय एवं मानवीय समस्याओं का अध्ययन करती है।'

समीक्षा—वास्तव में नागरिक शास्त्र का विषय क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसको थोड़े से शब्दों में सीमित और परिभाषित करना बहुत कठिन है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से परिभाषा देना अत्यन्त आवश्यक है।

श्री पुन्ताम्बेकर जी ने बहुत सूक्ष्म ढंग से नागरिक शास्त्र की परिभाषा की है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि नागरिक शास्त्र मनुष्य जीवन के उसी पहलू का अध्ययन करता है जिसे हम नागरिकता कहते हैं। परन्तु यहाँ यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि नागरिकता का अर्थ हमें संकुचित न लेकर व्यापक लेना होगा। नागरिकता केवल एक राजनीतिक अधिकार ही नहीं है वरन् उसमें सामाजिक जीवन के सदाचार,

अनुशासन और सभ्य व्यवहार भी सम्मिलित हैं। नागरिकता का अर्थ यहां सामाजिकता या सामाजिक जीवन है। हमारी राय में श्री पुन्ताम्बेकर का अभिप्राय यही है।

श्रीयुत गोल्ड की परिभाषा बहुत संकुचित है। उन्होंने नागरिक-शास्त्र को केवल राजनीतिक समुदायों अर्थात् राज्य और राजनीतिक दलों के साथ नागरिक के सम्बन्ध तक ही सीमित कर दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि नागरिक शास्त्र नागरिक (व्यक्ति) के राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन भी करता है लेकिन वह उसका एक अंग है सर्वस्व नहीं। सामाजिक जीवन का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, राजनीतिक जीवन सामाजिक जीवन का एक हिस्सा है। नागरिक शास्त्र नागरिक के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन, उसमें से पैदा होने वाले प्रश्नों, समस्याओं और सम्बन्धों का अध्ययन है। दूसरी बात यह कि नागरिक शास्त्र केवल एक अध्ययन (स्टडी) नहीं है, वह एक नैतिक-विज्ञान (नॉरमेटिव-साइन्स) है, क्योंकि वह केवल विश्लेषण और अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहता वरन् अपने निश्चित नियमों के आधार पर सामाजिक जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए स्पष्ट सुझाव भी देता है।

डाक्टर ह्वाइट की परिभाषा काफी विस्तृत तथा गम्भीर है। उनका मानना है कि नागरिक शास्त्र मानवीय ज्ञान की एक शाखा है, यह सत्य है। इतना ही नही उनकी दृष्टि में नागरिक शास्त्र ज्ञान की एक उपयोगी शाखा है। नागरिक शास्त्र हमारे आचरण का शास्त्र है और वह बताता है कि किस प्रकार आचरण करने से सामाजिक जीवन श्रेष्ठ बन सकता है। डाक्टर ह्वाइट की परिभाषा संकुचित न हो होकर व्यापक है क्योंकि उसमें नागरिकों से सम्बन्ध रखने वाले सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक सभी प्रश्नों का अध्ययन होता है। यह परिभाषा व्यापक भी है क्योंकि इसके अनुसार नागरिक शास्त्र नागरिक जीवन के वर्तमान प्रश्नों का ही अध्ययन नहीं करता वरन् भूतकाल के अनुभवों का लाभ भी समाज को देता है तथा भविष्य के लिए ठीक मार्ग दिखाता है। इस परिभाषा में यदि 'नागरिकों से सम्बन्धित' वाक्यांश को इस प्रकार लिखें—'नागरिकों के सामूहिक जीवन और संगठन के व्यवहार से सम्बन्धित' तो यह परिभाषा अधिक निश्चित और स्पष्ट हो जायेगी क्योंकि नागरिक शास्त्र में नागरिकों से सम्बन्धित प्रश्नों के हर पहलू का अध्ययन नहीं होता है वरन् उसमें नागरिकों के सामूहिक जीवन और संगठन से सम्बन्धित समस्याओं का ही अध्ययन होता है।

नागरिक शास्त्र के अध्ययन का विषय न तो अकेला समाज ही है और न अकेला व्यक्ति ही। नागरिक शास्त्र सामाजिक संगठन के स्वरूप, उसकी प्रकृति, इतिहास और गुण दोष का अध्ययन व्यक्ति के प्रसंग में करता है और व्यक्ति के प्रत्यक्ष आचरण का अध्ययन उसके सामाजिक संगठन के प्रकाश में करता है। नागरिक शास्त्र वह शास्त्र है जो एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य का और उसके सामाजिक, सामुदायिक व राजनीतिक ढाँचे और संगठन का अध्ययन करके मनुष्यों के बीच सहयोगी जीवन की स्थापना की चेष्टा करता है।

नागरिक शास्त्र का उद्देश्य—नागरिक शास्त्र का लक्ष्य सामाजिक जीवन में से संघर्ष को मिटा कर उसमें स्नेह पैदा करना है जिससे कि समाज प्रगति कर सके। यह शास्त्र नागरिकों के लिए आचरण के ऐसे आदर्श नियम पेश करता है जिनका उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धों को अत्यन्त सरल, सुलझा हुआ और प्रेममय बनाना है। नागरिक शास्त्र सामाजिक संगठन को ऐसा बनाना चाहता है जिसके भीतर सभी मनुष्य समानतापूर्वक अपने सामूहिक हितों का चिन्तन और विकास कर सकें।

प्रो० गेडे ने कहा है "कि नागरिक शास्त्र समाज सेवा के क्षेत्र में सामाजिक अध्ययन का व्यावहारिक प्रयोग है। नागरिक शास्त्र का उद्देश्य केवल सामाजिक संस्थाओं तथा उनके विकास का ज्ञान देना ही नही है वरन् व्यक्ति के भीतर समाज के प्रति सक्रिया निष्ठा को जाग्रत करना भी है"। इस वक्तव्य से नागरिक शास्त्र के लक्ष्य और व्यावहारिक स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। नागरिक शास्त्र मनुष्यों और उनके समाज को सुख और समृद्धि का मार्ग बताता है।

नागरिक शास्त्र का विषय-क्षेत्र

मनुष्य के ज्ञान में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती रहती है त्यों-त्यों उसके शास्त्रों में भी सुधार और विस्तार होता रहता है। महर्षि प्लेटो और उनके विद्वान शिष्य महात्मा अरस्तु के समय से आज तक नागरिक शास्त्र में अनेक प्रकार से विकास हुआ है। अपने प्रारम्भिक काल में नागरिक-शास्त्र का प्रयोजन केवल नगर निवासियों के ही जीवन का अध्ययन करना था, यह ग्रीक और रोमन सभ्यता के उस आदि काल में ठीक भी था क्योंकि तब राज्य की सीमाएं नगर तक ही सीमित होती थीं और उस युग के महापुरुष प्लेटो और अरस्तु ने नगर-राज्य के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन एवं समर्थन किया था। परन्तु आज परिस्थिति बदल गई है। राज्य की परिधि नगर की सीमाओं से फैलकर सुदूर प्रदेशों तक विस्तृत हो गई है और राष्ट्रीय राज्यों (नेशन स्टेट्स) का निर्माण हुआ है। अतः आज नागरिक शास्त्र को समूचे राष्ट्रीय-समाज के संगठन और जीवन का अध्ययन करना होता है।

आज के युग में विज्ञान की प्रगति तथा आवागमन एवं संदेश वाहन (डाक, तार, रेल, रेडियो, वायुयान, राकेट, उपग्रह) के साधनों के विकास के कारण सारा संसार पड़ोसी बन गया है। दुनिया के एक कोने में जो हो रहा है दूसरे कोने पर उसका प्रभाव पड़ता है। सामाजिक सम्बन्ध भी राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघ कर के विश्वव्यापी बनते जा रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना और उसका सफल संचालन विश्व-राज्य के निर्माण की ओर एक महत्वपूर्ण कदम है। यह सब नागरिक शास्त्र के अध्ययन क्षेत्र का अंग है।

संसार के राजनीतिक स्वरूप में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह आया है कि राजा महाराजाओं का निरंकुश शासन टूट गया है तथा उसके स्थान पर प्रजा अर्थात्

जनता की सत्ता कायम हुई है। जो जनता अब तक किसी निरंकुश शासक की आज्ञाओं का पालन करना ही अपना सर्वोच्च स्वधर्म मानती थी आज उसी के सिर पर राज-मुकुट रखा गया है। उसकी प्रतिष्ठा में अपूर्व वृद्धि हुई है और उसी के साथ-साथ वह अब जिम्मेदार प्रजा बनी है, उसके हाथ में कानून बनाने की ही नही उनको मनवाने की शक्ति भी आई है। इस सब का परिणाम यह हुआ है कि नागरिक जीवन में नये क्षेत्र खुले है, नई दिशा का निर्माण हुआ है। नागरिक शास्त्र का विषय क्षेत्र इस कारण बहुत विस्तृत बना है और उसको पंचायत और म्युनिसिपैलिटी से लेकर लोक कल्याणकारी राज्य तथा विश्व शान्ति के तमाम प्रश्नों का अध्ययन करना होता है।

नागरिक शास्त्र के विषय-क्षेत्र का वर्गीकरण हम निम्न प्रकार करेंगे—

१. **सामाजिक मनुष्य**—नागरिक शास्त्र के अध्ययन का प्रधान विषय सामाजिक मनुष्य है। इस शास्त्र का सम्बन्ध उन मनुष्यों के जीवन से है जो सामाजिक हों अर्थात् जो समाज के भीतर सहयोगी जीवन बिताते हों, समाज जिनसे कुछ पाता हो और जो समाज से पोषण प्राप्त करते हों। विद्वान् दार्शनिक अरस्तु ने कहा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति की निजी शक्तियों के विकास से करले उसके पारिवारिक जीवन और सामाजिक राष्ट्रीय-जीवन तक का अध्ययन नागरिक शास्त्र करता है।

२. **सामाजिक जीवन की व्यवस्थाएँ, मान्यताएं और संस्थाएँ**—नागरिक शास्त्र मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाली उन अनेक व्यवस्थाओं, मान्यताओं और संस्थाओं का अध्ययन करता है जो समाज के भीतर परम्परा, प्रथा, परिपाटी अथवा रस्म रिवाज के आधार पर प्रचलित हो जाती हैं तथा समाज जिनसे चिपटा रहता है, जैसे—विवाह, परिवार, शिक्षा, दण्ड, न्याय, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, समानता, कानून आदि।

नागरिक शास्त्र प्रत्येक उस विषय का अध्ययन करता है जिसका प्रभाव नागरिक जीवन पर पड़ता है। साथ ही वह उस प्रभाव का अध्ययन करके सामाजिक प्रथाओं में सुधार करने का सुझाव भी देता है।

३. **सामाजिक और सामुदायिक जीवन**—नागरिक शास्त्र सामाजिक और सामुदायिक जीवन का शास्त्र है। उसके क्षेत्र के भीतर समाज, समुदायों और संघों के जन्म और विकास का संक्षिप्त इतिहास एवं उनके स्वरूप, प्रकार व संगठन का वर्णन किया जाता है। वह सामाजिक और सामुदायिक जीवन के गुण, दोष, उसकी उपयोगिता और उसके आदर्श रूप की स्थापना के लिए अनिवार्य दशाओं व परि-स्थितियों का अध्ययन भी करता है। नागरिक शास्त्र इन प्रश्नों का उत्तर देता है कि समाज क्या है ? वह कैसे बना ? उसकी व्यक्ति के लिए क्या उपयोगिता है ? उसका आदर्श स्वरूप क्या है ? और आदर्श समाज का निर्माण किस प्रकार हो सकता है ? इसी प्रकार—समुदाय और संघ क्या हैं ? उनकी आवश्यकता और उपयोगिता ?

उनके निर्माण और रचना का इतिहास ? उनका आदर्श स्वरूप क्या है ? व्यक्ति के प्रति उनके क्या कर्त्तव्य है तथा वे कितने प्रकार के होते हैं ?

४. कर्त्तव्यों की विवेचना—विद्वानों और विद्यार्थियों को यह देखकर थोड़ा अनुचित लगेगा कि यहाँ अधिकार शब्द को छोड़ दिया गया है। वास्तव में नागरिक शास्त्र कर्त्तव्यों की मीमांसा का शास्त्र है। वह व्यक्ति, समुदाय, समाज और राज्य में से प्रत्येक को उसके कर्त्तव्यों का बोध कराता है। यह शास्त्र भिक्षा या युद्ध का शास्त्र नहीं है जिसमें अधिकारों की भीख माँगनी या उनके लिए युद्ध करना सिखाया जाता है। इसके बिल्कुल विपरीत नागरिक-शास्त्र मनुष्य और उसके संघ-समुदायों में से प्रत्येक को अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करने का पाठ देता है। यह शास्त्र बताता है कि किस प्रकार हमें अपने कर्त्तव्यों को जानकर उनका पालन करना चाहिए। जो एक का अधिकार है वह दूसरे का कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य करने से यदि मैं चूक गया तो आपको आपका अधिकार कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता, उसके लिए युद्ध करके अहंकार प्राप्त हो सकता है, अधिकार नहीं। अतएव नागरिक शास्त्र का मुख्य जोर इस बात पर है कि वह नागरिक के आचरणों के नियमों और उनकी नीतियों को तय करे जिससे कि सामाजिक जीवन सुव्यवस्थित बना रह सके।

नागरिक शास्त्र यह भी अध्ययन करता है कि यदि कोई नागरिक या समुदाय अपने कर्त्तव्यों का पालन न करे तो उसके साथ क्या व्यवहार किया जाए। इस प्रकार इसमें दण्ड-शास्त्र का अध्ययन भी होता है।

५. राज्य और शासन—मानव-सभ्यता के आरम्भ से राज्य एक महत्व-शाली संगठन रहा है। आज के युग में प्रजा राज्य का संचालन करती है अर्थात् जनतन्त्र की स्थापना हुई है अतः राज्य का महत्व और भी अधिक बढ़ गया है। मनुष्य के समूचे जीवन को राजनीति काफी प्रभावित करती है। राज्य एक ऐसा संघ है जिसकी सत्ता व्यक्ति पर सबसे अधिक चलती है। नागरिक शास्त्र इस कारण से राज्य की संस्था के जन्म, विकास और उसके स्वरूप का अध्ययन करता है साथ ही वह राज्य के प्रमुख अंगों—नागरिक, भूमि, प्रभुता (सावरेन्टी) और शासन व्यवस्था का अध्ययन भी करता है। नागरिक शास्त्र यह विचार करता है कि कौन सी शासन-पद्धति सामाजिक जीवन और नागरिकता के लिए सर्वश्रेष्ठ है। फिर भी नागरिक-शास्त्र प्रधानतया राज्य का शास्त्र नहीं है वह राज्य के अन्तर्गत नागरिकता का शास्त्र है। राज्यशास्त्र को राजनीति-विज्ञान कहते है।

६. विश्व समाज और संगठन—पीछे कहा जा चुका है कि मानव समाज की सीमाएँ देश, जाति, वंश, वर्ण, धर्म और सम्प्रदाय का उल्लंघन करके आज व्यापक हो गई हैं। विश्व-समाज का निर्माण हो रहा है। नागरिक शास्त्र का प्रधान विषय समाज है राज्य नही, अतः यह राज्य की सीमाओं से परे विश्व समाज के जीवन की समस्याओं का अध्ययन करता है।

अनेक विषयों को लेकर विश्व व्यापी संगठन बनाये जा रहे हैं। नागरिक

शास्त्र उन विश्व संगठनों का अध्ययन भी करता है। इनमें सबसे प्रमुख संयुक्तराष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) है। नागरिक शास्त्र मनुष्य को यह बताताहै कि दुनिया के दूसरे लोग किस प्रकार जी रहे हैं और उसे अपने पड़ौसी राष्ट्रों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये। नागरिक शास्त्र का व्यापक अध्ययन विश्व-बन्धुत्व की भावना पैदा करके सदा के लिये युद्धों का अन्त कर सकता है।

७. **तीनों काल का अध्ययन**—नागरिक शास्त्र केवल हमारी वर्तमान सामाजिक अवस्थाओं तथा सभ्यता की वर्तमान दशा का ही अध्ययन नहीं करता वरन् उसमें हमें भूत और भविष्यत् के समाज का चित्र भी मिलता है। भूतकाल में समाज के भीतर नागरिक जीवन किस प्रकार का था तथा कैसी परिस्थितियों में से गुजर कर हम आज वर्तमान दशा में पहुँचे है यह जाने बिना हम कभी भी अपनी आज की स्थिति का सही अनुमान नहीं लगा सकते। नागरिक-शास्त्र भविष्य के समाज का चित्र खींचने अथवा उसके लिए एक आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न भी करता है। वास्तव में इस शास्त्र का उद्देश्य ही यह है कि भविष्य में एक दिन मनुष्य समाज उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच जाये एवं उसके भीतर आदर्श सामाजिक-सम्बन्ध स्थापित हो जायें।

विषय-क्षेत्र की सीमाएँ—नागरिक शास्त्र का क्षेत्र निस्सन्देह अत्यन्त विशाल एवं व्यापक है तथापि इसकी भी अपनी कुछ सीमायें हैं, जैसे- यह राज्य व शासन की विभिन्न पद्धतियों का अध्ययन केवल वहाँ तक करता है जहाँ तक कि उनके भीतर नागरिक का स्थान खोजने तथा उसके अधिकारों व कर्त्तव्यों का प्रश्न निहित है। इसके परे उनकी शास्त्रीय विवेचना व समालोचना इसके क्षेत्र के बाहर की बात हैं। इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी नागरिक-शास्त्र का विषय नागरिक जीवन की मर्यादाओं के भीतर जकडा हुआ है, जितना नागरिक जीवन का फैलाव होता है उतना ही नागरिक शास्त्र का क्षेत्र भी फैलता जाता है।

नागरिक शास्त्र एक सजीव, विकासमय तथा प्रगतिशील विद्या है। अपने जन्म से लेकर आज तक उसके क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई है तथा दिन प्रतिदिन उसमे गति और प्रगति आती जा रही है। विशेष कर भविष्य के साथ इसके सम्बन्ध तथा इसकी नित्य-उपयोगिता के कारण उसका विषय-क्षेत्र बहुत फैल गया है।

नागरिक शास्त्र की प्रकृति

विज्ञान और कला—मनुष्य ने समूचे अध्ययन को मोटे तौर पर दो वर्गों में बाँट दिया है—विज्ञान तथा कला। किसी विषय के व्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। इसका उद्देश्य कार्य और कारण के बीच सम्बन्ध स्थापित करना होता है। यह निरीक्षण, परीक्षण, अनुसंधान वर्गीकरण, विश्लेषण, संश्लेषण तथा व्यवस्थित अध्ययन के द्वारा कुछ निश्चित और स्थिर सिद्धांतों का निर्णय करता है जो कि दी हुई परिस्थितियों के भीतर हर स्थान और हर काल में लागू होते है। विज्ञान को इस बात

से कोई प्रयोजन नहीं है कि क्या होना चाहिये अथवा क्या नहीं होना चाहिये । यह तो केवल वर्तमान का अर्थात् 'जो कुछ है' उसके स्वरूप का अध्ययन करता है तथा उसके नियमों का पता लगाता है । दूसरी ओर कला का उद्देश्य व्यावहारिक ज्ञान जुटाना होता है । वह किसी वस्तु अथवा सिद्धांत को श्रेष्ठ मान लेती है तथा किसी को बुरा । वह इस बात का पता लगाना चाहती है कि मानव हित की दृष्टि से क्या होना चाहिए तथा क्या नहीं होना चाहिए । उदाहरण के लिए विज्ञान का कार्य केवल इतना है कि वह अणु शक्ति को खोज कर दे परन्तु कला (आर्ट) इन प्रश्नों का निर्णय करती है कि अणु-शक्ति को किस प्रकार और किन क्षेत्रों में प्रयोग किया जाये जिससे कि मनुष्य का अधिकतम हित हो सके । हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि नागरिक शास्त्र कहाँ तक एक वैज्ञानिक अध्ययन है एवं कहाँ तक कलात्मक ? यह कहना तो ठीक नहीं होगा कि नागरिक शास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान अथवा विशुद्ध-कला है ।

नागरिक शास्त्र एक विज्ञान—सर्व-प्रथम हमें यह देखना होगा कि अपने अध्ययन के ढंग तथा अपने नियमों की सत्यता, निश्चितता और स्थिरता की दृष्टि से नागरिक शास्त्र कहाँ तक एक विज्ञान है । जहाँ तक अध्ययन की रीति का प्रश्न है नागरिक शास्त्र अपने अध्ययन में अध्ययन की अन्य विधियों के साथ वैज्ञानिक-अवलोकन, परीक्षण तथा विश्लेषण की रीति का सहारा भी लेता है परन्तु यह शास्त्र भौतिक विज्ञानों की भांति एक प्रयोगशाला में प्रयोग (एक्सपैरिमेन्ट) नहीं कर सकता जिसमें अध्ययन की सभी दशाएं वैज्ञानिक के नियंत्रण में अर्थात् उसके अधीन हों। नागरिक-शास्त्र के अध्ययन का विषय मनुष्य का जीवन है जो परिवर्तनशील होता है । मनुष्य की प्रवृत्तियों को स्थिर रखना असम्भव है । आधुनिक युग में विधवा-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, छूआछूत निवारण, जनतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद आदि के प्रयोगों को हम मोटे तौर पर वैज्ञानिक-प्रयोग (साइन्टिफिक-एक्सपैरीमेंट्स) कह सकते हैं । भौतिक विज्ञानों में कुछ ऐसे विज्ञान हैं जिनके निर्णय पूर्व-अनुमानों (प्रिजम्पशन्स) पर आधारित होते हैं । यदि पूर्व-अनुमान ठीक न निकलें तो परिणाम भी गलत हो जाते हैं । ऋतु-विज्ञान इसी प्रकार का एक विज्ञान है । इसमें मौसम के विषय में कुछ गणना और कुछ अटकल के आधार पर भविष्यवाणी कर दी जाती है जो कभी-कभी गलत भी सिद्ध हो जाती है । नागरिक-शास्त्र इसी प्रकार का एक विज्ञान है जो कि प्रधानतः पूर्व अनुमानों व धारणाओं पर आधारित है, जैसे—(१) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, (२) उसके विकास के लिए संघों व समुदायों की आवश्यकता होती है, तथा (३) समाज के भीतर उसके कुछ कर्त्तव्य व अधिकार होते हैं, इत्यादि । कुछ विद्वानों का विचार है कि नागरिक-शास्त्र तथा अन्य समाज शास्त्रों को विज्ञान नहीं कहना चाहिए क्योंकि इनके नियम, काल और स्थान के परिवर्तन के साथ बदलते रहते हैं जबकि विज्ञान के नियमों को सदा अपरिवर्तनशील रहना चाहिए। परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि नागरिक-शास्त्र का विषय मनुष्य है । मनुष्य प्रकृति की भाँति जड़ नहीं है, वह प्रत्येक स्थान और काल में बदलता रहता है । अतः

एक काल और स्थान मे बनाये गए नागरिक-शास्त्र के नियम हर देश और काल के लिए खरे उतरें यह आवश्यक नहीं है। सम्भवतः किसी समय भारत के भीतर पर्दे की आवश्यकता थी परन्तु आज, ऐसा नहीं है। सजातीय विवाह, वर्ण-विभाग राज-तंत्र, बाल विवाह आदि प्रथाओं के विषय में भी यह कहा जा सकता है। किसी युग में वे उपयोगी रही होंगी परन्तु आज उनकी निरुपयोगिता के कारण उनका स्थान अन्त-र्जातीय विवाह, जनतंत्र और वयस्क-विवाह ने ले लिया है। इससे जहाँ यह सिद्ध होता है कि नागरिक-शास्त्र के नियम परिवर्तनशील है वहीं इससे उसकी प्रगतिशीलता और विकासपरायणता का ज्ञान भी होता है। यह एक बंधा हुआ भौतिक विज्ञान नहीं हैं, वरन् व्यापक एव मुक्त सामाजिक विज्ञान है।

नागरिक शास्त्र एक अपूर्ण विज्ञान—यहां यह स्वीकार कर लेना ठीक होगा कि नागरिक शास्त्र एक अपूर्ण विज्ञान (इनऐक्ज़ेक्ट साइन्स) है। इसे अपूर्ण इसलिए कहा जाता है कि यद्यपि इसके अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति को एक बड़ी सीमा तक प्रयोग में लाया जाता है तथापि इसमें एक ओर तो नियन्त्रित-प्रयोग (कन्ट्रोल्ड एक्स-पैरीमेंट्स) संभव नही हैं। और दूसरी ओर इसके नियम (लॉज) सार्वदेशिक तथा तीनों काल में अपरिवर्तनीय नहीं होते। वे मानव की सामाजिक-प्रवृत्ति का परिचय मात्र देते हैं तथा उसके विषय में कोई स्थिर व निश्चित सीमाएँ तय नहीं कर सकते। तथापि नागरिक शास्त्र की अनेकों धारणायें व उसके अनेको नियम सत्य हैं, जिन्हें प्रत्येक देश तथा समय में स्वीकार किया गया है, जैसे—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, मनुष्य के विकास के लिए मौलिक अधिकारों (फन्डामेटल-राइट्स) की नितांत आवश्यकता है, व्यक्ति समाज की देन है, अधिकार कर्त्तव्य का फल है आदि।

नागरिक शास्त्र एक कला—नागरिक-शास्त्र केवल एक विज्ञान ही नहीं वरन् कला भी है। यह केवल नागरिक के जीवन के नियमों का बोध ही नही कराता वरन् उनके व्यावहारिक प्रयोग अथवा पालन पर भी जोर देता है। यह शास्त्र समाज की आदर्श अवस्था का चित्र भी पेश करता है। नागरिक-शास्त्र स्वस्थ, सुखी व समृद्ध सामाजिक जीवन के निर्माण के लिए मार्ग दिखलाता है और नागरिक को यह ज्ञान देता है कि वह किस प्रकार समाज के हित के लिए अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। संक्षेप में यह मनुष्यों को आदर्श नागरिक बनाने की चेष्टा करता है। यही इसका कला होने का सबल प्रमाण है।

नागरिक शास्त्र एक अपूर्ण विज्ञान व कला दोनों—इस प्रकार नागरिक-शास्त्र कला और विज्ञान दोनों है। ज्ञान के संग्रह, वर्गीकरण और नियमों के निश्चित करने में यह विज्ञान की भाँति है और व्यावहारिक प्रयोग की प्रेरणा तथा एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए आदर्श जुटाने में यह कला है। संक्षेप में कह सकते हैं कि नागरिक शास्त्र अपने शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक विवेचन में एक विज्ञान है और अपने व्यावहारिक स्वरूप में एक कला।

अध्ययन की रीतियाँ—नागरिक शास्त्र का विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ करने से

पहले हमें यह जान लेना होगा कि इस शास्त्र का अध्ययन किन रीतियों से किया जा सकता है।

नागरिक शास्त्र एक विज्ञान और कला दोनों है। इस दृष्टि से यह तो स्पष्ट ही है कि इस शास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ वैज्ञानिक और कलात्मक दोनों प्रकार की होंगी।

वैज्ञानिक अध्ययन की दो प्रमुख रीतियाँ इस प्रकार है—(१) अवलोकन (ऑब्ज़र्वेशन) और (२) प्रयोग (एक्सपैरीमेंट)।

कला विषयक अध्ययन के लिए प्रमुखतः निम्न तीन रीतियाँ अपनाई जाती हैं—(१) ऐतिहासिक, (२) तुलनात्मक और (३) दार्शनिक (फिलॉसॉफिकल)।

यहाँ हम इन पाँचों में से प्रत्येक रीति पर प्रकाश डालेंगे—

(१) **अवलोकन**—सामाजिक जीवन जिन नियमों पर आधारित है उन नियमों की खोज करने के लिए हमें सामाजिक जीवन की जांच करनी होगी। अपने अवलोकन से हम तथ्यों (फैक्ट्स) का संग्रह करेंगे और उनके आधार पर नियमों का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। मान लीजिए हम भीलों और सन्थालों के सामाजिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो हम उनके रीति-रिवाज, विवाह, मृत्यु, जन्म आदि के नियमों एवं सामाजिक संगठन और पारिवारिक जीवन इत्यादि को बारीकी से देखेंगे।

अवलोकन पद्धति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि हम आलोचक की दृष्टि से नहीं वरन् निष्पक्ष एवं स्वच्छ दृष्टि से और भेद-भाव के बिना अवलोकन का काम करें।

(२) **प्रयोग**—नागरिक शास्त्र के बारे में बताया जा चुका है कि यह एक अपूर्ण विज्ञान है। इस विज्ञान की अपूर्णता का केवल एक ही कारण है कि नागरिक-शास्त्र के विषय-क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रयोग करने की गुँजाइश प्रायः नहीं होती। प्रयोग में वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला के भीतर प्रयोगों के तत्वों को अपने नियंत्रण में रख सकता है परन्तु नागरिक शास्त्र का प्रधान विषय मनुष्य है। समाज के भीतर मनुष्य को नियंत्रित दशाओं में नहीं रखा जा सकता क्योंकि वह जड़ नहीं चैतन्य है। उसके शारीरिक कर्म केवल शरीर से ही नही होते उनके पीछे उसकी मनोभावनाओं और बौद्धिक-विचारों की प्रेरणा होती है। शरीर को नियन्त्रित किया जा सकता है परन्तु मन और बुद्धि की उड़ान पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता। इसी कारण कोई भी सामाजिक शास्त्र जिसका विषय मनुष्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करना होता है। प्रयोग की पद्धति द्वारा अध्ययन नहीं किया जा सकता।

फिर भी सामाजिक जीवन में कानून, धार्मिक-नियम और सामाजिक परिपाटी के आधार पर नये-नये प्रयोग होते रहते है। भारत में हिन्दुओं ने कभी व्यापक पैमाने पर तलाक को नहीं अपनाया न कानून ने ही उसको स्वीकार किया था परन्तु वर्तमान काल में कानून बनाकर उसकी छूट कर दी गई है। यह प्रयोग हो रहा है

कि कानून बनाने से वह फैलता है या नहीं। रूस में साम्यवाद का एक प्रयोग हुआ है, उन्होने वहाँ सारे राष्ट्र के जीवन को अत्यधिक नियंत्रित करके यह प्रयोग किया है और उसके परिणाम हमारे सामने है।

सामाजिक जीवन में प्रयोग करने की शक्ति या तो सरकार में होती है या ऋषि में। सरकार समाज के बाह्य स्वरूप में प्रयोग कर सकती है और ऋषि समाज के मन को प्रभावित करके उस पर प्रयोग किया करता है। उदाहरण के लिए—सरकार कानन द्वारा भूमि के स्वामित्व का अधिकार छीन सकती है परन्तु विनोबा जैसा ऋषि समाज की चेतना को जाग्रत करके लोगों में स्वेच्छा से स्वामित्व-विसर्जन और समान-वितरण की वृत्ति पैदा कर सकता है। वास्तव में कोई ठोस प्रयोग समाज का मन बदल कर ही हो सकता है दबाव के आधार पर नहीं।

(३) **ऐतिहासिक पद्धति**—मानव जीवन की असाधारण घटनाओं के विवरण का संचय इतिहास कहलाता है। कभी कभी उसमें साधारण सामाजिक जीवन का चित्र भी मिलता है। इतिहास के भीतर हम समाज में प्रचलित लोक कथाओं और धर्मग्रन्थों को भी गिनते है जिससे समाज के व्यवहार और विचार के विकास की दशाओं का बोध होता है। बीते हुए काल के सामाजिक जीवन का ज्ञान हमारे लिए कई प्रकार से आवश्यक है—(१) उसके द्वारा हमें वर्तमान सामाजिक जीवन के विकास का ज्ञान होता है। (२) हमारे पूर्वजों को जो संकट उठाने पड़े और जिन कारणों से वैसा हुआ यह जानकर हम उनकी भूलों को दोहराने से बच सकते हैं। इतिहास हमें भूतकाल की भूलों से बचने का पाठ देता है। (३) इतिहास के अध्ययन से हमें कई लाभदायक तथ्य मिल सकते हैं जिन्हें हम अपने भविष्य की समाज रचना के काम में ला सकते हैं, जैसे भूतकाल में संयुक्त-परिवार-प्रथा का प्रचलन था, उसके कारण प्रेम अधिक था एवं समाज का संगठन अच्छा था। यदि हमें यह ठीक लगे तो उसे फिर से चालू कर सकते है।

इतिहास के बारे में यह समझ लेना चाहिए कि इतिहास हमारा गुरु और मार्ग दर्शक नहीं होता वह केवल एक सचेतक होता है। हमें अपना भावी समाज इतिहास के आधार पर नहीं बनाना है वरन् अपने समूचे ज्ञान-विज्ञान के आधार पर उसे खड़ा करना है। इतिहास अनुकरण के लिए नहीं जानकारी और सावधानी के लिए होता है।

(४) **तुलनात्मक रीति**—सामाजिक जीवन के निरीक्षण और इतिहास के अध्ययन से हमें अलग अलग देशों के सामाजिक संगठन और नागरिक आचरण का ज्ञान होता है। उस सब ज्ञान का हमें तुलनात्मक अध्ययन करना होता है। नागरिक शास्त्र एक कला होने के नाते गुण-दोष की विवेचना करके गुण का समर्थन करता है। इस कारण अनेक सामाजिक पद्धतियों के बीच तुलना करके हम गुणों का संग्रह करते हैं। जो पद्धति अधिक उपयोगी होती है उन्हें हम अपने नागरिक जीवन में भी प्रयोग कर सकते है।

(५) **दार्शनिक पद्धति**—कला होने के नाते नागरिक शास्त्र एक नैतिक विज्ञान (नारमेटिव साइन्स) है। इसका अर्थ यह है कि नागरिक शास्त्र का काम आदर्श-नागरिक-जीवन की कल्पना करना भी है। यह शास्त्र एक आदर्शात्मक शास्त्र है। जब हम आदर्शों का चिन्तन करते हैं तो दार्शनिक पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है।

दार्शनिक पद्धति हमेशा व्यावहारिक पक्ष को दृष्टि मे नहीं रख सकती। यह वास्तव में सैद्धान्तिक विवेचना होती है। दार्शनिक पद्धति के द्वारा हम नागरिक-शास्त्र के आदर्शों का निश्चय करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि समाज सदा उन आदर्शो का पूर्ण रूप से पालन कर ही सके।

अध्ययन के बारे में सावधानी—किसी भी शास्त्रीय अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि अध्ययन करने वाले के भीतर 'वैचारिक ईमानदारी, निष्पक्षता और ज्ञान की खोज की लगन' होनी चाहिए। यदि हम पहले से बने बनाये विचार और फैसले लेकर बैठ जाते है तो हमारा अध्ययन सफल नहीं होगा। हर एक घटना, विचार और तथ्य का मूल्य उसकी स्वतन्त्र गुण-शक्ति के आधार पर लगाना चाहिए।

अध्ययन में विद्यार्थी (अध्येता) को परिश्रमशील और उदार भी होना चाहिए। परिश्रम करके उसे चाहिए कि वह किसी चीज के बारे में सारे आँकड़े और वास्तविकता इकट्ठी करे और फिर उस वस्तु का मूल्यांकन करे। उदारता विद्यार्थी का आवश्यक गुण है क्योंकि यदि वह सहानुभूति पूर्वक विचारों और घटनाओं का अध्ययन नहीं करता है तो वह न उनके साथ न्याय कर पायेगा न स्वयं ही सच्ची स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। दूसरों को समझने के लिए उदारता ही एकमात्र मार्ग है। हम अपने को दूसरे की परिस्थिति में रखकर देखें तभी हम यह समझ सकेंगे कि उसने अमुक काम क्यों किया है। हम उस परिस्थिति में शायद वही करते जो उसने किया है। इस प्रकार हम समाज में सहानुभूति और करुणा का वातावरण बना सकते है।

विद्यार्थी में चिन्तन शक्ति का विकास होना भी अनिवार्य है। जब तक हम में चिन्तन करने की सामर्थ्य नहीं होगी तब तक हम सत्य की पहचान केवल उसके बाह्य दर्शन मात्र से नही कर सकेंगे। यदि हम सत्य को पाना चाहते हैं तो उथला-अध्ययन न करके विषय के हृदय में गहरे जाएं, ऊपर ऊपर से देखकर फैसले करने के बजाय चिन्तन-मनन के द्वारा सत्य को प्राप्त करें। हमारी मनीषा जागृत होगी तो हम मुनि बनेंगे। मुनि का अर्थ है सत्य को खोजने वाला। मनीषा चिन्तन-मनन से जागती है। बहुत पढ़ने और बहुत सुनने से विद्वान नहीं बना जा सकता। विद्वान् बनने के लिए मनन-चिन्तन करना होता है।

नागरिक शास्त्र के विषय-क्षेत्र के वर्णन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ज्ञान की कोई भी शाखा विद्याओं से पूर्णतः पृथक नहीं हो सकती। नागरिक शास्त्र एक सामाजिक विद्या है अतः अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ इसका सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। उदाहरण के लिए हम नागरिक शास्त्र के भीतर राज्य व शासन आदि

संस्थाओं का अध्ययन करते हैं उनका संबंध प्रधानतः राजनीति विज्ञान से है। इसी प्रकार नागरिकों की आर्थिक समृद्धि के चिन्तन में जब हम आर्थिक समस्याओं की शास्त्रीय विवेचना में उतरते है तो वह अर्थशास्त्र से संबंधित हो जाता है। अब हम पृथक-पृथक शास्त्रों के साथ नागरिक शास्त्र के सम्बन्ध की चर्चा करेंगे।

नागरिक-शास्त्र और अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र के भीतर मानव जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन के उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग आदि आर्थिक क्रियाओं के साथ मनुष्य के सम्बन्धों का अध्ययन होता है। नागरिक शास्त्र जिस उद्देश्य को लेकर चलता है, (अर्थात् सुखी समाज) उसके लिए आर्थिक प्रबन्ध की बड़ी आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में कहे तो समृद्धि और भौतिक पदार्थो पर समाज का सुख काफी मात्रा में निर्भर रहता है। अतः सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र नागरिक-शास्त्र का निकट सहयोगी है। अर्थ-शास्त्र के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि यह ऐसी योजनाएँ प्रस्तुत करे जिनसे नागरिक.जीवन का लक्ष्य प्राप्त हो सके। साथ ही साथ कुशल एवं ईमानदार नागरिक ही अर्थशास्त्र की योजनाओं को इस प्रकार व्यवहार में ला सकते हैं जिससे कि समूचा समाज उनसे लाभ उठा सके।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि दोनों शास्त्रों में कुछ अन्तर ही नहीं है। अर्थशास्त्र व नागरिक शास्त्र दोनों का विषय पृथक-पृथक है। अर्थशास्त्र सम्पत्ति के संदर्भ में मनुष्य का अध्ययन करता है, परन्तु नागरिक शास्त्र सामाजिक प्रसंग में। अर्थशास्त्र अपना ध्यान सम्पत्ति पर मूल रूप से केन्द्रित करता है परन्तु नागरिक शास्त्र सम्पत्ति के समुचित उपयोग व उसके न्यायपूर्ण वितरण एवं सामाजिक सम्बन्धों आदि का अध्ययन करता है।

नागरिक शास्त्र और इतिहास—यदि हमें नागरिक शास्त्र का आधार खोजना हो तो सर्व प्रथम हमें इतिहास की शरण लेनी होगी। इतिहास बीते हुए युग के समाज की कहानी है, उसके भीतर हमें विशेष महत्व की घटनाओं का वर्णन मिलता है। नागरिक ज्ञान और नागरिक जीवन के विकास के लिए ऐतिहासिक तथ्यों की खोज एवं प्राचीन काल में समाज के नागरिक जीवन की दशा का ज्ञान अनिवार्य है, जो कि हमें इतिहास से प्राप्त होता है। इस प्रकार नागरिक शास्त्र सचमुच इतिहास का बहुत ऋणी है। बीते युग की भूलों से बचने और आदर्शों तक पहुँचने का प्रयास करने की प्रेरणा हमें इतिहास के पत्रों से मिलती है। यह सभी कुछ व्यवस्थित और विकसित नागरिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

केवल इतना ही नहीं, आज का नागरिक जीवन वर्तमान का ही नहीं भविष्य का भी निर्माण करता है। किसी देश के नागरिकों का उज्ज्वल-चरित्र उज्ज्वल इतिहास का निर्माण करता है तथा हीन-चरित्र पतन का परिचायक होता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूतकाल के इतिहास से हमें नागरिकशास्त्र का आधार प्राप्त होता है एवं आज का नागरिक जीवन आगे आने वाले इतिहास का निर्माण करता है।

नागरिक-शास्त्र और समाज-शास्त्र—समाज-शास्त्र (सोशियालॉजी) मनुष्य-समाज की विवेचना का शास्त्र है। उसके भीतर समाज की उत्पत्ति, उसके विकास-रचना, संगठन और लक्ष्य आदि का अध्ययन करता है। इस प्रकार यह सभी सामाजिक विज्ञानों की "माँ" कहा जा सकता है। यह भिन्न-भिन्न समाजों व संगठनों की मूल-प्रवृत्तियों व उनके भेदों का भी अध्ययन करता है। नागरिक-शास्त्र समाज-शास्त्र से सामाजिक विकास के नियमों का तथा अन्य आवश्यक ज्ञान लेता है व इस ज्ञान से लाभ उठाकर मनुष्य व उसके समाज के बीच एक सहज सम्बन्ध निर्धारित करने और बुराइयों को छोड़ कर गुणों को ग्रहण करने की शिक्षा नागरिकों को प्रदान करता है।

नागरिक-शास्त्र समाज-शास्त्र की शाखा नहीं है। समाज-शास्त्र का विषय समाज है और वह वैज्ञानिक दृष्टि से विविध समाजों का वर्गीकरण और चित्रण करता है जबकि नागरिक-शास्त्र सामाजिक जीवन की अच्छाइयों का पता लगाकर उनके आधार पर सुखी जीवन के सिद्धान्त निश्चित करता है। इस प्रकार दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

नागरिक-शास्त्र और नीति-शास्त्र—नीति-शास्त्र मनुष्य के मस्तिष्क में भले-बुरे, सत्-असत् और गुण-दोष का विवेक उत्पन्न करता है। यह मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाज़िक जीवन के लिये सदाचार का एक नैतिक मापदण्ड (मॉरल स्टैण्डर्ड) निश्चित करता है। नागरिक शास्त्र सदाचार, आदर्शचरित्र व सर्वोच्च हित को प्राप्त करना चाहता है तथा नीति-शास्त्र यह निश्चित करता है कि वह सदाचार, आदर्श चरित्र अथवा सर्वोच्चहित (सुप्रीम गुड) क्या है। किसे आदर्श माना जाये और किसे नहीं ? यह ज्ञान नागरिक शास्त्र नीति-शास्त्र से प्राप्त करता है। अर्थात्, अच्छे जीवन का क्या उद्देश्य अथवा लक्ष्य है यह निश्चित करना नीति शास्त्र का कार्य है तथा उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है वह बताना नागरिक शास्त्र का कार्य है। इस प्रकार दोनों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है।

नागरिक शास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता—नागरिक शास्त्र की उपयोगिता अनेक प्रकार से सिद्ध की जा सकती है। प्रधानतः हम उसका वर्णन निम्न प्रकार से करेंगे—(१) सामाजिकता का विकास, (२) कर्त्तव्यों का ज्ञान, (३) संघों और समुदायों का ज्ञान, (४) राज्य और शासन पद्धति का परिचय, (५) देशभक्ति और राज्य निष्ठा, (६) आदर्श नागरिक गुणों की शिक्षा, (७) संघर्षों का निवारण, (८) विश्व व्यापी मानव समाज के प्रति निष्ठा, (९) नई समाज रचना की प्रेरणा, (१०) जनतन्त्र की दृढ़ता, (११) विश्वशान्ति की स्थापना।

(१) **सामाजिकता का विकास**—नागरिक शास्त्र मनुष्य जाति को सबसे पहला पाठ यह देता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज के बाहर मानवीय जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। महर्षि अरस्तु ने कहा है कि समाज में न रहने वाला मनुष्य या तो जंगली पशु बन जाता है या देवता।

व्यक्ति के भीतर व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक हितों की दृष्टि से सोचने की आदत नागरिक शास्त्र के अध्ययन से पैदा होती है। समाज को टिकाये रखने के लिए मनुष्य के भीतर सामाजिकता की आदत मजबूत बननी ही चाहिये। नागरिक शास्त्र व्यक्ति को सिखलाता है कि सामाजिक हितों के सामने संकुचित स्वार्थों और तुच्छ हितों को छोड़कर समाज के हित की दृष्टि को ही प्रधानता देनी चाहिये। यह शास्त्र व्यक्ति को यह भी सिखाता है कि समाज किस प्रकार उसके विकास में सहायता देता है और समाज के द्वारा उसे क्या लाभ प्राप्त होते हैं। नागरिक शास्त्र सामाजिक जीवन की कड़ियों को मजबूत करने की शिक्षा देता है जिससे कि सब व्यक्तियों का समुचित विकास हो सके।

(२) **कर्त्तव्यों का ज्ञान**—नागरिक शास्त्र के अध्ययन का एक दूसरा लाभ यह है कि यह नागरिक और समाज दोनों को अपने-अपने कर्त्तव्यों का बोध कराता है। जब हम समाज में रहते हैं तो हमें एक दूसरे के प्रति कुछ कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। नागरिक-शास्त्र व्यक्ति को केवल उनके कर्त्तव्यों का ज्ञान ही नहीं देता वरन् उसके पालन करने की प्रेरणा भी देता है।

आज के जमाने में जिसे देखते हैं वही अपने अधिकारों की माँग कर रहा है। एक आपा-धापी मची हुई है। आखिरकार यह अधिकार है क्या ? जो मेरा कर्त्तव्य है वह आपका अधिकार है। यदि मैं अपने कर्त्तव्यों का पालन न करूं तो आपको आपका अधिकार कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार आप अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं करते तो मुझे मेरा अधिकार नही मिल सकता। नागरिक शास्त्र यह सिखाता है कि इस जगत में अधिकार केवल फल है। कर्त्तव्य का बीज बोये बिना यह फल प्राप्त नहीं हो सकता है, अतः हममें से प्रत्येक नागरिक का यह धर्म है कि हम अपने-अपने कर्त्तव्यों को पूरा करें तो हम सब को हमारे अधिकार मिल जायेंगे। सामाजिक जीवन की बुनियादी शर्त यही है कि उसमे नागरिक कर्त्तव्य परायण बनें।

(३) **संघों और समुदायों का ज्ञान**—नागरिक शास्त्र के अध्ययन से व्यक्ति को उन तमाम संघों और समुदायों का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका सदस्य बन कर वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। उसे सहयोग और सहकारिता के आधार पर समान धंधे और समान विचार वाले नागरिकों के संघ और समुदाय बनाने होते हैं।

समुदायों के बीच उत्पन्न होने वाले झगड़ों को दूर करने के लिए भी नागरिक शास्त्र मार्ग दिखाता है और बताता है कि हम किस प्रकार संघ-समुदायों के भीतर संगठित होकर सुन्दर नागरिक जीवन का निर्माण कर सकते हैं।

(४) **राज्य और शासन पद्धति का परिचय**—प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी राज्य में रहता है और उसके ऊपर कोई न कोई शासन होता है। नागरिक शास्त्र बताता है कि राज्य का स्वरूप क्या है, उसका विकास कैसे हुआ है, संसार की शासन पद्धतियों में किस प्रकार के प्रयोग हुए है। राजनीतिक जीवन आज के नागरिक के

लिए बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। नागरिक शास्त्र इस राजनीतिक जीवन का अध्ययन करता है। यह शास्त्र नागरिकों को राज्य के प्रति उनके कर्त्तव्यों का बोध कराता है, तथा राज्य को भी बताता है कि नागरिकों के प्रति उसके क्या कर्त्तव्य हैं तथा वह उन्हें किस प्रकार पूरा कर सकता है। प्रत्येक नागरिक को यह जानना चाहिये कि वह किस प्रकार की शासन पद्धति में रह रहा है। कौन सी शासन पद्धति अच्छी होती है और वह अपने देश में श्रेष्ठ शासन पद्धति किस प्रकार स्थापित कर सकता है, उसे किस राजनीतिक दल का सदस्य बनना चाहिये तथा राष्ट्र के प्रति उसका क्या धर्म है? इन सब प्रश्नों का उत्तर नागरिक शास्त्र देता है।

(५) **देशभक्ति राज्यनिष्ठा**—नागरिक शास्त्र हमारे भीतर अपने देश और राज्य के प्रति भक्ति की भावना पैदा करता है तथा वह हमें हमारे देश के प्रति हमारे कर्त्तव्यों का बोध कराता है। नागरिक शास्त्र हमारे भीतर जिम्मेदारी की भावना भरता है। वह हमें सिखाता है कि हमारे पड़ौसी के प्रति हमारे क्या कर्त्तव्य हैं और हमें उन कर्त्तव्यों का पालन किस प्रकार करना चाहिये। नागरिक शास्त्र हमें यह पाठ देता है कि हमारे देश में हमारा राज्य होना चाहिये और हमें अपना राज्य देश की समस्त प्रजा के हित की दृष्टि से चलाना चाहिए। हमारे प्रत्येक नागरिक को रोजगार, बराबर मजदूरी, बराबर सामाजिक प्रतिष्ठा और बराबर राजनीतिक सत्ता मिलनी ही चाहिये। इसी को स्वदेशी की भावना कहते है। महात्मा गाँधी और महर्षि दयानन्द ने स्वदेशी पर बहुत जोर दिया अर्थात् उन्होंने बताया कि हमारे देश के नागरिकों को काम, प्रतिष्ठा और जीवन निर्वाह के साधन देना हमारा पवित्र धर्म है। यदि हम अपने देश के मजदूरों की परवाह न करके दूसरे देशों का बना माल खरीदते हैं, अपने विचारकों की परवाह न करके दूसरे देश के विचारकों के विचारों को ही श्रेष्ठ मानते हैं तो यह ठीक नहीं है। नागरिक शास्त्र हमारे भीतर स्वदेशी का भाव और स्वराज्य के ठीक प्रकार संचालन एवं उसकी रक्षा करने की प्रेरणा पैदा करता है।

(६) **आदर्श नागरिक गुणों की शिक्षा**—नागरिक-शास्त्र का लक्ष्य आदर्श नागरिकता का निर्माण करना है। वह नागरिकों के सामने ऐसे आदर्श नागरिक गुणों की शिक्षा रखता है जिनके द्वारा हम अपने समाज और संसार को सुख-समृद्धि से भरपूर और शांतिमय बना सकते हैं। वह हमें सिखाता है कि हमें समाज में सब पर प्रेम रखना चाहिए, जो हम अपने लिए चाहते हैं वही व्यवहार पड़ौसी के साथ करना चाहिए, अपने आंगन का कूड़ा कचरा दूसरों के दरवाजे पर नहीं फेंकना चाहिए, सार्वजनिक स्थानों पर गन्दगी नही फैलानी चाहिए, दूसरों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिये, चुनाव में निष्पक्षता पूर्वक भले उम्मीदवारों को अपना मत (वोट) देना चाहिये, अपने निजी और सार्वजनिक जीवन में अत्यन्त ईमानदार होना चाहिये। सार्वजनिक पैसे का उपयोग निहायत नेक नीयती और निःस्वार्थ भाव से करना चाहिये, राष्ट्र के लिए हानिकारक कोई भी काम जैसे—रिश्वत लेना-देना, तस्कर

व्यापार, बेजा मुनाफाखोरी, सरकारी टैक्सों की चोरी नहीं करना चाहिये। राष्ट्र की उन्नति और राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राण देने में भी संकोच नहीं करना चाहिए।

नागरिक शास्त्र हमें आदर्श-नागरिक गुणों की शिक्षा देता है। जिस देश के नागरिकों के चरित्र में आदर्श गुणों का विकास नहीं होता वह देश विज्ञान और प्रकृति के वरदान के बावजूद भी कंगाल, दरिद्र और दुष्ट बना रहता है।

(७) **संघर्षों का निवारण**—नागरिक अनेक समुदायों संघों और राज्य के सदस्य होते हैं। ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब नागरिकों के बीच हितों का संघर्ष पैदा हो जाता है। नागरिक शास्त्र सिखाता है कि ऐसे अवसरों पर किस प्रकार हमें एक दूसरे के हितों की चिन्ता करते हुए जीना चाहिए। नागरिक जिन समुदायों के सदस्य होते हैं उनके प्रति उनके कुछ कर्त्तव्य, वफादारी और निष्ठा होती है, कभी कभी विभिन्न समुदायों के प्रति उसके कर्त्तव्यों के बीच संघर्ष पैदा हो जाता है, ऐसे मौके पर नागरिक शास्त्र का ज्ञान हमें उस संघर्ष का निवारण करने और समन्वय की स्थापना करने में मदद करता है। नागरिक शास्त्र हमें सिखाता है कि व्यापक हितों के लिए संकीर्ण हितों को छोड़ देना चाहिए। जहाँ कहीं हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक हितों के बीच झगड़ा पैदा होता है हमें वहाँ व्यक्तिगत हितों की चिन्ता न करके सामाजिक हितों की दृष्टि से सोचना चाहिये।

(८) **विश्वव्यापी मानव समाज के प्रति निष्ठा**—नागरिक शास्त्र का अध्ययन हमें यह बोध कराता है कि व्यक्ति सृष्टि में फैले हुए विशाल मानव समाज रूपी सागर के भीतर एक बूंद के समान है। वह हमारी विशालता, व्यापकता और हमारे विस्तृत स्वरूप का दर्शन कराता है। वह हमें सिखाता है कि देश, राष्ट्र धर्म, सम्प्रदाय, जाति, रंग और विश्वास की दीवारें जो आज मानव समाज को विभक्त कर रही हैं, कृत्रिम है और हमें चाहिए कि हम इन संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर विशुद्ध मानव बनें और विश्वव्यापी मानव समाज के साथ एक रूप होने की चेष्टा करें। हम यह पहचानें कि हम इस विशाल कुटुम्ब (वसुधैव कुटुम्बकम्)के सदस्य हैं और हमारा धर्म है कि हम इस विश्व परिवार के हित की दृष्टि से सोचें और काम करें।

(९) **नई समाज रचना की प्रेरणा**—नागरिक शास्त्र समाज-रचना के गुण दोष की विवेचना करता है, वह हमें बताता है कि हमारे वर्तमान समाज में क्या दोष हैं और उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है। साथ ही वह आदर्श समाज रचना की विभिन्न कल्पनायें भी हमारे सामने रख देता है। इसके अध्ययन से हमें प्रेरणा मिलती है कि हम अपनी पुरानी समाज रचना के दोष पूर्ण ढांचे को गिराकर एक आदर्श नई समाज रचना करें इस प्रकार नागरिक शास्त्र का अध्ययन यदि ठीक प्रकार किया जाए तो वह हमेशा चिर नूतन क्रान्ति का स्वर प्रसारित करके समाज को ताजा, उत्साह पूर्ण और संगठित बनाये रखने की सद्प्रेरणा हमारे हृदय में पैदा करता है।

यह विचार गलत है कि हमारी शिक्षा के शास्त्र और क्रान्ति के शास्त्र अलग-अलग होते हैं। शिक्षा ही क्रान्ति की जननी होती है अतः हमारे शिक्षण शास्त्र ही

क्रान्ति शास्त्र भी होते हैं, नागरिक शास्त्र ऐसा ही एक क्रान्ति-शास्त्र है जिसका काम समाज के रुके हुए प्रवाह को गति देना तथा समाज को नित्य नई प्रगति के पथ पर अग्रसर करना है। वह अतीत के सद्गुणों का संग्रह करता है और भविष्य के लिए नयी रचना का आदर्श पेश करता है।

(१०) **जनतन्त्र की दृढ़ता**—नागरिक शास्त्र के अध्ययन की आधुनिक जमाने में एक बहुत बड़ी उपयोगिता यह है कि वह लोकतन्त्र की बुनियाद को मजबूत बनाता है। लोकतन्त्र का आधार बनता है। जनता के भीतर नागरिक जिम्मेदारी और लोक-निष्ठा पैदा करने का काम नागरिक शास्त्र करता है। वह जनतन्त्र के स्वरूप और प्रकारों का भी अध्ययन करता है, साथ ही स्थानीय स्वशासन, वोट, चुनाव, लोकमत प्रतिनिधि शासन, उत्तरदायी शासन, इत्यादि अनेक लोकतंत्रीय-धाराओं का अध्ययन भी नागरिकशास्त्र में मिलता है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह अनिवार्य है कि देश के नागरिक ईमानदार, कर्त्तव्य परायण, जिम्मेदार और न्यायप्रिय हों। नागरिक शास्त्र के अध्ययन से नागरिकों के भीतर ये गुण पैदा होते हैं। लोकतन्त्रीय शासन के व्यवहारिक संचालन आदि का वर्णन भी इस शास्त्र में मिलता है।

(११) **विश्वशान्ति की स्थापना**—अन्त में हम नागरिक शास्त्र के अध्ययन से होने वाले सबसे बड़े लाभ का वर्णन करते हैं। यह संसार में शान्ति स्थापित करने में सहायता करता है। हम पीछे कह चके है कि नागरिक शास्त्र का अध्ययन व्यक्ति को एक व्यापक विश्व समाज का दर्शन कराता है और उसके मन में विश्व समाज के प्रति निष्ठा पैदा करता है। हमारे सारे झगड़ों और युद्धों का कारण यह है कि हम अपने अपने राष्ट्रीय हितों को संकीर्ण दृष्टि से सोचते हैं समूची मानव जाति के हित की दृष्टि से नहीं। नागरिक शास्त्र हमें सिखाता है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता उसी प्रकार एक देश दूसरे देश से अलग नहीं रह सकेगा। हमें आपस में एक दूसरे को सहन करके साथ ले जाना पड़ेगा। विश्वशान्ति की यही कुंजी है।

वर्तमान भारत और नागरिक शास्त्र का अध्ययन

भारत का सामाजिक जीवन सदा से बहुत समृद्ध रहा है। सामाजिक प्रेम और पड़ौसी के सुख दुख में सम्मिलत होने की सभ्यता इस देश में बहुत प्राचीन है। फिर भी वर्तमान काल में भारत के लिए नागरिक शास्त्र के अध्ययन का विशेष महत्व है।

आज हम अपनी स्वाधीनता के पश्चात् देश के नवनिर्माण पथ पर पांव धर कर खड़े हैं। हमने इस देश में लोकतन्त्र की स्थापना की है। हमारा लोकतन्त्र केवल हमारे लिए ही नहीं सारे विश्व के लिए एक परीक्षण बन गया है। यदि भारत में लोकशाही असफल होती है तो सारी दुनिया के लिए एक भयंकर दुर्घटना होगी।

इस कारण हमारी अपने प्रति ही नहीं सारे संसार के प्रति एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है कि हम अपने देश के जनतन्त्र को सफल करें। पीछे कह चुके हैं कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए नागरिक शास्त्र हमें बहुत मदद करता है। वह हमारे भीतर श्रेष्ठ नागरिक के गुणों की प्रेरणा पैदा करके हमें भले नागरिक बनाता है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए तोप, तलवार, बम और सेनाएं नहीं चाहियें, न उसकी सफलता कल कारखानों और सोना चाँदी पर ही निर्भर रहती है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए आदर्श नागरिकों का होना अनिवार्य है, भले ही वे गरीब हों। भारत के नागरिक यदि ईमानदार, निःस्वार्थ, न्यायप्रिय और समदृष्टि वाले नहीं बन सके तो हम कहीं के न रहेंगे। नागरिक शास्त्र का अध्ययन हमें इन गुणो से सम्पन्न कर सकता है।

विद्यार्थी और नागरिक शास्त्र का अध्ययन

आज के विद्यार्थी देश के भावी नागरिक हैं। इतना ही नहीं शिक्षित होने के नाते उनके ऊपर यह खास जिम्मेदारी है कि वे श्रेष्ठ नागरिक जीवन बितायें और शेष समाज के सामने उदाहरण पेश करें। नागरिक शास्त्र का अध्ययन विद्यार्थियों को सदाचरण, श्रेष्ठ नागरिकता, समाज और राज्य के प्रति निष्ठा एवं कर्त्तव्य पालन तथा पड़ोसी पर प्यार करने की दीक्षा देता है। यह शास्त्र उनके भीतर नई समाज रचना का संकल्प और उसकी प्रेरणा पैदा करता है।

विद्यार्थी ही बड़े होकर देश और समाज का संचालन करेंगे, यदि बचपन में ही नागरिक शास्त्र उन्हें उनके कर्त्तव्यों और समाज-सचालन की कला का ज्ञान दे देता है तो वे आगे चलकर अपनी जिम्मेदारियों को कुशलता पूर्वक निबाहने में सफल हो सकेंगे।

हमारा विचार है कि विद्यालयों में विद्यार्थियों को नागरिक शास्त्र का अध्ययन के अतिरिक्त व्यावहारिक शिक्षण भी देना चाहिए जैसे सभाएँ और संसद बनाना, मंत्रिमंडल बनाना, जिम्मेदारी के काम सौंपना। इन सबसे वे अपने भावी जीवन के लिए तैयार होंगे।

योग्यता-प्रश्न

१. नागरिक शास्त्र के विषय क्षेत्र (Scope) की व्याख्या तथा इतिहास, अर्थ-शास्त्र और नीतिशास्त्र के साथ इसके सम्बन्धों की विवेचना कीजिये।

   Define the scope of civics and explain its relationship with History, Economics and Ethics.

२. नागरिक शास्त्र के अध्ययन की क्या उपयोगिता है ?

   What is the importance of the study of civics ?

३. क्या नागरिक शास्त्र की यह परिभाषा ठीक है कि "नागरिक शास्त्र सामाजिक

अध्ययन का सामाजिक सेवा में व्यावहारिक प्रयोग है''? पूर्ण विवेचना कीजिये।
"Civics is the practical application of social study in the field of social service." Comment.

४. "नागरिक शास्त्र कला है विज्ञान नहीं।" विवेचना कीजिए।
Civics is not a science, it is an art. Discuss.

—:०:—

अध्याय २

समाज

मिलकर बढ़ो, मिलकर तप करो, एक राय हो जाओ।

—ऋग्वेद (१०।१६१।२)

समाज मनुष्यों का समुदाय है जिसमें वे इकट्ठे रह कर जीवन व्यतीत करते हैं। उनके जीवन की सामान्य आवश्यकताएँ (कामन नीड्स) तथा उनका स्वभाव उन्हें एक साथ मिलकर रहने के लिए बाध्य करते हैं। समाज के भीतर जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी उसके वरदानों को भोगता है और उसके अक्षय भंडार में अपनी सामर्थ्य भर वृद्धि करता है। समाज में विकास का क्रम चलता है। आदि काल से समाज की ऐसी ही स्थिति नहीं थी जैसी कि हम आज पाते हैं। वर्तमान दशा युग-युग में होने वाले विकास का फल है और यह विकासक्रम निरन्तर चलता ही रहेगा।

समाज मनुष्यों का ऐसा विकासशील व व्यापक समूह है जिसके भीतर उनके प्रत्येक प्रकार के व्यक्तिगत व सामूहिक सम्बन्धों एवं संगठनों का सामावेश होता है तथा जिसमें वे सामान्य-उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। मनुष्यों के झुण्ड का नाम समाज नहीं है। समाज भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों के मनुष्यों का ऐसा समूह है जो कि निरन्तर प्रगति अथवा विकास के लक्ष्य की ओर गतिमान है। मनुष्य का जन्म होता है, मृत्यु होती है, परन्तु समाज अनादि-काल से चला आ रहा है और अन्तत काल तक यों ही बढ़ता चलेगा। कितनी ही सभ्यताओं और संस्कृतियों का उदय और अस्त हुआ, अपार और अथाह साहित्य का निर्माण और विनाश हुआ, परन्तु समाज सब की छाप अपने हृदय पर धारण किये आज भी चिर-युवा है और उसकी आवश्यकता दिनो-दिन अधिक ही प्रतीत होती जा रही है।

समाज अनिवार्य है

मनुष्य को मनुष्यता का वरदान समाज से ही प्राप्त होता है अपने जन्म के समय मनुष्य कुछ शक्तियाँ लेकर पैदा होता है परन्तु उन शक्तियों का विकास समाज में ही होता है। मनुष्य की सोई हुई शक्तियों के विकास के लिए समाज अनिवार्य है, उसके बिना वह विकास असम्भव है। किसी बच्चे को जन्म होते ही मनुष्य-समाज से अलग कर दिया जाए तो उसका विकास तो दूर रहा उसका जीवन भी सम्भव नहीं

रहेगा। समाज को हम उपयोगिता की दृष्टि से देखेंगे तो वह ठीक नहीं होगा। समाज हमारे स्वभाव में से पैदा हुआ है। मनुष्य का स्वभाव है कि वह समाज बना कर रहता है। इस प्रकार समाज एक नैसर्गिक अथवा प्राकृतिक संगठन है, उसे नष्ट नहीं किया जा सकता। समाज को नष्ट करने का अर्थ है मनुष्य मात्र के जीवन के लिए संकट पैदा करना।

हिमालय पर्वत की गुफाओं में ईश्वर की उपासना करने वाला महात्मा यद्यपि देखने में समाज से अलग रहता है और उसका विकास भी हो रहा है तथापि ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि वह महात्मा भी अपने बचपन में एक समाज के भीतर पाला गया है तथा उसे ईश्वर का ज्ञान भी समाज में ही हुआ है। आज भी किसी न किसी प्रकार समाज ही उसकी रक्षा करता है। समाज उसे भोजन और वस्त्र देता है तथा उसकी तपस्या का फल भी समाज को ही प्राप्त होगा। समाज उसके ज्ञान को सुरक्षित रखकर आने वाली पीढ़ियों को देगा। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाज व्यक्ति के लिए और व्यक्ति समाज के लिए अनिवार्य रूप से उपयोगी है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तु ने कहा है कि "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के भीतर पूर्णता प्राप्त मनुष्य प्राणियों में सर्व श्रेष्ट होता है तथा जब वह विधि और न्याय के बिना रहता है तो सबसे भयंकर प्राणी होता है। यदि वह समाज में न रहे अथवा केवल अपने साधनों में ही सन्तुष्ट रहे तो उसे मानवता का सदस्य (अर्थात् मनुष्य) नहीं समझना चाहिए, वह जंगली पशु अथवा देवता होगा।"

समाज की उपयोगिता

समाज के बिना मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य को उसका मनुष्यत्व समाज ही प्रदान करता है। समाज निम्नप्रकार से व्यक्ति के विकास के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है—

(अ) **प्राण रक्षा**—अपनी आदिम अवस्था में मनुष्य अकेला असहाय प्राणी था। उसके पास जंगली जानवरों से रक्षा का कोई साधन नहीं था। प्रकृति से उसे नुकीले दांत और नाखून नही मिले थे। वह पेड़ों पर चढ़कर जैसे तैसे बन के हिंसक जन्तुओं से अपने प्राणों को बचाता फिरता था। धीरे-धीरे उसने आग जलाने का आविष्कार कर लिया, उसे प्रकृति के इस प्रथम रहस्य का भेद मिल गया और इसके सहारे वह दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क में आया जो कि अपनी प्राण रक्षा के लिये उसकी जलाई हुई आग के चारों ओर आकर इकट्ठे हुए होंगे। इशारों में या किसी अन्य सकेतमयी भाषा में प्राण रक्षा की कठिनाई पर चर्चा हुई होगी और साथ मिलकर रहने का निश्चय हो गया होगा। धीरे-धीरे साथ रहने के लाभों का आभास मिला तथा इसी प्रकार आगे समाज का विकास होने लगा। आज भी व्यक्ति के प्राणों की रक्षा के लिए समाज की परम आवश्यकता है।

(आ) **जीवन साधनों का प्रबन्ध**—प्राण-रक्षा का समुचित प्रबन्ध होने पर

मनुष्य के सामने जीवन साधनों की समस्या उठती है । अरस्तु का कहना है कि कोई भी मनुष्य अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अकेला नहीं कर सकता और विशेष कर आज के युग में जब कि हमारी आवश्यकताएँ एक से सौ हो गई हैं और हजार होना चाहती है प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन सबकी पूर्ति के लिए आत्मनिर्भर अथवा स्वावलम्बी होना असम्भव हो गया है। बिना दूसरों के सहयोग के हम एक क्षण भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते । आज के युग का यन्त्रवाद और श्रम के उपविभाजन (सब-डिवीजन आफ लेबर) का आयोजन तो निरन्तर दूसरे व्यक्तियों के सहयोग को अनिवार्य बनाता जा रहा है । इसके अतिरिक्त मानव जीवन की कुछ ऐसी अवस्थाएं भी हैं जिनमें वह स्वयं असहाय होता है जैसे—बालपन, रोगी अवस्था, वृद्धावस्था आदि, इनमें उसे समाज के अन्य व्यक्तियों की सहायता अनिवार्य होती है अन्यथा उसका जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता ।

मनुष्य के भौतिक जीवन की दो प्रधान माँगें हैं—प्राण रक्षा और जीवन साधनों का प्रबन्ध । ये दोनों माँगें समाज में ही पूरी हो सकती हैं, समाज के बाहर नहीं । अतः हम कह सकते है कि मनुष्य के जीवन के लिए समाज अनिवार्य है ।

(इ) **ज्ञान संचय**—शरीर का पालन-पोषण ही मानव जीवन की एक मात्र समस्या नहीं है । मनुष्य एक बुद्धि-प्रधान प्राणी है । उसके भीतर जानने का कुतूहल और ज्ञान की प्यास सदा से रही है । समाज ने कई प्रकार से मनुष्य को ज्ञान-संचय करने की प्रेरणा दी हैं । कहते हैं आवश्यकता आविष्कार की जननी है । सामाजिक जीवन के विकास के साथ आवश्यकताएं भी बढ़ती गई और बढ़ती हुई आवश्यकताओं ने मानव को सोचने और खोजने के लिए विवश किया । साथ ही साथ समाज में कार्य बंट जाने के दो परिणाम हुए । प्रथम तो यह कि विभिन्न मनुष्य विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करने में लग गये इससे विषयों पर एक साथ ही ज्ञानसंचय होने लगा । एक व्यक्ति यदि अनेक जन्मों तक भी प्रयत्न करता तो उसके लिए सब कुछ जान लेना असम्भव था । इस कार्य को समाज ने अपने अनेकों सदस्यों द्वारा थोड़े ही समय में पूरा कर लिया, उधर समाज का जीवन भी अनन्त और निरन्तर है जिससे कि ज्ञान की अभिवृद्धि होती ही गई । मनुष्य समाज के भीतर ही रहकर इतना समय निकाल सकता है कि वह ज्ञान की साधना कर सके । कार्य विभाजन के कारण मनुष्य के काम बंट जाते हैं तथा उसे अपने मानसिक व बौद्धिक विकास के लिये काफी समय मिल जाता है ।

इसके अतिरिक्त समाज स्थायी होने के कारण ज्ञान की रक्षा करने का एक बहुत ही उपयुक्त साधन सिद्ध हुआ । समाज एक विशाल कोष है जिसमें युग-युग का ज्ञान संचित है । वेदों के प्रणेता ऋषी आज जीवित नहीं परन्तु उनकी पवित्र वाणी आज भी हमारी आत्मा को दिव्य भोजन दे रही है । न्यूटन, जार्ज स्टीफेन्सन, सर जगदीशचन्द्र बोस आदि आविष्कार-कर्त्ता, रवीन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचन्द तुलसीदास और सूरदास जैसे साहित्यकार, प्लेटो, अरस्तु, कौटिल्य और रूसो जैसे विद्वान इस संसार

में आये और चले गये परन्तु वे अपने पीछे जो आविष्कार, साहित्य और विद्या छोड़ गये उसे समाज ने आज भी सुरक्षित रखा है तथा अनन्त काल तक वह इसी प्रकार ताजी बनी रहेगी। यह महत्वपूर्ण कार्य समाज ने किया है। एक अकेला मनुष्य चाहे कैसा भी चतुर क्यों न हो अपने जीवन काल मे ही अपने ज्ञान को सुरक्षित रख सकता है मृत्यु के पश्चात् नही। इस प्रकार समाज ज्ञान का प्रेरक और संरक्षक है।

समाज एक ऐसा सदा बहने वाला स्रोत है जिसके द्वारा भूतकाल भविष्यत् के साथ जुड़ा हुआ हैं। उत्थान और पतन आये परन्तु उनका प्रभाव सीमित काल और सीमित मनुष्यों पर ही पड़ा है। मोटे तौर पर समाज उनके प्रभावों से अछूता रहा है उसके ज्ञान और अनुभव में वृद्धि हुई है तथा कुल मिलाकर समाज ने प्रगति ही की है एक-एक अकेले मनुष्य के कामों को देखते हैं तो वह कितने अपूर्ण और सीमित मालूम पड़ते हैं परन्तु जब हम समूचे समाज पर दृष्टि डालते हैं तो हमें मानवता के अक्षय भण्डार की विशालता का ज्ञान होता है और हम समाज के आगे मस्तक झुका लेते हैं। उसने मृत्यु और विनाश के आघातों को सहकर भी अपनी अमरता और अखण्डता को बनाये रखा है तथा युग युग में मनुष्य द्वारा इकट्ठी की हुई ज्ञान की पूँजी को सुरक्षित रखा है।

(ई) **सांस्कृतिक विकास**—समाज ने मनुष्य को सभ्यता प्रदान की है। यह प्रश्न उठता है कि शुरू में असभ्य मनुष्यों के समाज ने मनुष्य को सभ्यता कैसे दी होगी। इसका उत्तर बहुत सरल है। समाज के भीतर अन्य व्यक्तियों के संसर्ग में आने से मनुष्यों के मस्तिष्कों और विचारों में संघर्ष हुआ, इस संघर्ष से सोचने और नये प्रयोग करने की प्रेरणा मिली जिससे मानव समाज अधिकाधिक सभ्यता की ओर बढ़ने लगा, संस्कृति और सभ्यता का प्रथम आधार भाषा है। समाज में समुचित रूप से कार्य करने के लिए सर्वप्रथम एक भाषा का जन्म हुआ जिसके द्वारा एक समाज के सदस्य परस्पर विचारों का आदान प्रदान करते हैं। मूक बालक को समाज ही उसकी भाषा प्रदान करता है। बालक अपने चारों ओर के व्यक्तियों को होठ फड़काते हुए देखता है और उसके कानों में ध्वनि पड़ती है जिससे उसे भी वैसी ध्वनि निकालने की प्रेरणा होती है और थोड़े ही समय में वह अपने परिवार व समाज की भाषा सीख जाता है। हम देखते हैं कि जो बालक जन्म से ही बहरे होते हैं वे गूँगे भी रह जाते हैं—न वे कुछ सुन पाते हैं, न उनके मन में बोलने की प्रेरणा ही जगती है। इसी प्रकार समाज हमें कला, आध्यात्मिकता और ऊँची भावनाओं का प्रारम्भिक ज्ञान तथा परिचय देता है जिसे हम अपनी शक्ति भर आगे विकसित करते जा रहे है। ज्ञान की भाँति संस्कृति भी विकास का परिणाम है इसकी जड़ें भूतकाल में होती हैं और इसकी शाखायें भविष्य तक फैली रहती हैं। आज का समाज कल की संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करता है। समाज के अभाव में संस्कृति तथा सभ्यता का होना असम्भव है।

(उ) **राजनीतिक व आर्थिक प्रगति**—समाज जहाँ मनुष्य के बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास का आधार है वहीं वह उसकी राजनीतिक व आर्थिक प्रगति का आधार भी है। विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न समय पर उनकी संस्कृति और आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न राजनीतिक व्यवस्थाएं रही हैं। राज्य समाज का ही एक अंग है। किसी की राजनीतिक व्यवस्था कैसी होगी इसका निर्णय उस समाज की सर्व प्रचलित विचारधारा और सभ्यता ही करेगी। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी समाज ही हमें आगे ले जाता है। सहयोग और सहकारिता का पाठ हमें समाज ही सिखाता है। समाज की आवश्यकता और रुचि के अनुसार ही हम वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करते है। उत्पादन और अन्य व्यवस्थायें सभी समाज की प्रवृत्ति और आवश्यकता के अनुकूल चलती है। समाज का विचार और चिन्तन बदलता है तो राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक ढाँचा सभी कुछ बदल जाता है।

(ऊ) **अन्य उपयोगिता**—समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रसार अथवा उसकी अभिव्यक्ति है। अर्थात् जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर अपने चारों ओर रहने वाले प्राणियों का हित सोचने लगता है तो उसकी वृत्ति सामाजिक हो जाती है तथा समाज के भीतर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास व उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है। मनुष्य का मरण भी एक सामाजिक घटना है। चाहे वह हिन्दू, मुसलमान या अन्य किसी भी धर्म का अनुयायी हो उसकी अन्तिम यात्रा समाज के कन्धों पर ही पूर्ण होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिये समाज की परम आवश्यकता है। समाज एक ऐसा संगठन है जिसमें कोई भी अपने जीवन का भार अकेले नहीं ढोता, सारा समाज उसे संभालकर चल रहा है और इसके बदले में समाज के अंग के नाते उसे भी अनेक मनुष्यों के जीवन का भार ढोने में हाथ बंटाने का पुण्य-सौभाग्य और सुयश मिल जाता है।

समाज के भीतर व्यक्ति का स्थान

समाज व्यक्ति के व्यक्तित्व का प्रसार और उसकी अभिव्यक्ति है। इसका अर्थ इस स्थान पर थोड़ा अधिक विस्तार से स्पष्ट कर देना ठीक होगा। व्यक्ति जब अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है तथा उनके भीतर अपनेपन की भावना रखता है तभी समाज का सही अर्थों में निर्माण होता है। समाज और मनुष्य परस्पर इतनी घनिष्टता से जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग करने का अर्थ होगा दोनों की महत्ता को नष्ट कर देना। निश्चय ही समाज व्यक्ति से बड़ा होता है उसमें अनेकों व्यक्तियों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूपों का समावेश होता है। हमें देखना होगा कि ऐसे गुंथे हुये समाज के भीतर व्यक्ति का अपना क्या स्थान है तथा समाज और व्यक्ति के मध्य का क्या सैद्धान्तिक सम्बन्ध है? इसके लिए विविध विचार प्रणालियों का संक्षिप्त में अध्ययन कर लेना उपयुक्त रहेगा। इनमें प्रमुख ये हैं—(अ) समाज स्वाभा-

विक है तथा वह अन्तिम लक्ष्य है, (आ) समाज कृत्रिम है और अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति का सर्वोच्च विकास है, तथा (इ) समाज स्वाभाविक तो है, परन्तु व्यक्ति और समाज के मध्य हितों का कोई संघर्ष नहीं है दोनों परस्पर पूरक है।

(अ) **समाज स्वाभाविक है तथा वह अन्तिम लक्ष्य है**—इस विचार के अनुसार समाज एक नैसर्गिक संगठन है। यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति है कि वह समाज बना कर रहे। वह एक सामाजिक प्राणी है, सामाजिकता उसके स्वभाव में एक मूल प्रवृत्ति के रूप में मौजूद है। मनुष्य अपनी समुदाय भावना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए समाज पर निर्भर रहता है समाज कृत्रिम (बनावटी) नहीं है। समाज आदि काल से चला आया है उसके भीतर मनुष्य जन्म लेते और मरते रहते हैं परन्तु वह उस नदी की भाँति है जो इस बात से प्रभावित हुये बिना कि उसमें कितनी सहायक नदियाँ आकर मिली है अथवा कितनी नहरें उसमें से काट ली गई सागर की ओर निरन्तर चलती रहती है। मनुष्य ने जन्म लेकर अपने समाज का निर्माण नहीं किया वरन् वह एक समाज के भीतर ही पैदा हुआ है। इस प्रकार समाज अनादि और अनन्त है यही मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करता है और उसे जीवन देकर पोषण व उसकी रक्षा करता है। समाज केवल प्राकृतिक ही नहीं वरन् अनिवार्य भी है।

हर्बर्ट स्पेन्सर आदि कुछ विद्वान तो समाज को प्रधानता देने में इतने आगे बढ़ गये कि वे समाज को एक जीव (आरगेनिज्म) कहने मे भी संकोच नहीं करते। उनका कहना है कि जिस प्रकार मानव शरीर की रचना अनेकों कोषों (सेल्स) से मिलकर होती है इसी प्रकार समाज भी अनेक व्यक्तियों से मिलकर बनता है। व्यक्ति समाज के शरीर में एक कोष के समान हैं जिसका अस्तित्व समाज के जीवन के लिए ही होता है। समाज के भीतर जो शासन-सत्ता होती है वह मस्तिष्क के समान है। जिस प्रकार मानव शरीर विकास का परिणाम है उसी प्रकार समाज का भी आदिम युग से आज तक विकास हुआ है और वह शरीर जैसा बन गया है। शरीर में कोषों का नाश और नव-निर्माण होता रहता है, इसी प्रकार समाज में व्यक्तियों का आवागमन चलता रहता है शरीर के अवयव जिस प्रकार एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं उसी प्रकार समाज के भीतर मनुष्य और उनके समूह एक दूसरे के सहारे जीवन बिताते हैं। अन्त में उनका कहना है कि शरीर की सत्ता किसी एक कोष या अंग की सत्ता पर निर्भर नहीं होती, इसी प्रकार समाज के किसी एक व्यक्ति अथवा समुदाय, संघ या दल की सत्ता समाज का आधार नहीं हो सकती।

इस प्रकार से समाज को एक मस्तिष्क व स्वतन्त्र इच्छायुक्त जीव मानने से यह सिद्ध हो जाता है कि समाज एक स्वाभाविक संगठन है। जिस प्रकार शरीर के सामने अंगों के कोई पृथक अधिकार नहीं होते उसी प्रकार समाज के आगे व्यक्ति का कोई हक अथवा दावा नहीं रहता। उसका जीवन समाज पर आश्रित होता है जैसे शरीर के अंग को देह की रक्षा के लिए बलिदान किया जा सकता है वैसे ही व्यक्ति

को भी समाज के लिए मिट जाने में संकोच नहीं होना चाहिए। व्यक्ति समाज हित का साधन मात्र है। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व (व्यक्तित्व) नही हो सकता। अन्तिम उद्देश्य तो समाज रूपी शरीर का हित है जिससे उसके सब अंग (अर्थात् व्यक्ति) सुख से रह सकें। व्यक्ति तो उसके उद्देश्यों की प्राप्ति में साधन स्वरूप है।

इस प्रकार व्यक्ति पूर्णतया समाज के अधीन हो जाता है तथा उसका व्यक्तित्व नष्ट हो कर समाज के गर्भ में विलीन हो जाता है। इसे समाज का जैविक—सिद्धान्त कहते हैं।

इस विचार ने व्यक्ति को समाज के सम्मुख एक अत्यन्त हीन अवस्था में डाल दिया है। समाज को व्यक्तित्व प्रदान करना व शरीर के समान मानना गलत होगा। आदर्शवादी सिद्धान्त की यह कल्पना भी अव्यवहारिक सी ही प्रतीत होती है कि समाज की इच्छा में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और हित का प्रतिनिधित्व हो जाता है। इन मान्यताओं के आधार पर व्यक्ति पूर्णतः समाज की दासता में पड़ जावेगा तथा वह रूढ़ि और परम्परा के बन्धन में जकड़ा जावेगा। व्यक्ति के व्यक्तित्व को नहीं भुलाया जा सकता। आखिर यह कैसे हो सकता है कि जिस समाज का जन्म मनुष्यों के विकास के लिए हुआ हो वह स्वयं उनसे ऊपर निरंकुश होकर बैठ जाय तथा व्यक्ति का व्यक्तित्व केवल उसकी हित-पूर्ति का साधन बन कर रह जाय। यह सत्य है कि समाज स्वाभाविक संगठन है परन्तु यह नहीं माना जा सकता कि उसका अपना एक शरीर अथवा मस्तिष्क एवम् व्यक्तित्व है।

(आ) **समाज कृत्रिम है तथा अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति का सर्वोच्च विकास है**—इस विचार-धारा के अनुसार समाज स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है मनुष्यों ने आपस में मिलकर एक समझौता (सविदा) कर लिया जिसके द्वारा समाज का निर्माण हो गया। इस समझौते का आधार है सबके लिए समाज की उपयोगिता। इस सिद्धान्त को सामाजिक संविदा (सोशल कान्ट्रेक्ट) के नाम से पुकारा जाता है। महाभारत के शांतिपर्व में इसे 'समय' (कान्ट्रेक्ट) कहा गया है। जब मनुष्यों ने देखा कि बिखरे हुए रहने के कारण मनुष्य आपस मे एक दूसरे का नाश कर रहे हैं तो उन्होंने एक स्थान पर एकत्रित होकर एक समझौते द्वारा समाज की रचना की और उसके कुछ नियमों का निर्माण भी कर लिया और इसी से धीरे-धीरे राज्य का जन्म भी हुआ।

आधुनिक युग में संविदा द्वारा समाज की उन्नति का उल्लेख लॉक और रूसों ने अपने ग्रन्थों में किया है। उनका कहना है कि मनुष्य अपने अव्यवस्थित जीवन से ऊब गया और उसने समाज का निर्माण किया। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज एक साधन मात्र है तथा व्यक्ति का विकास साध्य है। व्यक्तियों ने अपनी उन्नति और आवश्यकता पूर्ति के लिए समाज बनाया है वे जब चाहे उसे भंग कर सकते है तथा फिर से जगली अवस्था में लौट सकते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि व्यक्ति स्वेच्छाचारी भी हो सकता है और समाज उसके हाथ की कठपुतली बन जाता है।

यह सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि इससे समाज की अनन्तता और

अखंडता का खंडन होता है तथा यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के स्वभाव के भीतर सामाजिकता की प्रवृत्ति नहीं हैं वरन् समाज केवल अपनी उपयोगिता के कारण बनाता है। उपयोगिता न रहने पर वह नष्ट भी किया जा सकता है। यह विचार इस सत्य को भुला देता है कि व्यक्ति भले-बुरे की पहचान और लाभ-हानि का ज्ञान तथा उपयोगी-निरुपयोगी का विवेक भी समाज से ही प्राप्त करता है। वह समाज का निर्माण जन्म लेने के पश्चात् नहीं करता वरन् एक समाज की गोद में जन्म लेता है जो कि उसके जन्म से पहले मौजूद था और उसकी मृत्यु के साथ मरेगा नहीं अर्थात् उसके बाद भी बना रहेगा। यह सिद्धान्त व्यक्ति को साध्य मानता है, यह एक सीमा तक ठीक है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसके आगे समाज यों ही एक खेल बनकर रह जाये। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास समाज का उद्देश्य है इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु यह विकास समाज की उन्नति के बिना नहीं हो सकता। इसके लिए उसका एक स्वाभाविक संस्था होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि समाज एक कृत्रिम संस्था है तो वह मनुष्य के विकास में कोई योग नहीं दे सकता। समाज वास्तव में एक स्वाभाविक मनुष्य-समूह है तथा मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज का उद्देश्य व्यक्ति का उच्चतम विकास करना है।

(इ) **व्यक्ति और समाज पूरक हैं**—समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध का सही सिद्धांत यही है। समाज मूलतः व्यक्ति के स्वभाव में निहित है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसी कारण समाज बना कर रहना उसका स्वाभाविक धर्म है। अपने मूल स्वरूप में समाज मनुष्य-स्वभाव का परिणाम है परन्तु निश्चिय ही धीरे-धीरे उस का विकास हुआ है और इस विकास में मनुष्य का काफी हाथ रहा है। अनुभव और उपयोगिता के आधारों पर उसने सामाजिक संगठनों, उद्देश्यों व हितों का स्वरूप भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न रूप से निर्धारित किया जिससे कि समाज ने वर्तमान जटिलता धारण करली है।

इस प्रकार हम समाज को मूलतः स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक तथा अंशतः मनुष्य के प्रयत्नों का परिणाम भी कह सकते हैं।

इसका अर्थ यह है कि समाज और व्यक्ति दोनों परस्पर पूरक हैं। दोनों आपसी सम्पर्क और सहयोग द्वारा एक दूसरे के विकास में सहायक होते हैं। दोनों का समान महत्व है। व्यक्ति और समाज दोनों ही साध्य हैं और साधन भी। न तो व्यक्ति समाज का भाग्य विधाता ही है और न उसका दास ही। व्यक्ति के विकास की पहली शर्त यह है कि समाज का वह सदस्य है उसके भीतर विकास की परिस्थितियां मौजूद हों। यदि किसी समाज के भीतर चरित्रहीन व्यक्ति रहते हैं तो यह कभी भी विकसित व सभ्य नहीं हो सकता। उसके उत्थान के लिए उसके सदस्यों का उन्नत चरित्र नितांत अनिवार्य है। ये दोनों परस्पर अवलम्बित तथा आश्रित हैं। व्यक्ति समाज से पूर्ण बनता है और समाज व्यक्ति से। यदि ध्यान से देखा जाय तो मनुष्य का सर्वोच्च विकास यही है कि वह मनुष्य मात्र के लिए जीना सीख जाय, अपने संकीर्ण व्यक्तित्व

की सीमाओं से ऊपर उठकर सार्वजनिक हित में अपनी प्रसन्नता प्राप्त करने लगे तथा समाज की सेवा में अपने जीवन की सार्थकता सिद्ध करे।

इस प्रकार व्यक्ति व समाज दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं, एक का पतन दूसरे का नाश और एक की उन्नति दूसरे का विकास है। उनमें परस्पर कोई हित-संघर्ष (कॉनफ्लिक्ट ओफ इन्ट्रेस्ट्स) नहीं है, वे एक दूसरे के पूरक है। दोनों ही साध्य हैं और दोनों ही साधन। व्यक्ति का धर्म है कि वह समाज हित के लिए स्वेच्छापूर्वक आत्म-बलिदान करे तथा समाज का धर्म है कि वह अपने सदस्यों के उत्थान के लिए हर सम्भव कार्य करे व ऐसे समुचित वातावरण का निर्माण करे जिसके भीतर उसके सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें।

समाज के जन्म की कथा

समाज के जन्म के बारे में दो विचार प्रचलित हैं। एक विचार यह मानता है कि समाज बनावटी है और उसकी रचना जान बूझ कर की गई है। दूसरा विचार यह मानता है कि समाज प्राकृतिक है और उसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। समाज को बनावटी मानने वाले विचारकों के दो दल हैं—(१) समाज की रचना भगवान ने की है, इसे दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत कहते है; (२) समाज की रचना मनुष्य ने की है। इस दूसरे विचार की दो शाखाएं हैं, एक शाखा यह मानती है कि समाज का निर्माण शक्ति के आधार पर हुआ है, इसे शक्ति सिद्धांत कहते हैं, दूसरा विचार यह मानता है कि समाज का निर्माण मनुष्यों के बीच होने वाले एक समझौते द्वारा हुआ है, इसे सामाजिक संविदा सिद्धांत (सोशल कान्ट्रेक्ट थ्यौरी) कहते हैं।

समाज को प्राकृतिक मानने वाला विचार ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धांत कहलाता है। यहाँ हम इनका संक्षेप्त अध्ययन करेंगे।

(१) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस सिद्धांत की मूल धारणा यह है कि समाज का निर्माण ईश्वरीय इच्छा से हुआ है। ईश्वर ने मनुष्य को बनाया और उसी ने मनुष्य के कल्याण के लिए उसे समाज भी दिया। मनुष्य ने स्वयं समाज के निर्माण में कोई भाग नहीं लिया है, यह पूर्णतः दैवी इच्छा (डिवाइन विल)का परिणाम है अतः न हमें उसे बदलने का अधिकार है और न उसके स्थान पर कोई अन्य संस्था बनाने का।

इस सिद्धांत का जन्म मनुष्य की आस्तिका (ईश्वर में विश्वास) की प्रवृत्ति के भीतर से हुआ है। हर चीज ईश्वर ने बनाई है। समाज भी और उसकी व्यवस्था भी। धीरे-धीरे यह विचार एक रूढ़ि बन गया तथा इसका अर्थ यह लगाया जाने लगा कि हर प्रकार का परिवर्तन ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है। अतः मनुष्य को अपने समाज के वर्तमान स्वरूप को जैसा का तैसा स्वीकार कर लेना चाहिए। राजा और रंक, ऊँच और नीच, छूत और अछूत, धनी और निर्धन सभी की सृष्टि परमेश्वर ने कर्मों की व्यवस्था के अनुसार की है अतः इसमें किसी को दखल नहीं देना चाहिए। इस

प्रकार यह सिद्धान्त प्रगति का विरोधी है और प्रगति ने भी सबसे पहले इस सिद्धान्त को ही अपना शिकार बनाया। मध्य युग की जागृति में जब धार्मिक अन्धविश्वास और पुरोहितों का प्रभाव मिटना आरम्भ हुआ तो इस सिद्धान्त का खंडन भी किया गया तथा आज इसके अनुयायी ससार में शायद ही कोई मिलें।

(२) शक्ति-सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि शक्तिशाली मनुष्यों ने कमजोरों को अपनी शक्ति से परास्त करके अपना दास बना लिया। ये दास खेत में मालिक के लिए काम करते थे और मालिक उनके निर्वाह का प्रबन्ध करता था। धीरे-धीरे इन दासों के समुदाय के भीतर एकता और सहयोग की स्थापना हुई और समाज का निर्माण हुआ वे अपनी शक्ति को पहचान गये तथा उन्होंने मालिक को हरा कर भूमि और पशुओं पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार वे मुक्त हो गये तथा आपसी सहयोग का उदय हुआ।

यह सिद्धान्त न तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है न इतिहास के पन्ने में इसका प्रमाण मिलता है। दास प्रथा रही जरूर मगर उससे पहले समाज रहा। जब दो समाजों में युद्ध होता था तो बन्दियों को दास बनाया जाता था। शक्ति का निर्माण समाज में ही हुआ, अकेला मनुष्य दूसरों को दास नहीं बना सकता था।

(३) संविदा द्वारा समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त बहुत पुराना है। जैसा पीछे भी कहा जा चुका है इसका उल्लेख महाभारत के शान्ति पर्व में मिलता है। वहां इसे 'समय' के नाम से पुकारा गया है। इसने दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का खडण्न करके यह सिद्धान्त स्थापित किया कि समाज मनुष्य की रचना है। उसका निर्माण मनुष्यों ने किया है वह स्वाभाविक न होकर कृत्रिम है। इसकी एक खास बात यह है कि इसके अनुसार समाज के निर्माण से भी पहले एक अवस्था थी जिसमें मनुष्य अकेला रहता था, वह स्वावलम्बी था तथा सहयोग के बिना जीता था। यह कैसी भयानक बर्बरता का युग रहा होगा और इस युग के प्राणी को मनुष्य कहाँ तक कहा जाय, यह कहना कठिन है, क्योंकि समाज के बिना उसके भीतर मनुष्यता के गुणों की कल्पना करना गलत होगा। फिर कैसे मनुष्य अचानक मिलकर बैठे, कैसे उनके मस्तिष्क के भीतर संविदा (कॉन्ट्रैक्ट) जैसी ऊँची सामाजिक कल्पना आ गई और कैसे उन्हें सहयोग के मूल्य का पता लगा जो वे समझौता करके सहयोगी जीवन बिताने को तैयार हो गये। ये कुछ शंकाएं हैं जो कि इस सिद्धान्त के बारे में उठती है। मनुष्य के अचानक सभ्य और सामाजिक हो उठने की कल्पना थोथी है। इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। समाज कदापि मनुष्य के हाथ का खिलौना नहीं है जिसे वह जब चाहे बना ले और जब चाहे तोड़ दे और फिर भी स्वयं मनुष्य का मनुष्य बना रह जाए। वास्तव में समाज मनुष्य की सामुदायिक प्रवृत्ति का सहज परिणाम है। यह एक स्वाभाविक समूह अथवा संस्था

है। इसका विकास क्रमशः एक दीर्घ काल में हुआ है और आज भी हो रहा है।

(४) ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

मनुष्य सदा से समुदाय बनाकर रहा है उसके भीतर सामाजिकता की एक मूल प्रवृति आरम्भ से ही रही है। वास्तव में समाज की उत्पत्ति नही हुई, अर्थात् किसी एक निश्चित समय और स्थान पर किसी एक या अनेक व्यक्तियों अथवा ईश्वर ने इसकी रचना नहीं की वरन् धीरे-धीरे आदिम अवस्थाओं से मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ तथा समाज का संगठन दृढ़ एवं जटिल होता चला गया। आरम्भिक काल मे सामाजिक जीवन सरल तथा सादा था। धीरे-धीरे मनुष्य का ज्ञान बढ़ा उसका प्रकृति के साथ परिचय बढा उसके भीतर अपनी परिस्थितियों को समझने की शक्ति जागृत हुई तथा साथ ही साथ उसकी आवश्यकताओं में भी वृद्धि हुई। इस सब परिवर्तन अथवा जागृति का परिणाम यह हुआ कि समाज पर व्यक्ति की माँग बढ़ी, सामूहिक कार्य पद्धति का विकास हुआ और समाज के ढ़ाँचे संगठन एवं उसकी व्यवस्था में जटिलता आती चली गई। यही विकास का सिद्धान्त है। जो हमें आज दीखता है वह आज की ही उपज नही वरन् उसकी जड़ें भूतकाल में हैं, दीर्घकाल में उसके भीतर परिवर्तन होते-होते आज जैसी स्थिति अथवा दशा हो गई है तथा आज जो कुछ हम देखते हैं वही अन्तिम स्थिति नहीं है, आगे भविष्यत् में न जाने और क्या परिवर्तन आयेंगे तथा कौन कह सकता है कि कल विकास का क्रम वर्तमान समाज को कौन सा नया स्वरूप प्रदान करेगा। विकास के इस क्रम का ज्ञान हमें इतिहास से होता है। मानव सभ्यता का इतिहास हमें बताता है कि मनुष्य इस क्रम से चार प्रमुख अवस्थाओं में होकर गुजरता है।

सामाजिक विकास की सीढ़ियां

हम सामाजिक विकास को मोटे तौर पर चार अवस्थाओं अथवा युगों में बांट सकते हैं। ये अवस्थायें मनुष्यों के प्रधान कार्यों और पेशों के आधार पर निश्चित की गई हैं—(१) शिकारी अवस्था (२) पशुपालन अवस्था (३) कृषि अवस्था तथा वर्तमान औद्योगिक अवस्था।

(१) **शिकारी अवस्था**—अपने आदिम काल में मनुष्य पशुओं के बीच में रहता था उसका व्यवहार रहन-सहन और आचरण सभी कुछ पशुओं जैसा था। हिंसक जीव जन्तुओं की भाँति मनुष्य भी उस युग में दूसरे पशुओं के मांस पर अपना जीवन बिताता था। उसकी एक ही आवश्यकता थी—भोजन। वस्त्र और मकान अभी तक उसकी जिन्दगी की जरूरतों में शामिल नहीं हुए थे। शुरू में नुकीले पत्थरों से मार-मार कर वे पशुओं का शिकार करते थे। धीरे-धीरे शस्त्रों का आविष्कार हुआ और थोड़े-थोड़े मनुष्य मिलकर इकट्ठे रहने लगे। शुरू में ये नंगे रहते थे धीरे धीरे इन्होंने पेड़ की छाल, चौड़े पत्तों और जानवरों की खाल से अपना तन ढांकना शुरू किया। ये अभी तक वृक्षों पर ही रहते थे अथवा आग जला कर उसके चारों

ओर इकट्ठे हो जाते थे आरम्भ में ये कच्चा माँस खाकर ही रहते थे परन्तु आग के आविष्कार के साथ-साथ माँस को पहले भून कर और बाद में पकाकर खाने का रिवाज पड़ा।

इन लोगों के जीवन में संस्कृति सभ्यता, कला ज्ञान धर्म आदि का कोई स्थान नहीं था पेट भरने के साधन केवल शिकार तक सीमित थे। मरे हुए पशुओं का माँस ही एक मात्र सम्पत्ति होती थी इस सम्पत्ति को भी दूसरे दिन के लिए बचा कर नहीं रखते थे अर्थात् इनमें संचय की प्रवृत्ति नहीं थी। एक समुदाय के लोग जितना शिकार दिन भर में कर लाते थे सब बाट कर खा डालते थे।

इनका सामाजिक जीवन बडा ही अटपटा सा था। उनमें कोई संगठन तथा अनुशासन न था प्राय: एक समुदाय के सदस्य आपस में नहीं लड़ते थे परन्तु दूसरे समुदायों के साथ लड़ाई होती थी। समुदाय की समस्त स्त्रीयाँ उस समुदाय के समस्त पुरुषों की पत्नियां होती थीं। इस अवस्था को हम असभ्यता का साम्यवाद कह सकते हैं।

इस अवस्था में राज्य, राजा, शासन आदि विकसित कल्पनाओं का जन्म भी नहीं हुआ था। यह मानव-इतिहास का सबसे पिछड़ा हुआ (Backward) युग था।

(२) **पशु पालन अवस्था**—पशुओं के साथ रहते-रहते मनुष्य उन्हें मारने की बजाय पालने की कला सीख गये। एक ओर तो उन्होंने अनुभव किया कि शिकार द्वारा अन्धाधुन्ध पशुओं को मार डालने से धीरे-धीरे पशुओं की कमी होती जा रही है, दूसरी ओर अनुभव से उन्हें ज्ञान हुआ कि पशु माँस के अतिरिक्त दूसरी वस्तुएं भी दे सकते हैं जैसे—दूध, ऊन इत्यादि। अत. उन्होंने उपयोगी जंगली पशुओं को पकड़ कर पालतू बनाना शुरू कर दिया।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य अचानक माँसाहारी से दुग्धाहारी नहीं बन गया। जिन पशु को वह पाल सकता था उनसे दूध, ऊन इत्यादि लेने शुरू कर दिये और जो पशु या तो पाले नहीं जा सकते थे या दूध, ऊन, आदि की दृष्टि से उपयोगी नहीं थे उन्हें मारकर वह उनका माँस खाता रहा। इस प्रकार मनुष्य के जीवन को दो आधार मिल गये, पालतू पशु का दूध इत्यादि और जंगली पशुओं का मांस।

निश्चय ही इस अवस्था में मनुष्यों का जीवन पहले से अधिक सुधर गया था। अब वे एक स्थान पर न रहते थे बल्कि अपने पशुओं को लेकर चराहगाहों की खोज में इधर से उधर घूमा करते थे। ये अकेले-अकेले न निकलते थे वरन् झुण्ड के झुण्ड अपने पशुओं को लेकर घास की तलाश में चलते थे और जहाँ पर घास दिखाई पड़ती थी वहीं डेरा डालकर पशुओं को चराते थे। सारा समुदाय सब के पशुओं की देख-भाल करता था। इस काल में सहयोगी प्रवृत्ति अर्थात् सहकारिता का विकास हुआ।

इस अवस्था में सामाजिक जीवन अधिक विकसित हो गया था। पृथक परि-वारों का बनना आरम्भ हुआ। पुरुष विवाह करते थे तथा धनिक पुरुष कई-कई

पत्नियां रखते थे। पारिवारिक जीवन संगठित हुआ और उसके भीतर पिता अथवा कुल-वृद्ध का अनुशासन माना जाने लगा, यहां तक कि उसे अपने परिवार के किसी भी व्यक्ति के प्राण लेने तक का अधिकार था। स्त्रियाँ गृहस्थ का प्रायः सभी काम करती थीं। उनका जीवन कठोर होता था। उन्हें पशुओं की देख-भाल भी करनी पड़ती थी। जिन लोगों का आपस में रक्त-संबंध होता था वे एक सङ्ग रहते थे। इसी से बाद में गोत्र नामक संस्था का विकास हुआ।

मनुष्यों के इन चरवाहे-झुण्डों में परस्पर युद्ध हो जाते थे।। घास के मैदानों पर अधिकार जमाने के लिये ये आपस में लड़ पड़ते थे। जिस झुण्ड के सदस्यों की संख्या अधिक होती थी प्रायः वह ही जीतता था अतः इस बात का प्रयत्न किया जाता था कि झुण्ड में अधिक से अधिक सदस्य हों। इस अवस्था में झुण्ड शिकारी अवस्था की अपेक्षा बड़े होते थे। जो व्यक्ति झुण्ड के भीतर सबसे बड़ा और वयोवृद्ध होता था वही ऐसे संघर्षों में नेतृत्व करता था। इस प्रकार राजपद की संस्था (इंस्टी-ट्यूशन आफ किंगशिप) का जन्म हुआ। ये युद्धों के समय युद्ध-संचालन करते थे और शांति काल में झुण्ड के भीतर होने वाले आपसी झगड़ों का निपटारा अर्थात् न्याय का प्रशासन (एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस) करते थे।

इस काल में मनुष्यों के पास सम्पत्ति होती थी। पशु ही इनकी दौलत थे। जिसके पास सबसे अधिक पशु होते थे वह धनी माना जाता था और उसका सब सम्मान करते थे। ये लोग अपने पुरखों और प्रकृति के पुजारी थे। यही इनका धर्म था।

इस युग में नागरिक जीवन विकसित होने लगा, अधिकार, कर्त्तव्य तथा सहकारिता के नियमों की रचना धीरे-धीरे हुई तथा कुलपिता व समुदाय के नेता का अनुशासन मानने की भावना भी बढ़ती गई। इस प्रकार पहले की अपेक्षा यह अधिक सुधरा हुआ युग था।

(३) कृषि-अवस्था

यह मानव जीवन के विकास क्रम की तृतीय सीढ़ी है। चरागाहों की खोज में इधर से उधर घूमते हुए मनुष्य को नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त हुए। सबसे पहले तो उसने देखा कि पशु धरती में उगने वाली घास और पत्तियों को खाकर जीवित ही नहीं रहते वरन् उससे कहीं अधिक स्वस्थ और बलवान बनते हैं। इससे उसे धरती की घास आदि की जीवनी-शक्ति पर विश्वास हो गया, दूसरे, उसने तरह तरह की घासें देखीं। उन घासों के बीज देखे। जब घास की कमी होने लगती तो उसे यह कल्पना सूझी कि घास का बीज बोकर घास उगाई जाये। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने झोंपड़े बनाकर और पेड़ों के तले बसना शुरू किया तथा धरती पर खेती शुरू कर दी।

खेती का काम अधिक जटिल था। सबसे पहली समस्या मकान बनाने की उठी, उसके बाद हल, बैल, बीज, खाद आदि खेती के साधनों का प्रश्न था। खेती के युग में मनुष्य की आवश्यकताएं पहले की अपेक्षा बढ़ गईं। पशुपालन अवस्था में

शिकारी अवस्था की अपेक्षा सहयोग की मात्रा बढ़ी थी अब कृषि अवस्था में पशु-पालन अवस्था से भी अधिक सहयोग बढ़ा और काम का बंटवारा (डिवीजन आफ लेबर) आरम्भ हुआ। अब समाज की पुनर्रचना हुई। शक्ति और सम्पत्ति का नया स्रोत खुल गया था अर्थात् शिकार व पशुपालन से मिलने वाली दौलत के अलावा धरती की उपज भी मिलने लगी। अब कृषक केवल खेती में लग गया तथा खेती के चारों ओर सहयोगी धन्धों का जन्म हुआ जैसे बढ़ई, लोहार आदि। साथ ही किसान खेत छोड़कर लड़ने को नहीं जा सकता था अतः लड़ने के लिए एक अलग वर्ग बना, जिसे योद्धा कहा गया, बाद में यही क्षत्रिय कहलाये। किसान अपने स्थिर जीवन में फँसकर एक जगह बैठ गया तथा उसके प्रवासी-जीवन का अन्त हो गया।

इस युग में सामाजिक जीवन अधिक जटिल हो गया, वर्ग विभेद और श्रेणी विभाजन अधिक गहरा हुआ तथा नागरिकता का उदय हुआ। गांव के निवासी वहां के नागरिक अथवा अधिकार प्राप्त निवासी माने जाते थे तथा बाहर से आकर बसने वाले लोग विजातीय अथवा विदेशी कहलाये। इन्हें दास भी कहा जाता था।

शासन व्यवस्था का भी विकास हुआ तथा ग्राम शासन की स्थापना हुई। यद्यपि यह सब एक अत्यन्त आरम्भिक अवस्था में और अविकसित था तथापि इनके भीतर भावी राज्य और शासन रचना के अंकुर विद्यमान थे।

'पशुपालन अवस्था में रक्त के सम्बन्ध अर्थात् गोत्र से सामुदायिक भावना उत्पन्न हुई थी। कृषक अवस्था में एक ही जगह रहना अथवा पड़ौसी भाव सामाजिकता की भावना का आधार हो गया। बाद में चलकर नागरिकता की नींव इसी पर रखी गई।

यह काल सभ्यता के उत्कर्ष का युग था। इसमें ग्राम-राज्यों का ही नहीं साम्राज्यों का भी निर्माण हुआ। यूनान और रोम की सभ्यताओं का उदय इसी अवस्था में हुआ था। इस अवस्था से कला और संस्कृति का पर्याप्त विकास हुआ तथा राज्य शासन तथा अन्य सभ्य समाज की धारणायें व संस्थाएँ इसी युग में विकसित हुईं। प्रथा परिपाटी के अनुसार कानून बने परन्तु फिर भी इस युग में रूढ़ियों का जोर रहा लोग अपने परम्परागत रिवाजों से चिपटे रहने के अभ्यस्त थे। इस प्रकार यह युग सीमित क्षेत्रों के भीतर प्रगति और विकास का युग था।

(४) औद्योगिक अवस्था

कृषि अवस्था में मनुष्य को पर्याप्त अवकाश मिला तथा जीवन साधनों की प्रचुरता भी थी। इससे उसे ज्ञान की आराधना और नये-नये क्षेत्रों में खोज करने का अवसर मिला। विज्ञान ने प्रगति की तथा प्रकृति के नये-नये रहस्य मनुष्य के मस्तिष्क के सामने खुलने लगे इससे उसे प्रकृति की शक्तियों के उपयोग की प्रेरणा हुई और भाप, पानी बिजली गैस इत्यादि की सहायता से उसने उत्पादन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर डाला। रेल, तार, डाक, रेडियो, वायुयान, जलयान, आदि ने सारे संसार

को एक परिवार जैसा बना दिया। उधर महायुद्धों के कारण महान् विनाश हुआ और उसकी पूर्ति के लिए बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरू हुआ। इस युग की संस्कृति का आधार उद्योगों पर आश्रित है। कहा जाता है कि आज मनुष्य अपनी सभ्यता के चरम शिखर पर है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में खोज और अन्वेषण के द्वारा मनुष्य ने अपने लिये सुख व समृद्धि प्राप्त कर ली है।

परन्तु इस युग में इतने ज्ञान और विज्ञान के होते हुए भी अशान्ति और कलह चारों ओर फैली हुई है। इसका कारण यह है कि और सब क्षेत्रों में तो मनुष्य ने खोज व प्रगति की है परन्तु मानवता के क्षेत्र में वह पिछड़ा हुआ है। मानवीय गुणों का उचित आदर अभी उसके भीतर नहीं है। जब तक मनुष्य स्वार्थी परायण तथा संकीर्ण क्षेत्र के भीतर सीमित रहेगा मानवता का विकास असम्भव है। आज के युग में जहां एक ओर समृद्धि का शासन है वहीं दरिद्रता की भी कोई सीमा नहीं है, शोषण और अत्याचार सर्वत्र फैला हुआ है। इस सबको दूर करके सुखी समाज के निर्माण के लिए यह अनिवार्य है कि प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के सुख व शान्ति का भी ध्यान रखे। इसी शिक्षा के लिए नागरिक-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

वर्तमान समाज का स्वरूप

स्वरूप—वर्तमान समाज की रचना एवं उसका स्वरूप अत्यन्त जटिल (काम्पलैक्स) है। मनुष्य जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं की भाँति समाज का संगठन आज सरल नहीं रहा है। मनुष्य ने युगों में इकट्ठे होने वाले अनुभव और ज्ञान के बल पर नई-नई संस्थाओं का निर्माण किया है तथा नवीन भावनाओं को जन्म दिया है। आज मनुष्य असंगठित रूप में समाज का सदस्य नहीं रहा है। वह अपनी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विविध संस्थाओं व समुदायों का सदस्य बनता है तथा उसका व्यक्तित्व पहले की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल हो गया है। मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ गई हैं तथा पारस्परिक सहयोग, श्रम-विभाजन तथा काम के बँटवारे की योजनाओं द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

जैसा पीछे कह चुके हैं वर्तमान युग औद्योगिक अवस्था के नाम से पुकारा जाता है। आज मनुष्य की सभ्यता प्रधान रूप से ग्रामीण नहीं है वरन् वह नगरों की सभ्यता है। समाज के आधुनिक स्वरूप को समझने के लिए हमें उसके संगठन पर एक दृष्टि डालनी होगी। समाज की प्रथम इकाई परिवार है। आधुनिक परिवार की विशेषता यह है कि इसमें पति-पत्नि और उनके बच्चे ही होते हैं। कृषि काल में परिवार बहुत बड़े होते थे।

समाज की दूसरी इकाई में विविध समुदाय आते हैं। सर्वप्रथम समुदाय का अर्थ जान लेना आवश्यक है। समुदाय (१) मनुष्यों का वह समूह होता है, (२) जिसके भीतर से अपने समान हितों अथवा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए (३) संगठित रूप से कार्य करते हैं। मनुष्य जीवन की आवश्यकताएँ विविध प्रकार की है। किसी एक

समुदाय के भीतर वह सबकी पूर्ति नहीं कर सकता। अतः विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भिन्न-भिन्न समुदायों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार पारिवारिक जीवन के पश्चात् मनुष्य जीवन का एक बड़ा भाग अनेकों समुदायों के भीतर कटता है। इन समुदायों में आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक मनोरंजन सम्बन्धी समुदाय तथा राज्य बहुत प्रमुख है। इन समुदायों का एक केन्द्रीय संगठन होता है। उनका एक अनुशासन भी होता है। समुदाय के भीतर व्यक्ति अपने हितों की पूर्ति करता है और उसे समुदाय के नियमों तथा अनुशासन का पालन भी करना पड़ता है।

मनुष्य समाज के संगठन में प्रथा, परम्परा और रीति रिवाज का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। जो प्रथायें समाज के जीवन में घर कर जाती हैं वे संस्था का रूप ले लेती है तथा कभी कभी रूढ़ि बन जाया करती हैं जैसे विवाह पद्धति, दण्ड-व्यवस्था, छुआ-छूत, वैधव्य, बाल-विवाह, सम्मिलित कुटुम्ब आदि। समाज की व्यवस्था बड़ी मात्रा में इन व्यवस्थाओं अथवा संस्थाओं के आधार पर चलती है।

धार्मिक विश्वास भी समाज की रचना पर प्रभाव डालते हैं। यह प्रभाव भारत मे विशेष रूप से दिखाई पड़ता है। यहाँ जीवन को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया गया है। तथा सवेरे से शाम तक के प्रत्येक कार्य और जन्म से मरण तक की प्रत्येक कार्य के साथ धर्म और ईश्वर का सम्बन्ध है।

परिवर्तन—अन्त में यह कहना उपयुक्त होगा कि आधुनिक समाज विज्ञान की नई खोजों के साथ बदल रहा है। नये नये आविष्कारों ने मनुष्य की आखें खोल दी हैं। आज वह अपनी पुरानी धारणाओं और अपने पुराने विश्वासों को छोड़कर नवीन सत्यों को पहचान रहा है। समाज का रूप बदलता जा रहा है। कृषि-युग से हम आज औद्योगिक युग में आ गये हैं जहाँ मानव यन्त्रों और प्राकृतिक शक्तियों के बल पर अमर्याद उत्पादन कर रहा है। यह सब विज्ञान की ही देन है परन्तु यह मानना गलत होगा कि कोरा विज्ञान हमें कल्याण की ओर ले जा सकेगा। आध्यात्मिक चेतना से शून्य व्यक्तियों के हाथों में विज्ञान की शक्तियों का परिणाम वही होगा जो कि दो विश्व युद्धों के रूप में हमारे सामने आ चुका है। आज भी तीसरे महायुद्ध के बादल हमारे सिर पर मंडरा रहे हैं। कारण यही है कि समाज को विज्ञान पर आधारित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। वास्तव में समाज का आधार विज्ञान नहीं हो सकता वरन् समाज तो उन मनुष्यों पर टिका होता है जिनके भीतर मानवता कूट-कूट कर भरी हो। आज का भौतिकवाद हमें मानवता से बहुत दूर ले जा रहा है जिसके कारण साधनों के होते हुए भी मनुष्य कष्टमय और अशांतिपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

दोष—(१) वर्तमान युग का एक दोष है कि आज व्यक्तिवाद का बोल बाला है। समाज से मिलने वाले अधिकारों को तो सब भोगना चाहते हैं परन्तु उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने से जी चुराने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है जैसा पीछे

कह चुके हैं समाज तो वास्तव में व्यक्तियों के पारस्परिक आदान प्रदान का एक क्रम है यदि इसके भीतर सभी अपने सुख चिन्ता में मग्न रहें तो समाज आखिर विश्रृंखल हो जायेगा।

(२) भारतीय समाज की एक अन्य कमी अशिक्षा है। सदियों की पराधीनता ने भारत की प्राचीन शिक्षा प्रणाली को नष्ट कर डाला। आज जो कुछ थोड़ी बहुत शिक्षा है तथा स्वतन्त्र देश का शासन इस दिशा में जो कुछ प्रयास कर रहा है वह अभी तक अपूर्ण है।

योग्यता-प्रश्न

१. समाज की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या एवं आलोचना कीजिए।
Explain and elucidate different theories about the origin of society.

२. सामाजिक विकास की विविध अवस्थाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।
Describe the various stages of the growth of society.

३. आधुनिक समाज के स्वरूप और उसकी कमियों पर प्रकाश डालिए।
Give an account of the particular features of the modern society and point out its defects.

४. समाज एक रचना नहीं है वह एक दीर्घकाल में होने वाले स्वाभाविक विकास का परिणाम है। समाज की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों को प्रसंग देकर स्पष्ट कीजिए।
Society is not a make, it is the result of a natural growth during a long period of time. Explain with reference to the different theories about the origin of state.

५. 'मनुष्य अपने स्वभाव तथा आवश्यकता दोनों से एक सामाजिक प्राणी है।' उदाहरण देकर इस कथन की व्याख्या कीजिए।
'Man is a social animal by habit and by necessity'. Elucidate.

६. मनुष्य के लिए समाज का क्या महत्व है ? विस्तार से समझाइये।
What is the importance of society for man ? Discuss in detail.

७. मनुष्य और समाज का क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण सहित समझाइये।
What is the relationship between man and society ? Illustrate and explain.

—o::o—

अध्याय ३

समुदाय

[संघ (समुदाय) में एकता का होना सुखकर है और मिलकर तप (कार्य) करना सुखकर है ।]

—महात्मा बुद्ध

ग्रीक दार्शनिक अरस्तु ने कहा है कि मनुष्य स्वयं अपने में पूर्ण नहीं है, वह अपूर्ण है। वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति अकेला नहीं कर सकता। इसी कारण उसे अपनी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य समान आवश्यकता वाले मनुष्यों के साथ मिलकर कार्य करना पड़ता है। जब एक समान आवश्यकता वाले मनुष्य अपने समान हित की पूर्ति के लिए एक विशेष संघ में स्वेच्छा से संगठित हो जाते हैं उसी को समुदाय का नाम दिया जाता है। समुदाय समाज के ही अभिन्न अंग हैं। वे व्यक्तियों से मिलकर निर्मित हैं और उनसे समाज। वास्तव में समाज इन समुदायों का एक संघ है।

समुदाय (एसोसियेशन)

अनेकों मनुष्य अपने भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अलग-अलग संगठनों का निर्माण कर लेते है। प्रत्येक संगठन में एक साथ मिलकर कार्य करने के नियम बन जाते हैं जिनका उसके सदस्य पालन करते हैं। इस प्रकार के प्रत्येक संगठन को समुदाय कहते हैं। समुदाय के भीतर ६ तत्व होते हैं—(१) मनुष्य, (२) उसका एक सम्मिलित उद्देश्य, (३) संगठन, (४) सम्मिलित कार्य, (५) संगठन के नियम तथा (६) नियमों का पालन।

एक ही मनुष्य एक साथ अनेकों समुदायों का सदस्य हो सकता है, इतना ही नहीं यह उसके पूर्ण विकास के लिये आवश्यक भी है। उदाहरण के लिये एक व्यक्ति पारिवारिक सुख की प्राप्ति के लिए 'परिवार' में रहता है; आर्थिक हितों की रक्षा के लिये 'आर्थिक समुदाय' का सदस्य बनता है जैसे श्रमिक संघ, किसान संघ, लेखक संघ, वाणिज्य-व्यवसाय संघ आदि; राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये वह राजनीतिक समुदाय बनाता है जैसे कांग्रेस, प्रजा-समाजवादी दल, साम्यवादी दल, इसी प्रकार वह मनोरंजन के लिये किसी क्लब अथवा क्रीड़ागृह की सदस्यता स्वीकार करता है तथा धार्मिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि के लिए सांधना-गृह, सत्संग अथवा आर्य-समाज जैसे 'धार्मिक समुदायों में से किसी में जाता है। यहाँ यह उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा कि राज्य भी एक समुदाय है। अन्य समुदायों की भांति इसका भी एक निश्चित उद्देश्य होता है, सदस्यता होती है संगठन होता है, नियम होते हैं, आज्ञापालन तथा सम्मिलित कार्य भी होता है।

समुदायों का महत्व

समुदायों का वर्गीकरण करने से पूर्व मनुष्य के जीवन में उनके महत्व का वर्णन करना अधिक आवश्यक प्रतीत होता है जैसे हम पीछे कह चुके हैं। समुदायों का निर्माण भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होता है परन्तु देखना यह है कि समुदाय यह कार्य किस प्रकार करते हैं तथा उनकी उपयोगिता आज इतनी अधिक क्यों बढ़ गई है ? एक समय था जब मनुष्य जीवन बहुत ही सरल होता था, बहुत सी संस्थाएं नहीं थीं तथा केवल परिवार और कबीले (ट्राइब) के भीतर रहकर ही वह अपने जीवन को बिताता था परन्तु आज यह विकास जटिलता की ओर बढ़ता जा रहा है। सामाजिक-रचना आज उतनी सरल नहीं है। वर्तमान-युग में संस्थाओं और संगठनों की बाढ़ सी आ गई है। इसका एक कारण तो यह है कि मनुष्यों में परस्पर सहयोग की भावना बढ़ गई है, दूसरे, आवश्यकताएँ भी बहुत बढ़ गई हैं जिनकी पूर्ति अकेले मनुष्य के लिये अपने आप करना सम्भव नहीं है। समुदाय निम्न कार्य करते हैं :—

(अ) **सदस्यों के मध्य निकट सम्बन्धों की स्थापना**—एक ही उद्देश्य को लेकर जब बहुत से व्यक्ति एक साथ मिलकर बैठते हैं तो उनके मध्य घनिष्ठता बढ़ती है। वे एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आते हैं तथा निरन्तर सम्मिलित रूप से कार्य करते रहने का परिणाम यह होता है कि वे एक दूसरे के निकट सहयोगी बन जाते हैं। उनके भीतर सहयोग की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। इस प्रबल सहयोग की वृत्ति से कार्यों में कुशलता आती है तथा अन्त में उद्देश्य की सफलता सरल हो जाती है। एक दूसरे की मनोभावनाओं को समुदाय के भीतर ही समझा जा सकता है तथा कठिनाइयों में पारस्परिक सहायता भी वहाँ सुलभ हो जाती है।

(आ) **निर्णयों की परिपक्वता**—समुदाय के भीतर उद्देश्य की प्राप्ति के साधनों पर विचार-विमर्श होता है बहुत से व्यक्तियों के एक साथ मिलकर बैठने और सोचने से नई-नई सूझें आती हैं, नये-नये विचार और अनुभव भसामने आते हैं। जिसके कारण निर्णय परिपक्व होते हैं। इस प्रकार समुदाय के सदस्यों का मानसिक व बौद्धिक स्तर ऊँचा उठता है तथा लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सुगम और सरल मार्ग भी ज्ञात हो जाता है।

(इ) **संगठित शक्ति**—कोई अकेला व्यक्ति जब अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य करता है तो उसके पीछे उसकी अपनी ही शक्ति होती है परन्तु सामुदायिक-निर्णयों के पीछे उसके अनेकों सदस्यों का बल होता है। अकेला व्यक्ति किसी सीमा तक ही कष्ट सहन करता है, अन्त में घबरा उठता है। परन्तु समुदाय के भीतर रहने पर आने वाले संकट हल्के पड़ जाते हैं। एक दूसरे से बल मिलता है तथा एक सामुदायिक-भावना और बलिदान की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। आज का युग जनतंत्र का युग है, इसमें जनशक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। जिस निर्णय के पीछे जनता

की संगठित शक्ति होती है उसके सामने राज्य-शासन तक को भी अन्त में झुकना पड़ता है। एक मजदूर अपने असंगठित रूप में अकेले अपना वेतन बढ़ाने में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता परन्तु यदि ऐसे सभी मजदूर मिलकर एक समुदाय बना लें और फिर सम्मिलित होकर आंदोलन छेड़ दें तो बड़ी मात्रा तक सफलता की आशा की जा सकती है। बिखरी हुई जन-शक्ति समुदाय के भीतर संगठित हो जाती है तथा व्यवस्थित ढंग से सारे कार्य शीघ्रता और कुशलता पूर्वक सम्पन्न हो जाते हैं।

(ई) **सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास**—समुदाय के भीतर सामूहिक विचार, सामूहिक-कार्य (ज्वाइन्ट ऐक्शन) तथा सामूहिक-जीवन होता है। इसके अतिरिक्त समुदाय अपने सदस्यों की हित-साधना और उनके अधिकारों की रक्षा करते हैं इतना ही नहीं वे उन्हें अधिक से अधिक अधिकार दिलाने का प्रयत्न भी करते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है। अधिकार मानव-विकास की अवस्थाओं का ही दूसरा नाम है। अधिकार मानव-जीवन की वे दशाएँ हैं जिनके प्राप्त हो जाने पर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठा सकता है। समुदाय व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व के विकास में सहयोग देता है। साथ ही सामूहिक क्रिया के परिणाम-स्वरूप अलग-अलग व्यक्तियों के समय, धन और बल की बचत होती है जिसका सदुपयोग वे अन्य कार्यों में कर सकते हैं सामूहिक जीवन से सहकारिता व सहयोग की भावना दृढ़ होती है तथा मनुष्य का सामाजिक-जीवन विकसित होता है। साथ-साथ रहने से नये-नये प्रश्न उठते हैं, विचारों का आदान-प्रदान तथा विचार संघर्ष होता है। इसमें मनुष्य को सोचने का अवसर मिलता है, तथा उसका बौद्धिक स्तर ऊँचा उठता है।

समुदाय के भीतर व्यक्ति अनुशासन का पालन करना सीखता है। प्रत्येक समुदाय के कुछ नियम होते हैं जिन पर चलना उसके प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य होता है। नियम पालन करने का अभ्यास सभ्य जीवन का पहला लक्षण है। यह गुण समुदायों के भीतर दृढ़ होता है। परिवार ऐसा पहला समुदाय है जिसके भीतर व्यक्ति स्वार्थ त्याग, अनुशासन का पालन और सहयोग-कार्य की शिक्षा पाता है।

समुदाय के भीतर ही व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है। उसे नैतिक प्रगति करने का अवसर मिलता है। पग-पग पर सत्य असत्य का निर्णय करना होता है यह देखना होता है कि हमारे कार्यों का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार व्यक्ति की नैतिक चेतना को बल मिलता है।

व्यक्ति की प्रतिभा भी समुदाय के भीतर ही उज्ज्वल होती हैं। समुदाय के भीतर व्यक्ति मंजता है। कई बार उसे दूसरों के साथ उनकी बात मानकर चलना पड़ता है और कई बार वह अपने पीछे दूसरों को ले चलता है इससे उसकी नेतृत्व शक्ति जागृत होती है। उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न होता है। निकट सम्पर्क में रहने के कारण उसके गुण-दोष पग-पग पर प्रकट होते रहते है। गुणों के प्रकट होने से उसके भीतर एक प्रकार का आत्म-संतोष होता है जो नैतिक प्रगति और आत्मविश्वास के लिए आवश्यक है। दोष पता लगने पर उसे अपने सुधार का मौका मिलता है।

एक ओर समाज का भय दूसरी ओर आत्मोन्नति की प्रबल इच्छा उसे श्रेष्ठता की ओर जाने में सहायता प्रदान करती है।

सामुदायिक जीवन हमारे विकास के लिये परम आवश्यक है। जीवन के विविध हितों तथा अनेकों आवश्यकताओं की पूर्ति हम तब तक नहीं कर सकते जब तक कि उनके लिये हम अपने जैसे समान हितों और आवश्यकताओं वाले मनुष्य के साथ मिलकर संगठित व व्यवस्थित कार्य न करें। समुदाय एक ओर तो हमारे अधिकारों की रक्षा करते हैं। दूसरी ओर हमें नये अधिकार दिलाने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

मनुष्य और समुदाय

मनुष्य के जीवन में समुदायों का क्या महत्व है, इस प्रश्न का उत्तर हम पीछे दे चुके हैं। यहाँ इस विषय में अन्य प्रश्नों का उत्तर देना होगा। जैसे—मनुष्य व समुदाय के मध्य क्या सम्बन्ध है ? यह सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है। समुदाय के प्रति व्यक्ति के क्या कर्त्तव्य हैं ? विविध समुदायों के मध्य निष्ठा का संघर्ष (कान-फ्लिक्ट ऑफ लॉयल्टीज) पैदा होने पर व्यक्ति को क्या करना चाहिये ?

सम्बन्ध—अपनी अलग-अलग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यक्ति अलग-अलग समुदायों में सम्मिलित होता है। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि समुदायों का उद्देश्य किसी विशेष व्यक्ति की इच्छा को पूरा करना नहीं होता, बल्कि अपने सभी सदस्यों के किसी समान उद्देश्य को पूरा करना होता है अतः उसके भीतर सभी व्यक्तियों का समान स्थान होता है। समुदायों का अन्तिम साध्य (लक्ष्य) मनुष्य नहीं बल्कि उनके अलग-अलग हित हैं। इन पृथक हितों की पूर्ति के लिये ही प्रत्येक समुदाय कार्य करता है जैसे मनोरंजन के सम्बन्धी समुदायों—क्लब (क्रीड़ागृह), नाटक-घर आदि को इस बात से कोई प्रयोजन नहीं है कि उनके सदस्यों का आर्थिक-हित कैसे सधेगा। उन्हें तो उनके स्वास्थ्य और मनोरंजन के लिए ही कार्य करना होता है। इस प्रकार प्रत्येक समुदाय व्यक्ति के एक अंश का प्रतिनिधित्व करता है। उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का नहीं और उसी सीमा तक वह समुदाय व्यक्ति की निष्ठा (लॉयल्टी) का पात्र भी होता है।

सम्बन्ध का अधिकार—कुछ समुदाय तो ऐसे हैं जिनके भीतर व्यक्ति आरम्भ से ही रहता है अर्थात् वह उनके भीतर ही जन्म लेता है जैसे परिवार, राज्य और जाति तथा कुछ समुदायों की सदस्यता वह अपनी इच्छानुसार स्वीकार करता है जैसे आर्थिक, राजनीतिक व साँस्कृतिक समुदाय। इस प्रकार व्यक्ति और समुदाय के मध्य दो प्रकार से सम्बन्ध स्थापित होते है—(१) जन्मजात सम्बन्ध, और (२) ऐच्छिक सम्बन्ध। जिन समुदायों से व्यक्ति के सम्बन्ध जन्मजात होते हैं उन्हें अनिवार्य कहा जाता है तथा अपनी अवधि के हिसाब से वे 'स्थायी' होते है। ऐच्छिक सम्बन्ध वाले समुदाय प्रायः 'ऐच्छिक' तथा 'अस्थायी' होते हैं, जिन्हें कार्य की पूर्ति पर भंग किया जा सकता है।

कर्त्तव्य—जब हम कहते हैं कि समुदाय व्यक्ति के पृथक-पृथक हितों की पूर्ति

करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि समुदायों का कोई अलग से व्यक्तित्व होता है। वास्तव में समुदाय अपने सदस्यों का संगठन होता है, उनका विचार ही समुदाय का विचार है, उनकी कार्य-शक्ति समुदाय की शक्ति और उनका संगठित व्यक्तित्व ही समुदाय का आधार होता है। समुदाय व्यक्ति के हितों की पूर्ति तभी कर सकता है जबकि उसके सदस्य उसके नियमों का पालन करें, उसके प्रति निष्ठा रखें तथा उसी मार्ग का अनुसरण करें जो कि समुदाय उनके लिये निश्चित करता है। इस प्रकार, यदि व्यक्ति चाहता है कि समुदाय उसके हितों व अधिकारों की रक्षा तथा उनकी अभिवृद्धि करे तो उसे नाना प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करना होगा जैसे यदि मजदूर चाहें कि मिल मालिक उनके वेतन और बोनस में बढ़ोतरी करें तो उन्हें मजदूर संघ का निर्माण करना होगा तथा उनके नियमों व निर्णयों का पालन करना होगा। जब 'मजदूर-संघ' निश्चय करे कि हड़ताल करनी है तो उसके सभी सदस्यों को तुरन्त हड़ताल करनी चाहिये चाहे उनके सम्मुख कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न आयें। तभी 'मजदूर-संघ' सामुदायिक शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है जिससे कि मिल-मालिकों पर दबाव पड़ेगा तथा वे माँगों को किसी अंश तक स्वीकार कर लेंगे। यदि मजदूरों में फूट हो और वे अपने संघ (यूनियन) के आदेशों का अनुसरण न करें तो सफलता की कोई आशा नहीं की जा सकती है।

निष्ठा संघर्ष—एक मनुष्य एक ही समय पर अनेकों समुदायों का सदस्य हो सकता है यह हम पीछे कह चुके है, यहाँ पर इससे उत्पन्न होने वाली एक व्यवहारिक समस्या पर विचार करना होगा। मनुष्य अपने प्रत्येक समुदाय के प्रति निष्ठा रखता है तथा उसके नियमों का पालन करता है, परन्तु यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि अनेक समुदायों के नियम और निष्ठायें परस्पर टकरा जायें तब व्यक्ति को क्या करना चाहिए। यह एक महत्वपूर्ण समस्या है। निष्ठा की सम्यक् व्यवस्था पर ही नागरिक जीवन का सुख अवलम्बित है। नागरिक शास्त्र का प्रधान उद्देश्य यही है कि वह इस समस्या का हल पेश करें।

निष्ठाओं के संघर्ष की स्थिति मे व्यक्ति को अपने संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठ कर अधिक उदारता पूर्वक कार्य करना चाहिये। शास्त्रों की आज्ञा इस प्रकार है कि परिवार के सुख के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान कर देना चाहिये। गाँव के सुख के लिये परिवार के हितों का, देश के सुख के लिए गांव के हितों का, संसार के सुख के लिये देश के हितों का और आत्मा के सर्वोच्च सत्य की प्राप्ति के लिए संसार का परित्याग कर देना उचित है। इससे यह बात स्पष्ट है कि जब कभी हमारे समुदायिक हितों में संघर्ष पैदा हो जाये तो हमें व्यापक-हितो (ब्राडर इन्ट्रैस्ट्स) की रक्षा करनी चाहिये।

सामंजस्य—नागरिक जीवन का सबसे बड़ा गुण यह है कि मनुष्य के विधि समुदायों के मध्य सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हों। यह तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति, जाति, धर्म, रंग, वंश, देश, संकीर्ण राष्ट्रीयता आदि के तंग दायरे में से निकल

कर अपने को प्रधान रूप से मनुष्य-समाज का सदस्य मानने लग जाये। आज व्यक्ति अपने को ब्राह्मण, जापानी, ईसाई, हब्शी, मद्रासी, मास्टर, डाक्टर और न जाने क्या समझते हैं। मनुष्य होकर भी जब हमें अपनी मनुष्यता का भान नहीं है तो किस प्रकार हमारे सामाजिक सम्बन्धों में सामंजस्य की स्थापना हो सकती है। कहीं अकाल पड़ता है तो हिन्दू-सेवा समिति धन और अन्न वस्त्र इकट्ठा करके हिन्दुओं में बाँटती है और मुस्लिम रिफाहे आम की संस्था मुसलमानों में। परन्तु क्या भूख और मौत भी मनुष्य को हिन्दू और मुसलमान करके पहचानती है? संकुचित विचार-क्षेत्र से निकलकर जब तक हम अपनी मनुष्यता को नहीं पहचानते, तब तक मानवता सुखी नहीं हो सकती। अपनी राष्ट्रीय महत्वाकाँक्षाओं की पूर्ति के लिये हम दूसरे राष्ट्र की निर्दोष जनता पर बमों की वर्षा करने और उन्हें तलवार के घाट उतराने में आखिर क्यों नहीं हिचकिचाते, केवल इसी कारण कि हमारी दृष्टि में हमारे देश की चाहरदीवारी के भीतर रहने वाले मनुष्य ही इन्सान हैं बाकी लोगों को हम वैसा नहीं मानते। लंकाशायर का मजदूर यह नहीं जानता था कि उसका पेट भरने के लिए हिन्दुस्तान के करोड़ों कातने और बुनने वालों को भूखे रहना पड़ता था। यह तो रही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की बात। देश के भीतर ही प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता तथा जातीयता आदि ने समाज की एकता और उसके सामंजस्य को खोखला कर रखा है।

समुदायों के मध्य निष्ठा का यह संघर्ष उठना ही नहीं चाहिये। यदि समुदाय अपने-अपने कार्यों को अपने विशेष उद्देश्य तक सीमित रखें तो ऐसा नहीं होगा। व्यक्ति के विविध हितों से मिलकर ही उसका व्यक्तित्व बनता है। इन विभिन्न हितों में कोई संघर्ष नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने पर उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जायेगा। तब फिर इन हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले समुदायों में भी संघर्ष नहीं होना चाहिये क्योंकि इससे उसकी शक्ति का नाश होता है, व्यक्ति का व्यक्तित्व बंट जाता है तथा उसके व्यक्तित्व का एक अंश उसके व्यक्तित्व के दूसरे अंश के विरुद्ध संघर्ष करने लगता है। इससे व्यक्ति का विकाश नहीं विनाश होगा। अतः यदि कभी ऐसी स्थिति आ जाय कि विविध समुदायों में संघर्ष हो जाये तो व्यक्ति को चाहिये कि वह किसी भी समुदाय को अपनी सम्पूर्ण निष्ठा न दे वरन् जिस समुदाय का उस पर जितना अधिकार है उसके प्रति उतनी ही निष्ठा रखकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करता चला जाए।

समुदाय और समाज

मनुष्यों के व्यापक संगठन को समाज कहते हैं। मनुष्य असंगठित रूप में समाज का सदस्य नहीं होता। वह अनेकों छोटे बड़े समुदायों में संगठित होता है। समाज इन समुदायों का एक विशाल संघ है। प्रत्येक समाज के भीतर उसकी आवश्यकताओं के अनुसार समुदाय होते हैं।

समाज के विकास में समुदायों का बड़ा महत्व है। समुदाय विभिन्न क्षेत्रों में

समाज का विकास करते हैं। तथापि समाज और समुदाय में बड़ा अन्तर होता है।

समाज पूर्ण है, समुदाय अपूर्ण है। समाज व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का विकास और उसका प्रतिनिधित्व करता है परन्तु समुदाय मानव जीवन के केवल एक पहलू का। समुदाय एक अंग है, वह समाज के भीतर बनता है, और समाज सम्पूर्ण है। एक व्यक्ति एक साथ अनेकों समुदायों का सदस्य ही हो सकता है। परन्तु वह अनेकों समाजों का सदस्य नहीं हो सकता। समाज बहुत व्यापक है वह देश काल से परे है अर्थात् उसकी कोई भौगोलिक सीमाएँ नहीं होतीं तथा वह निरन्तर भूत से भविष्यत् तक रहता है उसका कभी नाश नही हो सकता। समुदाय समाज की अपेक्षा संकीर्ण होता है। यद्यपि आधुनिक युग में अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों का निर्माण होने लगा है जैसे संयुक्तराष्ट्र-संघ (यू० एन० ओ०), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, अन्तर्राष्ट्रीय पोस्टल संघ, तथापि ऐसे समुदायों की संख्या सीमित ही है। अधिकांश समुदाय देश की सीमा के भीतर ही बनते हैं एवं वे प्राय: अस्थायी होते हैं कितने ही समुदाय बनते हैं और मिट जाते हैं। कुछ जन्मजात सदस्यता वाले अनिवार्य समुदायों जैसे—परिवार, जाति व राज्य को छोड़कर प्राय: सभी समुदायों का जीवन अनिश्चित होता है परन्तु समाज का जीवन अनन्त है, वह नित्य विकासमय है तथा उसकी परिधि निस्सीम है। अन्त में हम यों कह सकते है कि समाज साध्य है और समुदाय साधन। इसका अर्थ यह है कि समुदाय का ध्येय समाज के किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति करना होता है। जब कोई समुदाय अपने इस कार्य में असफल हो जाता है अथवा इस समाज के लिए हानिकारक सिद्ध होता है तो उसमें गम्भीर परिवर्तन किये जाते हैं, और यदि आवश्यक हो जाये तो उसे समाप्त भी किया जा सकता है। सामुदायिक-हित सामाजिक हित के विरुद्ध नहीं हो सकते उनके मध्य कोई होड़ अथवा प्रतियोगिता (स्पर्धा) नहीं होती। कोई भी समुदाय अपनी उपयोगिता खो देने पर जीवित नहीं रह सकता।

इस प्रकार समुदायों व समाज का घनिष्ट सम्बन्ध है। समुदायो के व्यवस्थित कार्य और उनके पारस्परिक सामंजस्य पर ही समाज का सुख व उसकी शाँति अव-लम्बित होती है। कोई समाज जितना ही अधिक विकसित होता है उसके भीतर उतने ही अधिक समुदाय होते है। और सामुदायिक जीवन में जितना अधिक सामंजस्य होता है समाज उतना ही अधिक सभ्य और सुसंस्कृत गिना जाता है।

समुदायों का वर्गीकरण

समाज में विविध प्रकार के समुदाय होते हैं। उनका वर्गीकरण हम निम्न आधारों पर कर सकते है :—

(अ) उद्देश्य (आ) चरित्र (इ) सत्ता तथा (ई) क्षेत्र।

(अ) उद्देश्य

समुदायों के वर्गीकरण का मुख्य आधार उनमें से प्रत्येक का उद्देश्य है। जिस प्रकार मनुष्य की आवश्यकताएँ अनगिनत हैं उसी प्रकार ये उद्देश्य भी अगणित हैं।

परन्तु सुविधा की दृष्टि से मनुष्य जीवन की प्रधान आवश्यकताओं के आधार पर इन उद्देश्यों को निश्चित कर लिया गया है। अधिकतर समुदाय इनमें से किसी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही बनते हैं :—

(१) रक्त-सम्बन्धी (किनशिप), (२) धार्मिक, (३) राजनीतिक, (४) आर्थिक (इकॉनॉमिक), (५) सांस्कृतिक (कल्चरल), (६) सेवा सम्बन्धी, (७) मनोरंजन सम्बन्धी।

१. **रक्त सम्बन्धी समुदाय**—मनुष्य समाज में सबसे पहले रक्त के आधार पर समुदायों का निर्माण हुआ। इनमें परिवार सर्वप्रथम था। यह सामाजिक जीवन का सर्व प्रथम संगठित समुदाय है।

एक ही पूर्वज की सन्तानों के अलग-अलग परिवार बने। वे परिवार एक समुदाय में संगठित हुए और उन्हें 'कुल' कहा गया। कुल के भीतर जितने परिवार होते थे उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध नहीं होता था। ये कुल ही सम्भवतः आगे चल कर 'गोत्र' बने।

अनेक कुलों से मिलकर 'जन' का निर्माण हुआ। एक जन में एक ही नस्ल के लोग होते थे। ये जन राजनीतिक समुदाय थे।

आधुनिक काल में रक्त-सम्बन्ध के आधार पर जाति नामक समुदाय बना। जाति समान रक्त वाले परिवारों का समुदाय है, इसमें अनेकों 'गोत्र' होते है। जाति के भीतर पृथक गोत्रों के बीच विवाह सम्बन्ध होते हैं। यह जाति प्रथा अब टूट रही है, फिर भी इसका प्रभाव बहुत गहरा है।

२. **धार्मिक समुदाय**—मनुष्य शरीर ही नहीं आत्मा भी है। आत्मा की उन्नति के लिए संसार में अनेक धर्म प्रचलित हुए। एक ही धर्म के मानने वाले लोग अपना अपना धार्मिक समुदाय बनाते हैं तथा उसमें अपनी धार्मिक अर्थात् अध्यात्मिक साधना करते है। धार्मिक-समुदाय मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक हैं परन्तु जब वे संकीर्णता में फँसकर सम्प्रदायवाद का रूप ले लेते हैं तो वे समाज के हितों के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं; यह ध्यान रखना चाहिये।

३. **राजनीतिक समुदाय**—मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है राज्य उसका सबसे पहला राजनीतिक समुदाय है जिसका सदस्य वह जन्म से ही बन जाता है। लोकतन्त्र के इस युग में राज्य के शासन में भाग लेने के लिए व्यक्ति राजनीतिक दल बनाता है। ये राजनीतिक-दल राजनीतिक समुदाय हैं।

४. **आर्थिक समुदाय**—मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोई न कोई काम-धन्धा करता है अपने धन्धे या रोजगार की समस्याओं को हल करने के लिए वह अपने जैसे दूसरे लोगों के साथ मिलकर जो समुदाय बनाता है उन्हें आर्थिक समुदाय कहते हैं, जैसे मजदूर-संघ, व्यापार-संघ आदि।

५. **सांस्कृतिक समुदाय**—मनुष्य एक संस्कृति प्रधान प्राणी है अतः उसे सांस्कृतिक समुदाय भी बनाने पड़ते हैं। इनमें सबसे पहले शिक्षा-सम्बन्धी समुदाय आते हैं,

जैसे विद्यालय, महाविद्यालय इनके अतिरिक्त साहित्य, संगीत, कला आदि ललित कलाएं भी संस्कृति का अभिन्न अंग हैं और इनकी साधना के लिए भी मनुष्य विविध समुदाय बनाता है, जैसे लेखक-संघ, नाटक-परिषद्, संगीत परिषद् ।

६. **सेवा सम्बन्धी समुदाय**—मनुष्य के जीवन की सार्थकता सेवा में होती है । सेवा सबसे बड़ा मनुष्य-धर्म है । आवश्यकता पड़ने पर दूसरों की सेवा करना मनुष्य का स्वभाव है । इसके लिए वह समुदाय बनाता है, जैसे मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी, भारत-सेवक समाज, हरिजन सेवक संघ आदि ।

७. **मनोरंजन सम्बन्धी समुदाय**—काम से थक कर आदमी अपना मन बहलाना चाहता है उसके लिए क्रीड़ागृह या क्लब बनाये जाते है । इन्हें मनोरंजन के समुदाय कहते हैं । ये समुदाय मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक हैं ।

(आ) चरित्र

चरित्र का अर्थ होता है प्रकृति । हम समुदायों को उनके चरित्र, प्रकृति अथवा स्वभाव के आधार पर भी विभाजित कर सकते हैं । कुछ समुदाय व्यक्ति के जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक अथवा अनिवार्य होते हैं जिनके बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं है तथा कुछ का निर्माण वह अपने विकास के लिए करता है । जो समुदाय मनुष्य के अस्तित्व के लिये अनिवार्य हैं उन्हें 'अनिवार्य' समुदाय कहा जाता है । ये अनिवार्य समुदाय 'स्वाभाविक' अथवा 'नैसर्गिक' (प्राकृतिक) होते है इनका निर्माण मनुष्य नहीं करता वरन् ये अनन्त काल से चले आ रहे हैं इनका धीरे-धीरे विकास हुआ है । ये अनिवार्य-स्वाभाविक समुदाय होते है । ये मनुष्य जाति के आदि काल से आज तक किसी न किसी रूप में चले आ रहे हैं और इसी प्रकार आगे भी कायम रहेंगे । इन्हे तोड़ा नहीं जा सकता । ये मनुष्य की स्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति करते है जिस प्रकार भोजन की आवश्यकता मनुष्य के जीवन में निरन्तर रहती है उसी प्रकार परिवार, जाति और राज्य की आवश्यकता भी उसके अस्तित्व व सभ्य जीवन के लिये हर क्षण रहती है । इस प्रकार चरित्र अथवा प्रकृति की दृष्टि से प्रथम कोटि के समुदाय (१) स्थायी अनिवार्य-स्वाभाविक समुदाय हैं । इसी दृष्टि से दूसरी कोटि के समुदाय (२) अस्थायी ऐच्छिक कृत्रिम समुदाय हैं । अपनी अवधि के हिसाब से ये समुदाय सदा रहने वाले नहीं होते । ये आवश्यकता होने पर बनते और आवश्यकता पूर्ण होने पर मिटते रहते हैं । वास्तव में ये मनुष्य जीवन की अस्थायी आवश्यकताओं की पूर्ति करते है, इसीलिये ये अस्थायी होते हैं । ये ऐच्छिक भी होते हैं क्योंकि व्यक्ति चाहे तो इनका सदस्य बने या न बने । ऐसे समुदायों का सदस्य न बनने से उसके अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । मनुष्य किसी धार्मिक, साँस्कृतिक अथवा सेवा-सम्बन्ध समुदाय का सदस्य न बने तो उसके जीवन को कोई खतरा नहीं पैदा हो सकता । वह किसी भी धार्मिक समुदाय जैसे आर्य समाज या राधा-स्वामी सत्संग की सदस्यता स्वीकार कर सकता है । परन्तु वह इस परिवार में पैदा

हो, या उस परिवार में, इस राज्य के भीतर जन्म ले या उस राज्य में इसका निर्णय मनुष्य नहीं कर सकता। इसी कारण हम परिवार, जाति और राज्य को अनिवार्य तथा अन्य समुदायों को ऐच्छिक कहते हैं। ये अस्थायी ऐच्छिक समुदाय निश्चय ही कृत्रिम होते हैं। कृत्रिम का अर्थ होता है बनावटी या मनुष्य द्वारा बनाये हुए, यहाँ स्वाभाविक और कृत्रिम का अन्तर समझ लेना चाहिए। स्वाभाविक समुदायों का निर्माण नहीं हुआ अर्थात् वे किसी विशेष समय व स्थान पर व्यक्ति-विशेष या कुछ व्यक्तियों द्वारा नहीं बनाये गये। उनका धीरे-धीरे विकास हुआ है तथा वे मनुष्य के स्वभाव में निहित होते हैं। परन्तु कृत्रिम समुदायों का निर्माण किसी निश्चित समय, स्थान और व्यवियों द्वारा होता है जैसे अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म २८-२९ दिसम्बर सन् १८८५ ई० को बम्बई नगर में श्री ह्यूम तथा श्री उमेशचन्द्र बनर्जी आदि राष्ट्रीय नेताओं के हाथों हुआ, आर्य समाज की स्थापना महर्षि दयानन्द ने सन् १८७५ में बम्बई नगर में की तथा अखिल भारतीय विज्ञान परिषद का भी इसी प्रकार निर्माण हुआ। ये सब कृत्रिम समुदाय हैं। इन्हें कभी भी भंग किया जा सकता है।

मनुष्य के अस्तित्व के लिये स्थायी-अनिवार्य-स्वाभाविक समुदाय अत्यन्त आवश्यक हैं तथा उसके विकास के लिये स्थायी-अनिवार्य-स्वाभाविक और अस्थायी ऐच्छिक-कृत्रिम दोनों प्रकार के समुदायों की आवश्यकता है। जीवन के विकास की दृष्टि से उनका महत्व बहुत अधिक है।

(इ) सत्ता

समुदायों के वर्गीकरण का एक आधार सत्ता भी है। समाज के भीतर राज्य एकमात्र ऐसा समुदाय है जिसे हम प्रभुता-सम्पन्न (सॉवरन) कह सकते हैं। वह सर्वोच्च सत्ता का स्वामी होता है तथा अन्य जितने भी समुदायों को उसकी ओर से सत्ता प्राप्त होती है उन्हें अर्द्ध-प्रभुता-सम्पन्न (सैमी-सॉवरन) कहा जाता है। इस दृष्टि से समुदाय प्रभुताहीन (नॉनसॉवरन) भी होते हैं। वास्तव में राज्य के भीतर जितने भी समुदाय होते है वे सभी राज्य के आधीन होते है। वे तभी तक रह सकते हैं जब तक कि राज्य उन पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता।

राज्य तथा उससे सम्बन्धित कतिपय अर्द्ध-प्रभुता-सम्पन्न समुदायों को छोड़कर अन्य सभी समुदाय सद्भाव और व्यक्तियों की इच्छा पर आश्रित होते हैं। उनके सदस्य अपनी नैतिक भावना के आधार पर उनके नियमों का पालन करते हैं। इन समुदायों के पास राज्य की तरह बाध्यकारी-सत्ता (कोहरसिव-ऑथारिटी) नहीं अर्थात् ये अपने सदस्यों को अपने नियमों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। इनके नियमों को विधि अथवा कानून नहीं कहा जाता है। केवल राज्य के नियमों को ही विधि कहा जाता है तथा उनका उल्लंघन करने पर राज्य के न्यायालयों की ओर से दण्ड की व्यवस्था होती है। अन्य समुदायों के नियम न मानने पर सदस्यों

को न्यायालयों के सामने पेश नहीं किया जा सकता तथा उन्हें इसके लिए कोई दण्ड भी नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार सत्ता के आधार पर हम समुदायों को तीन श्रेणियों में रख सकते है—(१) प्रभुताधारी, (२) अर्द्ध-प्रभुताधारी तथा (३) प्रभुताहीन।

(ई) क्षेत्र

समुदायों के वर्गीकरण का चौथा आधार उनका क्षेत्र है। इस दृष्टि से हम समुदायों को चार श्रेणियों में रख सकते हैं—(१) स्थानीय, (२) प्रादेशिक, (३) राष्ट्रीय तथा (४) अन्तर्राष्ट्रीय।

(१) **स्थानीय समुदाय**—कुछ समुदाय ऐसे होते हैं जिनका सम्बन्ध स्थानीय हितों से होता है। स्थानीय हितों का अर्थ है ग्राम अथवा नगर के हित। इन समुदायों में स्वायत्त-शासन की संस्थाएं (लोकल सैल्फ इंस्टीट्यूशन्स) जैसे नगर पालिका, टाउन-एरिया, ग्राम पंचायत आदि आती है। स्थानीय-सेवा-समिति शिक्षा-संघ आदि भी इस श्रेणी के समुदाय हैं।

(२) **प्रादेशिक समुदाय**—इन समुदायों में तहसील, जिला, कमिश्नरी तथा प्रदेश अथवा प्रान्त आते हैं। इन क्षेत्रों के भीतर प्रादेशिक हितों की पूर्ति के लिए बनाये जाने वाले समुदाय प्रादेशिक कहलाते है, जैसे—डिस्ट्रक्ट बोर्ड, प्रदेश राज्य (काँन्स्टीट्यूएन्ट स्टेट्स आफ ए फैडरेशन) आदि प्रादेशिक मोटर संघ, प्रादेशिक अध्यापक मण्डल, प्रादेशिक कर्मचारी संघ आदि।

(३) **राष्ट्रीय समुदाय**—राष्ट्रीय-स्तर पर कार्य करने वाले समुदायों को राष्ट्रीय समुदाय कहते है। इनमें सर्वप्रधान-समुदाय राज्य है। अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस, अखिल भारतीय इतिहास परिषद, अखिल भारतीय वाणिज्य-संघ, श्रमिक-संघ, रेलवे कर्मचारी संघ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा अखिल भारतीय परिगणित जाति संघ आदि अनेकों समुदाय ऐसे हैं जिनका संगठन अखिल राष्ट्रीय है तथा जो किसी विशेष राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं।

(४) **अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय**—आज का युग विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक अन्वेषणों और अनुसंधानों ने समूचे विश्व को दूरी की दृष्टि से कर एक दिया है। ऐसी स्थिति में संसार के विविध देशों के मध्य पारस्परिक सामाजिक सम्बन्धों का कायम हो जाना स्वाभाविक ही है। आज विश्व-समाज में अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। इसमें सब से पहले हमें राष्ट्र-संघ (लीग आफ नेशन्स) का उल्लेख करना चाहिये जिसका जन्म प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ और जिसकी मृत्यु द्वितीय विश्व युद्ध के रूप में हुई। आज का संयुक्त-राष्ट्र-संघ (यू० एन० ओ०) ऐसा एक प्रधान समुदाय है। इसमें संसार के लगभग साठ देश सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय डाक-संघ व तार-सम्वाद संघ,

आदि अनेकों संस्थाएं व संगठन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास का प्रयत्न कर रही है। निश्चित रूप से भविष्य में मनुष्य राष्ट्रों की सीमाओं से निकल कर विश्व राज्य का सदस्य बनेगा। मनुष्य निरन्तर अपने क्षेत्र में वृद्धि चाहता है और यही विकास का क्रम भी होता है।

राज्य व अन्य समुदाय

राज्य मनुष्य का सर्वोच्च समुदाय है। यह अनन्तकाल में होने वाले विकास का परिणाम है। गत अध्याय में बताया जा चुका है कि राज्य सर्वोच्च प्रभुता सम्पन्न समुदाय है। यह राज्य की अनन्य विशेषता है।

(१) राज्य और अन्य समुदायों के मध्य शासक और शासित का सम्बन्ध है। राज्य समाज की सर्वोच्च सत्ता का स्वामी होता है परन्तु अन्य समुदायों के पास ऐसी कोई सत्ता नहीं होती। इस प्रश्न पर विचारकों में बहुत मतभेद पाया जाता है। कुछ विचारकों का मत है कि राज्य के भीतर कोई भी समुदाय न राजा की इच्छा के विरुद्ध बन सकता है न कायम रह सकता है। कोई भी समुदाय जो कायम रहता है उसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में राज्य की स्वीकृति अवश्य प्राप्त होती है। इसके विपरीत बहुवादी विचारकों (प्लुरलिस्ट्स) का मत है कि राज्य अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय है, उसे उनकी अपेक्षा कोई अधिक अधिकार नहीं होना चाहिये।

परन्तु वास्तविकता यही है कि राज्य अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक उच्च है। वह उनके मध्य ठीक प्रकार के सम्बन्ध व शान्ति बनाये रखता है तथा उनके कार्यों पर नियन्त्रण भी रखता है जिससे कि वे संकीर्ण स्वार्थों के वश में होकर राष्ट्रीय हितों को हानि न पहुँचा सकें।

(२) राज्य एक स्थायी और अनिवार्य समुदाय है। परिवार और कुछ अंश तक जाति को छोड़कर अन्य समुदाय अस्थायी व ऐच्छिक होते हैं। जिनकी उपयोगिता समाप्त होने पर उन्हें भंग किया जा सकता है।

(३) राज्य अपने सदस्यों से अपने कानूनों (विधियों) को जबर्दस्ती मनवा सकता है तथा यदि कोई सदस्य उसकी अवज्ञा अर्थात् आज्ञा का उल्लंघन करे तो न्यायालय उसे दण्ड देते हैं। परन्तु अन्य कोई समुदाय इस विशेषाधिकार का उपभोग नहीं करता, उनके सदस्य यदि उनके नियमों का पालन न करें तो इसके लिए उन्हें विवश नही किया जा सकता। उनके नियमों को विधि (कानून) नहीं कहा जाता।

(४) राज्य अपने नागरिकों पर 'कर' (टैक्स) लागू करता है तथा उन्हे जबर्दस्ती वसूल कर सकता है। परन्तु अन्य समुदाय नागरिक से जो धन वसूल करते हैं वह 'कर' न कहलाकर चन्दा कहलाते हैं तथा चन्दा न देने की स्थिति में समुदाय अधिक से अधिक उसे सदस्यता से अलग कर सकता है, दण्ड नहीं दे सकता, न जबर्दस्ती वसूल ही कर सकता है।

(५) राज्य का क्षेत्र एक निश्चित प्रदेश तक ही सीमित होता है। परन्तु

समुदाय विश्वव्यापी हो सकता है । राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत में फैल सकता है, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ, अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ आदि ।

(६) राज्य का उद्देश्य विशाल और विस्तृत होता है । उसका लक्ष्य नागरिकों के जीवन का सर्वाङ्गीण विकास है । परन्तु समुदायों का उद्देश्य सीमित होता है, जैसे धार्मिक संघ का उद्देश्य धार्मिक और अन्य राजनीतिक समुदायों का उद्देश्य केवल राजनीतिक होता है ।

(७)एक मनुष्य एक समय में केवल एक ही राज्य का सदस्य हो सकता है । वह केवल एक राज्य का नागरिक बन सकता है परन्तु वह एक समय में अनेकों समुदायों का सदस्य बन सकता है । व्यक्ति राज्य के प्रति सर्वोच्च निष्ठा रखता है ।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि राज्य अकेला ही मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है मानव जीवन के उच्चतम विकास के लिऐ राज्य के साथ साथ अन्य सभी प्रकार के समुदायों की आवश्यकता है । कई बार तो राज्य स्वय बहुत से समुदायों के द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता है । समुदायों का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वे लोकमत का निर्माण करने में बड़ा काम करते हैं कोई भी राज्य लोक समर्थन और जन सहयोग के बिना अपने उद्देश्यों की पूर्ति नही कर सकता । इस दृष्टि से अन्य समुदाय प्रायः राज्य के सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं ।

इस प्रकार राज्य व अन्य समुदायों के मध्य कोई विरोध नहीं है । आवश्यकता इस बात की है कि राज्य अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहे व लोकमत का ध्यान रखे तथा अन्य समुदाय अपने अपने उद्देश्यों की पूर्ति में ही लगे रहें, परस्पर एक दूसरे के या राज्य के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करें । साथ ही समुदायों की गतिविधि पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है जिससे वे संकीर्ण स्वार्थो की वेदी पर राष्ट्रीय-हितों को बलिदान न कर दें । राज्य जनता के सर्वोच्च हितों का संरक्षक व प्रहरी है ।

योग्यता प्रश्न

१. समुदाय किसे कहते ? समुदायों के कितने भेद होते है ?

What is an association ? How would you classify them ?

२. समुदाय कितने प्रकार के होते हैं ? राज्य, समाज तथा समुदाय में क्या भेद होता है ?

What are the different kinds of associations ? How would you differentiate between state, society and association ?

३. नागरिक शास्त्र का मूल तत्व निष्ठाओं की सम्यक् व्यवस्था में निहित है। समझाईये ।

"The central problem of the study of civics is right ordering of conflicting loyalties" Discuss.

४. समुदायों का निर्माण क्यों होता है ? क्या इन्हें स्वाभाविक और कृत्रिम समुदायों में विभाजित करना ठीक होगा ?

Why the associations are formed ? Would it be proper to classify them as Natural and Man-made ?

—:o:—

अध्याय ४

नागरिकता

(१) 'प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह प्रत्यक्ष रूप से अथवा स्वतन्त्रता पूर्वक निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा अपने देश के शासन में भाग ले सके'। —मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (सयुक्त राष्ट्र संघ)

जनता राज्य का आधार है। एक निश्चित भूमि पर बसी हुई उस प्रभुता-सम्पन्न जनता को राज्य कहते हैं जिसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसका एक संगठित शासन हो जिसकी आज्ञाओं का वह स्वाभाविक रूप से पालन करें। जनता के पास भूमि, प्रभुता, शासन, उद्देश्य और आज्ञा-पालन का स्वभाव होना चाहिये। इस प्रकार के कुछ गुणों से सम्पन्न जनता ही राज्य है। राज्य का अन्तिम लक्ष्य भी जनता की भलाई करना ही है। इसको हम यों भी कह सकते हैं कि जनता राज्य का मानवीय तत्व होती है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या जनता प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध, कोढ़ी, पागल अथवा अपराधी हो राज्य का सदस्य माना जा सकता है? तथ राज्य के सदस्य की क्या पहचान है?

नागरिक

नागरिक शास्त्र में राज्य के सदस्य को नागरिक के नाम से पुकारा जाता है। प्रत्येक राज्य के भीतर व्यक्तियों का दो प्रकार का जीवन होता है—(१) सामाजिक और (२) राजनीतिक। सामाजिक जीवन का अर्थ समाज के कार्यों में तथा राजनीतिक जीवन का अर्थ राज्य के कार्यो में भाग लेना है।

मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए यह आवश्यक है कि वह दोनों प्रकार के जीवन में भाग ले। सामाजिक जीवन में भाग लेने का अधिकार तो राज्य के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को मिलता ही है जब तक कि कोई विशेष घटना न हो जाये। परन्तु राजनीतिक-जीवन में प्रत्येक व्यक्ति भाग नहीं ले सकता। राज्य के कार्यों में वही व्यक्ति भाग ले सकता है जिसे इसका अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त हो। राजनीतिक जीबन में भाग लेने के अधिकारों को राजनीतिक अधिकार कहते हैं।

राज्य का सदस्य अर्थात् नागरिक वह व्यक्ति होता है, जिसे राज्य की ओर से सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त हों। जिस व्यक्ति को केवल सामाजिक अधिकार ही मिले होते है उसे हम नागरिक नहीं कह सकते।

नागरिक के लिये केवल यही आवश्यक नहीं है कि उसे दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त हों वरन् यह भी आवश्यक है कि वह राज्य के सदस्य के नाते समाज और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे ।

हम नागरिक की परिभाषा इस प्रकार कर सकते है—'नागरिक वह व्यक्ति है जो राज्य के सदस्य के नाते समस्त सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों का उपभोग तथा कर्त्तव्यों का पालन करता है ।'

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि नागरिक शब्द का नगर से कोई सम्बन्ध नहीं है । नागरिक शब्द अंग्रेजी के सिटीजन शब्द का समानार्थक है । सिटीजन का अर्थ होता है नगर में रहने वाला । यह शब्द प्राचीन ग्रीस की देन है । प्राचीन ग्रीस में नगर राज्य होते थे तथा नगर राज्य के सदस्यों को सिटीजन या नागरिक कहा जाता था । जैसा हम पीछे वर्णन कर चुके हैं राज्य का निरन्तर विकास हो रहा है । ये नगर राज्य धीरे-धीरे एक बड़े साम्राज्य के अंग बन गये तब नागरिक शब्द की परिभाषा भी बदली और नागरिक का अर्थ होने लगा साम्राज्य के भीतर रहने वाला व्यक्ति । धीरे-धीरे राष्ट्रीय राज्य (नेशन स्टेट) का विकास हुआ । आजकल ऐसे राष्ट्रीय राज्य होते हैं जिनका जीवन केवल नगरों (शहरों) में ही नहीं वरन् देहातों (ग्रामों) में भी फैला होता है । राज्य का प्रत्येक सदस्य नागरिक कहलाता है चाहे वह नगर में रहता हो या ग्राम में ।

इस प्रकार नागरिक का अर्थ केवल नगर निवासी नहीं है । ग्रामीण व्यक्ति भी नागरिक होते हैं । चाहे व्यक्ति ग्राम में रहे या नगर में वह नागरिक कहला सकता है मगर शर्त यही है कि उसे राज्य की ओर से सामाजिक व राजनीतिक दोनों प्रकार के अधिकार मिले हों तथा वह दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन भी करता हो ।

सामाजिक अधिकारों में मुख्य ये हैं :—(१) जीवन की रक्षा, (२) सम्पत्ति की रक्षा, (३) धार्मिक स्वतंत्रता, (४) देश में आने जाने की स्वतन्त्रता, (५) विचारप्रकट करने व व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता तथा (६) न्याय पाने का अधिकार। राजनीतिक अधिकारों में, (१) मत (वोट) देने, (२) मत पाने (चुने जाने) तथा (३) सरकारी पद पाने के अधिकार मुख्य हैं ।

अनागरिक

राज्य के भीतर मुख्यतः दो प्रकार के व्यक्ति रहते हैं—(१) नागरिक और (२) अनागरिक ।

नागरिक की परिभाषा हम पीछे दे चुके हैं । नागरिकों को राज्य के भीतर समस्त राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त रहते हैं तथा उन्हें दोनों प्रकार के (समाजिक व राजनीतिक) कर्त्तव्यों का पालन करना होता है ।

अनागरिकों को राजनीतिक अधिकार नहीं मिलेहोते उन्हें केवल सामाजिक अधिकार ही मिलते है। अनागरिकों को राज्य के कार्यो अर्थात् राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। वे न वोट दे सकते है, न चुने जा सकते है और न कोई सरकारी पद ही पा सकते हैं।

राज्य में एक तीसरे प्रकार के भी व्यक्ति होते है जिन्हें हम अपराधी कह सकते हैं। अपराध का अर्थ होता है राज्य के कानूनों का उल्लंघन करना (तोड़ना)। अपराध सिद्ध हो जाने पर किसी भी व्यक्ति से सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के अधिकार छीने जा सकते है। इन अधिकारों को केवल राज्य ही छीन सकता है कोई अन्य व्यक्ति नहीं। राज्य जितने समय के लिये चाहे इन अधिकारों को छीन सकता है। कभी-कभी गम्भीर अपराध करने पर राजनीतिक अधिकार सदा के लिये छीन लिये जाते है। राज्य अपराधी व्यक्ति के प्राण भी ले सकता है।

अनागरिक मोटे तौर पर दो प्रकार के होते हैं (१)—देशीय अनागरिक तथा (२) विदेशी अनागरिक।

(१) **देशीय अनागरिक**—देशीय अनागरिक वे व्यक्ति होते है जो स्वयं और जिनके पूर्वज राज्य की सीमाओं के भीतर रहते आये हैं अर्थात् जो राज्य के स्थायी निवासी हैं परन्तु जिन्हें राज्य की ओर से राजनीतिक अधिकार नहीं मिले होते। देशीय अनागरिकों के विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि उन्हें राजनीतिक अधिकार नहीं मिलते किन्तु फिर भी उन्हें राजनीतिक कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। जैसे युद्ध छिड़ने पर राज्य उन्हें सेना में भर्ती होने की आज्ञा दे सकता है।

देशीय अनागरिक वे व्यक्ति होते हैं जिन्हें किसी असमर्थता के कारण राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाते। इनमें कुछ लोग शरीर से असमर्थ होते है जैसे अपाहिज, कोढ़ी, पागल आदि, कुछ लोग आर्थिक दृष्टि से असमर्थ होते हैं जैसे दिवालिये तथा भिखारी। कुछ लोग कानूनी दृष्टि से असमर्थ होते है जैसे लम्बी सजा काटने वाले कैदी तथा गम्भीर अपराधों में सजा पाये हुए लोग।

प्रत्येक देश में बच्चे होते हैं, इन्हें भावी नागरिक कहा जा सकता है। किसी भी राज्य में बच्चों और अवयस्कों (नाबलिग़ों) को राजनीतिक अधिकार नही दिये जाते। किन्तु बड़े होने पर उन्हें नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

किसी-किसी राज्य में स्त्रियों को भी राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाते। परन्तु अब राजनीतिक चेतना के विकास के साथ संसार के प्रायः सभी देशों ने स्त्री-पुरुषो की समानता राजनीतिक क्षेत्र में भी स्वीकार कर ली है। स्विट्जरलैंड में स्त्रियों को मत देने और चुने जाने का अधिकार नहीं है।

(२) **विदेशी अनागरिक**—प्रत्येक राज्य में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो दूसरे राज्यों के नागरिक होते हैं परन्तु घूमने अथवा व्यापारिक या राजनीतिक कार्यो से उस राज्य में आये होते हैं। ऐसे लोगों को विदेशी कहा जाता है। कुछ विदेशी तो ऐसे होते हैं जो आकर बस जाते हैं तथा कुछ घूमने फिरने के बाद वापिस चले जाते हैं।

बस जाने वाले विदेशियों में राजदूत आदि राजनीतिक-कार्य से आने वाले व्यक्ति तथा व्यापारी अथवा धर्म प्रचारक (मिशनरी) होते हैं। इन्हें निवास करने वाले विदेशी कहा जाता है। घूम फिर कर वापिस चले जाने वाले विदेशियों को विदेशी-यात्री के नाम से पुकारा जाता है। विदेशी दो प्रकार के होते हैं (१) मित्र विदेशी—मित्र राज्यों के नागरिक और (२)शत्रु विदेशी—शत्रु राज्यों के नागरिक। मित्र विदेशियों को राज्य की सहमति लेकर देश की सीमा में घुसते ही प्रायः सारे सामाजिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। शत्रु विदेशी युद्ध के समय में तो देश के भीतर घुस ही नहीं सकते, यदि घुस आये या पहले से रहते हों तो उन्हें कैद कर लिया जाता है। शान्ति काल में शत्रु विदेशियों को राज्य के भीतर आने की आज्ञा दी जा सकती है परन्तु उन्हें सारे सामाजिक अधिकार नहीं दिये जाते व उनकी कार्यवाहियों पर शासन कड़ा नियन्त्रण रखता है जिससे कि वे कुछ गड़बड़ न कर पायें।

दूसरे राज्यों के दूतों, मन्त्रियों, प्रतिनिधियों तथा शाही परिवार के लोगों को छोड़कर सभी विदेशियों के लिये यह आवश्यक होता है कि वे राज्य की विधियों (कानून) का पालन तथा सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति करें। विदेशी लोगों को राजनीतिक अधिकार तो मिलते ही नहीं, उन्हें राज्य की आज्ञा के बिना कोई सम्पति मोल लेने, बेचने अथवा अपने पास रखने का अधिकार भी नही होता। राज्य जब चाहे उन्हें निकाल सकता है। विदेशी अनागरिकों को भी न्याय पाने का पूरा अधिकार होता है।

नागरिकता

नागरिकता वह गुण है जिसे प्राप्त कर लेने पर कोई व्यक्ति नागरिक कहलाता है। नागरिकता का अर्थ है राज्य की सदस्यता अर्थात् राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति तथा राज्य के प्रति निष्ठा की प्रतिज्ञा। इस प्रकार नागरिकता के दो प्रधान भाग है— (१) राजनीतिक अधिकार और (२) राज्य के प्रति भक्ति।

नागरिकता का सीधा सम्बन्ध राजनीतिक अधिकारों से है विदेशियों को भी जब राजनीतिक अधिकार मिलते हैं तभी उन्हें नागरिकता की प्राप्ति होती है तथा वे देश के नागरिक बन पाते हैं। राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति से नागरिकता मिलती है और राज्य भक्ति व राज्य निष्ठा के द्वारा उसे स्थिर रखा जाता है। जो व्यक्ति अवसर आने पर अपनी राज्य-भक्ति का परिचय नही देते अथवा राज्य के प्रति द्रोह और विश्वासघात करते हैं उनसे नागरिकता छिन जाती है।

नागरिकता वह अमूल्य भावना है जो किसी भी राज्य को सुदृढ़ बनाये रखने मे सबसे अधिक मदद देती है। नागरिकता से एक प्रकार के उत्तरदायित्व (जिम्मेदारी) का बोध होता है। नागरिकता का अर्थ है समाज और राज्य के उत्थान में सक्रिय रुचि लेना और उसमे सक्रिय सहयोग देना।

नागरिकता व्यक्ति के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति बिना राज्य की सदस्यता (नागरिकता) प्राप्त किये अपना पूर्ण विकास नही कर

सकता है। राज्य मनुष्यों का सर्वोच्च संगठन है अतः उच्चतम विकास के लिये उसकी सदस्यता अर्थात् नागरिकता अनिवार्य है।

नागरिकता एक व्यापक शब्द है इसका अर्थ है राज्य और उसकी संस्थाओं जैसे शासन, समुदाय, परिवार आदि के कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेने का अधिकार। कोई भी व्यक्ति एक ही समय पर दो राज्यों की नागरिकतायें प्राप्त नहीं कर सकता। वह केवल एक राज्य की नागरिकता ही स्वीकार कर सकता है। यदि वह किसी दूसरे राज्य की नागरिकता प्राप्त करना चाहे तो उसे अपने पहले राज्य की नागरिकता त्याग देनी होगी।

नागरिकता दो प्रकार की होती है—(१) जन्म-जात नागरिकता और (२) राज्य-प्रदत्त नागरिकता।

(१) जन्म-जात नागरिकता

जन्म-जात नागरिकता वह नागरिकता है जो व्यक्ति को जन्म से ही प्राप्त हो जाती है। यह दो प्रकार से मिलती है, (अ) किसी राज्य की सीमा के भीतर पैदा होने पर अथवा (ब) किसी राज्य के नागरिक माता-पिता से उसी राज्य की भूमि पर अथवा विदेश में जन्म लेने पर।

जन्म स्थान से नागरिकता—जन्म-जात नागरिकता की प्राप्ति के प्रथम नियम को जन्म स्थान से नागरिकता के निर्णय का नियम (जुस-सोली) कहते हैं। इस नियम के अनुसार राज्य की सीमा के भीतर राज्य की भूमि पर जो बच्चे जन्म लेते हैं केवल उन्हीं को नागरिकता प्राप्त होती है, चाहे उनके माता-पिता राज्य के नागरिक हों अथवा विदेशी। राज्य के नागरिकों के बच्चे जो विदेशों में पैदा होते हैं उन्हें इस नियम के अन्तर्गत माता-पिता के राज्य की नागरिकता प्राप्त नहीं होती। यह नियम अर्जेन्टायेना व कुछ अन्य देशों में प्रचलित है।

यह एक अवैज्ञानिक नियम है। मान लीजिये कि अर्जेन्टायेना के नागरिक व्यापारिक अथवा अन्य उद्देश्यों से घूमने के लिये विदेश यात्रा में निकल पड़े, वहाँ उन्हें कुछ समय ठहरना पड़ा, इस बीच में उनके सन्तान का जन्म हो गया तो अर्जेन्टायेना के कानून के अनुसार जब वे बच्चे स्वदेश (माता-पिता के राज्य मे) लौटकर आयेंगे तो वहाँ उन्हें नागरिकता प्राप्त नही होगी। इतना ही नहीं इस नियम द्वारा अर्जेन्टायेना की सरकार विदेशियों के उन बच्चों को अपनी नागरिकता प्रदान करती है जो अर्जेन्टायेना की भूमि पर पैदा होते है। जब ये बच्चे अपने माता-पिता के साथ अपने राज्य में लौट जायेंगे तब उनके लिये अर्जेन्टायेना की नागरिकता का कोई भी उपयोग नही होगा।

इस प्रकार यह नियम तर्क के विरुद्ध है, एक ओर तो यह अपने नागरिकों की विदेशों में जन्म लेने वाली सन्तान को नागरिकता से वंचित कर देता है जबकि उन्हें इस

की आवश्यकता है और दूसरी ओर यह विदेशियों की उस सन्तान को नागरिकता देता है जो इसकी भूमि पर पैदा हुए हों जबकि उनके लिये यह व्यर्थ है। जन्म स्थान के आधार पर नागरिकता का निर्णय करना न्याय के विरुद्ध है क्योंकि जन्म तो एक अनिश्चित घटना है जिस पर किसी का वश नहीं चल सकता और आजकल एक राज्य से दूसरे राज्यों में आना जाना एक साधारण सी बात हो गई है।

माता-पिता से नागरिकता—जन्मजात नागरिकता की प्राप्ति का दूसरा ढंग माता-पिता से नागरिकता के निर्णय का नियम है। इस नियम के अनुसार किसी राज्य के नागरिकों की समस्त सन्तानों को उस राज्य की नागरिकता जन्म से ही प्राप्त हो जाती है, चाहे वे राज्य के भीतर पैदा हुई हो अथवा विदेशी राज्य की भूमि पर। इस नियम के अन्तर्गत विदेशी नागरिकों की उस सन्तान को जो इस राज्य में पैदा हुई हो यहाँ की नागरिकता प्राप्त नहीं होती। केवल इसी राज्य के नागरिकों की सन्तान को चाहे वह देश में या विदेश में जन्म ले यहाँ की नागरिकता मिलती है। इस नियम का प्रचलन आट्रेलिया व इटली आदि देशों में पाया जाता है। इसमें जन्म-स्थान का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। इसके अनुसार किसी राज्य की जन्म-जात नागरिकता प्राप्त करने के लिये केवल यही शर्त है कि बच्चों के माता-पिता राज्य के नागरिक हों।

यह नियम 'जन्म स्थान से नागरिकता' के नियम की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत और सुविधाजनक है माता-पिता के साथ बच्चों का अभिन्न सम्बन्ध है। बालकों का धर्म, रहन-सहन, आचार-विचार, चरित्र, वेषभूषा, भाव-भाषा और राजनीतिक जीवन व स्वदेश प्रेम सभी कुछ माता-पिता के साथ अभिन्नतापूर्वक जुड़ा होता है। बालक अपने जीवन में बाह्य जगत का बोध माता-पिता से ही पाते हैं अतः उन्हें माता-पिता के राज्य की नागरिकता निश्चित रूप से मिलनी ही चाहिए यह उनके विकास के लिये अनिवार्य है।

मिश्रित-नियम—कुछ देशों ने नागरिकता को अधिक व्यापक बनाने की दृष्टि से नागरिकता देने के लिये मिश्रित नियम का आश्रय लिया है। ऐसे देशों में इङ्गलैंड व अमेरिका प्रमुख रूप से आते हैं। इन देशों में अपने नागरिकों की सन्तान के लिये माता-पिता द्वारा नागरिकता का निर्णय का नियम प्रचलित है तथा केवल विदेशी लोगों की सन्तान के लिये जन्म स्थान से नागरिकता के निर्णय का नियम मान्य है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक के देश और विदेश में जन्म लेने वाले सब बच्चे ब्रिटेन के जन्म-जात नागरिक माने जायेंगे तथा बाहर से जाने वाले किसी विदेशी के जो बच्चे ब्रिटेन की भूमि पर पैदा होंगे उन्हें भी ब्रिटेन की नागरिकता जन्म से ही प्राप्त हो जायेगी। ऐसा ही अमेरिका में भी होता है।

एक राज्य की नागरिकता—कोई भी व्यक्ति किसी एक राज्य की नागरिकता का ही उपभोग कर सकता है। एक साथ अनेकों राज्यों की नागरिकता असम्भव है। कई बार ऐसा होता है कि जन्म-जात नागरिकता के मिश्रित नियम के अनुसार एक ही व्यक्ति को

दो राज्यों की नागरिकता प्राप्त हो जाती है, अपने माता-पिता के राज्य की नागरिकता तो उसे मिलती ही है, विदेश में जन्म लेने के कारण वहाँ की नागरिकता भी मिल जाती है। जैसे भारत के नागरिक का एक बच्चा जो इंगलैंड में पैदा होता है, माता-पिता के नाते भारत का नागरिक है और जन्म स्थान के नाते इगलैंड का। इससे नागरिकता का संघर्ष होता है। कोई भी व्यक्ति दो नागरिकतायें नही रख सकता। अतः यदि वह बच्चा वयस्क (बालिग) होने से पहले भारत में लौट आता है और वयस्क होने पर यहीं रहता है तथा यहाँ की नागरिकता त्यागता नहीं है तो वह भारत का ही नागरिक रहेगा ब्रिटेन का नहीं। परन्तु यदि वह ब्रिटेन में ही रहता है और वहीं वयस्क होता है तो उसे यह निर्णय करने का अधिकार होगा कि वह किस देश की नागरिकता रखना चाहता है। वयस्क होने पर उसे यह घोषणा करनी होगी कि वह ब्रिटेन का नागरिक है या भारत का। इस प्रकार नागरिकता निर्णय करने का सघर्ष समाप्त हो जाता है।

(२) राज्य प्रदत्त नागरिकता

पीछे हमने जन्म से प्राप्त होने वाली नागरिकता का वर्णन किया है। राज्य यदि चाहे तो जन्म के पश्चात वयस्क अर्थात् बालिग होने पर भी नागरिकता प्रदान कर सकता है। यह नागरिकता प्रायः विदेशियों को या उन व्यक्तियों को दी जाती है जो बहुत समय तक राज्य की सीमा के बाहर रहकर स्वदेश लौटे हों।

राज्य कई प्रकार से नागरिकता प्रदान कर सकता है। प्रधान रीतियाँ ये हैं—(१) देशीयकरण द्वारा (Naturalisation) (२) विवाह होने पर और (३) शासकीय पद पर नियुक्ति करके।

देशीयकरण (Naturalisation)—प्रत्येक राज्य में अपने देशीयकरण नियम (रूल्स आफ नेचुरेलाइजेशन) होते है। इन नियमों के द्वारा किसी विदेशी को राष्ट्र के राजनैतिक जीवन में प्रविष्ट (एडोप्ट) किया जाता है, तथा उसे जन्म-जात नागरिक के समान अधिकार व सुविधाएं प्रदान की जाती है। इन नियमों के अनुसार जब कोई अनागरिक कुछ शर्तों तथा औपचारिकता (फारमेलिटीज) को पूरा कर देता है तो उसे नागरिकता मिल जाती है।

ये नियम संसार के विभिन्न देशों में पृथक पृथक होते हैं। उदाहरण के लिये ब्रिटेन में जो व्यक्ति (१) पाँच वर्ष तक रहने के पश्चात् (२) शपथ (कसम) द्वारा अपनी पहली नागरिकता का परित्याग कर देता है, तथा (३) ब्रिटिश राज्य के भीतर रहने अथवा नौकरी करने की घोषणा करता है व (४) अंग्रेजी भाषा की पर्याप्त जानकारी रखता है और (५) जिसका चरित्र अच्छा होता है, उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में भी देशीयकरण के लिये पाँच

वर्ष की अवधि तक वहाँ पर स्थायी रूप से रहना आवश्यक है। यह अवधि किसी किसी देश में १० वर्ष तक भी होती है।

साधारण तौर पर देशीयकरण के लिये किसी व्यक्ति को (१) अपनी पहली नागरिकता के त्याग की घोषणा करनी होती है, (२) जिस राज्य में वह अपना देशीयकरण चाहता है उसके भीतर उसे राज्य द्वारा निर्धारित अवधि (समय) तक रहना होता है, (३) स्थायी रूप से उसी राज्य में रहने का निश्चय प्रगट करना पड़ता है,(४) अपनी सच्चरित्रता का प्रमाण देना होता है, (५) उस राज्य के प्रति भक्ति और निष्ठा की शपथ (Oath of Allegiance) लेनी होती है, तथा (६) एक आवेदन पत्र द्वारा राज्य अधिकारी (कलक्टर या कमिश्नर आदि) से इस बात की प्रार्थना करनी होती है कि उसका देशीयकरण कर लिया जाये। यदि राज्य का शासन उससे संतुष्ट हो जाता है और समझता है कि उसे नागरिकता प्रदान करने से राज्य की शान्ति व सुव्यवस्था में कोई बाधा नहीं पड़ेगी तो उसका देशीयकरण कर लिया जाता है। राज्य की ओर से उसे एक प्रमाण-पत्र मिल जाता है जिसमें उसे नागरिकता के अधिकार देने की घोषणा की जाती है।

देशीयकरण के विषय में कोई अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं है। प्रत्येक राज्य अपनी स्थिति और आवश्यकता के अनुसार इन नियमों का निर्माण करने में पूरा स्वतन्त्र होता है।

यह आवश्यक नहीं है कि देशीयकरण के पश्चात् व्यक्ति को राज्य की सम्पूर्ण नागरिकता मिल ही जाए। संसार में कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जिनके भीतर जन्म-जात और देशीयकरण द्वारा बने नागरिकों में अन्तर होता है ऐसे देशों में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का नाम उल्लेखनीय है। सन् १९१४ मे ब्रिटिश देशीयकरण अधिनियम के बनने से पहले ब्रिटेन में भी ऐसा ही था। अमेरिका में आज भी देशीयकरण द्वारा बना कोई नागरिक राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति पद का उम्मीदवार नहीं हो सकता। केवल जन्मजात नागरिक ही इन पदों के लिये खड़े हो सकते हैं।

विवाह द्वारा नागरिकता की प्राप्ति—कोई स्त्री जब किसी अन्य राज्य के नागरिक पुरुष से विवाह कर लेती है तो वह अपने राज्य की नागरिकता खो देती है तथा वह स्वाभाविक रूप से पति के राज्य की नागरिक मान ली जाती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल स्त्रियों को ही विवाह के द्वारा किसी दूसरे राज्य की नागरिकता प्राप्त हो सकती है। पुरुषों को नही।

शासकीय पद पाने पर नागरिकता प्राप्ति—कोई राज्य शासन जब किसी विदेशी व्यक्ति को अपने यहाँ किसी शासकीय पद (गवर्नमेन्ट-पोस्ट) पर नियुक्त कर देता है तो इसका अर्थ यह होता है कि राज्य ने उस व्यक्ति को देश की नागरिकता प्रदान करदी है। जैसा कि हम पीछे कह चुके है सरकारी पद पाने का अधिकार एक राजनीतिक अधिकार है। अतः जिसे यह राजनीतिक अधिकार मिल

जाता है। वह स्वाभाविक रूप से ही देश का नागरिक बन जाता है।

इसके अतिरिक्त कुछ देशों में विदेशियों को अचल-सम्पत्ति (लैन्डेड प्रापर्टी) खरीद लेने पर भी नागरिकता मिल जाती है। जब कोई राज्य युद्ध में किसी राज्य को जीत ले तो पराजित राज्य के लोग निश्चित नियमों के अनुसार विजयी देश के नागरिक कहलाते हैं। डा० गार्नर ने विदेशियों को हर प्रकार से मिलने वाली नागरिकता का समावेश देशीयकरण में ही किया है।

नागरिकता समाप्त हो सकती है

नागरिकता एक वैधानिक पद है जो समाप्त भी हो सकता है। (१) सबसे पहले तो प्रत्येक नागरिक जब चाहे किसी राज्य की नागरिकता से त्याग-पत्र दे सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपने राज्य में नागरिक बनकर रह सके अथवा किसी दूसरे राज्य में बस कर अपने पहले राज्य की नागरिकता का त्याग कर दे। (२) कुछ कारणों से राज्य भी नागरिकता छीन सकता है। निम्न कारणों से नागरिकता छिन जाती है—(अ) किसी स्त्री द्वारा किसी विदेशी पुरुष से विवाह कर लेने पर, (ब) एक लम्बे समय तक देश से बाहर रहने पर, (स) राज्य की सुरक्षा सेनाओं से भाग जाने या घोर अपराधों के लिये न्यायालय से दंड मिलने पर, (द) राज्य की सेवाओं से निकाले जाने या बरखास्त किये जाने पर, तथा (प) किसी विदेशी शासन की ओर से दिये गये किसी सम्मान अथवा शासकीय पद को स्वीकार कर लेने पर।

आदर्श नागरिकता

किसी भी जाति अथवा राष्ट्र की उन्नति उसकी नागरिक चेतना के विकास पर निर्भर होती है। जिस देश की जनता के भीतर आदर्श नागरिकता के गुण आ जाते हैं वह देश एक दिन अवश्य महान बन जाता है। आदर्श नागरिकता की परिभाषा करना सरल नहीं है। नागरिकता एक आध्यात्मिक गुण है। आदर्श नागरिकता सज्जनता अथवा मानवता ही है। कुछ विचारक ऐसा मानते है कि अच्छे नागरिक और अच्छे मनुष्य में अन्तर होता है परन्तु हमारा विचार इससे भिन्न है। श्रेष्ठ मनुष्य ही श्रेष्ठ आदर्श नागरिक हो सकता है।

बुद्धि, आत्मसंयम और देश भक्ति—लार्ड ब्राइस ने आदर्श नागरिकता के तीन गुण बताये हैं। उनका कहना है कि नागरिक के भीतर बुद्धिमानी, आत्म नियन्त्रण और जागरूकता, इन तीनों गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। बुद्धि मनुष्य का पहला लक्षण है, राष्ट्र के हितों को ठीक ठीक जानना और परिस्थितियों को समझना नागरिक का पहला कर्त्तव्य है। दूसरे नागरिक के भीतर राष्ट्र के लिये अपने हितों को बलिदान करने की भावना होनी चाहिए। राष्ट्र की माँग होने पर नागरिक को चाहिये कि वह अपना जीवन भी समर्पित कर दे। इसे हम देशभक्ति का गुण भी कह सकते हैं अर्थात् नागरिक के भीतर देशभक्ति होनी चाहिये।

जागरूकता—नागरिक को जागरूक होना चाहिये। जागरूकता के दो अर्थ हैं—जिम्मेदारी को पूरा करना तथा इच्छा और लगन पूर्वक कार्य करना। जनतन्त्रात्मक देशों में राज्य का सारा कार्यभार नागरिकों के कन्धों पर ही होता है। यदि नागरिक अपने उत्तरदायित्व का पालन लगन, निष्ठा और इच्छापूर्वक (खुशी-खुशी) नही करेंगे तो राष्ट्र का पतन हो जायेगा। अत: हम कह सकते हैं कि नागरिक के भीतर ईमानदारी, लगन, और उत्तरदायित्व को महसूस करने की सबल भावना होनी चाहिये।

अनुशासन—श्रेष्ठ नागरिक के जीवन में अनुशासन का अत्यधिक महत्व है। लार्ड ब्राइस ने इसे 'आत्मसंयम' कहा है। राज्य की आज्ञाओं का निष्ठापूर्वक पालन करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है। आर्य संस्कृति में यहाँ तक माना गया है कि 'राजा यदि बालक हो तो भी प्रजा को उसकी आज्ञा माननी चाहिये क्योंकि वह मनुष्य के रूप में महान देवता है।' परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नागरिक अन्धा बनकर शासन के पीछे-पीछे चले। यदि वह समझता है कि राज्य की कोई आज्ञा राज्य का अहित कर सकती है अथवा वह न्याय और धर्म के विरुद्ध है तो नागरिक का पवित्र कर्त्तव्य है कि वह राज्य का नम्रता पूर्वक विरोध करे। लास्की ने कहा है कि 'राज्यशासन की आज्ञाओं का पालन वही तक करना चाहिये जहाँ तक कि उसके द्वारा आत्म-उन्नति होती हो।' आत्म-उन्नति का अर्थ (व्यक्तिगत) स्वार्थ नही है वरन् (वह सम्पूर्ण समाज की) आध्यात्मिक या नैतिक उन्नति है महात्मा गान्धी ने हमें राज्य को सही रास्ते पर लाने के लिये सविनय-अवज्ञा और अहिंसात्मक असहयोग (नॉन वायलैंट नॉन कोआपरेशन व सिविल डिसओबिडियन्स) अथवा सत्याग्रह का मार्ग दिखाया है। उनका विचार है कि नागरिक को कभी भी सत्य और अहिंसा का पल्ला नहीं छोड़ना चाहिये। व्यक्तिगत जीवन हो चाहे राजनीतिक जीवन, मनुष्य को सच्चा और ईमानदार बने रहना चाहिये। गान्धी जी कूटनीति के विरोधी थे। उनका विचार था कि सत्य में कपट और छिपाव नही होता। हमें सचाई और प्रेम-पूर्ण ढंग से देश, समाज और संसार की सेवा करनी चाहिये। नागरिक का सम्बन्ध केवल राज्य से ही नहीं है वह मानव समाज का भी सदस्य होता है। उसे कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहिये जिससे संसार के किसी मनुष्य अथवा समाज को कोई हानि पहुँचने की सम्भावना हो।

परिश्रम—आदर्श नागरिकता में परिश्रम का भी महत्वपूर्ण स्थान है। स्वयं पैदा करके खाने की भावना सभी नागरिकों में होनी चाहिये। दूसरों की कमाई और मेहनत पर जीने वाला नागरिक आदर्श नहीं माना जा सकता। प्रत्येक मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है कि वह अपने परिश्रम और पसीने की कमाई से अपनी गुजर करे। इसे स्वावलम्बन का सिद्धान्त कहते हैं।

निर्व्यसनता—आदर्श नागरिक को निर्व्यसन होना चाहिये। उसे शराब,

भांग, गांजा, अफीम, तम्बाकू आदि हानिकारक मादक द्रव्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यही नहीं, उसका कर्त्तव्य है कि वह ऐसी चीजे पैदा न करे, न बेचे, न उनसे कोई सम्बन्ध रक्खे तथा दूसरों को भी उनके प्रयोग से बचावे। आदर्श नागरिकता के लिये बुद्धि के ठीक रहने की सब से बड़ी आवश्यकता है। मादक पदार्थों (नशीली चीजों) का दिमाग पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः इनसे बचना चाहिए।

सक्रिय-चिन्तन—आदर्श नागरिकता एक नैतिक-कल्पना है। नागरिक को चाहिये कि वह अपने परिवार के, ग्राम के, प्रांत तथा राष्ट्र के हितों की सदा चिन्ता रखे। उसे कभी भी उदासीन अथवा लापरवाह नहीं होना चाहिये। दीन दुखियों के साथ सहानुभूति रखना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। देश की राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का उसे पूरा ज्ञान होना चाहिये तथा देश की रक्षा के लिये हमेशा तैयार रहना चाहिये।

सामंजस्य—आदर्श नागरिकता में विविध निष्ठाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की बात भी आती है। मनुष्य अनेकों समुदायों का सदस्य होता है। उसे चाहिए कि वह सबके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करे तथा यदि दो समुदायों के हितों में झगड़ा पैदा हो जाय तो वह छोटे स्वार्थों को छोड़कर बड़े हितों की पूर्ति करे। जैसे परिवार की भलाई के लिये अपने को भूल जाये, ग्राम के लिये परिवार को, प्रान्त के लिये ग्राम को और राज्य के लिए प्रान्त को बलिदान कर देना चाहिये। इतना ही नहीं हमें अपने भीतर यह भावना पैदा करनी है कि यदि संसार की भलाई के लिये हमें अपने राज्य का बलिदान करना पड़ता है तो उसके लिये भी तैयार रहना चाहिये। ऐसा करने से ही तमाम संसार में आदर्श नागरिकता फैल सकेगी तथा विश्व में शान्ति स्थापित हो सकेगी।

सत्यम् शिवम् सुन्दरम्—आदर्श नागरिक को संकीर्णता, साम्प्रदायिकता तथा प्रांतीय व जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर अपने को एक मनुष्य के रूप में पहचानना चाहिये तथा दूसरे मनुष्यों के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये। पड़ौसी के दुख बटाने का ही नाम आदर्श नागरिकता है। प्राचीन आर्य आदर्श में तीन बातें रखी गई है—सत्य, शिव, सुन्दर। नागरिक का आचरण सत्य पर आधारित होना चाहिए। उसके कार्यों में शिव अर्थात् कल्याण (सब का भला) की भावना हो तथा अपने काम सुन्दर ढंग से अर्थात् कला और कुशलता पूर्वक करे। ये तीनों गुण आदर्श नागरिकता की जड़ हैं।

शिक्षा— इतना सब कुछ कह जाने के उपरान्त अन्त में हमें आदर्श नागरिकता की सबसे महान् आवश्यकता का वर्णन भी करना चाहिए। आदर्श नागरिकता की नीव आदर्श शिक्षा पर रखी जाती है। अशिक्षित मनुष्य से हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह आदर्श नागरिक होगा। बुद्धि के सम्यक् विकास और ज्ञान की परिपुष्टता के लिये शिक्षा बहुत आवश्यक है। जो शिक्षा पद्धति ऊंचे आदर्शों से प्रेरित तथा निष्पक्ष होती है वही आदर्श नागरिक भावना का सही-सही निर्माण कर सकती है।

राज्य द्वारा कर्त्तव्य पूर्ति—आदर्श नागरिकता के विकास के लिए राज्य के भी कुछ कर्त्तव्य हैं। राज्य का धर्म है कि वह नागरिकों को जीवन, सम्पत्ति, विचार प्रदर्शन, धर्म, व्यवसाय आदि की स्वतन्त्रता व रक्षा प्रदान करे तथा नागरिकों को देश के शासन में अधिक से अधिक भाग लेने का अवसर दे। राज्य को चाहिये कि वह अपने देश के भीतर से गरीबी और अशिक्षा को दूर करे तथा सामाजिक व आर्थिक असमानताओं को समाप्त कर दे। जो राज्य समाज के सच्चे हित के लिये प्रयत्नशील रहता है वही अपने भीतर आदर्श नागरिकता का निर्माण कर सकता है।

प्रगतिशीलता—आदर्श नागरिकता के लिये यह भी आवश्यक है कि देश की जनता सामाजिक रूढ़ियों व कुरीतियों का उल्लंघन करके प्रगतिशील विचारों को अपनाये। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीन संस्थाओं और प्रथाओं को अन्धाधुंध नष्ट कर दिया जाय बल्कि जो प्राचीन संस्थाएं और प्रथाएँ इस युग मे निरुपयोगी हो गई हैं इनको समाप्त करके नवीन विचारों और संगठनों का निर्माण करना चाहिए जिससे कि समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सके।

चरित्र निर्माण का महत्व

नागरिक-जीवन के भीतर नागरिकों के चरित्र का बहुत महत्व है। श्रेष्ठ चरित्र और आदर्श नागरिकता का एक ही अर्थ है। चरित्रवान व्यक्ति ही आदर्श नागरिक हो सकता है। देश और समाज की उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि नागरिकों के भीतर व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय चरित्र का ढग से विकास हो। सच्चे और ईमानदार मनुष्य श्रेष्ठ नागरिक होते हैं। हमारे देश में चरित्र की बहुत महत्ता मानी गई है। हमें यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिये कि समाज व्यक्तियों से मिलकर बना है उसमें जैसे व्यक्ति होंगे वह वैसा ही बनेगा। जिन व्यक्तियों का चरित्र ऊंचा नहीं है वे अच्छे नागरिक नहीं बन सकेंगे। एक ऐसा व्यक्ति जिसके मन में धन का लोभ इतना समा गया है कि वह धन प्राप्त करने के लिए भले बुरे का विवेक कायम नहीं रख पाता निश्चय ही एक अच्छा नागरिक नहीं बन सकता। यदि उसके हाथ में सत्ता सौंप दी जाय तो वह उस सत्ता का उपयोग देश के कल्याण में न करके अपने लिए धन बटोरने में करेगा। निश्चय ही यदि उसे रिश्वत मिल सकती होगी तो वह लेने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्रहीन व्यक्ति सारे समाज की नींव को खोखला बना देता है।

आज के युग में राष्ट्रीय-चरित्र का अत्यधिक महत्व है। राष्ट्रीय चरित्र का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको अपने राष्ट्र का सदस्य समझे तथा प्रत्येक समस्या को इस दृष्टि से देखे कि उससे समूचे राष्ट्र का हित होगा या अहित। उसके भीतर व्यक्तिगत, प्रान्तीय तथा साम्प्रदायिक स्वार्थो का उदय नहीं होना चाहिये जो राष्ट्र की हित-सिद्धि में बाधा डाल सकें। मिश्र देश की सेनायें पैलेस्टाइन के युद्ध में केवल इसलिये हार गई कि पीछे से मिश्र के लोगों द्वारा जो युद्ध की सामग्री उनके

लिए भेजी गई वह रद्दी और बेकार थी, इससे पता लगता है कि जिस जाति का चरित्र गिर जाता है उसकी स्वाधीनता भी खतरे में पड़ जाती है। हमें चाहिये कि अपने-अपने दोषों को देखें। महात्मा गांधी ने लिखा है। 'अन्धा वह नहीं जिसकी आँख फूट गई है। अन्धा वह है जो अपने दोष ढाँकता है।' अपने दोषों को पहचान कर उन्हें सुधारने का प्रयत्न करें। समाज तब तक उन्नति नही कर सकता जब तक कि उसके प्रत्येक आदमी का चरित्र ऊंचा न हो। सबका चरित्र श्रेष्ठ बनता है तो समाज में उसी प्रकार शक्ति आती है जैसे जल की बूंद-बूंद से समुद्र को शक्ति मिलती है।

चरित्र निर्माण का अर्थ है समाज-निर्माण—जो लोग समाज और संसार का भला चाहते हैं उन्हें सबसे पहले अपने चरित्र को श्रेष्ठ बनाना चाहिये। इससे समाज स्वयं उठेगा। चरित्रवान व्यक्ति ही समाज की अच्छी सेवा कर सकते है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति चरित्र निर्माण पर अवलम्बित है। हम उस व्यक्ति को ही चरित्रवान कह सकते हैं जो (१) समाज के दूसरे लोगों को शारीरिक या मानसिक कोई कष्ट नहीं पहुंचाता, (२) जो अपने व्यवहार में सत्य परायण है अर्थात् जो अपने क्षुद्र हितों की पूर्ति के लिए दूसरों को धोखा नहीं देता (३) जो व्यक्ति किसी का शोषण नहीं करता अर्थात् जो अपनी मेहनत से अपनी रोटी कमाता है तथा दूसरों की दौलत का लोभ नहीं करता (४) जो व्यक्ति दूसरों के दुःख-दर्द को समझकर उसको दूर करने की कोशिश करता है (५) जो व्यक्ति समाज में ऊंच-नीच छूत-छात आदि के भेद-भाव पैदा नहीं करता (६) जो अपनी शक्ति और बुद्धि का उपयोग समाज के लिए करता है तथा (७) जिस व्यक्ति के भीतर मनुष्य-मात्र के प्रति प्रेम और करुणा का भाव निरन्तर मौजूद रहता है। ऐसे व्यक्ति ही आदर्श नागरिक होते हैं तथा जिनके भीतर चरित्र के ये गुण नहीं हैं उन व्यक्तियों को हम सच्चे अर्थों में नागरिक नहीं कह सकते।

आदर्श नागरिकता के विकास में बाधायें

आदर्श नागरिकता के विकास में प्रधानतः निम्न बाधायें आती हैं—(१) सार्वजनिक जीवन की उपेक्षा, (२) अज्ञान, (३) व्यक्तिगत स्वार्थ, (४) निर्धनता, (५) गुटबन्दी, (६) प्राचीन रूढ़ि-प्रथायें (७) संकीर्ण राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद तथा (८) पूंजीवाद।

सार्वजनिक जीवन की उपेक्षा—'सबका काम किसी का काम नहीं होता' यह कहावत बहुत पुराने समय से प्रचलित है। समाज के साधारण लोगों में सामाजिक जीवन के प्रति एक उदासीनता (लापरवाही) का भाव पैदा हो जाता है। न वे समाज की समस्याओं पर सोचते हैं और न सामाजिक हित की दृष्टि से कार्य ही करते हैं यह एक बहुत घातक लक्षण है। जनतंत्र के भीतर ऐसी मनोवृत्ति का पैदा हो जाना बहुत खतरनाक है क्योंकि जब जन-साधारण सार्वजनिक कामों (पब्लिक अफेयर्स) में कोई अभिरुचि ही नहीं लेंगे तो किसी भी तरह समाज का हित पूरा नहीं हो सकेगा।

यह उदासीनता कई क्षेत्रों में मुख्य रूप से देखने को मिलती है, जैसे (अ) युद्ध होने पर नागरिक लड़ाई के मैदान में जाकर मातृ-भूमि की रक्षा के लिए लड़ने से जी चुराते हैं, (ब) निर्वाचनों के समय बहुत से लोग मतदान के लिये नहीं जाते तथा अपने मताधिकार का प्रयोग ही नहीं करते, (स) आमोद प्रमोद में फंसे रह कर सार्वजनिक कर्त्तव्यों की उपेक्षा करते है। नगर में चाहे कोई राजनीतिक सभा हो या सांस्कृतिक सम्मेलन, वे उसमें कोई भाग लेना पसन्द नही करते तथा (द) सार्वजनिक समस्याओं को राजनीतिज्ञों अथवा सरकार के ऊपर छोड़ दिया जाता है। आम लोग अपनी राष्ट्रीय व स्थानीय समस्याओं पर कोई विचार ही नही करते। इसका परिणाम यह होता है कि जब उनसे किसी विषय पर राय ली जाती है तो वे अन्धाधुन्ध अपनी राय दे देते है। इसका राष्ट्र और नगर के जीवन पर बहुत बुरा असर पड़ता है। ऐसे लोग जो अपने घर में सफाई रखते हैं, स्टेशन, पार्क और सड़कों पर थूकते देखे गये हैं। वे कभी यह सोचते ही नहीं कि एक केले का छिलका जो उन्होंने केला खा लेने के बाद सड़क पर डाल दिया है किसी अन्य नागरिक के पांव तले आ सकता है और परिणाम यहां तक भयानक हो सकता है कि पांव फिसलने से उसका हाथ, पैर या कमर टूट जाये। हमारी तनिक सी लापरवाही औरों की जान ले सकती है अतः हमें सावधानीपूर्वक सामाजिक जीवन में भाग लेना चाहिये।

अज्ञान—मनुष्य का सबसे बड़ा गुण यह हैं कि वह बुद्धिमान प्राणी है। बुद्धि का विकास सदा शिक्षा के द्वारा होता है। यदि किसी देश के अधिकांश नागरिक अज्ञानी हैं, न उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान है न संसार की प्रगति का तो वह राष्ट्र स्वप्न में भी उन्नति की आशा नहीं कर सकता। आदर्श नागरिकता के विकास में एक बड़ी बाधा नागरिकों की अशिक्षा व उनका अज्ञान भी है। ज्ञान के अभाव में व्यक्ति न अपने अधिकारों को पहचान सकता है, न अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकता है। ऐसी स्थिति में नागरिक जीवन का विनाश आरम्भ हो जाता है।

व्यक्तिगत स्वार्थ—पीछे कई बार कहा जा चुका है कि अच्छी नागरिकता के विकास के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने स्वार्थो से ऊपर उठे। आदर्श नागरिकता के विकास में सबसे बड़ी बाधा यही है कि व्यक्ति अपने स्वार्थों के संकीर्ण दायरे से निकल कर दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करना चाहते। अधिकारों की माँग सब कोई करते हैं परन्तु यदि कर्त्तव्य पालन से सभी लोग जी चुराने लगें तो किसी को भी कोई अधिकार नहीं मिलेगा। स्वार्थ सिद्धि के लिए लोग वोट बेचने और खरीदने तक के लिये तैयार हो जाते हैं तथा सरकार के कर (टैक्स) लगाने से बचना चाहते हैं। स्वार्थी मनुष्य कभी अच्छे नागरिक नही हो सकते।

निर्धनता—गरीबी मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। निर्धनता का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी नही कर

पाता जिससे एक ओर तो उसका नैतिक पतन हो जाता है, वह चोरी करने लगता है तथा बेईमानी से धन प्राप्त करने की कोशिश करता है, तथा दूसरी ओर उसका शारीरिक व मानसिक विकास रुक जाता है। गरीब व्यक्ति से यह आशा नही की जा सकती कि वह अपनी गरीबी के रहते हुए आदर्श नागरिक बन सकेगा।

गुटबन्दी—प्रायः कुछ स्वार्थी लोग अपने तंग स्वार्थो को पूरा करने के लिये गुट बना लेते है। ये लोग अपने गुट के हितों के लिये देश के हितों को भी बलिदान करने में नहीं हिचकिचाते। धीरे धीरे गुटबन्दी के फैलने का परिणाम यह होता है कि समाज में अराजकता सी फैल जाती है तथा सारा समाज छोटे छोटे गुटों में बँट जाता है, उसकी एकता और शक्ति नष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति मे राष्ट्र की स्वतंत्रता भी संकट में पड़ जाती है क्योंकि जब दूसरे देश उसकी आपसी फूट को जान लेते हैं तो वे उसका फायदा उठाने के लिए आक्रमण कर सकते है।

प्राचीन रूढ़ि प्रथायें—मनुष्य में आम तौर पर प्राचीन रीति रिवाजों तथा रूढ़ियों से चिपटे रहने की प्रवृत्ति होती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि समाज की प्रगति रुक जाती है। रूढ़ियों से अन्ध-विश्वास पैदा होता है तथा आर्दश नागरिकता के विकास में बाधा पड़ती है।

संकीर्ण राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद—आदर्श नागरिकता में यह बात भ सम्मिलित है कि दूसरे देशों की स्वाधीनता तथा वहां के नागरिकों के स्वतन्त्र अधिकारों की प्रतिष्ठा की जाए। कभी कभी देश-भक्ति का यह गलत अर्थ लगाया जाने लगता है कि व्यर्थ में ही दूसरे देशों से शत्रुता की जाए और उनकी स्वतन्त्रता छीनने का प्रयत्न किया जाय। प्रत्येक देश को समान रूप से स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। उन नागरिकों को हम आदर्श नही कह सकते जो दूसरे देश के नागरिकों की स्वतन्त्रता और रोटी छीनने में अपना गौरव समझते हों।

पूंजीवाद—आदर्श नागरिकता के विकास में एक और बड़ी बाधा इस युग में पूंजीवाद की है। पूंजीपति लोग अपने लाभ (मुनाफे) के लिए देश में हर प्रकार के हथकंडों का प्रयोग करते हैं। इस पूंजीवाद के कारण ही संसार में युद्ध होता है। दूसरे देशों को जीत कर उनके कच्चे माल को लूटना और अपने पक्के माल को बेचना पूंजीवादियों का ध्येय होता है। पूंजीवाद ही आजकल इतनी व्यापक गरीबी के लिए जिम्मेदार है। एक ओर तो पूंजीवाद के फैलने से मिल और कारखाने खुलते है जिससे छोटे कारीगरों के उद्योग धन्धे नष्ट हो जाते हैं और दूसरी ओर मजदूरों को पूरी मजदूरी नहीं दी जाती। इस प्रकार लेखक के विचार में तो पूंजीवाद संसार के जन-साधारण का सबसे बड़ा शत्रु है जिसके मिटाने का एक ही उपाय है कि सब लोग हाथ की दस्तकारियों से बनी चीजों का प्रयोग करने लग जायें। इससे पूंजीवाद अपने आप मिट जायगा। गांधीजी इसीलिए कहते थे कि 'कातो और पहनो'।

बाधाओं को दूर करने के उपाय

शिक्षा—जब तक ये बाधाये दूर नहीं की जातीं तब तक आदर्श नागरिकता का विकास संभव नहीं है। इसीलिए सबसे पहली आवश्यकता शिक्षा की है। ठीक ढङ्ग की शिक्षा दी जाने से नागरिकों का मानसिक दृष्टिकोण बदल जायगा। शिक्षा में सहयोगी और सामाजिक जीवन बिताने पर जोर दिया जाये तथा विद्यार्थियों के भीतर राष्ट्रीय और नागरिक दृष्टि से सोचने का अभ्यास पैदा किया जाए।

ग्रामोद्योग— देश में छोटे ग्रामीण धन्धे खोले जाये जिससे कि देश की जनता रोजगार और रोजी पा सके। भारत जैसे करोड़ों की आबादी वाले देश मे केवल मिलों के द्वारा सबको को काम नहीं दिया जा सकता, उसके लिए देहाती धंधों की आवश्यकता है।

सुधार आन्दोलन—देश के भीतर ऐसे सुधार आन्दोलन चलाये जायें जो व्यक्तियों में प्रगतिशील भावनायें पैदा करें तथा जनसाधारण को गुटबन्दी से निकाल कर राष्ट्रीय दृष्टि से सोचने और कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करें।

विश्वबन्धुत्व—लोगों में स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा करने का भाव पैदा किया जाये और उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाया जाय। सारा जगत एक है, उसमे रहने वाले सभी मनुष्य मानव समाज के सदस्य हैं। राष्ट्र और नगर के बन्धन कृत्रिम है। हमें अपनी सहानुभूति सारे संसार के प्रति रखनी चाहिये।

ग्रीन ने कहा है कि राज्य का कार्य श्रेष्ठ सामाजिक जीवन की बाधाओं को समाप्त करना है। यह एक आदर्श कल्पना है। जब तक राज्य दृढ़तापूर्वक आदर्श नागरिकता की बाधाओं को दूर करने की चेष्टा नही करेगा उनका अन्त होना बहुत कठिन है। राज्य का यह धर्म है कि वह इन बाधाओं को दूर करने के लिये कदम उठाये।

योग्यता प्रश्न

1. नागरिकता की परिभाषा दीजिये। वह किस प्रकार प्राप्त की व खोई जा सकती है?

Define Citizenship. How can it be acquired and lost ?

2. नागरिकता किसे कहते ? अनागरिक कितने प्रकार के होते है ?

Define the term Citizen. What are the various kinds of non citizens ?

3. श्रेष्ठ नागरिक के गुणों का वर्णन कीजिए और बताइये कि इन गुणों का विकास किस प्रकार हो सकता है ?

Describe ideal citizenship and discuss how it can be cultivated ?

4. आदर्श नागरिकता के मार्ग में क्या बाधाएँ आती हैं और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ? भारतीय समाज की दृष्टि से उत्तर दीजिए।

What are the hinderances to ideal citizenship and how they can be removed ? Give your answer with special reference to the Indian Condition.

अध्याय ५

कर्त्तव्य और अधिकार

"कर्त्तव्य पालन से ही अधिकार पैदा होता है। यदि हम अपना कर्त्तव्य (धर्म) पालन करें तो अधिकार (हक) उसके पीछे दौड़ता है।" —महात्मा गांधी

"......अधिकार समाज से अलग नहीं होते। वे सामाजिक होते हैं तथा वे उन सामाजिक दशाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं जो कि व्यक्तित्व के विकास के लिये आवश्यक अथवा अनुकूल होती है। अधिकार मूलतः सामाजिक जीवन की दशायें हैं।" —डा० बेनीप्रसाद

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक जीवन अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक जीवन का अर्थ है सहयोगी जीवन। समाज में रहकर मनुष्य दूसरों के चार काम करता है तथा दूसरे मनुष्य समय पर उसके काम आते हैं। इस प्रकार सामाजिक जीवन निरन्तर आदान-प्रदान (लेन-देन) का एक क्रम है। कर्त्तव्य और अधिकार सामाजिक जीवन के दो स्थायी आधार हैं। कर्त्तव्यों से अधिकारों का जन्म होता है और अधिकारों के उपभोग से मनुष्य में कर्त्तव्य-पालन की शक्ति पैदा होती है। इसी विषय का अध्ययन हम यहाँ करेंगे।

कर्त्तव्य

नागरिक शास्त्र के अधिकांश लेखक अधिकारों को प्रधानता देते हैं। इसी से प्रायः पहले अधिकारों का वर्णन किया जाता है, परन्तु हमारी दृष्टि में कर्त्तव्य समाज की रीढ़ है, इन्हीं से अधिकारों का जन्म होता है। इसी विचार से यहाँ कर्त्तव्यों का वर्णन पहले किया जा रहा है।

मनुष्य के सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्वों का नाम कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य को गीता में कहीं 'कर्म' के नाम से पुकारा गया है और कहीं धर्म के नाम से। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—'कर्मण्येव अधिकारस्ते—कर्म करना ही मनुष्य का अधिकार है। कर्म का अर्थ है कर्त्तव्य का पालन। इस कथन में कर्त्तव्य के पालन पर जोर दिया गया है। एक दूसरी जगह फिर श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः,' अपने कर्त्तव्य का पालन करते यदि मृत्यु भी हो जाये तो भी श्रेष्ठ है, अपने कर्त्तव्यों को छोड़कर दूसरों के कर्त्तव्य में दखल देना भयंकर होता है। समाज का सुख और उसकी शान्ति इस बात पर निर्भर है कि

उसके सब सदस्य अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करते रहें।

समाज व्यक्ति के विकास में चारों ओर से उसकी सहायता करता है और व्यक्ति कर्त्तव्य के पालन द्वारा समाज के प्रति अपने ऋण को चुकाता है। कर्त्तव्य के पालन से केवल समाज का ही हित नहीं होता वरन् कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति के विकास में भी वह बड़ी सहायता करता है। कर्त्तव्यों के पालन द्वारा व्यक्ति की आंतरिक शक्तियाँ खुल जाती हैं तथा उसके भीतर सच्चरित्रता का विकास होता है। हिन्दू धर्म में 'धर्म' शब्द का अर्थ कर्त्तव्य ही है। जब हम कहते है कि सत्य बोलना धर्म है तो इसका अर्थ यह होता है कि सत्य बोलना कर्त्तव्य है। जब हम कानूनी भाषा में कर्त्तव्य शब्द का उपयोग करते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि हमें कोई काम विवश होकर करना पड़ेगा अर्थात न करने पर हमें राज्य की ओर से दण्ड भोगना होगा। वास्तव में कर्त्तव्य इससे कहीं ऊँची भावना का द्योतक है। कर्त्तव्य एक नैतिक शब्द है। कर्त्तव्य का अर्थ है ऐसा कार्य जो किया जाना चाहिये। कर्त्तव्य में 'चाहिये' (Ought) पर जोर दिया गया है। यही इसके नैतिक स्वरूप का प्रमाण है।

आधुनिक समय में सुविधा की दृष्टि से हम कर्त्तव्यों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) ऐच्छिक कर्त्तव्य तथा (२) वैधानिक कर्त्तव्य।

ऐच्छिक कर्त्तव्य—समाज के जीवन में व्यक्ति द्वारा ऐच्छिक कर्त्तव्यों के पालन का बहुत बड़ा महत्व है। संसार में आज तक जितने महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं वे सब कर्त्तव्यों के पालन के ही परिणाम हैं। राजा राम मोहन राय ने सती प्रथा और बाल विवाह की बुराइयों को दूर करने के लिए जो प्रयत्न किया उसके लिए कानून उन्हें बाध्य नहीं करता था, उन्होंने उसे अपना कर्त्तव्य समझा और उसकी पूर्ति में जुट गये। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म के सुधार के जो प्रयत्न किये वे भी उनके ऐच्छिक कर्त्तव्य ही थे। महात्मा गांधी ने राष्ट्र की स्वाधीनता और हरिजनों के उत्थान के लिये जो कष्ट उठाए तथा साम्प्रदायिक एकता के लिए प्राणों का जो बलिदान दिया वह उनकी ऐच्छिक कर्त्तव्य भावना का ही फल था। ऐच्छिक कर्त्तव्यों की कोई सूची नहीं बनाई जा सकती। ऐच्छिक कर्त्तव्य वे कर्त्तव्य हैं जिन्हें मनुष्य स्वयं स्वीकार कर लेता है और जिनके पालन में वह सहर्ष कष्ट सहन करता है। पड़ौसी के घर में पड़े मुर्दे को कन्धे पर उठा ले जाने के लिए हमें कोई मजबूर नहीं करता वरन् हम अपनी इच्छा से ही वह कार्य करते है। जिस व्यक्ति का अन्तःकरण (काँन्शेस) जितना अधिक जाग्रत होता है उसके ऐच्छिक कर्त्तव्यों की संख्या और सीमा उतनी ही बढ़ती जाती है। कोई भी राष्ट्र और जाति केवल वैधानिक कर्त्तव्यों (लीगल ड्यूटीज) के पालन द्वारा ही महान नहीं बन सकती। कानून मनुष्य के बाह्य कार्यों और आचरण का नियमन (रैगुलेशन) कर सकता है आन्तरिक विचारों का नहीं। कला और संस्कृति की उन्नति के लिए ऐच्छिक कर्त्तव्यों की भावना अत्यन्त

आवश्यक है। ऐच्छिक कर्त्तव्य का अर्थ है स्वयं महान् बनने और अपने समाज को उच्च बनाने के लिए सोच-समझ कर इच्छापूर्वक यत्न करना। कभी-कभी तो ऐच्छिक कर्त्तव्य वैधानिक कर्त्तव्यों से भी महान होता है, तथा मनुष्य की नैतिकता उसे इस बात के लिए विवश कर देती है कि वह वैधानिक कर्त्तव्यों का उल्लंघन करके भी अपने ऐच्छिक अथवा नैतिक कर्त्तव्य का पालन करे, जैसे राज्य की आज्ञाओं का पालन करना मनुष्य का वैधानिक कर्त्तव्य है परन्तु अत्याचारी और निपट-निरंकुश राज्य का विरोध करना मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है। जिस व्यक्ति के भीतर नैतिकता की भावना प्रबल होगी वह राज्य से लड़ जायगा और अपने प्राणों तक की बाजी लगा देगा परन्तु अनैतिक नियमों का पालन नहीं करेगा। लास्की ने कहा है 'यदि मैं अन्याय से सहमत न हो सकूँ तो विरोध करना मेरा कर्त्तव्य है'।

मनुष्य के नैतिक कर्त्तव्य सर्वोपरि होते हैं उनके पालन के लिये जाग्रत अन्तः-करण और प्रबल इच्छा शक्ति (विल पावर) की आवश्यकता होती है।

वैधानिक कर्त्तव्य—मनुष्य के उन कर्त्तव्यों को वैधानिक कर्त्तव्य कहते हैं जिनका पालन उसे मजबूर होकर करना पड़ता है, अर्थात् यदि वह उनका पालन न करे तो उसे राज्य की ओर से दण्ड भोगना पड़ सकता है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि यदि वैधानिक कर्त्तव्यों का पालन केवल कानूनी दृष्टि से ही किया जायगा अर्थात् जहाँ कानून से बच कर चोरी की जा सकती है वहाँ चोरी करने की नीयत रखी जायगी तो राज्य और समाज की कड़ियां एक ही दिन में ढीली पड़ जायेंगी तथा मनुष्य का नैतिक व सामाजिक पतन हो जायेगा। वैधानिक कर्त्तव्यों का पालन भी नैतिकता की भावना पर आधारित होना चाहिये। एक मतदाता का कर्त्तव्य है कि वह अपने मत का सही उपयोग करे, यदि वह अपने मत को बेचता है तो उसे राज्य की ओर से दण्ड मिलेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मतदान केन्द्र (पोलिंग-स्टेशन) पर अपना मत डालने ही न जाये जहां एक ओर यह उसका वैधानिक कर्त्तव्य है कि वह अपने मत का दुरुपयोग न करे वहीं उसका यह नैतिक कर्त्तव्य भी है कि वह उसका सदुपयोग करे उसे बेकार न जाने दे। देशभक्ति भी ऐसा ही वैधानिक कर्त्तव्य है। यदि कानून के डर से ही अपने देश के प्रति अपने प्यार और भक्ति का ऊपरी प्रदर्शन मात्र किया तो एक दिन अवश्य हमारा देश दूसरों के आधीन चला जायगा। अत. प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह वैधानिक कर्त्तव्यों का पालन नैतिक ईमानदारी के साथ करे।

राज्य के प्रति कर्त्तव्य

राज्य मनुष्य का सबसे प्रधान और महान समुदाय है। वह मनुष्यों से मिलकर बनता है तथा उसका निर्माण मनुष्यों के हित के लिये ही होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य नागरिकों से अपनी आज्ञाओं का पालन दण्डे के बल पर करा सकता है

परन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि यदि नागरिकों के भीतर राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों की चेतना नहीं है तो राज्य पनप नहीं सकता तथा उसकी स्वतन्त्रता स्थिर व स्थाई नहीं रह सकती।

राज्य मनुष्य और उसके दूसरे समुदायों के जीवन और पोषण के लिए अनिवार्य है। राज्य के बिना व्यक्ति का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है अतः व्यक्ति का धर्म है कि वह अपने स्वयं के तथा अपने समुदायों के स्वार्थों तथा संकीर्ण हितों को भुलाकर अपने राष्ट्र के हित का ध्यान रखे। भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने एक बार कहा था, "यदि भारत मिटता है तो कौन जी सकता है।" भारत के नागरिकों का विशेषकर विद्यार्थियों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने राज्य के प्रति अपनी प्रबल निष्ठा बनाये रखें तथा उसके लिये सदा बलिदान करने को प्रस्तुत रहें।

राज्य के प्रति नागरिकों के कर्त्तव्यों में निम्न प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) **राज्य की आज्ञाओं का पालन**—राज्य की सभी आज्ञाएं नागरिकों के किसी न किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष हित की पूर्ति के लिये होती हैं, नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे राज्य की आज्ञाओं का पालन स्वेच्छा से करें। यदि कोई नागरिक राज्य के आदेश की पूर्ति नहीं करता तो उसे राज्य-दण्ड के लिये तैयार रहना चाहिये। यदि नागरिक अपने किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिये राज्य की आज्ञा का चोरी से उल्लंघन करते हैं तो वे देश-द्रोही की कोटी में आते है। परन्तु यदि कोई नागरिक या नागरिकों का समुदाय ऐसा समझता है कि राज्य की कोई आज्ञा, धर्म-नीति और देश हित के विरुद्ध है तो उसे चाहिए कि वह खुले रूप से राज्य का विरोध करे एवं उसके लिए राज्य की ओर से प्राप्त होने वाले दण्ड को स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का धर्म है कि वह राज्य की समस्त विधियों का उल्लंघन न करके केवल उसी विधि को भंग करे जिसे वह ठीक न समझता हो तथा उसे राज्य का विरोध शान्तिपूर्ण ढंग से करना चाहिए क्योंकि उसका उद्देश्य खराब कानून से छुटकारा पाना है न कि राज्य को मिटाना। इसे ही हमारे देश में पूज्य गांधी जी ने सत्याग्रह का अस्त्र कहा है। इसके दो मूल आधार हैं सत्य और अहिंसा अथवा ईमानदारी से बिना किसी को हानि अथवा चोट पहुंचाये वैधानिक ढंग से अपना विचार राज्य के सामने रखना।

(२) **राज्य के प्रति भक्ति रखना**—नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य के प्रति भक्ति रखे क्योंकि वह राज्य की छत्रछाया में ही शान्ति व सुरक्षापूर्वक जीता है एवं अनेक सुख सुविधाओं का उपभोग करता है। अवसर आने पर उसे अपने राज्य के लिए मर मिटने की तैयारी रखनी चाहिए जिससे कि राज्य के भीतर भावी पीढ़ियाँ सुख से जी सकें। राज्य के शत्रुओं से कभी भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए तथा राज्य के जो गुप्त रहस्य मालूम हों उन्हें कभी भी प्रकट नहीं करना चाहिए। जब कभी राज्य किसी दैवी दुर्घटना जैसे अकाल, बाढ, भूकम्प, महामारी अथवा किसी राजतीतिक संकट जैसे युद्ध अथवा आन्तरिक विद्रोह आदि में फंसा हो तो शक्ति भर तन, मन, धन से उसकी सहायता करनी चाहिये।

(३) **देश की सेना में भर्ती होकर राज्य रक्षा के लिये लड़ना**—नागरिक का कर्त्तव्य माना गया है कि वह अपने राज्य की रक्षा के लिये सशस्त्र सेनाओं में प्रविष्ट (भर्ती) होकर युद्धस्थल में शत्रु का डटकर सामना करे एवं अपने राष्ट्र के झन्डे को कभी भी न झुकने दे। उसे चाहिए कि वह एक सैनिक बनकर जब विदेशी भूमि में जाये तो ऊंचे चरित्र का प्रदर्शन करे जिससे किसी प्रकार उसके राष्ट्र की बदनामी न होने पाये।

(४) **प्रशासकीय कर्मचारियों की सहायता करना**—जनतन्त्रात्मक देशों में शासन के ठीक ठीक चलाने का उत्तरदायित्व जनता के कन्धों पर होता है और शासन के बिगड़ने का प्रभाव सीधे जनता के हितों पर पड़ता है। अतः नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे शासन व्यवस्था का संचालन करने वाले राज्य के प्रशासकीय कर्मचारियों को अपना शत्रु न समझकर मित्र समझें और उनके कामों में विघ्न डालने के बजाय जहाँ तक हो सके उन्हें उनके कर्त्तव्यों के पालन में सहायता दें जिससे कि वे ईमानदारी से राज्य के कार्यों को पूरा कर सकें। शासक वर्ग से डरना अथवा उससे द्वेष रखना या उनका अपमान करना, ये सब बातें जनतन्त्र की मूल भावना के विपरीत हैं।

(५) **कर चुकाना**—राज्य के ठीक ठीक चलने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी शासन व्यवस्था सुचारु रूप से काम कर सके। उसके लिए धन की आवश्यकता होती है। राज्य वास्तव में एक व्यय करने वाली संस्था है। उसके लिये धन जुटाना नागरिकों का कर्त्तव्य है। राज्य जब एक बार जनता के प्रतिनिधियों की सहमति से जनता पर कर लगा देता है तो नागरिकों का धर्म है कि वे अपनी आय और अपने व्यय का ठीक ठीक व्यौरा रखें तथा निश्चित समय पर अत्यन्त ईमानदारी के साथ राज्य के करों को चुका दें। इसी प्रकार डाक से माल भेजने, रेल से यात्रा करने व माल भेजने, चुंगी आदि में भी चोरी नहीं करनी चाहिये। ऐसा करने से हमारे राज्य की आय कम हो जायेगी और वह हमारे लिए पूरा पूरा काम नहीं कर सकेगा। बहुत से व्यापारी अपने जाली हिसाब किताब रखते हैं जिससे वे राज्य के करों में चोरी कर सकें। ऐसा करना एक स्वतन्त्र राष्ट्र में सबसे बड़ा अपराध है। इसे देश द्रोह मानना चाहिये।

(६) **श्रम करना**—प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह शक्ति के अनुसार पूरा श्रम करके अपनी रोजी पैदा करे। दूसरों की मेहनत का फल माँगना या चोरी करना अथवा घूंस लेना या देना राज्य को दुर्बल बना देता है। जिस राज्य की जनता ईमानदारी, श्रम-परायणता और आत्म गौरव से पूर्ण है वह बहुत अधिक भाग्यशाली है हमारे देश के नागरिकों को इस दिशा में बहुत काम करना है। उन्हें परिश्रमी होना चाहिए तथा सरकारी पदाधिकारियों व जनता में प्रचलित घूंसखोरी को नष्ट करना चाहिये जिससे कि हमारा राष्ट्र चरित्र की दृष्टि से श्रेष्ठ बन सके।

(७) **दूसरों के अधिकार का पूर्ण आदर**—नागरिक का सबसे प्रधान कर्त्तव्य

यह है कि वह दूसरों के अधिकारों का उसी प्रकार सम्मान करे जैसे वह दूसरों से अपने अधिकारों के प्रति चाहता है। उसे अपनी नागरिकता का सदुपयोग करना चाहिए। वह ठीक व्यक्ति को निर्वाचन के समय अपना मत दे, स्वयं निर्वाचित हो जाने पर जनता के सच्चे हितों का ध्यान रखे तथा किसी प्रशासकीय पद (एडमिनिस्ट्रेटिव पोस्ट) के पाने पर ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करे, घूस और रिश्वतखोरी से बचे तथा कभी राष्ट्र को धोखा न दे।

राज्य दण्ड

राज्य अपने आदेशों के उल्लंघन पर व्यक्ति को दण्ड देकर उसे आज्ञा पालन के लिये बाध्य कर सकता है। परन्तु यह वास्तव में नागरिक और राज्य दोनों के लिये दुर्भाग्य की स्थिति है। साधारण स्थिति में जब नागरिक स्वार्थवश अथवा अज्ञानवश राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य नहीं पालन कर पाता तो इसे हम उसके चरित्र की दुर्बलता ही मानेंगे। राज्य जब उसे दण्ड देता है तो इसमें उसकी शक्ति और धन का बहुत अपव्यय होता है।

दूसरे, राज्य दण्ड देकर शरीर से ही नागरिक को आज्ञा पालन के लिये बाध्य कर सकता है वास्तव में वह उसके मन पर दण्ड द्वारा विजय प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि दण्ड की कटोर व्यवस्था के रहते हुये भी राज्य के भीतर अपराधों की संख्या कम नहीं हो पाती। राज्य को चाहिए कि वह दण्ड की अपेक्षा ऐसी शिक्षा का प्रबन्ध करे जिससे नागरिकों में राष्ट्रीयता की श्रेष्ठ चेतना एवं आज्ञापालन की भावना का सम्यक् विकास हो सके।

अधिकार

परिभाषा—व्यक्ति के प्रति समाज और राज्य के जो कर्त्तव्य होते है उन्हें व्यक्ति के अधिकार कहा जाता है। हम पीछे कह चुके है कि समाज और राज्य व्यक्ति के विकास में बहुत सहयोग देते हैं यह सहयोग ही व्यक्ति का अधिकार है। अधिकार सामाजिक जीवन की वह दशायें हैं जिन्हें समाज और राज्य की स्वीकृति मिल जाती है तथा जो व्यक्ति के विकास के लिये अनिवार्य होती हैं। यदि व्यक्ति के जीवन पर चारों ओर से कठोर बन्धन लगा दिये जायें तो उसकी आन्तरिक शक्तियों के विकास के लिए अवसर नहीं मिलेगा। यदि समाज चाहता है कि व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तो उसे ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना होगा जिनके भीतर वह ऐसा कर सके। ये परिस्थितियाँ ही व्यक्ति का अधिकार बन जाती हैं।

उत्पत्ति—अधिकारों की उत्पत्ति समाज में ही होती है। समाज से बाहर निकलकर मनुष्य को कोई अधिकार नहीं होते। हम यों कह सकते हैं कि अधिकार वे सामाजिक दशायें हैं जो समाज और राज्य द्वारा व्यक्ति के विकास के लिये निर्माण की जाती हैं, जैसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन की रक्षा का अधिकार—वास्तव में यह एक सामाजिक स्थिति है जिसमें कोई व्यक्ति किसी के प्राण नहीं लेता और यदि लेता

है तो उसे राज्य की ओर से दण्ड मिलता है। अधिकार के लिए राज्य द्वारा रक्षण (प्रोक्टेक्शन) का भाव मूल रूप से विद्यमान है। राज्य व्यक्ति के जिन अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकता उन्हें अधिकार नहीं माना जायेगा।

प्रकृति—सत्रहवीं अठारहवी शताब्दी के विचारको ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लेख किया है। उनका विचार है कि मनुष्य अपने जन्म के समय ही कुछ अधिकार लेकर पैदा होता है जैसे जीवन की रक्षा का अधिकार और सम्पत्ति का अधिकार आदि। उसके ये नैसर्गिक अधिकार उसे मिलने ही चाहियें।

वास्तव में व्यक्ति को प्रकृति से केवल शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जैसे बोलने, लिखने और अन्य काम करने की शक्तियाँ। प्रकृति मनुष्य को कोई अधिकार नहीं दे सकती। अधिकार केवल व्यवस्थित समाज में ही हो सकते है। प्रकृति मनुष्य को शक्तियाँ देती है और समाज उन शक्तियों के विकास का अवसर देता है। विकास का यह अवसर ही अधिकार है। जिस मनुष्य ने समाज से अपना सम्बन्ध तोड़ लिया है उसके कोई अधिकार नहीं हो सकते। इसके सबसे अच्छे उदाहरण साधु महात्मा लोग हैं जो सामाजिक जीवन का परित्याग करके पर्वतों की कन्दराओं में जाकर योग साधना करते है, उनके कोई अधिकार नहीं होते।

उद्देश्य—अधिकार (१) वे परिस्थतियाँ हैं जो व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक हों, (२) जिन्हे समाज की स्वीकृति मिल गई हो तथा (३) राज्य के कानून जिनकी रक्षा करते हों। अधिकारों का उद्देश्य समाज के सभी सदस्यों के नैतिक हित की अभिवृद्धि करना है। हम पीछे कह चुके है कि राज्य एक नैतिक समुदाय है। अतः राज्य का एक प्रमुख कार्य अपने सदस्यों के लिए उन परिस्थितियों का निर्माण व रक्षण करना है जो उनके नैतिक विकास में सहायक हों।

सार्वभौमिक-स्वरूप—अधिकार में एक बड़ी बात यह है कि वह सबको समान रूप से प्राप्त होता है। इसे अधिकार का सार्वभौमिक स्वरूप (यूनिवर्सल कैरक्टर) कहते हैं, जैसे जीने का अधिकार, यह अधिकार किसी एक व्यक्ति का अधिकार नहीं वरन् समाज के सभी सदस्य इस अधिकार का समान रूप से उपभोग करते हैं, कोई भी व्यक्ति किसी के प्राण लेने की चेष्टा करे तो राज्य उसे दण्ड देता है। समाज के भीतर प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि अपने आदर्श जीवन के विकास के लिए उसे जैसी शक्तियाँ मिली हुई है वैसी ही शक्तियाँ समाज के प्रत्येक सदस्य को प्राप्त है। अधिकार मनुष्य को समाज की सदस्यता के नाते मिलते है। जब समाज के भीतर यह चेतना अथवा विचार प्रबल हो जाता है कि किसी शक्ति के विकास से समाज के सभी सदस्यों का लाभ होगा तो समाज उसे अधिकार के रूप में घोषित कर देता है अर्थात् समाज यह स्वीकार कर लेता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी उस शक्ति का विकास कर सकता है। इस प्रकार कोई भी अधिकार समाज के प्रत्येक सदस्य को मिलता है। कुछ ऐसे अधिकार भी होते हैं जो कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों (क्लासेज) को ही मिलते है इन अधिकारों को विशेष अधिकार कहते है जनतन्त्र में

यह विशेष अधिकार कुछ अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते। कभी-कभी कुछ पिछड़ी हुई या अल्प संख्यक जातियों को कुछ विशेष अधिकार दिए जाते है जिससे वे अपनी उन्नति कर सकें, परन्तु कुछ समय पश्चात उन्हें भी समाप्त कर दिया जाता है। भारतीय संविधान में कुछ जातियों को २० वर्ष के लिए विशेषाधिकार प्रदान किए गये हैं।

मौलिक अधिकार

मनुष्य के अधिकारों की एक ऐसी सूची बनाना असम्भव है जिसमें उसके विकास के लिये आवश्यक समस्त अधिकारों की गिनती की जा सके। राज्य भी हमेशा व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक प्रत्येक अधिकार को कानून द्वारा मान्यता नही दे पाता। यह एक ब्योरे का विषय है अतः मोटे रूप से कुछ ऐसे अधिकार छाँट लिए जाते हैं जिनके अर्न्तगत मनुष्य की नैतिक और भौतिक शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक समस्त छोटे मोटे अधिकारों का समावेश हो जाता है। इन अधिकारों को मौलिक अधिकार (फण्डामेन्टल-राइटस) के नाम से पुकारा जाता है। बहुत देशों के संविधानों में इन अधिकारों को अधिकार-पत्र (बिल आॉफ राइटस) के रूप में संविधानों के भीतर शामिल कर लिया गया है तथा कहीं-कहीं ये केवल सामाजिक मान्यता (सोशल रिकॉगनीशन) पर ही आधारित होते हैं। वैधानिक मान्यता मिलने पर ये अधिकार वैधानिक (लीगल राइटस) कहलाते है तथा उसके न मिलने पर स्वाभाविक-अधिकार (नेचुरल राइट्स) के नाम से पुकारे जाते हैं।

अधिकारों का वर्गीकरण

अधिकार मूलतः दो प्रकार के होते हैं—(१) सामाजिक, तथा (२) राजनीतिक। सामाजिक अधिकार देश की सीमा के भीतर देशीय और विदेशी सभी व्यक्तियों, नागरिकों और अनागरिकों को प्राप्त हैं। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक सामाजिक जीवन में भाग ले सकता है। ये अधिकार प्रत्येक युवा, वृद्ध, बालक, स्त्री और पुरुष को भली प्रकार जीवित रहने तथा जीवन के साधनों पर स्वामित्व रखने की छूट देते है। यह ध्यान रहे कि राज्य इन अधिकारों की रक्षा करता है तथा कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति से उसके इन अधिकारों को नहीं छीन सकता, न स्वयं ही उनका परित्याग कर सकता है।

प्रमुख सामाजिक अधिकार

(१) **जीवन और स्वतन्त्रता का अधिकार**—मनुष्य के सामाजिक जीवन से सारे आधिकारों का जन्म होता है। अतः जीवन सारे अधिकारों की आधारशिला है क्योंकि बिना जीवन के मनुष्य किसी भी अधिकार का उपभोग नहीं कर सकता। इस अधिकार में 'जीने और जीवन की रक्षा करने' इन दोनों का समावेश होता है। इस अधिकार की रक्षा राज्य अपने पुलिस और न्याय विभाग द्वारा करता है।

जीवन की रक्षा के अधिकार में आत्म-हत्या एक अपराध है। जैसा पीछे कहा गया है, व्यक्ति का जीवन केवल उसके लिए ही नहीं वरन् समाज के लिए भी उपयोगी होता है। आत्म-हत्या का अर्थ है कि व्यक्ति समाज की हानि करना चाहता है अतः

यह एक घोर अपराध समझा ही जाना चाहिये ।

जीवन के अधिकार में आत्म रक्षा का समावेश होता है । यदि कोई व्यक्ति हमारे जीवन पर आक्रमण करे तो हमें यह अधिकार है कि हम शक्ति के प्रयोग द्वारा उससे अपने व्यक्तित्व की रक्षा करें और यदि इसमें उसके प्राण भी लेने पड़ें तो कानूनी दृष्टि से यह अपराध नही माना जायेगा ।

जीवन के अधिकार के भीतर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार भी शामिल है जैसे—इधर-उधर आने जाने की स्वतन्त्रता, अपनी शक्तियों के विकास और अपने जीवन का ढंग निश्चित करने की स्वतन्त्रता ।

इस अधिकार में दो बातें विशेष रूप से आती है । प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि गिरफ्तार किये जाने पर—(१) अपनी गिरफ्तारी के कारणों को जान सके, और (२) न्यायालयों से न्याय की माँग कर सके । न्यायालयों से न्याय की मांग करने के कानून को बन्दी प्रत्यक्षीकरण-अधिनियम (हैबियस कौरपस ऐक्ट) कहते हैं । इसके अनुसार प्रार्थना किये जाने पर न्यायालय व्यक्ति को अपने सामने बुलाकर उस के मामले पर विचार करते है तथा उसे न्याय प्रदान करते हैं । किसी भी व्यक्ति को बहुत लम्बे समय तक मुकदमा चलाये बिना जेल में नहीं रखा जा सकता ।

(२) **सम्पत्ति का अधिकार**—मनुष्य के नैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सम्पत्ति एक आवश्यक साधन है । वर्तमान युग में सम्पत्ति का स्वामित्व से गहरा सम्बन्ध माना गया है। संपत्ति के नियम हर देश में अलग-अलग होते हैं । चाहे कोई भी देश हो नागरिकों को कुछ न कुछ व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की अनुमति अवश्य होती है । सोवियत् समाजवादी गणराज्य संघ में भी घरेलू सम्पत्ति जैसे वस्त्र, मकान, भोजन का सामान, बर्तन, फर्नीचर इत्यादि पर व्यक्ति का अधिकार माना गया है ।

सम्पत्ति के अधिकार का यह अर्थ होता है कि व्यक्ति को (१) सम्पत्ति रखने (२) उसका उपयोग करने, (३) खरीदने तथा (४) बेचने या दान करने का हक होता है ।

यह समझ लेना आवश्यक है कि सम्पत्ति का अधिकार भी पूर्ण अथवा अबाध नहीं होता । राज्य को अधिकार है कि वह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की सहमति से अपना खर्च चलाने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति पर कर लगा सके तथा उसे जबर्दस्ती वसूल कर सके । इसके अतिरिक्त युद्ध या और किसी राष्ट्रीय संकट के समय भी राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति को कानून बनाकर ले सकता है ।

(३) **विचार प्रकाशन का अधिकार**—विचार मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धन है । सामाजिक संगठन और सामाजिक-जीवन की शान्ति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्ति आपस में भिन्न-भिन्न प्रश्नों पर विचारों का आदान प्रदान कर सकें । जनतंत्र में तो इसका और भी अधिक महत्व है । जनतन्त्रात्मक शासन का मूल सिद्धान्त यह है कि किसी पर अपने विचारों या इच्छाओं को जबर्दस्ती न लादा जाय वरन् तर्क द्वारा विचार-परिवर्तन किया जाए । इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार देना आवश्यक है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारों को (कानूनी सीमा के भीतर) प्रकट कर सके ।

विचार प्रगट करने के कई तरीके अपनाये जा सकते हैं, उसमें से दो प्रमुख तरीके समाचार पत्र और मंच (प्रेस और प्लेटफार्म) हैं। प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह समाचार पत्रों में अपने लेख व भाषण छपवा सके तथा उनका प्रचार कर सके इसके अतिरिक्त उसे यह भी अधिकार है कि वह जनता के किसी समूह के सम्मुख अपने विचारों को बोल कर भाषण के रूप में प्रकट कर सके। भाषण की स्वतन्त्रता में सभा करने की स्वतन्त्रता स्वाभाविक रूप से आ जाती है। भाषण किसी सभा के सामने ही दिये जाते हैं। सभा में यह आवश्यक है कि इकट्ठी होने वाली जनता समाज की शांति और व्यवस्था में कोई बाधा न डाले। यदि कोई व्यक्ति विरोध करने की नीयत से किसी सभा सम्मेलन में बाधा डालता है तो वह राज्य की ओर से दण्ड का भागी होता है क्योंकि वह दूसरों के सभा करने के अधिकार में जान-बूझकर बाधक हो रहा है।

महात्मा गाँधी ने कहा है 'आलोचना किसी भी जनतंत्रीय सरकार का भोजन है मगर वह रचनात्मक और समझदारी से भरी होनी चाहिये।' रक्त-रंजित क्रान्तियों (ब्लडी रिवोल्यूशन) को टालने का केवल एक ही साधन है कि जनता को शासन की आलोचना का अधिकार दिया जाय और शासन उस आलोचना की अवहेलना करने के बजाय उस पर ध्यान दे। शासन की आलोचना करने और रचनात्मक सुझाव (कँस्ट्रक्टिव सजैशन्स) रखने का अधिकार मनुष्यों को भाषण, प्रेस व सभा सम्मेलन करने की स्वतन्त्रता द्वारा प्राप्त होता है।

(४) **धार्मिक विश्वास और पूजा का अधिकार**—धर्म मनुष्य का सर्वोत्तम पथ-प्रदर्शक है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी धर्म का पालन अवश्य करता है भले ही वह नास्तिक हो। कोई खुदा की इबादत करता है, कोई ईश्वर की पूजा, कोई गॉड वरशिप और कोई शैतान की सेवा। मनुष्य जीवन के आदर्शों का ही दूसरा नाम धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म का पालन तथा उसका प्रचार (राज्य के कानूनों के भीतर) कर सके।

राज्य को किसी विशेष धर्म का समर्थन नहीं करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह किसी भी धर्म को मानता हुआ देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में बेरोक-टोक भाग ले सके। इसे धार्मिक सहिष्णुता का सिद्धांत कहते हैं। जो राज्य सब धर्मों के पालन व प्रचार की स्वतन्त्रता देते हैं उन्हें लौकिक राज्य (सेक्यूलर स्टेट) कहा जाता है।

(५) **समुदाय बनाने का अधिकार**—मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है अतः उसका यह मौलिक अधिकार है कि वह अपने विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये समुदायों अथवा संस्थाओं का निर्माण कर सके। स्वयं राज्य भी एक समुदाय है। इसके अतिरिक्त राज्य समुदायों पर टिका होता है। राज्य और जनता के उद्देश्यों में कोई अन्तर नहीं होता अतः जनता को यह अधिकार है कि वह उनकी पूर्ति के लिये समुदायों में संगठित होकर प्रयत्न करे।

मनुष्य के व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास तथा उसकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समुदाय अत्यन्त आवश्यक है। अतः उसका यह स्वाभाविक अधिकार है कि वह समुदायों का निर्माण कर सके जैसे राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, व सांस्कृतिक समुदाय आदि।

परन्तु मनुष्य अपने इस अधिकार का उपयोग राज्य के नियमों अर्थात् विधियों (कानूनों) के भीतर ही कर सकता है। यदि कुछ व्यक्ति किसी ऐसे समुदाय का निर्माण करना चाहें जो कि राज्य के उद्देश्य के विपरीत हो तो राज्य उन्हें ऐसा करने से रोक सकता है। क्योंकि राज्य सब समुदायों से बड़ा है तथा यह समाज में शांति व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी (जवाबदेह) है इस प्रकार राज्य मनुष्यों के समुदायों पर नियन्त्रण रखता है।

(६) **पारिवारिक जीवन का अधिकार**—परिवार मनुष्य का सर्व प्रथम सामाजिक संगठन है तथा यह सामाजिक जीवन का आधार है। प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वयस्क (बालिग) होने पर अपनी पसन्द के अनुसार स्त्री या पुरुष से विवाह कर सके। अपने जीवन साथी के चुनने की स्वतन्त्रता पारिवारिक जीवन के अधिकार का सबसे प्रधान अंग है। इसमें दूसरी बात यह आती है कि यदि पति-पत्नी के विचार न मिलते हों, उनके मध्य किसी कारण संघर्ष हो जाय अथवा अविश्वास हो जाय तो उन्हें परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद (डाइवोर्स) का अधिकार होना चाहिये। यह पश्चिमी सभ्यता के साथ आने वाला एक विचार है। इसके अनुसार विवाह एक समझौता है जिसे जब चाहे भंग किया जा सकता है। भारतीय-संस्कृति में विवाह एक आध्यात्मिक गठबन्धन है जो जीवन भर के लिये किया जाता है। अविश्वास और संघर्ष होने पर यदि समझदारी तथा संयम से काम लिया जाय तो कटुता समाप्त हो सकती है। सम्बन्ध विच्छेद का अधिकार पारिवारिक कलह को घटा नहीं सकता, इससे कटुता और भी बढ़ती है। जिन देशों में तलाक प्रथा है वहाँ ऐसे स्त्री, पुरुष मिलते हैं जो पाँच छः तलाक दे चुके हैं। क्या हम इसे सभ्यता और विकास कह सकेंगे? लेखक के विचार से तलाक प्रथा बहुत बर्बर है। पारिवारिक आनन्द और वृद्धावस्था की शान्ति का अन्त हो जाता है। व्यक्ति को यह अधिकार किसी भी परिस्थिति में नहीं होना चाहिये कि वह अपने जीवन साथी को छोड़ सके। आपसी मतभेद का हल सम्बन्ध-विच्छेद नहीं है, आत्मसंयम, सहनशीलता और त्याग से यह प्रश्न सफलतापूर्वक हल हो सकता है।

पारिवारिक जीवन के अधिकार में तीसरी बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को पारिवारिक जीवन के उपभोग का पूर्ण अधिकार होना चाहिये अर्थात् परिवार के आन्तरिक मामलो में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाना चाहिए। घरेलू खान-पान, रहन-सहन, रस्म-रिवाज और लेन-देन व शिक्षा-दीक्षा के विषय में परिवार राज्य अथवा अन्य किसी संस्था के नियन्त्रण से मुक्त होना चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई परिवार अपने आन्तरिक मामलों में सामाजिक नैतिकता का

उल्लंघन करके अपने सदस्यों को दुराचार की शिक्षा देने लग जाए। ऐसी स्थिति में राज्य हस्तक्षेप कर सकता है।

(७) **आर्थिक अधिकार**—प्रत्येक व्यक्ति को कुछ आर्थिक अधिकार भी मिलने चाहियें। इनमें प्रमुख ये हैं—(अ) आर्थिक न्यूनतम (इकॉनॉमिक मिनिमम) पाने का अधिकार, तथा (ब) अपनी रुचि के अनुसार कार्य, व्यवसाय अथवा पेशा छाँटने का अधिकार।

आर्थिक न्यूनतम का अर्थ है कि राज्य की ओर से नागरिकों के लिये जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का एक मापदण्ड (स्टेन्डर्ड) निर्धारित किया जाना चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम उस निश्चित मापदण्ड (आर्थिक न्यूनतम) के अनुसार जीवन की सुविधायें पाने का अधिकार होना चाहिए। इसके लिये राज्य को दो और काम करने पड़ेंगे, (१) सब व्यक्तियो के लिये कार्य का प्रबन्ध करना तथा (२) यह कानून बनाना कि किसी भी व्यक्ति को काम करने पर पारिश्रमिक (मजदूरी) के रूप में नियत आर्थिक न्यूनतम (फिक्स्ड इकॉनॉमिक मिनिमम) से कम नहीं मिलेगा। इसमें वृद्धों के लिये राज्य की ओर से निवृत्ति वेतन (ओल्ड एज पेंशन्स) तथा अपाहिजों के लिए जीवन भत्ते (सब्सिस्टैन्स एलाउन्स) का भी समावेश होता है।

रोजगार और कम से कम एक निश्चित वेतन पाने के साथ ही व्यक्ति को यह भी अधिकार होना चाहिये कि वह अपनी रुचि, शिक्षा और मानसिक व बौद्धिक झुकाव के अनुकूल कार्य छाँट सके। किसी भी व्यक्ति को उसकी रुचि व योग्यता के प्रतिकूल काम करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। परन्तु सम्भव है कि राज्य सब नागरिकों को इतनी अधिक छूट न दे सके क्योंकि उसे सभी को काम देना होगा। अतः इस अधिकार को भी सीमित ही समझना चाहिये। सदा अपनी रुचि का काम मिल ही जाय यह कठिन होता है।

(८) **शिक्षा सम्बन्धी अधिकार**—मनुष्य की प्राकृतिक शक्तियों का सम्यक विकास शिक्षा पर निर्भर करता है। राज्य के प्रत्येक सदस्य को शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है। राज्य की ओर से सबके लिये शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिये।

शिक्षा के अधिकार को हम दो भागों में बाँट सकते हैं; (१) अनिवार्य व निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा पाने का अधिकार तथा (२) उच्च शिक्षा पाने का अवसर व उसकी स्वतन्त्रता।

राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने समस्त बालकों के लिये अनिवार्य और निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबंध करे जिससे कि कोई भी बालक अपने माता-पिता की लापरवाही या निर्धनता के कारण अशिक्षित न रह जाय। अशिक्षित व्यक्ति ठीक ढंग से अपना विकास नहीं कर पाता है। साथ ही यह डर भी बना रहता है कि दूसरे उसका शोषण कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त राज्य को माध्यमिक (सेकेन्डरी) व उच्च शिक्षा (हायर एजू-

केशन) का भी प्रबन्ध करना चाहिये। बिना किसी भेद भाव के प्रत्येक विद्यार्थी को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह अपनी रुचि के अनुकूल किसी भी विषय की शिक्षा प्राप्त कर सके। यद्यपि यह ठीक है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये उच्च शिक्षा का महत्व नहीं होता, तथापि उसका द्वार सबके लिए समान रूप से खुला होना चाहिये जिससे कि जो भी व्यक्ति चाहे उपनी शक्तियों का उच्चतम विकास कर सके।

(६) **साँस्कृतिक अधिकार**—एक राज्य के भीतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों वाले जातीय-समूह (नेशनैलिटीज) हो सकते हैं। उसमें से हरेक को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी संस्कृति (कल्चर) के अनुसार अपना जीवन बिता सके तथा उसका विकास कर सके। संस्कृति में भाषा, वेश-भूषा, सामाजिक व्यवहार के नियमों, कला व सामाजिक सभ्यता आदि का समावेश होता है। प्रत्येक भिन्न साँस्कृतिक-समूह (कल्चर ग्रुप) को अपनी भाषा, वेश-भूषा, सभ्यता और कला के विकास का अधिकार होता है। इसको सांस्कृतिक अधिकार कहते हैं।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि राष्ट्र-संस्कृति का विकास न किया जाये। जैसे भारत में अनेकों भाषा बोलने वाले लोग हैं—बंगाली, पंजाबी, मराठी, तामिल, तेलगू, गुजराती, मलयालम, कन्नड़ आदि इन सब को हमारे संविधान ने अपने-अपने प्रदेश के भीतर प्रयोग किये जाने की स्वतन्त्रता दी है परन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय प्रश्नों तथा राष्ट्रीय संस्कृति का सम्बन्ध है भारत की राष्ट्र-भाषा हिन्दी है। इसी प्रकार राष्ट्रीय वेष-भूषा और राष्ट्रीय कला का विकास इस नाम पर नहीं रोका जा सकता कि इससे अन्य प्रादेशिक संस्कृतियों को धक्का पहुंचता है।

उपरोक्त सूची को हम व्यक्ति के सामाजिक अधिकार की पूर्ण या अन्तिम सूची नहीं कह सकते, हाँ इतना अवश्य है कि उसमें प्रायः मुख्य मुख्य सभी अधिकारों का वर्णन आ गया है। जैसा कि पीछे कह चुके हैं नागरिकों को सामाजिक अधिकारों के अतिरिक्त कुछ राजनीतिक अधिकार भी मिलते हैं। आगे हम इन राजनीतिक अधिकारों का वर्णन करेंगे।

राजनीतिक अधिकार

राज्य के शासन में भाग लेने के अधिकार को राजनीतिक अधिकार कहते हैं। राजनीतिक अधिकार केवल देश के नागरिकों को ही प्राप्त होते हैं, बालकों, अपाहिजों पागलों, अपराधियों और विदेशी नागरिकों को ये अधिकार नहीं दिये जाते।

नागरिक का सबसे पहला राजनीतिक अधिकार यह है कि वह देश का विधान बनाने में हिस्सा ले सके। आजकल के राष्ट्रीय राज्यों में प्राचीन ग्रीस के नगर राज्यों की भाँति यह सम्भव नहीं है कि देश के सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से विधि निर्माण में भाग ले सकें अतः आधुनिक जनतन्त्रात्मक देशों में प्रतिनिधियों द्वारा शासन करने की पद्धति अपनाई जाती है। इसमें नागरिक अपने प्रतिनिधियों को चुनकर विधान-

मंडल में भेजते है जो कि वहाँ जनता की इच्छा के अनुसार विधियों का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार जनता दो प्रकार से विधान बनाने में हिस्सा लेती है—(१) अपने प्रतिनिधियों को चुनकर तथा (२) स्वयं चुने जाकर।

(१) **मताधिकार**—प्रतिनिधियों के चुनने के अधिकार को मताधिकार (राइट टू वोट) कहते हैं। प्रत्येक नागरिक को एक मत देने का अधिकार होता है। उसे यह भी अधिकार होता है कि वह जिस व्यक्ति को योग्य समझे उसे अपना मत दे सके।

यह नागरिकों का एक बहुत महत्वपूर्ण अधिकार होता है। इस अधिकार के प्रयोग द्वारा नागरिक अपनी इच्छा को प्रकट करते हैं। वे जिस दल के सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं उसी दल के व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि निर्वाचित करते हैं। यदि उन्हें यह अनुभव होने लगे कि उनके चुने हुए प्रतिनिधि ठीक ढंग से काम नहीं कर रहे हैं या अच्छे कानून नहीं बनाते तो अगले निर्वाचनों में वे अपना मत उन्हें न देकर किसी दूसरे दल के व्यक्तियों को दे सकते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जनतन्त्रात्मक देशों में शासन का निर्माण मतदाता (वोटर्स) करते हैं।

जहाँ मताधिकार नागरिक का एक हक है वहीं यह उसका एक पवित्र कर्त्तव्य (फर्ज) भी है। नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह संकीर्ण-विचारों, जैसे—धर्म, सम्प्रदाय और जाति आदि से ऊपर उठकर राष्ट्र की भलाई को ध्यान में रखकर सुयोग्य व्यक्ति को अपना मत दे।

(२) **चुने जाने का अधिकार**—नागरिकों का दूसरा अधिकार यह है कि वे देश, प्रान्त या नगर अथवा ग्राम के लिये कानून बनाने के काम में प्रत्यक्ष रूप से भाग ले सकें। इसके लिए उन्हें यह अधिकार होता है कि वे निर्वाचनों में खड़े हो सकें तथा दूसरे नागरिकों के मत प्राप्त करके चुने जा सकें।

चुनना और चुना जाना जनतन्त्र के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार हैं। जनता चुनकर अर्थात् वोट देकर अपने प्रतिनिधियों को अपने शासन की देखभाल और राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए भेजती है इससे जनता की राजनीतिक प्रभुता का बोध होता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि मताधिकार और निर्वाचित होने का अधिकार यह दोनों जनता को केवल जनतन्त्र में ही मिलते हैं अन्य किसी शासन प्रणाली में नहीं।

(३) **पद पाने का अधिकार**—नागरिकता का तीसरा अधिकार प्रशासकीय पद (एडमिनिस्ट्रेटिव पोस्ट) पाने का अधिकार है। केवल नागरिक को ही राज्य की स्थायी सेवाओं (पर्मानेन्ट सर्विसेज) में पद प्राप्त हो सकते हैं। यदि कोई नागरिक किसी पद के लिए आवश्यक योग्यता रखता है तो वह और नागरिकों के समान ही उस पद का अधिकारी माना जावेगा। किसी भी नागरिक को किसी धर्म, रंग, जाति या राजनीतिक विचार के कारण सरकारी नौकरियों से वंचित नहीं किया जा सकता।

देश के शासन में भाग लेने का यह एक महत्वपूर्ण साधन है। शासकीय पदों पर पहुँचकर नागरिक अपने देश की सच्ची सेवा कर सकते हैं। परन्तु इसके लिए यह

आवश्यक है कि वे सरकारी पदों को अपने लाभ का साधन न समझकर राष्ट्रीय सेवा का सुअवसर व सुयोग समझें तथा ईमानदारी और परिश्रम के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करें जिससे कि राष्ट्र उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सके।

योग्यता-प्रश्न

१. 'अधिकार व कर्त्तव्य एक दूसरे से सम्बन्धित हैं' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
Rights and duties are closely related to one another.' Elucidate.

२. आधुनिक राज्य के भीतर नागरिकों के प्रमुख अधिकारों व कर्त्तव्यों का वर्णन कीजिए।
Describe the chief rights and duties of citizens in modern States.

३. मौलिक अधिकारों से आप क्या समझते हैं? आधुनिक लोकतंत्रात्मक राज्यों में उन्हें इतना महत्व क्यों दिया जाता है?
What do you understand by the term fundamental rights? Why a great importance is attached to these in modern democratic States?

४. अधिकार किसे कहते हैं? सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों का भेद समझाइये और उनक वर्णन कीजिए।
Define the term 'Right'. Distinguish between Political and Civic Rights and describe them.

—:o:—

अध्याय ६

राज्य की प्रकृति और उसका कार्य क्षेत्र

"राज्य परिवारों व ग्रामों का संघ है। उसका लक्ष्य (मानव के लिए) एक पूर्ण और स्वावलम्बी जीवन है, जिसका अभिप्राय एक प्रसन्न, सुखी तथा सम्मानपूर्ण जीवन है।"

—अरस्तु

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में आरम्भ से ही प्रबन्ध की समस्या रही है, ज्यों-ज्यों समाज विकसित और जटिल हुआ त्यों-त्यों प्रबन्ध का प्रश्न भी उग्र होता गया। सामाजिक प्रबन्ध अर्थात् व्यवस्था का प्रश्न ही राजनीतिक प्रश्न है। इसलिए कहा गया है कि 'मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है'—अरस्तु। इस राजनीतिक प्रश्न को हल करने के लिए यानी सामाजिक प्रबन्ध की दृष्टि से जब समाज संगठित होता है तो उसे राजनीतिक-संगठन या राज्य कहते हैं। यदि समाज अव्यवस्थित रहे और उसमें कोई प्रबन्ध न रहे तो समाज टिक ही नहीं सकेगा और उसके सदस्यों को जीवन और उसके विकास से वंचित रहना पड़ेगा। इस प्रकार राज्य मनुष्य का एक अत्यन्त स्वाभाविक और महत्वपूर्ण संगठन है और उसका विस्तृत अध्ययन नागरिक शास्त्र में अत्यन्त आवश्यक है।

परिभाषा—राज्य एक राजनीतिक-समुदाय (पोलिटिकल एसोसियेशन) है। परन्तु यह अन्य समुदायों से बहुत भिन्न है। इस भिन्नता का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इस समुदाय की सर्वोपरि विशेषता यह है कि इसके भीतर भूमि का समावेश होता है तथा उसकी सीमा के भीतर रहने वाले सभी व्यक्तियों और समुदायों को इसकी आधीनता तथा इसका नियन्त्रण स्वीकार करना पड़ता है।

राज्य की परिभाषा के विषय में राजनीतिक-विज्ञान के विद्वान् एक मत नहीं हैं अर्थात् राज्य की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। जितने लेखक उतनी ही राज्य की परिभाषाएँ हैं। सबसे प्राचीन परिभाषा अरस्तु की मिलती है। उसका कहना है कि "राज्य परिवारों और ग्रामों का एक ऐसा संघ है जिसका उद्देश्य पूर्ण व स्वावलम्बी जीवन की स्थापना करना है। पूर्ण व स्वावलम्बी जीवन से हमारा तात्पर्य सुखी और सम्मानीय जीवन है।" इस परिभाषा में राज्य को परिवारों और ग्रामों में संगठित मनुष्यों का संघ कहा गया है। आधुनिक लेखक राज्य को व्यक्तियों का

संगठन मानते हैं अर्थात् यह कि व्यक्ति ही राज्य की मौलिक इकाई है। अरस्तु भी यह मानता था कि अन्त में व्यक्ति ही राज्य के सदस्य होते है। अरस्तु ने इसमें राज्य के उद्देश्य का उल्लेख भी किया है। आधुनिक लेखक प्रायः राज्य के लक्ष्य और प्रयोजन का कोई जिक्र नहीं करते। अरस्तु ने अपनी परिभाषा में राज्य की प्रभुता अर्थात् सर्वोच्च शक्ति तथा राजनीतिक संगठन का कोई उल्लेख नहीं किया। ये दोनों ही राज्य के प्रमुख तत्व हैं। आधुनिक लेखकों ने इन दोनों पर बहुत जोर दिया है। इनमें हम प्रो० गार्नर की परिभाषा का उल्लेख करेंगे। उनका कहना है कि "राज्य कम या अधिक संख्या में एक निश्चित भू-भाग पर बसे हुए, मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय है जो बाह्य नियन्त्रण से पूर्णतः अथवा लगभग स्वतन्त्र हो तथा जिसमें एक ऐसा संगठित शासन हो जिसके आदेशों का पालन निवासियों का एक बड़ा भाग स्वभावतः करता हो।" इस परिभाषा को हम बिल्कुल पूर्ण नहीं कह सकते इसमें राज्य के एक प्रमुख तत्व अर्थात् उद्देश्य का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में अन्य लेखकों की परिभाषाएँ भी ध्यान में रखनी चाहिएं। यह नहीं भूलना चाहिये कि राज्य एक नैतिक संगठन है।

हम राज्य की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं। '(१) एक निश्चित भू-भाग पर बसने वाले,(२) किसी भी बाह्य नियन्त्रण से पूर्णतः स्वतंत्र एवं अपने आन्तरिक प्रबन्ध (घरेलू मामलों) में सर्व-शक्तिमान, (३) मनुष्यों के ऐसे संगठन को राज्य कहते हैं जिसका (४) उद्देश्य जन-साधारण के **नैतिकता पूर्ण जीवन** के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण व रक्षण हो; तथा जो अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति (५) एक ऐसी सुसंगठित शासन व्यवस्था द्वारा करे जिसकी (६) आज्ञा का पालन जनता का बहुतांश स्वभावतः करता हो।'

राज्य के मौलिक तत्व

राज्य की परिभाषा में हमने राज्य के मौलिक तत्वों का स्पष्ट निर्देश किया है। वे इस प्रकार है—

(१) जन-संख्या (पॉपूलेशन)
(२) भूमि (टैरीटरी)
(३) प्रभुता (सॉवरेन्टी)
(४) शासन-व्यवस्था (गवर्नमेंट)
(५) उद्देश्य
(६) स्वाभाविक आज्ञा पालन

इनमें से प्रथम चार को व्यापक रूप से राजनीतिक शास्त्रियों ने राज्य का मूल तत्व माना है। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि निश्चित भू-भाग पर निवास करने वाली सर्वोच्च प्रभुता-सम्पन्न जनता किसी उद्देश्य से ही राजनीतिक संगठन का निर्माण करेगी और किसी राज्य की शासन व्यवस्था किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए

ही कार्य करेगी। किसी निरुद्देश्य जनता को हम भीड़ कह सकते हैं संगठन नहीं। राज्य मनुष्य का सर्वोच्च संगठन है। अतः उसका उद्देश्य भी सर्वोच्च अर्थात् व्यापक-लोकहित होना चाहिये। इस प्रकार राज्य का उद्देश्य उसका एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि जनता का बहुतांश राज्य की आज्ञाओं का पालन स्वभावतः करे।

अब हम राज्य के तत्वों की क्रमशः विवेचना करेंगे। प्रथम दो अर्थात् जन-संख्या और भूमि राज्य के भौतिक आधार हैं, शासन व प्रभुता राजनीतिक आधार तथा उद्देश्य और स्वाभाविक आज्ञा-पालन उसके आध्यात्मिक आधार हैं।

(१) **जन-संख्या**—राज्य के निर्माण में प्रथम भौतिक तत्व जनता है। राज्य मनुष्यों का एक समुदाय है। जैसे हमने पीछे कहा है कि राज्य के बिना सभ्य-मनुष्यों की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार मनुष्य के बिना राज्य की कल्पना भी व्यर्थ है। मनुष्यों (जनता) का चरित्र, उनकी योग्यता और उनकी अकांक्षाएँ ही राज्य के स्वरूप का निर्णय करती हैं। यह प्रश्न उठता है कि किसी राज्य के भीतर कितनी जनता होनी चाहिए। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का कहना है कि राज्य के संरक्षकों अर्थात् नागरिकों (गार्जियन्स) की संख्या ५०४० होनी चाहिए। अरस्तु का विचार है कि आदर्श राज्य के लिये १० मनुष्यों की संख्या बहुत कम और १ लाख बहुत अधिक है। वह भी प्लेटो की भाँति कम जनसंख्या वाले छोटे नगर राज्यों (सिटी स्टेट्स) के पक्ष में था। रूसो का विचार है कि आदर्श राज्य में दस हजार नागरिक होने चाहियें। परन्तु ये सब बीते हुए समय की कल्पनायें हैं। आज राज्यों का स्वरूप बदल गया है। अनेकों राष्ट्रीय राज्यों के भीतर इस युग में करोड़ों की जनसंख्या तक पाई जाती है। कोई राज्य छोटा है कोई बड़ा। जातीयता, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और विश्व-राज्य की कल्पनाओं के कारण जनता की संख्या निश्चित करना असम्भव हो गया है। कई देश जैसे सोवियत समाजवादी गण-राज्य संघ (यू० एस० एस० आर०), संयुक्त-राज्य अमेरिका (यू० एस० ए०) और भारत संघ राज्य हैं, इनमें अनेकों उप-राज्य (फैड्रे-टिंग स्टेट्स) मिलकर संगठित हो गये हैं। अतः उनकी जनसंख्या करोड़ों तक पहुँचती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य की समृद्धि तथा शक्तिसम्पन्नता में बड़ी जन-संख्या सहायक सिद्ध होती है। फिर भी इतना ध्यान रहे कि देश के प्राकृतिक साधन इतने समर्थ होने चाहियें कि वे उतनी बड़ी जनसंख्या को आर्थिक रूप से सम्हाल सकें वरना यह जनसंख्या एक मुसीबत बन जाती है। भारत की बढ़ती हुई जनसंख्या आज भारत की एक प्रधान समस्या बन गई है। जहाँ वह उसकी शक्ति की स्रोत है वहीं वह उसकी दीनता का कारण भी बन रही है। अतः यह कहा जा सकता है कि राज्य के प्राकृतिक साधनों की सामर्थ्य के अनुसार जनसंख्या मर्यादित होनी चाहिये, अथवा राज्य की सीमाओं का विस्तार होना चाहिये, जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए जीवन के साधन जुट सकें। इनमें प्रथम उपाय अर्थात् जनसंख्या की वृद्धि पर रोक लगाना अच्छा है। यदि राज्य की सीमाओं के विस्तार का प्रयत्न किया

जायेगा तो प्रसार के लिए युद्ध (वार फॉर एक्सपेन्शन) होगा । इससे विश्व शांति भंग हो जायगी । द्वितीय विश्व युद्ध का मूल कारण जर्मनी की यही इच्छा थी । हिटलर जर्मनी की जनता के लिए देश की सीमाओं का विस्तार चाहता था ।

(२) **भूमि**—जनसंख्या के बसने के लिए भूमि सबसे पहला प्राकृतिक साधन है । ऊपर हमने आवश्यक प्राकृतिक साधनों का उल्लेख किया है, भूमि उनमें सबसे प्रधान है । कोई राज्य जिन भौगोलिक सीमाओं के भीतर फैला होता है उसे हम उस राज्य की भूमि अथवा प्रदेश कहते हैं । यह राज्य के निर्माण में दूसरा भौतिक तत्व है । प्राचीन काल में मनुष्य अपने पशुओं के साथ चरागाहों की खोज में इधर-उधर घूमते-फिरते रहते थे । ऐसे मनुष्यों के संगठन को हम राज्य नहीं कह सकते । आजकल भी ऐसी भ्रमणशील जातियां (नोमेडिक ट्राइब्स) पाई जाती हैं । किसी भी जन समूह को राज्य का स्वरूप धारण करने के लिए भूमि के किसी निश्चित भाग पर बसा हुआ होना चाहिए । यहूदी लोगों को तब तक राज्य नहीं कहा जा सकता था जब तक कि वे इजरायल में नहीं बस गये । अब उनका अलग इजरायल नामक राज्य बन गया ।

अरस्तु ने कहा है कि राज्य का उद्देश्य आत्म-निर्भर व स्वावलम्बी जीवन है । इसके लिए भूमि अनिवार्य है । जनसंख्या की ही भाँति भूमि का क्षेत्रफल भी निश्चित करना असम्भव है । प्राचीन काल में प्रबन्ध की दृष्टि से छोटे राज्यों को पसन्द किया जाता था, परन्तु विज्ञान की प्रगति के कारण आवागमन व समाचार तथा संदेश भेजने की सुविधा तथा राष्ट्रीय राज्यों (नेशन स्टेट्स) के निर्माण के कारण राज्यों का भौगोलिक आकार बढ़ता जा रहा है । आज भी मॉटेक्को, वेटीकन आदि अनेकों छोटे राज्य पाए जाते हैं । ये हमेशा बड़े पड़ोसी राज्यों की सहायता और दया पर जीवित रहते हैं । आज के युग में अधिक भूमि और भौतिक अथवा प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता किसी भी राज्य की सफलता के लिए अनिवार्य है । राज्य के भीतर इतना और ऐसा भूमि भाग तो होना ही चाहिए जिससे कि उसकी आर्थिक आत्म-निर्भरता (इकॉनॉमिक सैल्फ सफिशियेन्सी) तथा सामरिक सुरक्षा (डिफेन्स) की समस्यायें हल हो सकें । इसमें देश की जलवायु, खनिज पदार्थ, पर्वत और नदियाँ, समुद्र-तट और खाड़ियां, वर्षा और उपजाऊ भूमि सभी का समावेश होता है ।

दुर्भाग्य से राज्यों की भौगोलिक सीमाओं का यह निश्चय मनुष्यों की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं हुआ है वरन् वे युद्धों का परिणाम हैं । यदि संसार की समस्त भूमि को मानवता की आवश्यकताओं की दृष्टि से बाँटा जाय तो विश्व के मानचित्र में राज्यों की स्थितियाँ बहुत बदल जायें । यह अभीष्ट भी है क्योंकि संसार की बहुत सी बड़ी जतियां अपनी प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थितियों तथा छोटे क्षेत्रफल के कारण प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी प्रगति नहीं कर पातीं जबकि कुछ छोटी जातियां साम्राज्यवादी हथकंडों के बल पर संसार के विस्तृत और उपयोगी भू-क्षेत्रों पर स्वामित्व जमाये बैठी हैं ।

(३) **प्रभुता**—राज्य का प्रथम राजनीतिक आधार प्रभुता है । इसे हम राज्य

की सर्वोच्च-सत्ता अथवा सॉवरेन्टी के नाम से भी पुकारते हैं।

प्रभुता राज्य की वह सत्ता है जिसके बल पर वह अपने समस्त नागरिकों पर पूरा अधिकार रखता है तथा विदेशों के साथ अपने सम्बन्ध बनाने अथवा बिगाड़ने में पूर्णतः स्वतंत्र होता है।

प्रभुता केवल राज्य को ही प्राप्त होती हैं। यह राज्य की अनन्य विशेषता है। राज्य के भीतर जितने व्यक्ति, समुदाय, पशु, भूमि आदि होते हैं उन सब पर राज्य का पूरा अधिकार होता है। राज्य जिस प्रकार चाहे अपनी भूमि व पशुओं का प्रबन्ध कर सकता है तथा अपने नागरिकों तथा समुदायों को भी आज्ञा दे सकता है। यदि कोई व्यक्ति राज्य की आज्ञा पालन न करे तो राज्य उसे दण्ड दे सकता है। राज्य की यह बाध्यकारी सत्ता (कोअरसिव ऑथॉरिटी) उसकी प्रभुता का एक प्रधान चिह्न एवं अभिन्न अंग है।

राज्य अपने आन्तरिक मामलों के प्रबन्ध और नियन्त्रण में पूर्णतः स्वतन्त्र है। उसमें कोई बाहर का व्यक्ति या राज्य दखल नहीं दे सकता। इसे हम राज्य की आन्तरिक प्रभुता अथवा आन्तरिक सत्ता कहते हैं।

इतना ही नहीं एक राज्य इस विषय में भी स्वाधीन है कि वह किस राज्य के साथ मित्रता करेगा तथा किसके साथ युद्ध करेगा। कोई अन्य राज्य किसी राज्य की आन्तरिक अथवा बाह्य (विदेशों से सम्बन्धित) नीति पर दबाव नहीं डाल सकता। यदि कोई राज्य किसी बाहरी राज्य से आदेश लेकर अपने घर और बाहर के कामों में अपनी नीति बनाता है तो उसे हम सच्चे अर्थों में राज्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसके पास प्रभुता नहीं है। उसकी प्रभुता दूसरे राज्य के पास है। १९४७ से पहले भारत एक राज्य नहीं था क्योंकि उसकी गृह-नीति और विदेश-नीति पर ब्रिटेन के शासन का नियन्त्रण हर समय रहता था। परन्तु १९४७ के पश्चात् से भारत एक राज्य है। उसको अपने देश के विकास के लिये योजनाएँ बनाने व कार्यान्वित करने तथा विदेशों से सम्बन्ध जोड़ने व तोड़ने की पूरी स्वतन्त्रता है। इसी शक्ति को प्रभुता कहा जाता है।

यह प्रभुता राज्य के भीतर भिन्न-भिन्न स्थानों में पाई जाती है परन्तु सदा ही प्रभुता का प्रयोग शासन (सरकार) के हाथों में रहता है। राज्य प्रभुता का स्वामी है तथा शासन राज्य की ओर से, उसके नाम पर और उसके हितों एवं कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिये प्रभुता का प्रयोग करता है।

प्रभुता राज्य का प्राण है। राज्य में से प्रभुता को निकाल दें तो फिर उस समुदाय को हम राज्य नहीं कह सकते। प्रभुता न रहने पर अन्य समुदायों और उसके मध्य कोई भिन्नता नहीं रह जाती।

(४) **शासन व्यवस्था**—जैसे कि पीछे कहा जा चुका है, राज्य जनता का एक राजनीतिक संगठन अथवा समुदाय है तथा राज्य का एक निश्चित उद्देश्य होता है। परन्तु राज्य व्यापक और अदृश्य है, इसकी तुलना हम आत्मा से कर सकते हैं। अतः राज्य अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिये एक यन्त्र अथवा अभिकरण या (ऐजन्सी) का निर्माण करता है,इसे ही शासन कहते हैं। जिस प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति (ऐक्सप्रैशन)

शरीर में होती है उसी प्रकार शासन राज्य की बाह्य अभिव्यक्ति है। शासन राज्य के भीतर वह प्रभावशाली संगठन है जिसके द्वारा राज्य अपनी प्रभुता का उपयोग व अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करता है।

राज्य की सफलता के लिये एक सुदृढ़ और संगठित शासन व्यवस्था अनिवार्य है। राज्य की इच्छायें शासन की आज्ञप्तियों (डिक्रीज़) विधियों और अध्यादेशों (आर्डिनेन्सेज) के रूप में प्रगट होती हैं। राज्य की सत्ता का उपयोग शासन के हाथों से होता है। शासन राज्य का एक महत्वशाली अंग है।

(५) **उद्देश्य**—राज्य के संगठन में उसके उद्देश्य का बहुत अधिक महत्व है। उसके विषय में हम पीछे संक्षिप्त वर्णन कर चुके हैं। यहाँ यह कह देना काफी होगा कि राज्य की महानता उसके महान् उद्देश्य अर्थात् 'जन-साधारण के सर्वोच्च-हित की प्राप्ति' पर ही अवलम्बित है। राज्य मनुष्य का सर्वोच्च समुदाय है। इसका अर्थ यही है कि वह उसके सर्वोच्च हितों की पूर्ति का साधन है। उद्देश्य के बिना राज्य टिक ही नहीं सकता। जिस राज्य के भीतर ऊँचे उद्देश्यों और आदर्शों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं होता वह राज्य स्थायी नहीं हो सकता। अरस्तु ने कहा है कि "राज्य जीवन के लिए कायम हुआ तथा वह श्रेष्ठ जीवन के लिये कायम रहता है।" अंग्रेज विद्वान जॉन लॉक का कथन है कि राज्य का लक्ष्य "मानवता का हित है"। प्रो० रिची का मत है कि राज्य का लक्ष्य अपने सदस्यों के लिये श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करना है। राज्य का लक्ष्य बहुत व्यापक है उसके भीतर कार्य करने वाले अनेकों समुदाय व संगठन राज्य के उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं तथा निरन्तर उसी के लिये प्रयत्न करते रहते हैं।

(६) **स्वाभाविक आज्ञापालन**—राज्य का एक प्रमुख लक्षण यह है कि उसके सदस्य उसकी आज्ञाओं का पालन स्वभावतः करें। जिस राज्य की आज्ञाओं का पालन जनता दण्ड के भय से करती है उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। वह तो अत्याचारी शासन है क्योंकि जनता उसे अपने सच्चे हितों का मित्र और संरक्षक नहीं समझती। जहाँ आज्ञापालन का आधार कोरी शक्ति है वहां हम जनता को स्वतन्त्र तथा प्रभुता-सम्पन्न नहीं कह सकते। स्वाभाविक आज्ञापालन का अर्थ यह है कि जनता राज्य को अपने हितों का सच्चा मित्र व प्रतिनिधि (रिप्रेजेन्टेटिव) समझती है। राज्य दुराग्रही व्यक्तियों (अनविलिंग इन्डिवीजुअल्स) से आज्ञापालन कराने के लिये भले ही दमनकारी सत्ता का आश्रय ले परन्तु उसका स्थायी व सच्चा आधार स्वाभाविक आज्ञापालन ही है। राज्य की एकता और अविच्छिन्नता (यूनिटी एण्ड सॉलिडेरिटि) उसके सदस्यों के इच्छापूर्ण और हार्दिक सहयोग तथा अनुशासन-प्रियता पर निर्भर है।

राज्य प्रभुता-सम्पन्न मनुष्यों का संगठन है। इसका अर्थ है कि राज्य के सदस्यों की इच्छा पूर्णतः सर्वोच्च है। राज्य के आदेश जनता की इस सर्वोच्च इच्छा (सुप्रीम जनरल विल) के विरुद्ध नहीं हो सकते, जनता ही राज्य है, इसका अर्थ है जनता की प्रभुता, जिस राज्य में जनता को सर्वोच्च-स्थान प्राप्त नहीं है उसे राज्य नहीं कहा

जा सकता। जनता राज्य की आज्ञाओं को स्वाभाविक रूप से अपनी इच्छाओं की प्रतिनिधि माने और उनका पालन इच्छापूर्वक करे। यह बहुत आवश्यक है, इसके बिना वह स्थायी नहीं हो सकता। बड़े-बड़े सम्राट भी जनता से अपनी आज्ञाओं का पालन शक्ति के बल पर अधिक समय तक नहीं करा सके। भारत के भीतर १९४७ से पहले अंग्रेजों का शासन था, जनता दण्ड के भय से उनकी आज्ञाओं का पालन करती थी, परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी। आखिर जनता में शक्ति और संगठन का निर्माण हुआ तथा उसने अंग्रेजी राज्य को समाप्त करके अपनी स्वतन्त्रता अर्थात् प्रभुता (सॉवरेन्टी) की प्राप्ति कर ली।

स्वाभाविक आज्ञापालन का जनता की सर्वोच्च प्रभुता के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह जनतन्त्र की एक मूल समस्या है राज्य के शासन को सदा लोकमत (पब्लिक ओपीनियन) को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी जनता उसकी आज्ञाओं का पालन स्वाभाविक रूप से कर सकेगी।

राज्य और समाज

राज्य और समाज इन दो शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया जाता है परन्तु वास्तव में इन दोनों के मध्य बहुत अन्तर है—

(अ) समाज राज्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है। दोनों का सम्बन्ध समझने के लिये कहा जा सकता है कि राज्य समाज का राजनीतिक संगठन है। इससे स्पष्ट है कि समाज में मनुष्यों के समस्त सामाजिक सम्बन्धों का समावेश होता है। परन्तु राज्य मानव जीवन के केवल राजनीतिक पहलू का ही अध्ययन करता है।

(ब) समाज के अस्तित्व के लिए भूमि की मर्यादा की आवश्यकता नहीं होती परन्तु राज्य के लिए निश्चित भूमि का होना अनिवार्य है। समाज एक परिवार से लेकर संसार के दूर कोनों में बसे हुए मनुष्यों तक फैला हुआ हो सकता है और है भी परन्तु राज्य अपनी भौगोलिक सीमाओं के भीतर मर्यादित होता है।

(स) राज्य का प्रधान लक्षण उसकी प्रभुता और उसकी शासन व्यवस्था है। समाज में इस प्रकार का कोई संगठन अथवा ऐसी कोई शक्ति नहीं होती। समाज के लिये केवल सामान्य हितों की अथवा सजातीयता की चेतना अनिवार्य है। समाज के नियमों का पालन पूर्णतः नैतिक मर्यादा तथा सद्भावना व स्वेच्छा के आधार पर होता है, परन्तु राज्य अवज्ञाकारी सदस्यों (डिसओबीडियेन्ट मेम्बर्स) को अपनी शक्ति के द्वारा अपनी आज्ञाओं के पालन के लिये बाध्य कर सकता है।

(द) समाज ध्येय है, राज्य उसकी शान्ति और समृद्धि का साधन है। समाज पूर्ण है, राज्य उसका एक अंग है। समाज व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है परन्तु राज्य केवल एक राजनीतिक समुदाय है।

परस्पर आश्रित—परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे एक दूसरे के विरोधी हैं। उनमें परस्पर गहरा सम्बन्ध है। समाज के भीतर अनेकों समुदाय, संस्थाएँ तथा संग-

ठन होते हैं। राज्य उन सब के सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखता है तथा यदि ऐसा न हो तो विविध समुदाय आपस में टकरा जाएं और समाज की शान्ति भंग हो जाय। इस प्रकार राज्य समाज के अस्तित्व के लिए नितान्त आवश्यक हैं। बर्क का कथन है कि "वे एक दूसरे से मिले हुए हैं, वे एक दूसरे पर हमला भी करते हैं और एक दूसरे के ऋणी भी है। किन्तु हम मोटे तौर पर कह सकते हैं कि समाज का क्षेत्र ऐच्छिक सहयोग का है, उसकी शक्ति सदस्यों की सद्भावना है और उसकी व्यवस्था लचीली होती है। किन्तु राज्य का क्षेत्र यान्त्रिक कार्य का क्षेत्र है, उसकी शक्ति का आधार सत्ता है और उसकी कार्य-प्रणाली कठोर होती है।"

राज्य और शासन

राज्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जिस संगठित व्यवस्था का निर्माण करता है उसे शासन कहते हैं। प्रायः लोग राज्य और शासन में अन्तर करना भूल जाते हैं। भारत एक राज्य है इसके अतिरिक्त भारत का एक शासन भी है। दिल्ली में स्थित शासन को राज्य नहीं कहा जा सकता। शासन राज्य की वह महत्वपूर्ण संस्था है जिसके द्वारा राज्य अपनी प्रभुता अथवा राज-सत्ता का व्यावहारिक प्रयोग करता है। राज्य और शासन में निम्न अन्तर पाये जाते हैं—

(अ) राज्य एक विचार अथवा एक मानसिक-धारणा है। यह एक अदृश्य, अप्रत्यक्ष अथवा अमूर्त संस्था है, परन्तु शासन एक प्रत्यक्ष व दिखाई पड़ने वाली व्यवस्था है। राज्य का समस्त कार्य शासन करता है, राज्य स्वयं कुछ नहीं करता। यह अपने कार्य शासन द्वारा कराता है। युद्ध, सन्धि अथवा इसी प्रकार का कोई भी कार्य शासन करता है, राज्य का तो केवल नाम रहता है। शासन राज्य के नाम पर कार्य करता है।

(ब) राज्य एक पूर्ण इकाई है, शासन उसका एक महत्वपूर्ण अंग है। राज्य के भीतर शासन के अतिरिक्त और भी कई अंग होते है। शासन राज्य का एक आवश्यक तत्व है। शासन का उद्देश्य राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति करना है।

(स) राज्य एक स्थायी समुदाय है परन्तु शासन अस्थायी अथवा परिवर्तनशील है। व्यक्तियों और विचारों के साथ ही शासन की पद्धति और व्यवस्था में भी अन्तर आ जाता है, परन्तु राज्य की प्रकृति पर शासन के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक शासन जाता है दूसरा आता है, परन्तु राज्य स्थिर रहता है। उसका अन्त तभी होता है जबकि उसके किसी तत्व का नाश या अपहरण हो जाय, जैसे—गत युद्ध में जर्मनी ने जब फ्रांस को जीत लिया तब फ्रांस के राज्य का अन्त हो गया था क्योंकि उसकी प्रभुता (सॉवरेन्टी) जर्मनी ने छीन ली थी।

(द) सर्वोच्च सत्ता अथवा प्रभुता राज्य का एक प्रधान गुण है। राज्य ही उसका स्वामी होता है। शासन इस सत्ता का प्रयोग राज्य के नाम पर उसकी ओर

से तथा उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता है। राज्य अपनी सत्ता शासन को प्रदान करता है।

(प) राज्य के भीतर देश की समस्त जनता शामिल रहती है, उसमें शासक और शासित दोनों का समावेश होता है परन्तु शासन के भीतर केवल वे ही लोग होते हैं जोकि शासन कार्य में सक्रिय भाग लेते हों, अर्थात् शासन में केवल शासक वर्ग ही होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक जनतन्त्रात्मक राज्यों (डेमॉक्रेटिक स्टेट्स) में देश की समस्त जनता एक प्रकार से शासन का अंग बन गई है परन्तु उसमे केवल अधिकार प्राप्त नागरिक ही होते है और वे भी शासन के कामों में कोई प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते। जनता शासन का केवल निर्माण करती है। राज्य के भीतर नागरिक अनागरिक सभी होते हैं।

(फ) राज्य को जनता की ओर से निस्सीम निष्ठा (लॉयल्टी) प्राप्त होती है। राज्य ही जनता को उसके समस्त अधिकार प्रदान करता है। अत. जनता राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार के अधिकारों की माँग नहीं कर सकती परन्तु वह किसी शासन का विरोध कर सकती है तथा उसके विरुद्ध अपने अधिकारों की मांग भी रखती है। यहाँ तक हो सकता है कि जनता किसी शासन के विरुद्ध विद्रोह करके उसे समाप्त करदे परन्तु वह राज्य को समाप्त नहीं कर सकती क्योंकि राज्य के बिना सभ्य जीवन का भी अन्त हो जायगा।

परस्पर आश्रित—परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य और शासन परस्पर विरोधी है। राज्य और शासन में अन्तर है परन्तु वे दोनों एक दूसरे के लिए नितान्त आवश्यक हैं। राज्य का अस्तित्व शासन के बिना और शासन का अस्तित्व राज्य के बिना असम्भव है। डाक्टर गार्नर ने शासन की तुलना किसी कार्पोरेशन के संचालक मण्डल से की है।

राज्य और राष्ट्र

राज्य और राष्ट्र इन दोनों शब्दों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों के अर्थों में भी बहुत कुछ समानता है। प्रसिद्ध दार्शनिक टी० एच० ग्रीन ने कहा है कि 'राज्य का आधार राष्ट्र है। एक विशेष प्रकार से संगठित राष्ट्र को राज्य कहते हैं'।

(अ) राष्ट्र शब्द का अर्थ राज्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत व व्यापक है। राज्य और एकता की भावना दोनों से मिलकर राष्ट्र बनता है। जो जाति पराधीन होती है अर्थात् जिसका अपना राज्य नहीं होता उसे हम राष्ट्र नहीं कह सकते। परन्तु उसके भीतर राष्ट्रीयता के तत्व होते हैं तथा उसे हम 'निर्माण के पथ में राष्ट्र' (नेशन इन-मेकिंग) कह सकते है। ज्यों ही उसे राजनीतिक सत्ता मिल जाती है वह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय (नेशन) बन जाता है।

(ब) राष्ट्र का मूल आधार एकता की भावना है, परन्तु राज्य का मूल आधार उसकी सत्ता है। जिस राज्य मे एकता नहीं है उसे हम राष्ट्र नहीं कह सकते। एक

समय था जबकि आस्ट्रिया-हंगरी का एक राज्य था परन्तु उसे हम राष्ट्र नहीं कह सकते थे। उसमें अस्ट्रिया वासी और हंगरी निवासी दो भिन्न जातियाँ थीं जिनमें एकता का अभाव था। जब वे पृथक हो गये तो अलग-अलग आस्ट्रिया राष्ट्र और हंगरी राष्ट्र का निर्माण हुआ।

(स) यह युग राष्ट्रीय-राज्यों का है। पहले तो एक साम्राज्य में कई राष्ट्र हो सकते थे परन्तु जब से 'एक राष्ट्र—एक राज्य' का सिद्धान्त व्यवहार में आया है तब से राष्ट्र और राज्य की सीमाएं एक ही होने लगी हैं। फिर भी राष्ट्र एक आध्यात्मिक विचार है और राज्य एक राजनीतिक संस्था।

(द) राज्य और राष्ट्र में अन्तर केवल यही है कि राज्य एक कानूनी स्थिति और एक राजनीतिक संगठन है, परन्तु राष्ट्र राजनीतिक संगठन के अतिरिक्त एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है। राष्ट्र शब्द से हमें एक सांस्कृतिक एकता का बोध होता है। राज्य के भीतर इस एकता का अभाव भी हो सकता है। राष्ट्र किसी एक जाति अथवा अनेक जातीयताओं (नेशनैलिटीज) के उस सामूहिक जीवन का नाम है जिसके भीतर सब प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों का समावेश हो।

इस प्रकार राज्य और राष्ट्र में अन्तर करना बहुत कठिन कार्य है। जैसा पीछे कहा जा चुका है इस युग में राष्ट्रीय राज्य होते हैं अर्थात् एक राष्ट्र का एक राज्य, तथा एक राज्य में केवल एक राष्ट्र होता है।

राज्य की प्रकृति

राज्य को हमने एक स्वाभाविक, अनिवार्य और स्थायी मानवीय समुदाय माना है। वह एक नैतिक संगठन है। उसके लक्ष्य की विवेचना भी हम कर चुके हैं। राज्य की प्रकृति के बारे में यहाँ हम कुछ विचारों का अध्ययन करेंगे जिससे कि हमें राज्य की प्रकृति अर्थात् उसका स्वरूप और स्वभाव समझने में सुविधा हो सके। राज्य की प्रकृति के बारे में प्रमुख विचार निम्न हैं—

१. वैधानिक मत (Juridical Theory)
२. सावयव मत (Organismic Theory)
३. संविदा मत (Social Contract Theory)
४. आदर्शवाद (Idealism)
५. उपयोगितावाद (Utilitarianism)
६. दैवी सिद्धान्त (Divine Origin Theory)
७. शक्ति सिद्धान्त (Force Theory)

(१) **वैधानिक मत**—इस मत के अनुसार राज्य एक कानूनी संस्था है, अर्थात् उसका मुख्य कार्य कानून बनाना, उन्हें लागू कराना और उनका पालन कराना है। राज्य की इच्छा ही कानून है। इस विचार के समर्थकों का मानना है कि राज्य का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। वह एक स्वतन्त्र सत्ता है। यद्यपि राज्य अनेक मनुष्यों

से मिलकर बना है तथापि वह उनसे अलग एक स्वतन्त्र व्यक्ति के समान है। उसकी अपनी चेतना और इच्छा होती है। उसके नागरिकों से पृथक हित और अधिकार होते हैं। वह नागरिकों के विरुद्ध मुकदमा चला सकता है तथा न्यायालयों में राज्य के विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। राज्य केवल जीवित मनुष्यों का ही संगठन नहीं है उस के अन्तर्गत वे सभी मनुष्य समाते हैं जो राज्य में पहले रहकर मर चुके हैं अथवा भविष्य में पैदा होने वाले हैं। राज्य का व्यक्तित्व उसके सदस्यों के व्यक्तित्वों से श्रेष्ठ और सर्वोच्च होता है।

यह विचार राज्य की वैधानिक प्रकृति का वर्णन करता है। कानूनी दृष्टि से राज्य का यह वर्णन ठीक है परन्तु वास्तव में राज्य अपने नागरिकों से पृथक नहीं होता। नागरिक ही राज्य का निर्माण करते हैं और उनके व राज्य के हित कभी भी पृथक तथा विरोधी नहीं हो सकते।

(२) **सावयव मत**—अनेक विचारक राज्य को एक सावयव-प्राणी (शरीर) के समान मानते हैं। उनका विचार है कि राज्य सजीव-प्राणी शरीर के समान है तथा नागरिक उस शरीर के विभिन्न कोषों (Cells) के समान हैं। प्राणी शरीर की भाँति राज्य के शरीर के अनेक अङ्ग होते हैं, उसका अपना स्वतन्त्र हृदय और मस्तिष्क भी होता है तथा उसकी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति होती है। प्राणी-शरीर में किसी अंग का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता ठीक उसी प्रकार राज्य के भीतर कोई व्यक्ति अथवा समुदाय स्वतन्त्र नहीं होता, सब राज्य के लिये काम करते हैं।

इस विचार के अनुसार राज्य साध्य है तथा व्यक्ति साधन। राज्य प्रमुख-शरीर है तथा नागरिकों का स्वतन्त्र महत्व नहीं है वे राज्य रूपी शरीर के अस्तित्व और उसके स्वास्थ्य के लिए ही जीते है।

वास्तव में यदि राज्य को शरीर के समान कुछ बातों में माना जाय तब तो यह विचार ठीक मालूम होता है क्योंकि तब राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध परस्पर आश्रित हो जाता है परन्तु जब राज्य को हम शरीर ही मान लेते हैं तब यह एक खतरनाक विचार हो जाता है क्योंकि उस स्थिति में व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और वह राज्य में विलीन हो जाता है। व्यक्ति की तुलना शरीर के कोषों से नहीं की जा सकती। कोष स्वतन्त्र जीवनधारी नहीं होते परन्तु मनुष्य स्वतन्त्र जीवन-धारी है। कोष में न चेतना का केन्द्र होता है न बुद्धि ही होती है परन्तु प्रत्येक मनुष्य के भीतर चेतना और बुद्धि का स्वतन्त्र केन्द्र होता है। इस प्रकार यह विचार मान्य नहीं किया जा सकता। राज्य एक प्राणी-शरीर नहीं है उसका जन्म और विकास भी शरीर की भांति नहीं होता, उसकी मृत्यु भी वैसे नहीं होती।

(३) **संविदा मत**—इस मत के अनुसार राज्य एक समझौते का परिणाम है। राज्य का निर्माण मनुष्यों ने आपस में समझौता करके किया है। इस विचार के अनुसार राज्य एक अस्थायी, कृत्रिम और ऐच्छिक समुदाय बन जाता है क्योंकि समझौता भंग करके राज्य को कभी भी भंग किया जा सकता है।

यह विचार मान्य नहीं किया जा सकता क्योंकि राज्य का निर्माण मनुष्यों ने नहीं किया वह एक स्वाभाविक या नैसर्गिक समुदाय है, हम राज्य को ऐच्छिक समुदाय नहीं कह सकते क्योंकि हम राज्य की सदस्यता कभी त्याग नही सकते और उसके बिना हमारा काम नही चल सकता, इस प्रकार राज्य एक अनिवार्य समुदाय है। राज्य एक अस्थायी समुदाय भी नहीं है, यदि राज्य की स्थिरता पर ही शंका की जाय तो फिर मनुष्य के जीवन में कोई निश्चिन्तता बचेगी ही नहीं। राज्य समाज का सबसे अधिक स्थायी समुदाय है। शासन बदलते रहते हैं परन्तु राज्य सदा स्थिर रहता है।

राज्य का विकास दीर्घकाल में विकास के परिणामस्वरूप हुआ है, उसका निर्माण किसी समझौते के परिणामस्वरूप नहीं हुआ है।

(४) **आदर्शवाद**—ग्रीन, कान्ट और हेगेल नामक विद्वान राज्य को एक आदर्श नैतिक संस्था मानते है। उनके विचार से राज्य की इच्छा नैतिक इच्छा है और व्यक्ति जब राज्य की इच्छा का पालन करता है तब वह अपनी निजी श्रेष्ठ इच्छा का ही पालन करता हैं, अतः उसे राज्य की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। वे राज्य को एक श्रेष्ठ, सर्वोच्च और नैतिक संगठन मानते हैं जो अपने सदस्यों से श्रेष्ठ और उच्च होता है।

हेगेल इस विचार में ग्रीन से आगे बढ़ गया है और उसने राज्य को इतना सर्वोपरि मान लिया है कि वह व्यक्ति को कोई महत्व नहीं देता तथा उसकी दृष्टि में राज्य साध्य और व्यक्ति साधन बन जाता है।

आदर्शवाद जहां तक राज्य को एक आदर्श नैतिक संस्था मानता है वहाँ तक वह ठीक है परन्तु जब वह व्यक्ति के महत्व को अस्वीकार करके राज्य के यन्त्र का एक पुर्जा मात्र मान लेता है तो उस विचार को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि व्यक्ति राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग है जिसके विकास के लिए राज्य काम करता है।

(५) **उपयोगितावाद**—कुछ विद्वान मानते हैं कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, वह सुख चाहता और दुख टालता है। राज्य एक ऐसी संस्था है जो मनुष्य को सुख प्राप्त करने और दुख टालने में मदद करती है। अर्थात् राज्य की उपयोगिता है और वह अपनी उपयोगिता के कारण ही टिका हुआ है। उसका लक्ष्य अधिकतम-लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त कराना है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों का हित करना है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि राज्य केवल एक साधन है और व्यक्तियों के सुख-पूर्ति का एक यन्त्र मात्र है। वास्तव में राज्य मनुष्य के सुख-दुख से परे एक नैतिक और सर्वोच्च सांस्कृतिक संगठन है। वह मनुष्य के विकास का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप है।

(६) **दैवी सिद्धान्त**—इस मत के अनुसार राज्य ईश्वरीय है, उसका निर्माण ईश्वर ने किया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है तथा राज्य के कानून ईश्वर की आज्ञायें हैं जिनका पालन करना नागरिकों का धर्म है तथा जिनका उल्लंघन पाप है।

यह विचार आज के युग में स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर की आड़ में यह राज्य और शासन को निरंकुश बना देता है और जनता की सत्ता को अस्वीकार करता है।

(७) **शक्ति सिद्धान्त**—कुछ लोग राज्य को शक्ति स्वरूप मानते है। वे कहते हैं कि राज्य की प्रकृति शक्ति प्रधान है। राज्य अपनी रक्षा शक्ति (Force) के बल पर ही करता है और वह नागरिकों से अपनी आज्ञाओं का पालन भी शक्ति (दण्ड भय) से ही कराता है।

यह सत्य है कि राज्य के संगठन में शक्ति एक प्रभावशाली तत्व है परन्तु यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि राज्य शक्ति ही है और नागरिक उसकी आज्ञाओं का पालन उसकी शक्ति के भय से ही करते हैं। वास्तव में नागरिकों की इच्छा ही राज्य की आज्ञाओं में प्रकट होती है अतः वे उनका पालन स्वेच्छा से करते है।

राज्य की प्रकृति के बारे में एक निश्चित परिभाषा देना बहुत कठिन है, फिर भी कहा जा सकता है कि "राज्य मनुष्यों का ऐसा स्थायी, अनिवार्य, नैसर्गिक, राष्ट्रीय तथा सर्वप्रभुता-सम्पन्न समुदाय है। जिसका लक्ष्य समाज में व्यवस्था और प्रबन्ध की स्थापना करना है।"

अराजकवाद—राज्य को हमने मनुष्य का सर्वोच्च समुदाय माना है, कुछ विचारक ऐसे भी हैं जो राज्य की उपयोगिता को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि राज्य मनुष्य के सम्यक् विकास में बाधा डालता है, अतः यह अनावश्यक है। पूर्ण मानवीय न्याय की प्राप्ति राज्य के भीतर नहीं हो सकती। राज्य अथवा शासन दमन और शोषण का साधन है अतः उसका अन्त करके सहयोग और सहकारिता पर आधारित समाज की स्थापना की जाये। मनुष्य का स्वभाव मूलतः अच्छा व पवित्र है परंतु राज्य ने उसे भ्रष्ट कर दिया। राज्य का अन्त हो जाने पर मनुष्य की आत्मा और उसके व्यक्तित्व का धीरे धीरे विकास होगा। अराजकवादियों का मत है कि मनुष्य के विकास के लिये स्वतन्त्रता सबसे अधिक आवश्यक है। राज्य मनुष्य की अवस्था पर पाबन्दी लगाता है। अतः उसे समाप्त कर देना चाहिये।

अराजकवाद एक काफी पुराना सिद्धान्त है। इसका सर्व प्रथम प्रवर्तक जेनो था। जेनो का विचार था कि पूर्ण स्वतन्त्रता और समानता राज्यहीन समाज में ही हो सकती है। उसके बाद कुछ ईसाई विचारकों ने भी राज्य का विरोध किया क्योंकि वे धार्मिक जीवन को ही पूर्ण मानते थे, उनका विचार था कि राज्य एक अनावश्यक बन्धन है।

आधुनिक काल में विलियम गोडविन को अराजकवाद का प्रथम प्रवर्तक कहा जाता है। आदर्श समाज की स्थापना के लिए वे यह आवश्यक समझते थे कि समाज शासन के प्रबन्ध से मुक्त होना चाहिए। उनकी दृष्टि में राजय का अर्थ है दमन। अतः दमन का अन्त करने के लिए राज्य को मिटाना अत्यन्त आवश्यक है। प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक प्रूधों ने कहा कि राज्य न्याय और तर्क से रहित होता है तथा वह व्यक्ति-

गत सम्पत्ति की रक्षा करके असमानता को कायम रखता है। प्रुधों ने सम्पत्ति को दूसरों की चोरी बताया। उन्होंने कहा कि किसी भी राज्य में कुछ मनुष्य शेष मनुष्यों पर शासन करते है अतः राज्य वर्ग-हितों (क्लास इन्ट्रेस्ट्स) की प्राप्ति का एक यन्त्र है जिसके द्वारा शासन वर्ग जनता पर अत्याचार व उसका शोषण करता है। अतः राज्य को समाप्त करके सहकारी समाज की स्थापना की जानी चाहिए।

रूसी विचारक बाकुनिन भी यही विश्वास करते थे कि राज्य व्यक्तियों को बिगाड़ देता है अतः चाहे हिंसा से हो या शान्तिपूर्वक, जैसे भी हो राज्य को समाप्त कर देना ही उचित है। शोषण और अत्याचार को मिटाने के लिये राज्य का अन्त होना आवश्यक है।

प्रिन्स क्रोपटकिन व लियो टालस्टाय ये दो अन्य रूसी विचारक भी अराजकवाद के प्रबल समर्थक थे। प्रिंस क्रोपटकिन सब प्रकार के शासन व सरकार के विरोधी थे। उनका मत था कि सब सरकारें व्यक्ति की सहमति के बिना उस पर शासन करती है। वे मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण करती हैं तथा स्वेच्छाचारी व निरंकुश होती हैं। महर्षि टालस्टाय राज्य को हिंसा पर आधारित मानते थे। उनका कहना है कि राज्य विभिन्न मनुष्यों में हिंसा, द्वेष और युद्ध को जन्म देता है। अतः उसे मिटा देना चाहिए। राज्य को मिटाने में वे हिंसा के समर्थक नहीं थे वे उसका शान्ति पूर्वक अन्त चाहते थे।

महर्षि मार्क्स और उनके सह-विचारक मनीषी ऐंजिल्स ने जिन साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन और विचार किया वे भी अराजकवादी हैं। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी प्रभाव के समाप्त होने पर राज्य विलीन हो जायगा राज्य का आधार शोषण और वर्ग-हित है। जब सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व (डिक्टेटर शिप आफ प्रालिटेरियट) की स्थापना द्वारा समाज विषमता और शोषण से मुक्त होकर समानता और सहयोग के आधारों पर पुनर्संगठित होगा तब राज्य स्वयं इस प्रकार समाप्त हो जाएगा जिस प्रकार पीले पत्ते बसन्त ऋतु में पेड़ों से गिर जाते हैं क्योंकि उस समय वर्गहीन समाज में हित संघर्ष नहीं रहेगा अर्थात् राज्य की आवश्यकता ही न रहेगी। इस प्रकार साम्यवाद एक प्रकार के व्यवस्थित अराजकवादी समाज की कल्पना करता है।

इस युग के सबसे गम्भीर अराजकवादी महात्मा गाँधी थे। उनके विचारों पर रूसी विचारक टॉलस्टाय की गहरी छाप थी। उनका भी यही मत है कि राज्य हिंसा पर आधारित है। अतः वे चाहते थे कि धीरे-धीरे अहिंसा के द्वारा राज्य की सत्ता का विकेन्द्रीयकरण (डिसेन्ट्रेलाइजेशन) करके राज्य संस्था को बिलकुल समाप्त कर दिया जाय जिससे कि सहयोग और सद्भावना पर आधारित समाज का निर्माण हो सके। महात्मा गाँधी के शिष्य महर्षि विनोबा का भी यही विचार है। वे प्रबुद्ध अराजकवाद के प्रबल समर्थक हैं। प्रबुद्ध-अराजकवाद का अर्थ यह है कि व्यक्तियों का जीवन इतना समाजनिष्ठ और श्रेष्ठ हो जाए कि उन्हें शासन की आवश्यकता ही न रहे। जनता स्वयं सशक्त बने. अपनी व्यवस्था स्वयं करे और प्रेम से रहे।

अराजकवाद के दो आधारभूत सिद्धान्त ये हैं (१) व्यक्ति स्वभाव से श्रेष्ठ, सहयोगी व दयालु है परन्तु राज्य उसे स्वार्थी, क्षुद्र तथा कठोर बना देता है। (२) राज्य शक्ति व हिंसा पर आधारित है। वह नागरिकों पर जबर्दस्ती शासन करता है तथा उनके स्वतन्त्र विकास में बाधा डालता है।

वास्तव में अराजकवाद राज्य की उपयोगिता पर दृष्टि नहीं डालता। राज्य की उपयोगिता के वर्णन से यह ज्ञात होगा कि अराजक-समाज (राज्यविहीन समाज) को सभ्य समाज नहीं कहा जाता। सभ्य जीवन के लिये राज्य नितान्त आवश्यक है।

राज्य की उपयोगिता

राज्य मानव की अधिकतम उपयोगी संस्था है। इसके प्रमुख उपयोग इस प्रकार हैं—

(१) समाज के भीतर बलवान और कमजोर हर प्रकार के व्यक्ति रहते है। यदि कोई ऐसी व्यवस्था न हो जोकि बलवानों से निर्बलों की रक्षा कर सके तथा निर्बलों को भी जीने और विकास करने का अवसर प्रदान करे तो मनुष्य जंगली पशु की भाँति बर्बर और हिंसक हो जाएगा तथा निर्बल व्यक्ति जीवन संघर्ष में समाप्त हो जावेंगे। इस प्रकार राज्य समाज के भीतर संतुलन पैदा करता है। वह बलवानों और साधन सम्पन्न व्यक्तियों की शक्ति का उपयोग दीन निर्बल व्यक्तियों सहित सारे समाज को ऊँचा उठाने में करता है।

राज्य समाज के भीतर शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करता है। समाज में कोई भी व्यक्ति तब तक कला, विज्ञान अथवा किसी भी क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसे राज्य की ओर से सुरक्षा और शान्ति प्राप्त न हो। व्यक्तियों के बीच में ही झगड़े नहीं होते वरन् उनके अनेकों समुदायों के बीच में भी संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। संघर्षो को सुलझाने और न्याय करने के लिये राज्य बहुत आवश्यक है।

(२) राज्य बाह्य आक्रमणों से देश की रक्षा करता है। देश के भीतर की शाँति और समृद्धि बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि बाहर से कोई आक्रमणकारी आकर देश में लूट-पाट न मचावे। स्वाधीनता की रक्षा की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा की जाए। राज्य राष्ट्र के अस्तित्व और उसकी सुरक्षा (डिफेन्स) के लिए पर्याप्त सेनाएं रखता है।

(३) राज्य अपने सदस्यों को अधिकार प्रदान करता है तथा उनकी रक्षा भी करता है। राज्य के बिना अधिकार की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राज्य इस बात का आश्वासन (गारन्टी) देता है कि नागरिकों को उनके विकास के लिए आवश्यक अधिकार प्राप्त होंगे और यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के अधिकार छीनना चाहता है तो राज्य उसे ऐसा करने से रोकता है। राज्य इस बात पर भी दृष्टि रखता है कि सभी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन करें। यदि व्यक्ति अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन न करें तो समाज में अराजकता और अव्य-

वस्था फैल जायगी राज्य अपनी शक्ति द्वारा नागरिकों को कर्त्तव्य पालन के लिए बाध्य करता है।

(४) राज्य केवल पुलिस-कार्य अर्थात् रक्षा, शांति व व्यवस्था की स्थापना और न्याय करने वाली संस्था नहीं है वरन् वह अपने सदस्यों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक उन्नति में भी बड़ा सहयोग देता है। हम देखते है कि भारत में हमारे राज्य ने पंचवर्षीय योजना बनाई है तथा वह हमारी हर प्रकार की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। राज्य नागरिकों के जीवन के लिये ही नहीं वरन् उनके श्रेष्ठ जीवन के लिये उत्तरदायी होता है। अरस्तु ने कहा है कि राज्य का ध्येय अपने सदस्यों के लिये श्रेष्ठ जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करना है।

(५) राज्य राष्ट्र के आन्तरिक जीवन को स्थिर व सुखी तो बनाता ही है इस के अतिरिक्त वह संसार के अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार और सहयोग के लिये दूसरे राष्ट्रों के साथ मित्रता-पूर्ण सम्बन्धों की स्थापना भी करता है। आज कोई भी देश केवल अपनी चाहर-दीवारी के भीतर ही बन्द रह कर उन्नति नहीं कर सकता। आज दुनिया चारों ओर से सिमट कर विज्ञान के द्वारा बहुत नजदीक आ गई है। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य ही देश के लिये प्रतिष्ठापूर्ण पद प्राप्त करता है। और संसार के कार्यों में देश का प्रतिनिधित्व करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सेवायें जुटाता है। राज्य के बिना मनुष्य-समाज विश्रृङ्खल हो जायगा। राज्य समाज का वह अनिवार्य समुदाय है जिसके बिना समाज बिखर कर जंगली पशुओं के झुन्ड के समान अव्यवस्थित रह जायगा।

अराजक-वादियों के विचारों से यहाँ तक तो सहमत हुआ जा सकता है कि किसी भी शासन के हाथों मे पूर्ण-सत्ता (ऐबसोल्यूट पावर) नहीं देनी चाहिये, चाहे उसके भीतर कितने ही श्रेष्ठ और चरित्रवान व्यक्ति क्यों न हों। शासन पर कोई न कोई नियन्त्रण जनता की ओर से होना चाहिये वरना वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो जायगा। जनतन्त्र द्वारा राज्य की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। इसमें शासन को निश्चित समय पर और कभी-कभी बीच में भी बदला जा सकता है। शासन इस डर में रहता है कि कहीं जनता उसके किसी काम से अप्रसन्न न हो जाये, क्योंकि अप्रसन्न होने पर वह उन व्यक्तियों के हाथों में फिर से सत्ता नहीं देगी। एक प्रसिद्ध विद्वान ने कहा है कि 'शक्ति भ्रष्ट कर देती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतः भ्रष्ट कर देती है'। परन्तु इससे राज्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। राज्य तो जनता का समुदाय है। राजनीतिक रूप से संगठित जनता का नाम राज्य है। जनता ही राज्य है। राज्य की सत्ता का अर्थ है जनता की सत्ता अथवा प्रभुता सम्पन्न जनता (सॉवरन पीपुल) इस प्रकार राज्य का अर्थ है प्रभुतासम्पन्न जनता। राज्य की उपयोगिता और उसकी प्रकृति का अध्ययन करने के उपरान्त हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि राज्य मानव जीवन की उन्नति के लिए अनिवार्य है, यदि कुछ बुरा है तो वह यह है

कि कुछ व्यक्तियों के हाथों में सत्ता का केन्द्रीय-करण (कॉनसेन्ट्रेशन ऑफ ऑथारिटी) हो जाय तथा सत्ता प्राप्त करके कुछ लोग शेष जनता पर शासन करें।

राज्य और धर्म

धर्म और राज्य का बहुत गहरा सम्बन्ध रहा है। राज्य के निर्माण में एक प्रधान तत्व धर्म भी है। धर्म ने एकता को जन्म दिया तथा सत्ता के लिए सम्मान की भावना पैदा की। भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी सारे संसार पर अपना शासन जमाना चाहते थे तथा अपने धर्म का पालन करने वालों के अलावा अन्यों को विधर्मी समझते थे जैसे आर्य लोग अनार्यों को 'दस्यु' कहते थे, मुसलमान गैर-मुसलमानों को काफिर और ईसाई लोग गैर-ईसाइयों को पैगन समझते थे। इस प्रकार धर्म के नाम पर पृथक-पृथक धर्म-निगडित राज्यों (थ्योक्रेटिक स्टेट्स) का निर्माण किया गया।

धीरे-धीरे मनुष्यों में धार्मिक सहिष्णुता का भाव पैदा हुआ तथा एक ही राज्य के भीतर अनेक धर्मों के लोग समानता के साथ रहने लगे। आधुनिक राज्य ने धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार को मौलिक रूप से मान लिया है। प्रत्येक धर्म के लोगों को अधिकार है कि वे अपने ढंग से पूजा प्रार्थना करें, अपने धर्म ग्रन्थों और पूजागृहों की रक्षा करें तथा अपने धर्म का प्रचार कर सकें। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखे तथा सबके विकास के लिये समान अवसर दे। ऐसे राज्य को आधुनिक काल में लौकिक राज्य अथवा धर्म निरपेक्ष राज्य (सैक्यूलर-स्टेट) कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि राज्य किसी एक धर्म के नागरिकों के हितों को अन्य धर्मावलम्बियों के हितों की अपेक्षा कोई विशेष महत्व नही देता, वरन् प्रत्येक धर्म के मानने वाले उसकी दृष्टि में समान स्थान रखते हैं।

मध्यकालीन यूरोप में चर्च नाम की ईसाई संस्था और पादरियों ने राज्य पर अपना प्रभुत्व जमा रखा था। उनका कहना था कि राज्य और चर्च दोनों को ईश्वर ने मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के लिए बनाया है। अतः राज्य पर धर्म का नियंत्रण रहना चाहिये परन्तु यह सिद्धान्त शीघ्र ही समाप्त हो गया और लौकिक राज्य का विकास होने लगा।

धर्म ने राज्य-संस्था और राजनीतिक चेतना के प्रादुर्भाव में बहुत कार्य किया है। प्राचीन काल में राज्य को दैवी (ईश्वर का बनाया हुआ) माना जाता था तथा राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि कहीं-कहीं तो उसे ईश्वर ही मानते थे। इस प्रकार राज्य-संस्था के प्रति निष्ठा, आदर भावना और उसकी अज्ञाओं के पालन की सहज प्रवृत्ति का उदय हुआ। गैटल का कहना है कि 'राजनीतिक विकास के आरम्भिक और बहुत कठिन समय में बर्बरतापूर्ण अराजकता का दमन धर्म ही कर सका तथा मनुष्यों को आदर भाव व आज्ञा पालन सिखाकर जंगली अराजकता का नाश कर सका।' इससे हमें राज्य के विकास में धर्म के महत्वपूर्ण स्थान का पता लगता है। आदर और आज्ञा पालन की भावना राज्य और उसकी प्रभुता का प्रमुख आधार है।

आज भी भारत सरीखे देश में जहाँ धर्म लोगों के दैनिक जीवन का संचालन करता है राज्य और राजनीति को धर्म से अछूता नहीं रखा जा सकता धर्म एक व्यापक वस्तु है। धर्म सामाजिक नैतिकता (सोशल मौरेलिटी) के सिद्धान्तों का ऐसा समूह है जिनके पालन पर समाज का जीवन आधारित रहता है। महात्मा गाँधी तो कहते थे कि मेरा धर्म ही मुझे परतन्त्रता के विरुद्ध लड़ने के लिये प्रेरणा देता है। राजनीति धर्म का एक अंग है। धर्म के दो मूल सिद्धान्त हैं, सत्य और अहिंसा। साध्य अर्थात् उद्देश्य अथवा लक्ष्य को सत्य कहते है तथा उद्देश्य की प्राप्ति का जो धार्मिक साधन है उसे अहिंसा कहते है। धर्म का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पवित्र साधनों की आवश्यकता होती है। गलत रास्ते पर चल कर श्रेष्ठता प्राप्त नहीं की जा सकती। इसी कारण महात्मा गाँधी साधनों की शुद्धि पर बहुत जोर देते थे।

धर्म ही मनुष्य को ईमानदारी, सेवा और आत्म त्याग की शिक्षा देता है तथा उसे संकीर्ण स्वार्थों से उठाकर समष्टिगत-हित (सोशल गुड) में प्रेरित करता है। राज्य की सफलता के लिए धर्म से अनुप्राणित मनुष्यों की परम आवश्यकता है।

राज्य का कार्य क्षेत्र

अंग्रेज विद्वान लॉक की मान्यता है कि राज्य का जन्म अच्छे नागरिक जीवन और सामाजिक शान्ति एवं सुरक्षा के लिए हुआ है। एडम स्मिथ राज्य के तीन उद्देश्यों का वर्णन करता है—(१) बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना, (२) जनता के झगड़ों में निष्पक्ष न्याय करना, और (३) सार्वजनिक हित के ऐसे काम करना जिन्हें जनता स्वयं नहीं कर सकती। हेराल्ड जे० लास्की मानते हैं कि राज्य समाज में अधिक से अधिक 'नागरिकों के सामाजिक हितों की प्राप्ति का एक साधन है।' बर्गेस ने राज्य के उद्देश्य का वर्णन इस प्रकार किया है—(१) शासन और स्वतन्त्रता की स्थापना, (२) राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय जीवन का विकास, (३) विश्व कल्याण की दृष्टि से सभ्यता और संस्कृति का विस्तार। विचारक विलोबी का मत बर्गेस के ही समान है।

राज्य एक नैतिक समुदाय है। यह मनुष्य का सर्वोच्च संगठन है। मनुष्य राज्य की रक्षा में रहकर तथा राज्य द्वारा उत्पन्न की गई अनुकूल परिस्थितियों के भीतर ही अपनी नैतिक प्रकृति का चरम् विकास कर सकता है। इस महान समुदाय की स्थापना प्रारम्भ में जीवन की रक्षा के लिये हुई परन्तु इसका अन्तिम उद्देश्य मनुष्यों के श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करना है। यह राज्य के उद्देश्य के विषय में प्राचीन ग्रीस विचारकों का मत है। इनमें हम अरस्तु और उसके महान् गुरु प्लेटो का नाम ले सकते हैं। अरस्तु के उपरोक्त कथन से उसका भाव स्पष्ट रूप से झलकता है। पूर्ण जीवन से अरस्तु का अभिप्राय नैतिक जीवन है और सम्पन्न जीवन में वह आर्थिक दृष्टि से समृद्ध, स्वतन्त्र और समानतापूर्ण जीवन की

ओर लक्ष्य करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य को नैतिक और आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः तथा समृद्धि प्राप्त करने के अवसर प्रदान करता है।

शाँति और सुरक्षा—राज्य के उद्देश्य के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ लेखक सामाजिक शान्ति और सुरक्षा की स्थापना को ही राज्य का उद्देश्य मानते हैं। उनके विचार से राज्य की स्थापना केवल पुलिस-कार्य करने के लिए की गई है। उसे नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डालनी चाहिए बल्कि उन्हें अपने जीवन को किसी भी प्रकार चलाने में स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये।

विकास पथ की बाधाओं को दूर करना—एक मत यह है कि राज्य की शांति और सुरक्षा की स्थापना के अतिरिक्त मानव जीवन के विकास में आने वाली बाधाओं को भी दूर करना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह है कि राज्य अपनी ओर से अनेक प्रकार के समाज सेवा कार्य खोल दे।

विकास पथ पर अग्रसर करना—इनके अतिरिक्त कुछ विचारकों के अनुसार राज्य को मनुष्य के विकास के लिए प्रत्येक कार्य करना चाहिये। राज्य का धर्म है कि वह विद्यालय, चिकित्सालय, मनोरंजनशालाएं, तथा वाचनालय खुलवाये, इतना ही नहीं राज्य को चाहिये कि वह सब नागरिकों का आर्थिक प्रबन्ध भी करे अर्थात् उन्हें काम दे और एक उचित वेतन भी दे। इसका अर्थ है कि राज्य प्रजनन-गृहों (मैटरनिटी होम) से लेकर मरघट तक सभी कुछ बनवाये और व्यक्ति के जीवन की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करे।

राज्य अनावश्यक—कुछ विचारक ऐसे भी है जो यह मानते हैं कि राज्य एक वर्ग संगठन है जिसका उद्देश्य दूसरे वर्गों का मानसिक और आर्थिक शोषण करना है। इस विचार के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था नहीं है, वरन् वह एक बुराई है तथा उसका आधार हिंसा पर टिका हुआ है। अतः उनके विचार से राज्य को समाप्त कर देना चाहिए। महात्मा गांधी का कथन है कि वही राज्य सर्वश्रेष्ठ है जो कम से कम शासन करता है, अर्थात् राज्य यदि रहे ही तो उसे कम से कम कार्य करने चाहिएँ।

राज्य के कार्य क्षेत्र का निश्चय उसके उद्देश्य की दृष्टि से ही होगा। यह एक महान् राजनीतिक समस्या है। इसके भीतर हमें यह अध्ययन करना है कि राज्य को क्या करना चाहिए, और क्या नहीं करना चाहिए? तथा क्यों करना चाहिये और क्यों नहीं करना चाहिए? इसके लिए हम निम्नलिखित विचारधाराओं का अध्ययन करेंगे और यह पता लगाने का प्रयत्न करेंगे कि राज्यों के कार्यों का आदर्श सिद्धान्त क्या हो सकता है—(१) व्यक्तिवादी सिद्धान्त (इनडिविज्युअलिज्म) (२) समाजवादी सिद्धान्त (सोशलिज्म), (३) राष्ट्रीय समाजवादी सिद्धान्त (फासिज्म), (४) आदर्शवादी सिद्धान्त (आइडियलिज्म), (५) लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त (आइडियल आँफ वैलफ़ेयरस्टे) तथा (६) सर्वोदय।

(१) व्यक्तिवाद

व्यक्तिवाद का समूचा ध्यान व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर केन्द्रित

है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य को अपने हाथों में कम से कम कार्य लेने चाहियें राब्य का कार्य केवल बाहरी आक्रमण तथा किसी भीतरी अव्यवस्था से जनता की रक्षा करना है। राज्य के भीतर केवल तीन विभाग होने चाहिएँ, (क) सेना विभाग—जो कि बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा कर सके, (ख) पुलिस विभाग—जो देश में आन्तरिक शाँति व व्यवस्था को कायम रख सके, तथा (ग) न्याय विभाग—जो अपराधियों को दण्ड दे सके तथा व्यक्तियों के आपसी समझौतों को मनवा सके।

इस मत के समर्थकों में हम मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, आदम-स्मिथ, माल्थस, कॉन्ट और डार्विन आदि का उल्लेख कर सकते हैं। इन लोगों का विचार है कि राज्य को लोकोपकारी कार्य नहीं करने चाहिएं ये उसके कार्य-क्षेत्र में नहीं आते, जैसे—शिक्षालय, चिकित्सालय, रेलवे आदि चलाना। इनके कार्यों को व्यक्तियों और उनके अन्य समुदायों पर छोड़ देना चाहिए।

व्यक्तिवाद मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थी मानता है। मनुष्य अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों के हित की पर्वाह नहीं करता और पाप तथा अपराध करने में भी नहीं हिचकिचाता।

(क) राज्य का जन्म मनुष्य की इस अपराधी वृत्ति को रोकने के लिए हुआ है। राज्य एक आवश्यक बुराई है। राज्य बुराई इस दृष्टि से है क्योंकि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाता है। परन्तु आवश्यक है क्योंकि राज्य के न होने पर पापों और अपराधों की संख्या बढ़ जायेगी तथा समाज में अशांति का साम्राज्य छा जायेगा। राज्य बुराई को रोकने का एक साधन है ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी नैतिक पूर्णता और विकास की ओर बढ़ेगा राज्य की आवश्यकता निरन्तर घटती जायेगी और एक दिन राजय की कोई आवश्यकता ही न रहेगी तब उसका अन्त हो जायेगा।

(ख) मनुष्यों के केवल उन कार्यों पर ही राज्य की ओर से नियन्त्रण होना चाहिये जिनका सम्बन्ध दूसरों के साथ हो। मनुष्य के जिस कार्य और व्यवहार का सम्बन्ध केवल उसके अपने साथ हो, उसमें उसे पूर्णतया अमर्यादित, अनियंत्रित व अखण्डित स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर व मन के सम्बन्ध में सत्ता रखता है। राज्य को व्यक्तिगत मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। सामाजिक मामलों में भी राज्य किसी नई योजना को आरम्भ नहीं कर सकता, वह उन पर केवल नियन्त्रण रख सकता है। इस प्रकार राज्य का कार्य-क्षेत्र बहुत सीमित व संकुचित होना चाहिए।

(२) समाजवाद

राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी सिद्धाँत के विरुद्ध समाजवाद का जन्म हुआ। समाजवादी विचारधारा की भिन्न-भिन्न अनेक शाखायें मिलती हैं। उनमें परस्पर विचार भेद है तथापि निम्न बातों में वे सभी हमत हैं :—

समाज और राज्य के व्यक्तिवादी ढाँचे में मुक्त-होड़ (ओपन कम्पीटीशन) के

कारण केवल शक्ति-सम्पन्न लोग ही जीवित रहने का अधिकार रखते हैं। इसमें धनिक और सत्ता-सम्पन्न वर्ग निर्धन व शक्तिहीन वर्ग का शोषण करता है। अतः समाज की वर्तमान पूंजीवादी अवस्था का अन्त करके एक वर्ग विहीन (क्लास लैस) समाज का निर्माण होना चाहिये।

समानता—राज्य तटस्थ रहकर निर्बलों और निर्धनों को मुक्त-होड़ में पिसते हुए नहीं देख सकता। राज्य जब तक रहे तब तक उसका कर्त्तव्य है कि वह राज्य के समस्त नागरिकों के मध्य आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक समानता की स्थापना तथा उनके लिये कल्याणकारक कार्य करे।

राष्ट्रीयकरण—राज्य के भीतर उत्पादन के साधनों अर्थात् भूमि, पूँजी, श्रम और व्यवस्था पर किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग का एकाधिकार (मॉनोपली) नहीं हो सकता। इसके विपरीत राज्य में समस्त उत्पादन पर राज्य का नियन्त्रण एवं स्वामित्व होना चाहिये।

समाज-हित की प्रधानता—व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्य समाज से पृथक नहीं लगाया जा सकता है। व्यक्ति के हित और समाज के हित में कोई विरोध नहीं होना चाहिये, और यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि दोनों में परस्पर विरोध उठे तो उनमें समाज-हित को प्रधानता दी जानी चाहिये क्योंकि समाज की उपयोगिता की दृष्टि से ही व्यक्ति और वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है।

समाजवादी सिद्धान्त में दो प्रधान मत है—(१) साम्यवाद (कम्यूनिज्म) एवं (२) राज्य समाजवाद (स्टेट सोशलिज्म)।

साम्यवाद—कम्यूनिज्म राज्य को एक वर्ग संगठन मनता है। इसका उद्देश्य समाज के भीतर एक वर्ग विहीन व्यवस्था की स्थापना करना है। कम्यूनिस्ट विचारधारा कार्ल-मार्कस के दर्शन (फिलॉसफी) पर आधारित है। १८४८ ई० के कम्यू-निस्ट घोषणा-पत्र तथा 'दी कैपिटल' नामक पुस्तकों में कार्ल-मार्कस ने कम्यूनिज्म के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कम्यूनिज्म राज्य को एक ऐसी संस्था मानता है जिसके द्वारा समाज का सम्पन्न-वर्ग (हैवज) साधन-हीन वर्ग (हैवनाट्स) का शोषण करता है। राज्य का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि समाज के भीतर सम्पन्न और सर्वहारा के दो परस्पर विरोधी हितों वाले वर्ग उपस्थित हैं। कम्यूनिज्म इस वर्ग-विभेद को मिटाकर एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें सभी मनुष्य अपनी सामर्थ्य भर श्रम कर के अपनी आवश्कताओ की पूर्ति के लिये पर्याप्त मात्रा में उपभोग की सामग्री प्राप्त कर सकें। राज्य के रहते यह सब सम्भव नहीं है क्योंकि राज्य शक्ति पर आधारित है।

कम्यूनिज्म इस क्रांति को दो अवस्थाओं में विभाजित करता है (१) प्रारम्भिक अवस्था, (२) आदर्श अवस्था। प्रारम्भिक अवस्था में कम्यूनिज्म पूर्णतः अराजकता-वादी नहीं बन जाता वरन् इसके विपरीत वह राज्य की आवश्यकता अनुभव करता

है। मार्क्स का कहना है। कि अहिंसक या हिंसक किन्ही भी साधानों द्वारा शोषित वर्ग (प्रोलितारियन) को राज्य पर अपना प्रभुत्व जमा लेना चाहिये। तत्पश्चात् राज्य समस्त आर्थिक साधनों को पूंजीपतियों के हाथ से छीनकर अपने आधीन कर लेगा। इस बीच में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य कर लेने के पश्चात् उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त सामग्री जुटाने की व्यवस्था नहीं की जा सकती वरन् सामाजिक-उपयोगिता की दृष्टि से जिस व्यक्ति का कार्य जितना मूल्यवान है उसे उसी के अनुसार पारिश्रमिक देने की व्यवस्था रहेगी। सोवियत समाजवादी गरण-राज्य (रूस) आज तक भी इसी स्थिति में से गुजर रहा है।

इस अवस्था में से गुजर लेने के पश्चात् जबकि समाज में कोई भी शोषक वर्ग न रहे तथा इस बात का भी भय न रहे कि बाहर से कोई सत्ता ऐसे समाज को हानि पहुँचा सकती है आदर्श अवस्था आती है। इसमें राज्य की आवश्यकता न रहने से राज्य ठीक उसी प्रकार समाप्त हो जाता है जिस प्रकार की पतझड़ आने पर सूखे पत्ते डालियों में से झड़ जाते हैं एवं इस अवस्था में सबको अपनी आवश्यकता के अनुसार योग्य पदार्थ मिलते हैं।

इस प्रसंग में यह जानना भी आवश्यक है कि कम्यूनिज्म पूर्णतया एक पदार्थ-वादी कल्पना पर आधारित है। इसके अनुसार आध्यात्मिकता और धर्म का कोई महत्व नहीं है। कम्यूनिज्म धर्म को जनता के पथभ्रष्ट करने का एक साधन मानता है। उसके अनुसार धर्म अन्धविश्वास पर आधारित है। अतः इस व्यवस्था के भीतर धर्म को कोई स्थान नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कम्यूनिस्ट विचारकों ने मानव-जीवन से सम्बन्धित एक मौलिक-प्रश्न उठाया है। इनके मन में शोषित और पीड़ित मानवता के प्रति जो करुणा और सहानुभूति है वह अवश्य ही सराहनीय है परन्तु सर्वहारा-वर्ग का हित साधने के लिए उनमें जो अधीरता और उत्साह है उसके कारण उनके विचार करने का ढँग बहुत कुछ एकाँगी और उग्र हो गया है। मनुष्य समाज को दो स्थायी वर्गो में बांट देना बड़ा असंगत सा लगता है। कम्यूनिज्म की यह मान्यता बिल्कुल गलत सिद्ध हुई है कि मनुष्य को शक्ति के प्रयोग के द्वारा ही बदला जा सकता है। यह तो स्पष्ट शब्दों में म नुष्य की समझदारी और उसकी विचार-शीलता का निषेध है। मनुष्य का एक उज्ज्वल पक्ष भी होता है। यदि हम उसे जाग्रत कर सकें तो निश्चय ही वह संकीर्ण स्वार्थो से ऊपर उठकर समाज हित के लिये काम कर सकता है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमें आचार्य विनोबा के भूदान यज्ञ की सफलता में मिलता है। महात्मा गाँधी इसी प्रकार के हृदय-परिवर्तन में विश्वास रखते थे। हिंसक साधनों द्वारा मनुष्य समाज में किसी स्थायी परिवर्तन की सम्भावना नहीं की जा सकती।

मनुष्य जीवन और उससे सम्बन्धित प्रश्नों को केवल पदार्थवाद के प्रकाश में

देखना तथा उसके आध्यात्मिक पहलू की सर्वथा उपेक्षा करना अनुचित है। तीसरी बात यह है कि समस्त आर्थिक जीवन को केन्द्रित करके राज्य की व्यवस्था के हाथों में सौंप देना उचित नही जान पड़ता। एक स्वावलम्बी और शांतिपूर्ण समाज की स्थापना के लिए आवश्यक है कि उसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी सत्ता विकेन्द्रित रहें।

आज के युग में राज्यविहीन-समाज की बात करना कोरी कल्पना है। मनुष्य के विकास में राज्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। रूस में साम्यवाद की स्थापना होने पर भी वहाँ राज्य की जड़ें और भी मजबूती के साथ जमी हुई है तथा वहाँ एक बहुत मजबूत सर्वग्राही-सर्वसत्ता युक्त राज्य का विकास हुआ है।

राज्य-समाजवाद—राज्य-समाजवाद राज्य को एक बुराई नहीं मानता। उसकी दृष्टि में वह निश्चित रूप से लोकहित का एक आवश्यक साधन है। इतना ही नहीं राज्य-समाजवाद व्यक्तिवाद का घोर विरोधी है और उसका मत है कि राज्य के कार्य-क्षेत्र का अधिक से अधिक विस्तार करना चाहिए। राज्य-समाजवाद व्यक्ति और समाज के हित में कोई विरोध नही मानता है। उसके अनुसार राज्य के कार्य केवल पुलिस और न्याय तक ही सीमित नहीं रहने चाहियें वरन् उसे चाहिये कि वह समाज के समूचे राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन पर अपना नियंत्रण रखे।

राज्य समाजवाद के अनुसार उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामित्व राज्य के हाथों में रहना चाहिये। इससे शोषण और वर्ग भेद एवं वर्ग संघर्ष नहीं हो सकेगा। राज्य सभी लोगों को जीवन की समान सुविधा प्रदान करेगा।

राज्य-समाजवाद राज्य के कार्यो का अत्यन्त व्यापक विस्तार करना चाहता है इससे खुली स्पर्धा (ओपन कम्पीटीशन) मे नष्ट होने वाली शक्ति बचेगी तथा एक सहयोग पूर्ण समाज की स्थापना हो सकेगी जिसमें कोई किसी का शोषण नहीं कर सकेगा तथा निर्बलों व अल्प-शक्तिमानों की भी रक्षा राज्य की ओर से की जा सकेगी।

(३) फासिज्म

राज्य के कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से यह सिद्धांत व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच की स्थिति है यह इस बात पर जोर देता है कि उत्पादन एवं अन्य लोक कल्याणकारी कार्यो का प्रबन्ध पूँजीपतियों के संगठनों (कार्पोरेशन) व अन्य सामुदायिक संगठनो के हाथों में रहे परन्तु उन पर राज्य को पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिये। राज्य की नीतियो को मानना प्रत्येक समुदाय का कार्य है तथा राज्य हमेशा यह बात ध्यान में रखेगा कि किसी व्यक्ति या समुदाय के किसी काम से राष्ट्रीय अहित तो नही होता। इस विचारधारा का जन्म मुसोलिनी और हिटलर की शासन व्यवस्थाओं में हुआ था। उनका उद्देश्य राष्ट्र की महानता है, उसके सामने वे व्यक्ति को कुछ

नहीं समझते । फासिस्ट विचार में राज्य कार्य केवल पुरुष के कामों को पूरा करना नहीं है बल्कि वह इससे आगे समूचे राष्ट्रीय संगठन के लिए उत्तरदायी है । संक्षेप में हम एक ऐसा सिद्धांत कह सकते हैं जिसके अन्तर्गत राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति का उपयोग महानता के लिए किया जाय तथा राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो। इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को कोई महत्व नहीं दिया जाता । व्यक्ति राष्ट्र के विकास का साधन माना जाता है ।

फासिज्म की आलोचना में यह कहा जा सकता है कि यह लोकतंत्र में विश्वास नहीं रखता अतः इसमें जनता प्रभुता-सम्पन्न होने के स्थान पर परतंत्र प्रजा (सब्जैक्टस) का रूप लेती है । केवल इस कारण इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता अन्यथा ऐसा कौन सा व्यक्ति है जो राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए सब कुछ बलिदान करने को तैयार न हो । अन्तर यही है कि फासिज्म में अधिनायक (डिक्टेटर) निरंकुश रूप में व्यक्तिगत हितों को राष्ट्रीय हितों के लिए बलिदान कर देता है और जनतंत्र में जनता अपनी इच्छा से बलिदान हो जाने को तैयार रहती है । जो सिद्धांत व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सम्मान नहीं करता वह आज के युग में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता ।

(४) आदर्शवाद

राज्य के कार्यों के विषय में आदर्शवादी सिद्धांत भी व्यक्तिवाद और समाजवाद के मध्य में स्थित है । परन्तु यह फासिज्म से बहुत भिन्न है । आदर्शवाद के प्रसिद्ध प्रवक्ता टी० एच० ग्रीन का कथन है कि राज्य का कार्य अच्छे जीवन की बाधाओं को दूर करना है अर्थात् राज्य पुलिस, सेना और न्यायालयों की व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ और भी कर सकता है । इस दृष्टि से यह व्यक्तिवाद से आगे है । परन्तु यह राज्य को यह अधिकार नहीं देता कि व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए कार्य करें । इस दृष्टि से यह समाजवाद से पीछे रह जाता है ।

आदर्शवाद राज्य को मनुष्य का परम मित्र मानता है, मनुष्य अपने जीवन के चरम् लक्ष्य की प्राप्ति राज्य में ही कर सकता है । परन्तु राज्य मनुष्य के केवल बाह्य कार्यों को ही नियन्त्रित कर सकता है तथा उसके मार्ग मे आने वाली भौतिक बाधाओं को हटा सकता है । वह मनुष्य की नैतिक प्रगति के लिए कोई कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि नैतिकता मनुष्य का एक आंतरिक गुण है । राज्य के पास कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है जिससे वह यह पता लगा सके कि उसका कोई कार्य उसके सदस्यों को कितनी नैतिक उच्चता प्राप्त करा सकता है । इस प्रकार आदर्शवाद राज्य के कार्य-क्षेत्र को विकास के पथ से भौतिक रुकावटों को दूर करने तक ही सीमित कर देता है ।

आदर्शवाद एक बहुत ही अनिश्चित कल्पना है । अशिक्षा, आर्थिक असमानता और बीमारी ये तीनों मनुष्य के सम्यक् विकास में बड़ी बाधाएँ है । इन्हें दूर करने के लिए जब राज्य विद्यालय और चिकित्सालय खोलता है, उद्योग और व्यवसाय पर

नियन्त्रण करता है, आर्थिक समानता लाने के लिए मृत्यु-कर, विशेष आय-कर आदि लगाता है तथा कम से कम मजदूरी की दरें नियत करता है तो ग्रीन महोदय उसके लिए क्या कहेंगे ? क्या यह बाधाओं का निवारण नहीं होगा और क्या वे राज्य के लोकोपकारी कार्य नहीं हैं ? बाधाओं के निवारण और लोकोपकारी कार्यो में बहुत दूरी नहीं है, दोनों का अर्थ प्रायः एक ही होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत बहुत ही अस्पष्ट है।

(५) लोक कल्याणकारी राज्य

आधुनिक युग को हमने पीछे कई बार जनतंत्रात्मक राज्यों का युग कहा है। यहाँ हम इसका एक विशेष अर्थ करना चाहते हैं। निरंकुश शासन अथवा राजतंत्र में राज्य के कार्यो को करने की शक्ति शासन अथवा कार्यपालिका के हाथों में रहती है। जनतंत्र के भीतर राज्य की समूची सत्ता जनता में निहित होती है। जनता अपनी सत्ता अपने प्रतिनिधियों को सौंप देती है जो कि विधान मण्डल में राज्य के कार्यों की पूर्ति के लिए विधि बनाते हैं। जनता उस समय तक ही स्वतंत्रता के लिए चिल्लाती थी जब तक कि उसे निरंकुश राजाओं के हाथों में खेलना पड़ता था। आज स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बाद जनता अपनी इस स्वतंत्रता का उपयोग राष्ट्र-निर्माण और लोक कल्याण में कर रही है। उसे अपनी स्वतंत्रता छिन जाने का कोई खतरा नहीं है क्योंकि वह उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में है जिन्हें कि वह समय-समय पर बदलती तथा आदेश (मैन्डेट) देती रहती है। जनता ने जनतंत्रात्मक राज्यों के भीतर अपने सामुहिक स्वरूप और अमर्याद-जनशक्ति को पहचानना तथा इस सामूहिक शक्ति का उपयोग सामूहिक हित की प्राप्ति के लिए करना आरम्भ किया है। इसे ही लोक-कल्याणकारी राज्य की कल्पना कहते है उदाहरण के लिए अपने भारत को ही लीजिए। स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् सबसे पहले हमारे राज्य ने अपना ध्यान देश की आंतरिक शाँति और व्यवस्था तथा बाह्य सुरक्षा की ओर केन्द्रित किया। पूरे पाँच वर्षो तक उसका प्रबन्ध करने के उपरांत १९५२ में राष्ट्रीय नियोजन (नेशनल प्लानिंग) किया गया तथा आज राष्ट्रीय लोक-कल्याण (पब्लिक वैलफेयर) के लिये विविध योजनाओं पर राष्ट्र के ध्यान को केन्द्रित किया जा रहा है।

जनतन्त्र के भीतर राज्य लोकोपकारी कार्यों की अवहेलना नहीं कर सकता। जनतंत्र में जनता और राज्य के मध्य कोई भेद ही नही होता है। जनता ही राज्य है, उसका शासन है और वह शासन उसके हित के लिए ही कार्य करता है। शासन पर जनता का पूर्ण नियन्त्रण है अतः वह उसके हाथों मे शक्ति देने से नहीं घबराती। लोक कल्याणकारी राज्य का कार्य-क्षेत्र किसी भी सीमा तक बढ़ सकता है।

लोक कल्याणकारी राज्य में राज्य का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वह जन्म से लेकर मृत्यु तक नागरिक जीवन के लिए आवश्यक समस्त सुविधाएँ जुटाये एवं श्रेष्ठ नागरिक जीवन के लिए हर प्रकार की भौतिक साधन-सामग्री की व्यवस्था करे।

भारत में इस प्रकार के लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा रही है। इस प्रकार की राज्य-पद्धति का विचार समाजवाद की कोख से पैदा हुआ है। इसमें योजनाओं के द्वारा लोक हित का सम्पादन किया जाता है। भारत में रूस की भाँति पंच-वर्षीय योजनाएँ बनाई गई हैं। इन योजनाओं में नहरें, बाँध, बिजली, खेती, उद्योग, व्यापार, शिक्षा, दीन-रक्षा, सामुदायिक विकास, सड़कें, भवन निर्माण अर्थात् प्रजनन-गृह (मैटरनिटी होम) से लेकर मरघट तक मनुष्य के सुख के लिए व्यवस्था करने की चेष्टा की गई है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रकार जनता राज्य-मुखापेक्षी (राज्य की ओर हर बात के लिए मुँह उठाकर देखने वाली) और अपनी स्वतंत्र कर्म शक्ति से शून्य होती जा रही है। राज्य यदि केवल सुझाव देता और मदद करता एवं काम करने की जिम्मेदारी जनता पर छोड़ी जाती तो शायद ये दोष कम हो जाते।

(६) सर्वोदय

भारत में इस शताब्दी के भीतर एक नई विचारधारा उत्पन्न हुई है जिसके जन्मदाता महात्मा गाँधी हैं। इसके प्रबल समर्थकों में महर्षि विनोबा, स्व० किशोरी लाल मश्रूवाला, श्री० जे० सी० कुमारप्पा, आचार्य कृपलानी, श्री जय-प्रकाश नारायण, श्री० दादा धर्माधिकारी, श्री धीरेन्द्र मजुमदार आदि सज्जनों का नाम गिनाया जा सकता है।

सर्वोदय राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में एक नई योजना है। उसके अनुसार जनतन्त्र का अर्थ यह है कि जनता अपने स्थानीय संगठनों में संगठित होकर अपने कार्यों को चलावे। अतः सर्वोदय विचार के अनुसार राज्य-सत्ता का विकेन्द्रीय-करण किया जाना चाहिए। यह सत्ता विविध स्थानीय-संगठनों में संगठित जनता को सौंप दी जाय। केवल वे ही शक्तियाँ राज्य के हाथों में छोड़ी जाएँ जो सार्वजनिक शिक्षा और विकास की दृष्टि से आवश्यक हों जैसे रेल मार्ग, वायु मार्ग, जल पथ, खनिज, फौलाद बनाने वाले कारखाने तथा डाक तार आदि। अन्य सब विषय, जैसे—शिक्षा, कपड़ा उद्योग, तेल, चमड़ा आदि अन्य स्थानीय उद्योग, सिंचाई, कृषि तथा सड़कें इत्यादि स्थानीय पंचायतों को सौप दिये जायें, जिससे कि जनता स्वयं अपनी आवश्य-कता व इच्छानुसार उन्हें चला सके तथा शासन-कार्य में भाग लेकर अपना विकास कर सके।

सर्वोदय जनता में स्वावलम्बन पैदा करने और राज्य की शक्तियों के कम करने अथवा विकेन्द्रित करने का सिद्धाँत है। इसके अनुसर राज्य के पास बहुत थोड़े कार्य रह जायेंगे जिन्हें वह कुशलता-पूर्वक कर सकेगा।

आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्य

पिछले अध्यायों में हमने व्यक्ति के अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रताओं का

उल्लेख किया है। व्यक्ति को जितने भी अधिकार मिलते हैं उनमें से प्रत्येक के साथ राज्य पर एक कर्त्तव्य लागू हो जाता है। जो व्यक्ति का अधिकार है वह राज्य का कर्त्तव्य है, जैसे—व्यक्ति का अधिकार है कि उसे रोजगार मिले और राज्य का कर्त्तव्य है कि यह इस प्रकार से आर्थिक नियोजन करे कि सब को काम दे सके। आगे हम आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्यों का वर्णन करेंगे। राज्य के कृत्यों का प्राचीन वर्गीकरण (१) अनिवर्य कृत्य, (प्रति रक्षा, शान्ति व्यवस्था तथा न्याय) तथा (२) ऐच्छिक कृत्य, (शेष कार्य) अब लागू नहीं होता। जनतन्त्रात्मक-लोक कल्याणकारी राज्य के विचार से राज्य जो कार्य भी करता है वे सभी आवश्यक हैं। राज्य के कार्यों की एक सूची बनाना बहुत कठिन है। समय-समय पर आवश्यकता और लोकमत की माँग के अनुसार राज्यों के कार्यों में वृद्धि होती जा रही है। फिर भी मोटे रूप में हम उन्हें निम्नलिखित वर्गों बाँट सकते हैं:—

१. **प्रतिरक्षा (डिफेन्स)**—राज्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य बाह्य आक्रमणों से देश की प्रतिरक्षा करना है। इसके लिए राज्य को आधुनिकतम शस्त्रास्त्र व जल, थल तथा वायु सेनायें रखनी होती हैं।

२. **विधि-निर्माण**—राज्य का दूसरा महत्वपूर्ण काम देश के नागरिक जीवन को व्यवस्थित और नियमित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य विधियाँ (कानून) बनाता है तथा उनका पालन कराता है। राज्य में कानून बनाने का काम विधायिक (लेजिस्लेचर) करती है। जनतन्त्र में विधियों का निर्माण जनता के चुने हुए प्रतिनिधि बहुमत से करते है।

३. **शान्ति व सुव्यवस्था**—राज्य को देश के भीतर आँतरिक शान्ति और सुव्यवस्था का प्रबन्ध करना होता है जिसके लिए राज्य (क) पुलिस, (ख) जेल और (ग) न्यायालयों का प्रबन्ध करता है।

(क) पुलिस का कार्य अपराधों की खोज करना, अपराधियों को पकड़ना, चौराहों पर मार्ग दिखाना तथा सार्वजनिक शांति को भंग होने से रोकना है।

(ख) जेल विभाग दण्ड प्राप्त अपराधियों के रहन-सहन, सुधार तथा शिक्षा का प्रबन्ध करता है।

(ग) न्याय-विभाग अपराधियों को दण्ड देता है तथा व्यक्तियों को उनके अधिकार दिलाता है।

४. **शिक्षा**—कोई भी राज्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसके नागरिक भली प्रकार शिक्षित न हों शिक्षा का कार्य आधुनिक समय में व्यक्तिगत संस्थाओं पर नहीं छोड़ा जाता। समूचे राष्ट्र के भीतर एक सी शिक्षा-प्रणाली व्यवहार में लाने की चेष्टा की जा रही है इसके लिए राज्य निम्न प्रकार से शिक्षा की व्यवस्था करता है—

भारत में इस प्रकार के लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जा रही है। इस प्रकार की राज्य-पद्धति का विचार समाजवाद की कोख से पैदा हुआ है। इसमें योजनाओं के द्वारा लोक हित का सम्पादन किया जाता है। भारत में रूस की भाँति पंच-वर्षीय योजनाएँ बनाई गई हैं। इन योजनाओं में नहरें, बाँध, बिजली, खेती, उद्योग, व्यापार, शिक्षा, दीन-रक्षा, सामुदायिक विकास, सड़कें, भवन निर्माण अर्थात् प्रजनन-गृह (मैटरनिटी होम) से लेकर मरघट तक मनुष्य के सुख के लिए व्यवस्था करने की चेष्टा की गई है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रकार जनता राज्य-मुखापेक्षी (राज्य की ओर हर बात के लिए मुँह उठाकर देखने वाली) और अपनी स्वतंत्र कर्म शक्ति से शून्य होती जा रही है। राज्य यदि केवल सुझाव देता और मदद करता एवं काम करने की जिम्मेदारी जनता पर छोड़ी जाती तो शायद ये दोष कम हो जाते।

(६) सर्वोदय

भारत में इस शताब्दी के भीतर एक नई विचारधारा उत्पन्न हुई है जिसके जन्मदाता महात्मा गाँधी हैं। इसके प्रबल समर्थकों में महर्षि विनोबा, स्व० किशोरी लाल मश्रूवाला, श्री० जे० सी० कुमारप्पा, आचार्य कृपलानी, श्री जय-प्रकाश नारायण, श्री० दादा धर्माधिकारी, श्री धीरेन्द्र मजुमदार आदि सज्जनों का नाम गिनाया जा सकता है।

सर्वोदय राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे एक नई योजना है। उसके अनुसार जनतन्त्र का अर्थ यह है कि जनता अपने स्थानीय संगठनों में संगठित होकर अपने कार्यों को चलावे। अतः सर्वोदय विचार के अनुसार राज्य-सत्ता का विकेन्द्रीय-करण किया जाना चाहिए। यह सत्ता विविध स्थानीय-संगठनों में संगठित जनता को सौंप दी जाय। केवल वे ही शक्तियाँ राज्य के हाथों में छोड़ी जाएँ जो सार्वजनिक शिक्षा और विकास की दृष्टि से आवश्यक हों जैसे रेल मार्ग, वायु मार्ग, जल पथ, खनिज, फौलाद बनाने वाले कारखाने तथा डाक तार आदि। अन्य सब विषय, जैसे—शिक्षा, कपड़ा उद्योग, तेल, चमड़ा आदि अन्य स्थानीय उद्योग, सिंचाई, कृषि तथा सड़कें इत्यादि स्थानीय पंचायतों को सौंप दिये जायें, जिससे कि जनता स्वयं अपनी आवश्यकता व इच्छानुसार उन्हें चला सके तथा शासन-कार्य में भाग लेकर अपना विकास कर सके।

सर्वोदय जनता में स्वावलम्बन पैदा करने और राज्य की शक्तियों के कम करने अथवा विकेन्द्रित करने का सिद्धाँत है। इसके अनुसर राज्य के पास बहुत थोड़े कार्य रह जायेगे जिन्हें वह कुशलता-पूर्वक कर सकेगा।

आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्य

पिछले अध्यायों में हमने व्यक्ति के अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रताओं का

उल्लेख किया है। व्यक्ति को जितने भी अधिकार मिलते हैं उनमें से प्रत्येक के साथ राज्य पर एक कर्त्तव्य लागू हो जाता है। जो व्यक्ति का अधिकार है वह राज्य का कर्त्तव्य है, जैसे—व्यक्ति का अधिकार है कि उसे रोजगार मिले और राज्य का कर्त्तव्य है कि यह इस प्रकार से आर्थिक नियोजन करे कि सब को काम दे सके। आगे हम आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्यों का वर्णन करेंगे। राज्य के कृत्यों का प्राचीन वर्गीकरण (१) अनिवर्य कृत्य, (प्रति रक्षा, शान्ति व्यवस्था तथा न्याय) तथा (२) ऐच्छिक कृत्य, (शेष कार्य) अब लागू नहीं होता। जनतन्त्रात्मक-लोक कल्याणकारी राज्य के विचार से राज्य जो कार्य भी करता है वे सभी आवश्यक हैं। राज्य के कार्यो की एक सूची बनाना बहुत कठिन है। समय-समय पर आवश्यकता और लोकमत की माँग के अनुसार राज्यों के कार्यो में वृद्धि होती जा रही है। फिर भी मोटे रूप में हम उन्हें निम्नलिखित वर्गों बाँट सकते हैं :—

१. **प्रतिरक्षा (डिफेन्स)**—राज्य का सर्वप्रथम कर्त्तव्य बाह्य आक्रमणों से देश की प्रतिरक्षा करना है। इसके लिए राज्य को आधुनिकतम शस्त्रास्त्र व जल, थल तथा वायु सेनायें रखनी होती हैं।

२. **विधि-निर्माण**—राज्य का दूसरा महत्वपूर्ण काम देश के नागरिक जीवन को व्यवस्थित ओर नियमित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य विधियाँ (कानून) बनाता है तथा उनका पालन कराता है। राज्य में कानून बनाने का काम विधायिक (लेजिस्लेचर) करती है। जनतन्त्र में विधियों का निर्माण जनता के चुने हुए प्रतिनिधि बहुमत से करते हैं।

३. **शान्ति व सुव्यवस्था**—राज्य को देश के भीतर आँतरिक शान्ति और सुव्यवस्था का प्रबन्ध करना होता है जिसके लिए राज्य (क) पुलिस, (ख) जेल और (ग) न्यायालयों का प्रबन्ध करता है।

(क) पुलिस का कार्य अपराधों की खोज करना, अपराधियों को पकड़ना, चौराहों पर मार्ग दिखाना तथा सार्वजनिक शाँति को भंग होने से रोकना है।

(ख) जेल विभाग दण्ड प्राप्त अपराधियों के रहन-सहन, सुधार तथा शिक्षा का प्रबन्ध करता है।

(ग) न्याय-विभाग अपराधियों को दण्ड देता है तथा व्यक्तियों को उनके अधिकार दिलाता है।

४. **शिक्षा**—कोई भी राज्य तब तक उन्नति नहीं कर सकता जब तक कि उसके नागरिक भली प्रकार शिक्षित न हों शिक्षा का कार्य आधुनिक समय में व्यक्तिगत संस्थाओं पर नहीं छोड़ा जाता। समूचे राष्ट्र के भीतर एक सी शिक्षा-प्रणाली व्यवहार में लाने की चेष्टा की जा रही है इसके लिए राज्य निम्न प्रकार से शिक्षा की व्यवस्था करता है—

(क) समूचे देश में राष्ट्र भाषा की शिक्षा देने की चेष्टा की जाती है जिससे देश के भीतर राष्ट्रीयता और संस्कृति का निर्माण हो सके।

(ख) सामाजिक विषयों जैसे नागरिक शास्त्र, समाज शास्त्र, अर्थ शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि की शिक्षा प्रत्येक नागरिक को मिलनी चाहिए यह ध्यान रखा जाता है।

(ग) औद्योगिक व कृषि सम्बन्धी शिक्षा का भी राष्ट्र के औद्योगिक व कृषि सम्बन्धी विकास की दृष्टि से बड़ा महत्व होता है।

(घ) प्रारम्भिक-शिक्षा राष्ट्र के प्रत्येक बालक को निःशुल्क और अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए ऐसी चेष्टा होती है। यह विषय स्थानीय-स्वायत संस्थाओं को सौंप दिया जाता है।

(ङ) महिला-शिक्षा और प्रौढ़-शिक्षा पर भी काफी ध्यान दिया जाता है महिलायें किसी भी समाज की आधारशिला होती हैं, उनकी समुचित शिक्षा-दीक्षा पर समाज का भविष्य निर्भर रहता है। जनतन्त्र में प्रौढ़ों की शिक्षा का भी बड़ा महत्व है। हमारा प्रत्येक मतदाता शिक्षित होना चाहिये तभी वह अपने मत का सही उपयोग कर सकेगा तथा शासन में भाग ले सकेगा।

(च) प्रत्येक राज्य को विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध भी करना चाहिए जिससे कि बुद्धिमान छात्र अपने विकास का अवसर पा सकें।

(छ) वैज्ञानिक शिक्षा आज के युग में बहुत महत्वपूर्ण हो गई है। कोई भी राष्ट्र वैज्ञानिक शिक्षा के बिना प्रगति नहीं कर सकता।

जनतन्त्र के भीतर शिक्षा का बहुत महत्व होता है अतः राज्य का यह कर्त्तव्य माना गया है कि वह सर्वाङ्ग सम्पूर्ण शिक्षा का प्रबन्ध करे तथा शिक्षा को सस्ती व उपयोगी अर्थात् व्यावहारिक बनावे।

(५) **स्वास्थ्य**—प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के नैतिक मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखे। इसके लिए राज्य को निम्न प्रबन्ध करने चाहियें—

(क) नागरिकों को स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों की शिक्षा देना, बाजारों के भीतर गन्दी व नशीली तथा हानिकारक वस्तुओं की बिक्री पर पाबन्दी लगाना और इस बात का ध्यान रखना कि लोग ऐसे तंग मकान न बनावें जिनमें धूप और हवा का प्रवेश न हो पाये।

(ख) चिकित्सालयों का प्रबन्ध करना, जिनमें साधारण लोग सस्ती चिकित्सा पा सकें।

(ग) कोढ़ी, पागल और अपाहिजों आदि के लिए सहायता का प्रबन्ध करना।

(६) **यातायात व संवाद-वाहन**—राज्य की ओर से सड़कों और रेलमार्गों, मोटर, बस, वायुयान, जलयान आदि का प्रबन्ध भी होता है जिससे कि जनता इधर-उधर आ जा सके व माल सुविधापूर्वक ढोया जा सके। इसके अतिरिक्त समाचार

संदेश भेजने के लिए डाक तार का प्रबन्ध भी आवश्यक होता है।

(७) **कृषि और उद्योग व्यवसाय**—राज्य का कार्य देश के आर्थिक जीवन की ओर ध्यान देना भी माना गया है। उसे चाहिए कि वह देश में कृषि और उद्योग व्यवसाय की उन्नति के लिए नियम बनाये व अन्य साधन जुटाए, इनमें प्रमुख रूप से ये हैं—

(क) अच्छे बीज और खाद का प्रबन्ध करना।
(ख) उत्तम कृषि-यन्त्रों का निर्माण करना।
(ग) सहकारी भण्डार, ऋण समिति और बिक्री समितियों का संगठन करना।
(घ) खेती और दूध के लिए उपयोगी पशुओं की हत्या पर रोक लगाना।
(प) कच्चे माल को बाहर जाने से रोकना।
(च) दूसरे देशों से पक्का माल मंगाने पर कड़ी पाबन्दी लगाना।
(छ) देश में बैंकिंग और मुद्रा की स्थिर व्यवस्था की स्थापना करना।
(ज) मजदूरों के हितों की रक्षा करना।
(झ) उत्पादन पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से प्रतिबन्ध लगाना।
(ञ) एम्पलॉयमेंट एक्सचेंज खोलना और नागरिकों को रोजगार दिलाना।

(८) **प्राकृतिक-साधनों का विकास**—राज्य का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पत्ति के सदुपयोग का निम्न प्रबन्ध करे :—

(क) बनों की रक्षा और सफाई।

(ख) सिचाई, मछली, यातायात और बिजली के लिए नदियों के जल का उपयोग।

(ग) खनिज पदार्थों की खुदाई की व्यवस्था और उस पर नियन्त्रण।

(घ) पर्वतों तथा समुद्र की रक्षा और उनका उपयोग।

(९) **वैज्ञानिक अनुसंधान**—राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य वैज्ञानिक अनुसंधान और खोज के लिए प्रयोगशालाएँ खोलना तथा वैज्ञानिकों को हर प्रकार की सहायता देना है। जो राष्ट्र अपने वैज्ञानिकों की सेवा और उनका सम्मान नहीं करता वह आज के युग में प्रगति नहीं कर सकता।

(१०) **स्वायत्त शासन**—जनतन्त्र की यह प्रथम आवश्यकता है कि जनता अपने स्थानीय मामलों का प्रशासन(एडमिनिस्ट्रेशन)स्वयं करे तथा इस प्रकार शासन-करने की कला सीखे। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह विविध प्रकार की स्थानीय शासन संस्थाओं की स्थापना करे, उन्हें आर्थिक सहायता दे, उनके कार्यों पर नियन्त्रण रखे, तथा धीरे-धीरे उन्हें अधिक शक्तियां प्रदान करे।

(११) **सूचना व प्रसार**—राज्य का एक कार्य अपनी नीतियों व योजनाओं का जनता में और विदेशों के भीतर व्यापक प्रचार करना है जिससे कि दूसरे देशवासी हमारी प्रगति से प्रभावित हो सकें और हमारी जनता राज्य को सहयोग दे सके।

राज्य आकाश-वाणी (रेडियो) तथा समाचारपत्रों की व्यवस्था करता है जिससे कि जनता देश विदेश के समाचार जान सके।

(१२) **समाज सेवाओं का प्रसार**—इस युग में लोक-कल्याणकारी राज्य (वैल-फेयर स्टेट) और समाजवादी कल्पनाओं के परिणाम-स्वरूप राज्य के लोकोपकारी कार्यो का विस्तार हो गया है। प्राचीनकाल में मनुष्य के सोलह संस्कार परिवार, ग्राम और धर्मगुरू एवं शास्त्र के सहयोग से सम्पन्न होते थे। आज राज्य की सत्ता इतनी व्यापक हो गई है और जनता इतनी परावलम्बी एवं परमुखापेक्षी बनती जा रही है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक का सारा प्रबन्ध राज्य के जिम्मे हो गया है। इस के परिणामस्वरूप राज्य की शक्तियाँ सर्वग्राही और सर्वव्यापक हो गई हैं तथा उसके कार्यो का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक और विस्तृत हो गया है।

समाज सेवाओं के अन्तर्गत मनुष्य जीवन के लिये प्रत्येक आवश्यक सुविधा जुटाने की व्यवस्था शामिल है, जैसे प्रसूतिगृह और शिशु-कल्याण केन्द्र चलाना, भिक्षुकों, अपंगों और वृद्धों एवं विधवाओं के लिए आश्रम और रोजगार की व्यवस्था, शिक्षा, महिला-विकास, उद्योग प्रसार, सड़कें बनाना, पानी की व्यवस्था, मानव और पशु-चिकित्सा, सिंचाई का प्रबन्ध, बीज गोदाम और सहकारी भंडार खोलना इत्यादि। आज राज्य इन सब कार्यों को कर रहा है और इससे उसकी उपयोगिता में बहुत वृद्धि हो गई है।

यह राज्य के कार्यों का एक मोटा-सार्वीकरण है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र कितना विस्तृत हो गया है।

योग्यता-प्रश्न

१ राज्य क्या है ? उसके मौलिक तत्व क्या हैं ? उसमें और अन्य समुदायों में क्या अन्तर है ?

What is State ? What are its elements ? What is the difference between State and other associations ?

२. राज्य का क्या महत्व है ? क्या आप अराजकवाद के सिद्धाँत से सहमत हैं ?

What is the importance of State ? Do you agree with the views the Anarchist School holds about State ?

३. राज्य की प्रकृति की व्याख्या कीजिए। राज्य, समाज और सरकार व राष्ट्र में क्या सम्बन्ध हैं ?

Define the nature of State. Describe the relationship between State, Society, Government and Nation.

४: आधुनिक राज्य के कार्यों का वर्णन कीजिए। आप किस कार्य को अधिक महत्व-पूर्ण समझते हैं, और क्यों ?

Give an account of the functions of a modern State. Which is

the most important functions of a State in your view ? Explain why ?

५. राज्य के कार्यों के बारे में व्यक्तिवादी एवं समाजवादी सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए और दोनों का अन्तर समझाइये ।
Discuss the individualist and socialist theories about the sphere of State-activity and distinguish between the two.

६. आप लोक कल्याणकारी राज्य से क्या समझते हैं ? राज्य के कार्य-क्षेत्र के बारे में सर्वोदय-विचार की समीक्षा कीजिए ।
What do you understand by the idea of Welfare State ? Examine the Sarvodaya theory about the sphere of State activity.

—:o:—

अध्याय ७

राज्य का जन्म और विकास

"राज्य इतिहास की उपज है। मानवता के एक पूर्ण और व्यापक संगठन की दिशा में यह मानवीय इतिहास का क्रमागत एवं निरन्तर विकास है।"

— आचार्य बर्गेस

राज्य मानव समाज की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। इसके जन्म और विकास के बारे में अनेक विचार प्रचलित हैं। इन विचारों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं। कुछ विचारकों का मानना है कि राज्य का निर्माण एक निश्चित समय पर ईश्वर या मनुष्यों ने किया है तथा दूसरा विचार यह है कि राज्य मनुष्य का एक अनादि और स्वाभाविक समुदाय है तथा इसका विकास एक दीर्घ काल में मानव सभ्यता के साथ साथ हुआ है।

(१) **राज्य का निर्माण हुआ है**—इस विचार के समर्थकों का मत है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है तथा उसका निश्चित समय पर निर्माण किया गया है। इस मत में हमें तीन प्रकार के सिद्धांत मिलते हैं—(अ) राज्य का निर्माण ईश्वर ने किया है। इसे दैवी उत्पत्ति का सिद्धाँत कहते हैं। (ब) राज्य का निर्माण शक्ति के आधार पर हुआ है। शक्तिशाली मनुष्य निर्बलों पर शासन करने लगे तभी से राज्य का जन्म हुआ। निर्बलों पर बलवानों के शासन को राज्य कहते हैं। इस सिद्धांत का नाम शक्ति सिद्धांत (फोर्स थ्योरी) है। (स) राज्य का निर्माण मनुष्यों ने आपस में मिलकर एक समझौते (संविदा) के द्वारा किया है अर्थात् राज्य मनुष्यों में होने वाले एक समझौते का परिणाम है। इसे राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक संविदा सिद्धांत (सोशल कान्ट्रेक्ट थ्योरी) कहते हैं।

(२) **राज्य का विकास हुआ है**—इस विचार के अनुसार राज्य का निर्माण नहीं किया गया वरन् एक लम्बे समय में धीरे धीरे उसका विकास हुआ है। यह सिद्धाँत इतिहास पर आधारित है। यह मत इतिहास के द्वारा राज्य के विकास का जो क्रम मिलता है उसे ही ठीक समझता है। इसे राज्य का विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धांत (इवोल्यूशनरी या हिस्टॉरिकल थ्योरी) कहते हैं।

इस प्रकार राज्य के उद्भव (ओरिजिन) के विषय में हमें चार मुख्य सिद्धांत मिलते है जो इस प्रकार हैं—

(अ) दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत
(ब) शक्ति सिद्धांत
(स) सामाजिक संविदा सिद्धांत
(द) विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धांत

(अ) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस सिद्धाँत के अनुसार राज्यों का निर्माण ईश्वर ने किया है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। उसे राज-सत्ता ईश्वर की ओर से प्राप्त होती है क्योंकि सब शक्तियाँ ईश्वर की ही होती हैं। सन्त पाल ने कहा है कि 'प्रत्येक आत्मा को ऊँची शक्तियों के अधीन रहना चाहिए, क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है, जो कोई सत्ता दिखाई पड़ती है उन सब का स्रोत ईश्वर है। अत: जो कोई सत्ता का विरोध करता है वह ईश्वर के अध्यादेष (आर्डिनेन्स) का उल्लंघन करता है उसे नरक का दण्ड मिलता है।' इस विचार के अनुसार राजा की सत्ता सर्वोपरि है वह कानून और प्रजा दोनों से परे है। उसकी आवाज ही कानून है। ईश्वर का प्रतिनिधि होने के नाते उसकी आज्ञा पवित्र ईश्वरीय आज्ञा है जिसका पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है।

जन्म—दैवी उत्पत्ति सिद्धांत उस युग की उपज है जब धर्म और राजनीति का बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध था। राजा ही धर्म-पुरोहित भी होता था तथा जनता धर्म-भीरु होने के कारण राजा को ईश्वर का अवतार मानती थी।

हिन्दू धर्म ग्रन्थों में भी इस सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। आचार्य चाणक्य ने लिखा है कि 'राजा इन्द्र और यम के स्थान पर होता है उसका अपमान कभी नहीं करना चाहिये।' राजा को मनुष्य देह में 'महती देवता' कहा गया है। महाभारत के अनुसार राज्य का निर्माण इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, आदित्य आदि देवताओं के अंश लेकर होता है।

प्राचीन यहूदी लोग मानते थे कि ईश्वर ही राजा को चुनता व सत्ता प्रदान करता है तथा वही उसे पदच्युत कर सकता अथवा मार भी सकता है। उनके अनुसार राजा ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी होता है तथा जनता उसके कार्यों व आज्ञाओं की आलोचना नहीं कर सकती।

मूल आधार—इस सिद्धाँत के अनुसार (१) राजा को उसकी शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है, जनता से नहीं, (२) राजा अपने कार्यों के लिए ईश्वर के सामने उत्तरदायी (जवाबदेह) होता है, जनता उसकी आलोचना नहीं कर सकती, (३) राजा की आज्ञाओं का विरोध या राजा का अपमान करना घोर पाप है, यह ईश्वर का तिरस्कार और उसके आदेशों का उल्लंघन है। संत आगस्टाइन तथा पोप ग्रेगेरी का विचार है कि बुरा शासक जनता के पापों का फल है तथा अच्छा राजा उनके पुण्यों का। जनता को राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं है तथा

(४) राज्य का उत्तराधिकारी पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र ही होता है। इसमें जनता की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।

उपयोगिता—प्राचीन काल में यह विचार कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है जनता को राजनीतिक रूप से संगठित रखने में बहुत सहायक हुआ। उस काल में जनता धर्मपरायण थी तथा धर्म के नाम पर यह अपने राजनीतिक संगठन की एकता को बनाये रख सकी। गैटल ने कहा है 'जबकि मनुष्य स्वयं शासन करने योग्य नहीं थे इस (दैवी उत्पत्ति) सिद्धांत ने उन्हें आज्ञापालन करना सिखाया।' आज्ञा पालन राजनीतिक जीवन का मूल आधार है। इसी सिद्धांत के आधार पर अनुशासन व नियन्त्रण की स्थापना हुई। मनुष्यों ने राजा की उच्च-शक्ति को स्वीकार किया व उसके सामने मस्तक झुका दिया जिससे एक संगठन अथवा व्यवस्था का विकास हुआ। यह समझ लेना चाहिए कि जहाँ एक ओर जनता राजा को ईश्वर या उसका प्रतिनिधि मानती थी वही राजा का भी धर्म था कि वह अपनी प्रजा को संतान के समान समझे तथा स्वयं ईश्वर की तरह उसका पालन-पोषण करे।

आलोचना—(१) यह सिद्धान्त एक धार्मिक-विश्वास पर आधारित है कि ईश्वर ही समस्त सत्ता का स्रोत है। इसमें मनुष्य की निर्माण शक्ति का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अनुभव से यह सिद्ध होता है कि राजनीतिक संस्थाओं का विकास भी मनुष्य के ज्ञान, अनुभव और आवश्यकताओं के अनुसार हुआ है। राज्य के कानूनों के बनने और पालन करने में जनता की इच्छा कार्य करती है न कि ईश्वर की। राज्य मनुष्य के प्रयत्न का परिणाम है, उसकी राजनीतिक चेष्टाओं का फल है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य का स्वभाव और उसकी संस्थायें (राज्य भी) परिवर्तनशील हैं। परन्तु दैवी सिद्धांत के अनुसार राज्य एक स्थिर संस्था हो जाती है जिसका निर्माण ईश्वर की इच्छा से हुआ है यह विचार गलत है। यदि राजा के कानून ईश्वर की इच्छा हैं तो वे बदलेंगे नहीं। परन्तु यदि ऐसा हो जाये तो नियमों की स्थिरता से मनुष्य का विकास ही रुक जाये। हमारा अनुभव है कि राज्य के नियम मनुष्य की आवश्यकता के अनुसार बदलते हैं। इससे यह सिद्धान्त असत्य ठहरता है।

यह सिद्धान्त बहुत खतरनाक भी है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और वह चाहे जो करे सब ठीक है, इस नाम पर जनता पर अगणित अत्याचार हुए हैं। स्वेच्छाचारी राजाओं ने दैवी अधिकारों की दुहाई देकर जनता पर मनमाने जुल्म ढाये है। यदि राजा ईश्वर या उसका प्रतिनिधि है तो उसे कभी भी अत्याचारी नहीं होना चाहिये। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार तो ईश्वर का अवतार अत्याचारियों के नाश के लिये होता है न कि अत्याचार करने के लिए। भगवान राम का जन्म रावण जैसे अत्याचारी को मारने के लिये और भगवान श्रीकृष्ण का जन्म कंस नामक दुष्ट शासक को नाश करने के लिये हुआ था। अतः अनुभव से यह सिद्ध होता है कि राज्य की

दैवी-उत्पत्ति का सिद्धांत गलत और खतरनाक है। यह स्वयं धर्म के भी विरुद्ध है। स्वेच्छाचारी शासन को ईश्वर का प्रतिनिधि कहना ईश्वर का अपमान करना है।

(ब) शक्ति सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का जन्म शक्ति के द्वारा हुआ अर्थात् प्रारम्भिक काल में बलवान मनुष्य कमजोरों पर अपना अधिकार जमा लेते थे, धीरे-धीरे इसने राजनीतिक संगठन का स्वरूप ले लिया। जो राजा शक्तिशाली होता था वही अपने बाहुबल से अन्य राज्यों को जीत कर अपने राज्य का निर्माण करता था तथा अपनी शक्ति के आधार पर ही वह अपने राज्य को कायम रखता था 'वीर भोग्या वसुन्धरा'। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि राज्य का प्रधान आधार शक्ति है। राज्य में शक्ति ही सत्य है, शक्ति ही न्याय है शक्ति-हीन राजनीतिक संगठन राज्य नहीं कहला सकता। क्या उचित है और क्या अनुचित इसका निर्णय युद्ध में होगा।

मूल आधार—युद्ध मनुष्य की जैविक (बायलौजिकल) आवश्यकता है। डार्विन का मत है कि संसार में वही जीवित रहता है जो जीने के लिये सबसे अधिक शक्तिशाली होता है। बड़ी मछली छोटी को खा जाती है। इसी प्रकार बलवान दुर्बलों के शोषण के लिए उन पर अपनी राजनीतिक सत्ता जमा लेते हैं। यह ही राज्य है। कार्ल मार्क्स और अन्य समाजवादी विचारकों तथा प्रिन्स क्रोपटिकन, बाकुनिन व महात्मा गाँधी आदि विचारकों का भी यही मत है कि राज्य हिंसा पर आधारित है, उसमें कुछ लोग शेष जनता का शोषण करते है और यदि जनता विद्रोह करना चाहती है तो उसे शक्ति के बल पर दबा दिया जाता है।

आलोचना—वास्तव में यह सिद्धांत राज्य के एक महत्वपूर्ण अंग अर्थात् शक्ति की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। यह सत्य है कि राज्य के पास शक्ति होनी ही चाहिए अन्यथा वह अपने अवज्ञाकारी नागरिकों (राज्य की आज्ञा न मानने वाले) तथा विदेशी आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा। परन्तु यह सिद्धाँत शक्ति पर अत्याधिक जोर देता है। ग्रीन का कथन है कि, राज्य का आधार शक्ति नहीं है, राज्य (अपने नागरिकों की) इच्छा पर आधारित है। केवल शक्ति तो हिंसा है, उससे राज्य के नैतिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। शक्ति और न्याय दोनों मिलकर राज्य के सर्व श्रेष्ठ आधार हैं। राज्य का स्थायी आधार उसकी नैतिक शक्ति है। आधुनिक काल में सर्वोदय-विचारधारा के अनुयायी तो यहाँ तक मानते हैं कि राज्य बिना पाशविक शक्ति (फिजिकल फोर्स) के कायम रह सकता है। समाज का स्थायी आधार अहिंसा ही है। इस प्रकार के विचारकों में महात्मा गाँधी, महर्षि विनोबा, स्व० किशोरीलाल मश्रुवाला आदि प्रमुख हैं।

(स) सामाजिक संविदा सिद्धान्त

प्राचीन ग्रीस के सोफिस्ट विचारकों से लेकर आधुनिक समय तक अनेकों विद्वानों का यह मत रहा है कि राज्य न दैवी है, न वह शक्ति द्वारा ही उत्पन्न हुआ है।

वरन् वह मनुष्य के बीच एक समझौते (कॉन्ट्रैक्ट) द्वारा बना है। मनुष्यों ने समझौते की शर्तों के अनुसार अपने कुछ या सम्पूर्ण प्राकृतिक आधार (नेचुरल राइट्स) शासन या राजा को समाज की भलाई, व्यवस्था और शांति की स्थापना के लिए सौंप दिए। इसी से राज्य का जन्म हुआ।

यह सिद्धान्त तीन अवस्थाओं की कल्पना करता है—(१) प्राकृतिक अवस्था (२) संविदा (समझौता) तथा (३) संविदा के बाद बनने वाली राजनीतिक अवस्था (राज्य)।

भिन्न-भिन्न लेखकों ने तीनों अवस्थाओं का वर्णन अलग-अलग प्रकार से किया है। ग्रीक-सोफिस्टों का मत है कि मनुष्य स्वभाव से आत्म-सम्मान प्रिय तथा स्वार्थी है अतः यदि राज्य उसके रास्ते में बाधा डालेगा तो वह उसके नियमों का उल्लंघन करेगा। राज्य एक ऐच्छिक समझौते पर आधारित संस्था है।

महाभारत के शांति पर्व में हमें संविदा द्वारा राज्य के निर्माण का वर्णन मिलता है। वहाँ इसे 'समय' कहा गया है। राज्य के बनने से पहले मनुष्य जंगली स्थिति में रहते थे जिसमें बलवान निर्बलों को सताते थे। इस स्थिति से ऊब कर आपस में 'समय' (संविदा) कर लिया जिसमें अनुशासन और व्यवस्था के लिए कुछ नियम बनाए गए जिनके उल्लंघन पर दण्ड की व्यवस्था की गई, परन्तु उनके सामने यह प्रश्न उठा कि उन नियमों को कौन मनवाये ? न्याय कौन करे ? दण्ड कौन दे ? तब वे ब्रह्मा के पास गए और ब्रह्मा ने उन्हें 'मनु' नाम का राजा दिया। 'मनु' राजा बनने को तैयार न थे इस पर जनता ने उनसे प्रतिज्ञा की कि वह उनका साथ देगी, आज्ञा मानेगी और कर चुकायेगी। इस पर 'मनु' ने राजा का पद स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार राज्य या राजा एक समझौते का परिणाम है। बौद्ध और जैन लोग प्राकृतिक अवस्था को अर्थात् जब राज्य न था, बहुत श्रेष्ठ मानते हैं। उनके विचार से वस्तुओं की कमी और जनसंख्या की वृद्धि के कारण परस्पर संघर्ष शुरू हुआ जिससे तंग आकर मनुष्यों ने परस्पर संविदा की तथा राज्य बनाकर रहने लगे। एक राजा उन पर शासन करने लगा। जो उनके झगड़ों को शाँत करता तथा न्याय व दण्ड की व्यवस्था करता था।

आधुनिक काल में (१६ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी तक) योरुप में तीन बड़े विद्वानों ने संविदा-सिद्धांत का प्रतिपादन किया इनका वर्णन हम क्रमशः इस प्रकार करेंगे—(१) टामस हाब्स (१५८८-१६७९), (२) जॉन लॉक (१६३२-१७०४) तथा (३) रूसो (१७१२-१७८२)।

हॉब्स—हॉब्स ने कहा कि राज्य के बनाने से पूर्व मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। उसमें जीवन 'एकाकी', निर्धन, पतित, पाशविक तथा अल्पकालीन था। उसके विचार से मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी तथा झगड़ालू है अतः प्राकृतिक व्यवस्था में निरन्तर युद्ध रहता था उसके भीतर प्रत्येक व्यक्ति दूसरे का शत्रु था।

इस स्थिति से घबरा कर मनुष्यों ने अपने हित में यह सोचा कि समझौता कर

के एक राज्य बना लिया जावे जोकि उनके जीवन की रक्षा कर सके और आपसी समझौतों को मनवा सके।

राज्य का निर्माण एक समझौते द्वारा हुआ। प्रजा में प्रत्येक मनुष्य ने दूसरे मनुष्यों से इस प्रकार का समझौता किया, "मैं इस मनुष्य अथवा सभा को अपने समस्त अधिकार तथा अपने ऊपर शासन की सत्ता इस शर्त पर सौंपता हूँ कि तुम भी अपना अधिकार उसे दे दो तथा उसको मेरी सम्पूर्ण सत्ता सौंप दो।"

इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य ने अपने सम्पूर्ण अधिकार राजा अथवा सभा के हाथों में सौंप दिए। यह ध्यान रखना चाहिये कि (१) समझौता एक पक्ष अर्थात् जनता की ओर से ही हुआ है। राजा अथवा राज्य ने समझौते में कोई भाग नहीं लिया। वह तो समझौते की शर्तो के परिणामस्वरूप पैदा हुआ है।(२)राजा की शक्ति की कोई परिभाषा नहीं की गई है अथवा राजा की शक्ति पर कोई सीमाएँ नहीं लगाई गई हैं। राजा को सम्पूर्ण अथवा निरंकुश सत्ता प्रदान की गई है। (३) प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह राजा की आज्ञाओं का पालन करे क्योंकि वह संविदा (समझौते) में ऐसी प्रतिज्ञा कर चुका है। यदि कोई व्यक्ति राजा की आज्ञाओं का पालन नहीं करता तो राजा उसको समझौता भंग करने के अपराध में दण्ड दे सकता है तथा (४) जनता को राजा या राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का न नैतिक अधिकार है न कानूनी क्योंकि उन्होंने अपने पास कोई शक्ति सुरक्षित रखी ही नहीं। वे सब अधिकारों का समर्पण राजा के हाथों में बिना किसी शर्त के कर चुके है। इस प्रकार हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

लॉक—लॉक के अनुसार भी राज्य के निर्माण से पहले मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहते थे। परन्तु लॉक ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र खींचा है वह हॉब्स के वर्णन से सर्वथा भिन्न है। लॉक का कहना है कि प्रकृति में मनुष्य समानता और स्वतन्त्रता का जीवन बिताता था। लॉक उन्हें स्वभाव से सहयोगी, उदार, दयालु तथा नेक मानता है। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का अपनी इच्छा के अनुसार उपभोग कर सकता था। यह अवस्था भद्र-ईसाई सभ्यता के समान थी। उस में प्राकृतिक न्याय का प्रयोग होता था। इस अवस्था में व्यक्ति में प्राकृतिक अधिकार होते थे परन्तु उसकी व्यवस्था करने वाली तथा कोई सत्ता नहीं थी।

इसी कठिनाई के कारण मनुष्यों ने आपस में संविदा (समझौता) करके प्राकृतिक अवस्था को त्यागकर समाज का निर्माण कर लिया। हॉब्स ने केवल एक समझौते का ही उल्लेख किया है जिसके अनुसार जंगली मनुष्यों ने राज्य का निर्माण किया। परन्तु लॉक की व्याख्या से दो समझौतों का पता लगता है—(१) सामाजिक समझौता, (२) राजनीतिक समझौता।

सामाजिक समझौते के द्वारा मनुष्यों ने प्राकृतिक अवस्था को छोड़कर सामाजिक जीवन मे प्रवेश किया। इस समझौते के अनुसार एक सत्ता-पूर्ण समाज की रचना हुई।

दूसरा समझौता राजनीतिक था। इससे राज्य का निर्माण हुआ। इसके द्वारा समाज ने शासक को अपनी कार्यकारिणी सत्ता सौंप दी तथा शासक ने समाज को यह विश्वास दिलाया कि वह जनता के प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करेगा व प्राकृतिक नियमों के अनुकूल विधियां (कानून) बनायेगा।

यह समझौता हॉब्स के समझौते की भांति एक पक्ष की ओर से ही नहीं हुआ इसमें समाज और शासक (राजा) दोनों पक्ष सम्मिलित है। समाज शासक को इस शर्त पर सत्ता देता है कि वह जनता के हितों का सम्पादन करे। यदि जनता शासक से असन्तुष्ट हो अर्थात् यदि शासक जनता के प्राकृतिक अधिकारों को छीनकर अत्याचार करने लगे तो समाज का पूरा अधिकार है कि उसे पद से हटाकर किसी दूसरे राजा का राजतिलक कर दे।

इस प्रकार लॉक ने हॉब्स के पूर्ण सत्ताधारी अथवा निरंकुश राजतन्त्र (ऐब्सोल्यूट मोनार्की) के स्थान पर सीमित अथवा वैधानिक राजतन्त्र (लिमिटेड मोनार्की) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि लॉक हॉब्स की भांति जनता के समस्त अधिकार राज्य को नहीं सौंपता, वह कुछ अधिकार ही शासक को देता है और वह भी इस शर्त पर कि वह अपनी सत्ता का सही ढंग से उपयोग करे। लॉक के समाज को हम राज्य कह सकते हैं तथा शासक को शासन व्यवस्था (सरकार)। इस प्रकार लॉक राज्य और शासन को एक ही वस्तु नहीं मानता वरन् वह दोनों को पृथक कर देता है। सारे समाज का नाम राज्य है तथा उसके सीमित सत्ता प्राप्त राजनीतिक संगठन को शासन कहते हैं। शासन को परिवर्तित किया जा सकता है इससे राज्य के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं पड़ती।

रूसो—रूसो फ्रांस देश का निवासी था। फ्रांस की राज्य क्रांति का बहुत कुछ श्रेय रूसो के लेखों को प्राप्त है। उसने १७६२ में सामाजिक संविदा (सोशल कॉन्ट्रेक्ट) नामक पुस्तक लिखी जिसमें उसने राज्य को समझौते का परिणाम बताया।

रूसो भी यह मानता है कि समझौते द्वारा राज्य के निर्माण से पहले मनुष्यों के जीवन की एक प्राकृतिक अवस्था थी। रूसो ने उस समय के मनुष्यों को न तो बर्बर और स्वार्थी बताया है, न वह उन्हें ईसाई प्रजा के समान भद्र और सभ्य ही समझता है। रूसो की दृष्टि में प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य भोला, सादा और पशु की भाँति ज्ञान शून्य व सरल (इन्नोसैन्ट) था, उस पर सभ्यता का कोई प्रभाव नहीं था। वह संस्था, संगठन आदि के प्रभाव से मुक्त जीवन व्यतीत करता था तथा प्रसन्न रहता था। यह प्राकृतिक अवस्था मनुष्य के जीवन की आदर्श अवस्था थी।

धीरे-धीरे जनसंख्या में वृद्धि हुई तथा व्यक्तिगत-सम्पत्ति का उदय हुआ। इससे आदर्श प्राकृतिक अवस्था समाप्त हो गई तथा और आपसी झगड़े और ईर्ष्या द्वेष की भावना बढ़ने लगी। इसी स्थिति को दूर करने के लिये मनुष्यों ने आपस में समझौता करके नागरिक-समाज (सिविल सोसायटी) की स्थापना कर ली। अब

प्राकृतिक स्वतन्त्रता का स्थान नागरिक स्वतंत्रता ने ले लिया और एक ऐसे राजनीतिक संगठन का निर्माण हुआ जो समूची जाति के जीवन की रक्षा कर सके तथा जिसके भीतर प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक स्वतंत्रता का उपभोग कर सके।

यह समझौता हॉब्स और लॉक के समझौतों से भिन्न प्रकार का है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति 'अपने व्यक्तित्व और समस्त शक्ति को प्रबुद्ध संकल्प (जनरल-बिल) के सर्वोच्च नियन्त्रण में सौंप देता है तथा पूरे समाज के अभिन्न अंग के रूप में प्रत्येक व्यक्ति की सत्ता प्राप्त भी करता है।' व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सत्ता सबको सौंपता है किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों को नहीं। समूची जाति व्यक्ति की प्रभुता प्राप्त करती है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति स्वयं अपनी सत्ता जाति के सदस्य के रूप में वापिस प्राप्त कर लेता है तथा उसे दूसरों की सत्ता भी प्राप्त होती है। साथ ही साथ उसे सारे समाज की ओर से रक्षण भी प्राप्त होता है। व्यक्ति के दो स्वरूप हैं—(१) वह प्रजा है अर्थात् उसे राज्य की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है, तथा (२) वह प्रभुतासम्पन्न राज्य का सदस्य है, तथा राज्य की आज्ञाएँ उसी की अपनी इच्छा की प्रतिनिधि हैं। अर्थात् व्यक्ति स्वयं अपनी आज्ञाओं का पालन करता है।

रूसो कहता है कि जनता का कोई समूह प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं होता वरन् उस के भीतर उत्पन्न होने वाला एक प्रबुद्ध-संकल्प या जनरल बिल प्रभुत्व-सम्पन्न होता है। प्रबुद्ध-संकल्प की कल्पना राजनीति शास्त्र को रूसो की एक महान् देन है।

रूसो के अनुसार जनता का शासन अर्थात् प्रबुद्ध-संकल्प का शासन ही सच्चा शासन है। इस प्रकार उसने जनतन्त्र के विचार का प्रतिपादन किया जो कि आगे चल कर सर्व प्रचलित हो गया। रूसो को इस युग में जनतन्त्र का पिता कह सकते है।

संविदा सिद्धान्त की आलोचना

(१) यह सिद्धान्त ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जीवन की एक ऐसी अवस्था थी जिसमें इसके भीतर किसी प्रकार की राजनीतिक चेतना नहीं थी तथा उसका कोई राजनीतिक संगठन भी नहीं था, परन्तु इतिहास में हमें इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। न इतिहास में किसी ऐसी घटना का ही वर्णन मिलता है जब कि किसी राजनीतिक चेतना रहित मनुष्य के समुदाय अथवा समाज ने आपस में समझौता करके राज्य का निर्माण किया हो।

(२) समझौते द्वारा राज्य के निर्माण की कल्पना समझ में नहीं आती। जिन लोगों में कोई भी राजनीतिक चेतना नहीं थी और जो जंगली जीवन बिता रहे थे अचानक उन्हें समझौते जैसी ऊँची कल्पना कैसे सूझ गई होगी, और फिर उन्हें यह कैसे पता चला कि उन्हें राज्य और शासन की स्थापना करनी चाहिये जिससे कि

समाज में शान्ति रह सके। राज्य और शासन समझौते से पहले कभी नहीं थे, लोगों को उनका कुछ भी अनुभव न था, फिर सबको एक साथ यह कल्पना कैसे सूझी होगी। यह सब धारणा समझ के परे की बात है।

(३) यह सिद्धान्त मनुष्य की प्रकृति के विरुद्ध है। मनुष्य स्वभाव से एक राजनीतिक प्राणी है। वह स्वभाव से राज्य की आज्ञाओं का पालन करता है किसी समझौते की शर्तो के कारण नहीं।

(४) संविदा सिद्धान्त राज्य को कृत्रिम बताता है। यह गलत है क्योंकि राज्य का निर्माण एक लम्बे समय में धीरे-धीरे विकास द्वारा हुआ है। राज्य एक स्वाभाविक संस्था है कृत्रिम नहीं। राज्य का जन्म मनुष्य के स्वभाव से हुआ है किसी संविदा (समझौते) से नहीं।

(५) संविदा सिद्धान्त राज्य के निर्माण से पहले भी प्राकृतिक अधिकारों की चर्चा करता है। राज्य के बिना किसी प्रकार के अधिकारों की कल्पना नहीं की जा सकती। अधिकारों को मनवाने तथा न्याय करने के लिये राज-सत्ता अनिवार्य है। अतः अराजक अवस्था की सुविधाओं को अधिकार कहना गलत होगा।

(६) संविदा सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक ऐच्छिक समुदाय है, क्योंकि जैसे समझौते द्वारा राज्य बनाया जा सकता है वैसे ही उसे तोड़ा भी जा सकता है। परन्तु हम देखते है कि ऐसा नही होता, राज्य की सदस्यता मनुष्य को किसी समझौते द्वारा नहीं मिलती वरन् वह जन्म से ही किसी राज्य का सदस्य बन जाता है। राज्य सभ्य जीवन के लिए नितान्त अनिवार्य है। उसे तोड़ा नहीं जा सकता। मनुष्य राज्य के सदस्य के रूप में पैदा होता, जीता और मर जाता है। राज्य की सदस्यता उसके जीवन के विकास के लिये परम आवश्यक है। राज्य अनिवार्य समुदाय है।

(७) संविदा-सिद्धान्त अवैधानिक (गैर कानूनी) है। राज्य से पहले होने वाला कोई समझौता कानूनी नहीं माना जा सकता। कानून उन्हीं समझौतों को वैधानिक (कानूनी) मानता है जो राज्य के सामने हुये हों। इस प्रकार संविदा (कान्ट्रेक्ट) अवैधानिक है अतः इससे बनने वाला राज्य भी अवैधानिक हुआ। फिर यदि यह मान लिया जाय कि समझौते से राज्य बना तो भी राज्य को इस बात के लिये मजबूर नहीं किया जा सकता कि वह उस संविदा का पालन करे या कराये जो जन्म से भी पहिले ही हो चुका है। इस प्रकार राज्य को संविदा की उपज मानने के परिणाम भयंकर हो सकते हैं।

(८) मान लीजिए कि राज्य समझौते से बना है। जिन व्यक्तियों ने संविदा की थी वे तो बहुत पहले मर चुके अब यह संविदा (समझौता) आने वाली सन्तानों पर कैसे लादा जा सकता है। यदि हर पीढ़ी में संविदा को दोहराया जाय तो राज्य एक अस्थायी संस्था हो जायगा। इतिहास में हमें इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं मिलता जहाँ हर पीढ़ी के लोग मिलकर संविदा (समझौता) करते हों।

ऐतिहासिक और दार्शनिक दृष्टियों से गलत होने पर भी संविदा सिद्धान्त ने

जनता की प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है। इसने राजाओं के दैवी अधिकारों अथवा शक्ति सम्पन्नता को समाप्त करके राजनीतिक चेतना की गति जनतन्त्र की दिशा में मोड़ दी है।

(द) विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त

राज्य की रचना ईश्वर ने नहीं की, यह शक्ति अथवा संविदा का परिणाम भी नहीं है। वास्तव में राज्य एक लम्बे समय में धीरे-धीरे विकसित हुआ है। मनुष्य अपने आदि काल से किसी न किसी प्रकार राजनीतिक संस्थाओं में रहता आया है। सामाजिक जीवन शुरू होते ही अनुशासन और व्यक्तिगत सम्पत्ति पर नियन्त्रण बनाने की आवश्यकता पड़ी होगी अतः शुरू से ही राज्य अपने प्रारम्भिक और अविकसित स्वरूप में मौजूद था; धीरे-धीरे मनुष्यों के अनुभव, ज्ञान तथा आवश्यकताओं की वृद्धि के साथ ही राजनीतिक संगठन का विकास भी हुआ। राज्य का जो स्वरूप हमें आज दिखाई पड़ता है आज से सौ वर्ष पूर्व राज्य वैसा ही नहीं था और एक हजार वर्ष पूर्व और भी अधिक भिन्न था। इतना ही नहीं, आगे आने वाले समय में इसका स्वरूप और भी बदलेगा क्योंकि मनुष्य का स्वभाव और प्रकृति परिवर्तनशील है।

मनुष्य के स्वभाव के साथ राज्य का विकास होता है। यह सिद्धान्त ऐतिहासिक तथ्यों (हिस्टॉरिकल फैक्ट्स) पर आधारित है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य का धीरे-धीरे विकास हुआ। वास्तव में राज्य के विकास का क्रम अनादिकाल से चल रहा है। हम कह सकते हैं कि राज्य और शासन का विकास प्राग-ऐतिहासिक (प्रि-हिस्टॉरिकल) समाज की प्रारम्भिक अवस्था में हुआ है।

राजनीतिक संगठन का मूल आधार आज्ञा पालन है। सबसे पहले मनुष्य ने अपने परिवार के भीतर और उसके पश्चात् 'कुल' (क्लैन) और 'जन' (ट्राइब) में क्रमशः माता-पिता, कुलवृद्ध तथा जन-नायक अथवा राजा की आज्ञाओं का पालन करना सीखा। इस प्रकार मनुष्य के इन प्रारम्भिक संगठनों अर्थात् परिवार कुल और जन के भीतर राजनीतिक-संगठन के अंकुर विद्यमान थे जो धीरे-धीरे विकसित होते गये।

सामाजिक विकास के प्रसंग में हम इस विकास की विभिन्न सीढ़ियों का वर्णन कर चुके हैं। शिकारी अवस्था से निकल कर जब मनुष्य ने पशु-पालन-अवस्था में प्रवेश किया तो मनुष्य का राजनीतिक संगठन अधिक सुधर गया। चरवाहों की एक टोली को दूसरी टोलियों से लड़ना पड़ता था, युद्धों में नेतृत्व करने के लिए व्यक्ति टोली का नेता बन जाता और सब लोग उसकी आज्ञा मानते थे। धीरे-धीरे मनुष्य भूमि पर बस कर खेती करने लगे। उस समय जीवन अधिक स्थिर व शान्तिमय हुआ इससे राजनीतिक विकास भी तेजी से हुआ। सुरक्षा (सिक्योरिटी) के लिए अनेकों ग्राम मिलकर 'जनपदों' का निर्माण कर लेते थे तथा प्रत्येक जनपद में एक राज्य होता था। प्राचीन आर्य-साहित्य में हमें दो प्रकार के गणराज्यों का वर्णन मिलता है जिन में (१) समस्त नागरिक संस्थागार (सभा भवन) में एकत्रित होकर छन्द (वोट) द्वारा

गण-मुख्य (हैड ऑफ रिपब्लिक) का निर्वाचन करते थे, अथवा (२) प्रमुख गोत्रों के वृद्ध (मुखिया) इकट्ठे होकर राज्य चलाते थे। पहली प्रकार राज्यों को हम जनतन्त्रात्मक गण-राज्य (डेमोक्रेटिक-रिपब्लिक) तथा दूसरे प्रकार के राज्यों को कुलीनतन्त्र (ऑलिगार्की) कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भारत में 'जन-राज्य' (ट्राइबल स्टेट्स) होते थे जिनमें से प्रत्येक में एक राजा होता था। यह राजा जब अन्य 'जनराज्यों' को जीत कर अपने अधीन कर लेता था तो 'साम्राज्य' का निर्माण होता तथा उस राजा को सम्राट की पदवी मिलती थी। आर्यो में राजा का उत्तराधिकारी न मिलने पर जनता को राजा के 'वरण' (इलेक्शन एण्ड अपाइन्टमैन्ट) का अधिकार भी था। राजाओं के कार्यो पर नियंत्रण रखने के लिए सभा समितियाँ होती थीं तथा शासन की शक्ति सम्पूर्ण 'जन' के हाथों में रहती थी।

इस प्रकार ग्रीस के नगर राज्यों से लेकर पश्चिम में रोम और भारत में पाटलीपुत्र के सार्वभौम साम्राज्यों के इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि राज्य नामक संस्था का विकास अनेकों युगों के लम्बे समय में बहुत धीरे-धीरे हुआ है।

इस विकास में जिन तत्वों ने प्रधान रूप से सहयोग दिया है हम नीचे उनका वर्णन करेंगे :—

(१) **रक्त सम्बन्ध**—मनुष्य का सबसे पहला सामाजिक संगठन परिवार है। इसका आधार रक्त सम्बन्ध है। हम देखते है कि प्रारम्भिक सामाजिक रचना में इस सम्बन्ध का बड़ा महत्व रहा है। 'परिवार', 'कुल', 'जन' अथवा 'जाति' सभी का आधार रक्त-सम्बन्ध है। इस युग में भी कुछ लोग रक्त की पवित्रता की बात करते हैं जैसे हिटलर जर्मन रक्त की शुद्धता पर जोर देता था तथा उसने जर्मन-निवासियों के भीतर रक्त सम्बन्ध के आधार पर सुदृढ़ एकता का निर्माण किया था। मानव के प्रारम्भिक सामाजिक-संगठनों के निर्माण का आधार रक्त सम्बन्ध ही था।

(२) **धर्म की एकता**—राज्य के निर्माण में धार्मिक-एकता ने भी बड़ा योग दिया है। जो लोग एक ही धर्म का अनुसरण करते थे उनके भीतर स्वाभाविक रूप से एकता और संगठन का निर्माण हो जाता था। जब कभी दूसरे धर्म वालों से इनका संघर्ष होता था तो एक धर्म के सारे अनुयायी इकट्ठे होकर लड़ते थे। दूसरे धर्म वालों को प्राय: नीची दृष्टि से देखा जाता था जैसे आर्य लोग अनार्यो को 'दस्यु' और मुसलमान अन्य धर्मों के लोगों को 'काफिर' कहते थे। धर्म की एकता से संगठन और व्यवस्था में बहुत सुविधा मिली। संगठन की सुविधा का वर्णन हमने ऊपर किया है आगे हम व्यवस्था का वर्णन करेंगे।

धर्म मनुष्यों के भीतर सत्ता का आदर करने व अनुशासित जीवन बिताने की प्रवृत्ति पैदा करता है। पिछले जमाने में धर्म-प्रधान राज्य (थ्योक्रेटिक स्टेट्स) होते थे। उनके सदस्य राज्य की सत्ता को आदर व निष्ठापूर्वक देखते थे। तथा राज्य की आज्ञाओं का पालन अपना धर्म मान कर इच्छापूर्वक करते थे। इससे मनुष्यों के

भीतर राज्य की आज्ञाओं का पालन करने का स्वभाव बन गया और राज्य के विकास में बहुत सहायता मिली।

(३) **राजनीतिक चेतना**—प्रारम्भ में मनुष्य अपनी संस्थाओं के भीतर राजनीतिक कार्यों को अचेतन रूप से करता रहा, परन्तु धीरे धीरे राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजनीतिक संगठन का उपयोग होने लगा। युद्ध काल में शत्रु का सामना करने के लिये एक नेता की आवश्यकता हुई जो 'जन' की रक्षा कर सके। इस नेता के आदेश का पालन 'जन' के सब लोग करने लगे। युद्ध समाप्त होने पर यही नेता आन्तरिक शान्ति, न्याय और परिवारिक संघर्षो के सुलझाने का कार्य करता था। इस प्रकार स्थायी शासन का आरम्भ हुआ। न्याय के लिये विधियों (कानूनों) की खोज और रचना हुई। ये विधियाँ रीति-रिवाजों अथवा धार्मिक विश्वासों पर आधारित होती थी। धीरे धीरे राजनीतिक चेतना का विकास हुआ तथा मनुष्य ने राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, जनतन्त्र आदि राजनीतिक कल्पनाओं को जन्म दिया। आज के युग में प्रत्येक नागरिक, अपने अधिकारों व कर्त्तव्यों को पहचानता है तथा राज्यशासन के ढांचे और कार्य करने के ढंग का भी काम-चलाऊ ज्ञान रखता है। इस संसार के भीतर कुछ अविकसित आदिम जातियों को छोड़कर प्राय: सभी देशों में राजनीतिक चेतना का पर्याप्त विकास हुआ है। राष्ट्रीय राज्य (नेशन स्टेट्स) का निर्माण भी राजनीतिक चेतना के विकास का परिणाम है। संसार की जिस जाति के भीतर राजनीतिक जागृति हो जाती है वह अपनी स्वतन्त्रता की माँग करने लगती है तथा एक दिन वह उसे प्राप्त करके राज्य का रूप धारण कर लेती है।

इस प्रकार राजनीतिक चेतना ने राज्य के विकास में बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है।

वर्तमान समय में राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त ही सर्व प्रचलित है। विकासवादी-सिद्धान्त के अनुयायी प्रारम्भिक संगठन की प्रकृति के विषय में दो प्रकार के मत रखते हैं। कुछ लोग मातृ-प्रधान कबीले को राजनीतिक संगठन की प्रथम संस्था मानते हैं तथा अन्य लोग पितृ-प्रधान परिवार को। मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान सिद्धान्तों का झगड़ा व्यर्थ है। वास्तव में संसार के भीतर कहीं मातृ-प्रधान कबीले होते थे जहाँ स्त्री का शासन होता था तथा कहीं पितृ-प्रधान परिवार होते थे जिनमें पिता का शासन (पैट्रिया पोटेस्टास) होता था। आगे चलकर इन्हीं से राजनीतिक संगठन का प्रादुर्भाव हुआ।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य की उत्पत्ति के बारे में दैवी तथा शक्ति सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
Discuss in detail the Divine Origin Theory and Force Theory about the origin of State.

२. 'राज्य विकास का परिणाम है, वह कृत्रिम नहीं है।' इस वक्तव्य की समीक्षा कीजिये ।

'State is a growth not a make.' Examine this Statement.

३. राज्य के जन्म के बारे में सामाजिक संविदा सिद्धान्त की व्याख्या विस्तार से कीजिए। क्या यह सिद्धान्त मान्य किया जा सकता है ?

Give an account of the Social Contract Theory about the origin of State. Do you agree with the theory ? If not why ?

४. राज्य के विकास में किन तत्वो ने प्रधान रूप से सहायता दी है ? स्पष्ट वर्णन कीजिये ।

What are the factors that have led to the growth of State ? Describe clearly.

—o—

अध्याय ८

प्रभुता और विधि

१. प्रभुता के खण्डित होने पर राज्य का अस्तित्व असभम्व हो जाएगा ।

—ट्रीटस्के

२. उन नियमों को विधि कहते हैं जिन्हें राज्य न्याय की दृष्टि से स्वीकार तथा लागू करता है ।

—सामण्ड

राज्य मनुष्यों का सर्वोच्च समुदाय है । राज्य की सर्वोच्चता का अर्थ यह है कि वह अपने भीतर रहने वाले सभी मनुष्यों और उनके समुदायों पर नियन्त्रण रखता है । राज्य का एक प्रमुख लक्षण यह है कि उसे अपने नागरिकों पर सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होती है । राज्य की आज्ञाओं का पालन प्रत्येक नागरिक को करना पड़ता है अर्थात् जो लोग उसका पालन न करना चाहें राज्य उन्हें भी इसके लिए बाध्य अर्थात् मजबूर कर सकता है । राज्य अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णत: स्वतन्त्र होता है अर्थात् वह केवल अपनी इच्छा के ही अधीन होता है किसी दूसरे व्यक्ति अथवा राज्य की इच्छा उस पर कोई बन्धन नहीं लगा सकती राज्य के इस गुण को ही शास्त्रीय भाषा में 'प्रभुता' कहा जा सकता है । अंग्रेजी भाषा मे इसे सॉवरेन्टी कहते हैं । सावरेन्टी शब्द का जन्म लेटिन भाषा के 'सुपरेनस' शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है सर्वोच्च । यह राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है । इस शब्द का उपयोग फ्रेंच लेखक बोदां के काल (१५७६ ई०) से आरम्भ हुआ है । इससे पहले इसी भावना को प्रगट करने के लिए अन्य शब्दों का प्रयोग होता था । अरस्तु ने इसके लिए 'सर्वोच्च शक्ति' शब्द का प्रयोग किया तथा रोमन व पूर्व मध्यकालीन युग के लेखकों ने इसी भाव को 'शक्ति के पूर्णत्व' (फुलनेस ऑफ पावर) के नाम से व्यक्त किया है । तात्पर्य यह है कि प्रभुता का अर्थ सर्वोच्च सत्ता अथवा सत्ता का पूर्णत्व है ।

परिभाषा

सत्ता का पूर्णत्व, सर्वोच्च सत्ता अथवा प्रभुता क्या है ? प्रभुता की परिभाषा राजनीति शास्त्रियों ने भिन्न भिन्न प्रकार से की है । बोदाँ जो प्रभुता शब्द का पिता माना जाता है वह इसकी परिभाषा इस प्रकार करता है—'नागरिकों और प्रजाजन के ऊपर राज्य की जो सर्वोच्च शक्ति होती है, जिसे कानून द्वारा सीमित नहीं किया जा सकता

वही प्रभुता कहलाती है ।' ग्रोशियस के अनुसार, 'जिसकी इच्छा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता तथा जिसके कार्य और किसी के अधीन नहीं होते, उसी सर्वोच्च-सत्ता को प्रभुता कहते है ।' ड्युग्वी कहता है कि 'प्रभुता राज्य की आदेश देने वाली शक्ति है । राज्य में संगठित राष्ट्र की इच्छा ही प्रभुता है' जलिनेक का कथन है कि प्रभुता 'राज्य की वह विशेषता है जिसके कारण राज्य को उसकी निजी इच्छा के अलावा दूसरी किसी कानूनी सीमा में नही बाँधा जा सकता' ।

वास्तव में, प्रभुता राज्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । प्रभुता के भीतर दो प्रकार की सत्ता का समावेश होता है—(१) राज्य किसी भी बाह्य सत्ता का आदेश मानने के लिए बाध्य नहीं है । राज्य अपने आंतरिक मामलों में चाहे जो करने के लिए स्वतन्त्र है, इतना ही नहीं वह विदेशों के साथ मैत्री (दोस्ती), सन्धि और युद्ध करने में भी स्वतंत्र है, वह अपने निर्णय स्वयं करता है उसमें कोई बाह्य सत्ता हस्त-क्षेप नहीं कर सकती । (२) राज्य की विधियाँ उसके भीतर रहने वाले नागरिक व अनागरिक दोनों प्रकार के व्यक्तियों पर (कुछ दौतिक प्रतिनिधियों को छोड़कर) समान रूप से लागू होती हैं । वह आज्ञा न मानने वाले व्यक्तियों को राज्य दण्ड देकर आज्ञा पालन करने के लिए बाध्य कर सकता है ।

प्रभुता अर्थात स्वतन्त्रता—प्रभुता का पहला अंग राज्य की स्वतन्त्रता है। राज्य की स्वतंत्रता का अर्थ है संसार के राष्ट्रों में समानता । विश्व के सभी राज्य इस बात में समान रूप से स्वतन्त्र हैं कि वे अपने घरेलू प्रबन्ध, विकास और उन्नति की योजना किसी प्रकार भी बनावें और व्यवहार में लावें तथा अन्य देशों के साथ किसी प्रकार के सम्बन्ध रखें । इसे हम राज्यों की समानता भी कह सकते हैं । चाहे कोई राज्य कितना ही बड़ा हो वह छोटे से छोटे राज्य के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता । कोई भी राज्य यह सहन नहीं करेगा कि एक दूसरा राज्य उसके मामलों में बाधा डाले या उस पर आक्रमण करे । ऐसी परिस्थिति से अपनी रक्षा करने के लिए प्रत्येक राज्य अपने पास एक बड़ी सेना का प्रबन्ध रखता है ।

प्रभुता अर्थात् सर्वोच्चता—प्रभुता का दूसरा प्रमुख अंग है सर्वोच्चता । राज्य अपने क्षेत्र के भीतर अपने तमाम निवासियों के लिए विधियाँ (कानून) बनाता है तथा उन विधियों (कानूनों) को अपनी शक्ति के बल पर मनवाता भी है । राज्य अपनी इस सर्वोच्चता का प्रयोग अपनी व्यवस्था के द्वारा करता है । शासन व्यवस्था में विधान-मण्डल (लेजिस्लेचर) कानून बनाता है, कार्य पालिका (ऐक्जीक्यूटिव) उस कानून को लागू करती है तथा न्याय-पालिका (जुडीशियरी) कानून तोड़ने वाले व्यक्तियों को दण्ड देती है । राज्य अपनी आज्ञाओं का पालन न्यायालयों, पुलिस और जेल की व्यवस्था द्वारा करा सकता है। यह शक्ति राज्य के भीतर किसी और समुदाय के पास नही होती ।

इस प्रकार राज्य की स्वतन्त्रता और सर्वोच्चता को उसकी प्रभुता कहते हैं ।

प्रभुता के लक्षण

राज्य की प्रभुता के प्रधान लक्षणों का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं—(१) पूर्णता, (२) व्यापकता, (३) स्थायित्व, (४) अनन्यता, (५) एकता, तथा (६) अदेयता।

(१) **पूर्णता**—राज्य की प्रभुत्व शक्ति पूर्ण अथवा असीमित होती है। राज्य किसी भी समय कोई नया कानून बना सकता है अथवा किसी पुराने कानून को बदल सकता है। राज्य स्वयं किसी कानून के अधीन नहीं होता। भले ही शासन की शक्ति सीमित हो परन्तु राज्य की प्रभुता निस्सीम होती है। वह अपनी बनाई हुई विधियों से भी ऊपर होता है। राज्य के भीतर तथा राज्य के बाहर कोई दूसरी सत्ता उससे ऊँची नहीं हो सकती। अर्थात् अपने क्षेत्र में राज्य सर्वोच्च है और संसार में वह दूसरे राज्य के समान है। इस प्रकार राज्य की प्रभुता पूर्ण होती है उस पर कोई सीमाएँ नहीं लागू की जा सकतीं। वह असीमित है, राज्य की प्रभुता राज्य के प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु पर नियन्त्रण कर सकती है परन्तु उस पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता। यह कहा जा सकता है कि राज्य में जो सर्वोच्च सत्ता दूसरों पर नियत्रन्ण लगा सके परन्तु स्वयं अनियन्त्रित हो प्रभुता कहलाती है। यदि कानूनी दृष्टि से राज्य का प्रभुत्व अनियन्त्रित न हो तो उसकी आज्ञाओं का पालन कोई भी न करना चाहेगा। राज्य का मूल आधार यही है कि उसे अपने नागरिकों पर पूर्ण सत्ता होती है।

(२) **व्यापकता**—राज्य की प्रभुत्व शक्ति राज्य के भीतर मौजूद प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय पर लागू होती है। राज्य के कानूनों का सबको समान रूप से पालन करना होता है तथा राज्य केवल व्यक्तियों पर ही नहीं वस्तुओं पर भी नियन्त्रण रखता है। आवश्यकता पड़ने पर वह व्यक्तिगत सम्पत्ति भी ले सकता है। इस नियंत्रण से कुछ लोग मुक्त होते हैं जैसे विदेशी राजदूत, राजवंश के लोग, तथा देश की भूमि में से गुजरती हुई विदेशी सेनायें आदि। यह भी अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार के नाते ऐसा है। यदि युद्ध छिड़ जाये अथवा राज्य चाहे तो सबको राज्य की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

(३) **स्थायित्व**—राज्य की स्थिरता और उसका अस्तित्व प्रभुता के स्थायित्व पर निर्भर है। प्रभुता के भंग होने का अर्थ है राज्य का अन्त। इसी प्रकार राज्य के अन्त में प्रभुता का अन्त भी निहित है। सम्राट या राष्ट्रपति की मृत्यु से राज्य के स्थायित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता। राज्य या राष्ट्रपति शासन का अंग होता है उसकी मृत्यु पर दूसरा राजा या दूसरा राष्ट्रपति उस पद को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार प्रभुताधारी के परिवर्तन से प्रभुता के स्थायित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि वह राज्य का गुण है शासन का नहीं।

(४) **अनन्यता**—एक राज्य में कई प्रभ्ताएं नहीं हो सकतीं। अर्थात् एक

राज्य में केवल एक ही प्रभुत्व-सत्ता हो सकती है। वास्तव में सर्वोच्च सत्ता तो एक ही हो सकती है अनेक नहीं। कुछ लोगों का विचार है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में राष्ट्रपति, काँग्रेस और सर्वोच्च न्यायालय तीनों प्रभुताधारी हैं, परन्तु यह गलत है। ये तीनों शासन के प्रधान अंग हैं जो राज्य की शक्ति का विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग करते हैं। प्रभुता इन तीनों से परे राज्य में निहित है। इस प्रकार राज्य की सत्ता अनन्य होती है।

(५) **एकता**—अभी पीछे हम कह आए हैं कि एक राज्य में एक ही प्रभुता होती है। इसका एक दूसरा स्वरूप यह है कि प्रभुता अविभाज्य (इनडिविजिबिल) होती है। उसकी एकता के नष्ट होने पर वह स्वयं समाप्त हो जाती है। प्रभुता के टुकड़े नहीं किये जा सकते। कुछ लोगों का विचार है कि संघवाद (फैडरेलिज्म) के अन्तर्गत प्रभुता के टुकड़े हो जाते हैं और वह संघ तथा राज्यों के मध्य बँट जाती है। यह एक मिथ्या भ्रम है। संघ में प्रभुता के टुकड़े नही होते केवल शासन के कार्यों का विभाजन हो जाता है। कुछ कार्य संघ शासन करता है और कुछ राज्य-शासन करते है। वास्तव में प्रभुता पूर्ण होती है उसके टुकड़े करना असम्भव है। किसी ऐसे राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमें प्रभुता कई टुकड़ों में मिलती है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक प्रभुता-सम्पन्न टुकड़ा एक राज्य समझा जायेगा।

(६) **अदेयता**—राज्य अपनी प्रभुता किसी दूसरे को नहीं दे सकता। जब एक राज्य की प्रभुता दूसरे के हाथ में चली जाती है तो देने वाला पराधीन अथवा गुलाम हो जाता है उसे फिर तब तक एक राज्य नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह अपनी प्रभुता को वापिस न ले ले। प्रभुता देने का अर्थ है प्रभुता का अन्त करना अर्थात् राज्य का अन्त करना। जब एक राजा अपनी सत्ता छोड़कर चला जाता है और दूसरा उसकी जगह आ जाता है तो यह शासन का परिवर्तन माना जायगा राज्य का नहीं। अतः इसे हम प्रभुता का देना नहीं कह सकते। प्रभुता अदेय (इन एलायनेबिल) है। गार्नर का कथन है कि 'प्रभुता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है' यह उसकी सत्ता का जीवन-तत्व है इसको पृथक करना तो एक प्रकार से आत्महत्या जैसा है।

प्रभुता के विविध स्वरूप

प्रभुता की परिभाषा और उसके लक्षणों का वर्णन करने के पश्चात् हमें यह खोज करनी है कि प्रभुता राज्य के भीतर किस जगह, अथवा किस व्यक्ति या संस्था में निवास करती है। यह कार्य बहुत कठिन है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखने पर प्रभुता के अनेक रूप दिखाई पड़ने लगते है। कभी प्रभुता का निवास राज्य-कानूनों में दिखाई पड़ता है, कभी शासक में, कभी जनता में और कभी राष्ट्र में। यहाँ प्रभुता के इन विविध स्वरूपों का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

नाम मात्र की प्रभुता—आज हम जनतन्त्र के युग में रह रहे हैं। जनतन्त्रात्मक राज्यों में प्रभुता जनता के अन्दर निवास करती है। परन्तु जनता के भीतर

रहने वाली प्रभुता का हमें स्पष्ट दर्शन नहीं होता है अतः हम जनता के नाम पर एक व्यक्ति को प्रभुताधारी बना देते हैं और इसे राज्य का अध्यक्ष कहते हैं। राज्य के अध्यक्ष के नाते इस व्यक्ति के पास कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती फिर भी इस व्यक्ति को प्रभुताधारी कहा जाता है। आचार्य चाणक्य ने इसे ध्वज-मात्र प्रभुता कहा है। ब्रिटेन का राजा तथा फ्रांस और हिन्दुस्तान के राष्ट्रपति ऐसे ही नाममात्र के प्रभुताधारी है। इन लोगों की स्थिति ऐसी है जैसे कि किसी चिह्न की होती है; जैसे राज्य की प्रतिष्ठा का चिन्ह उसका झण्डा होता है, उसका एक राज्य-चिन्ह होता है, उसी प्रकार उसकी प्रभुता का प्रतीक नाम-मात्र का प्रभुताधारी होता है। नाम-मात्र की प्रभुता को यदि प्रतीक-प्रभुता (नॉमिनल सॉवरेनटी) कहा जाए तो अधिक उपयुक्त होगा।

वैधानिक प्रभुता—वैधानिक-प्रभुता उस प्रभुता को कहते है जो कानूनी दृष्टि से प्रभुता मानी जाए। कानूनी या वैधानिक दृष्टि का अर्थ यह है कि जो शक्ति विधियों का निर्माण करती है तथा राज्य के न्यायालय जिस शक्ति की बनाई हुई विधियों को लागू करें वह वैधानिक प्रभुता है। वैधानिक-प्रभुता का अर्थ है—सर्वोच्च विधि निर्मातृ सत्ता। यह प्रभुता किसी निश्चित व्यक्ति या सभा में निवास करती है। यह व्यक्ति या सभा वैधानिक प्रभुताधारी कहलाता है। इसको राज्य के सर्वोच्च आदेश, विधि या कानून के रूप में लागू करने का अधिकार होता है। वैधानिक प्रभुता को कानूनी दृष्टि में सबसे ऊँचा दर्जा प्राप्त है। इसके द्वारा दिये गये आदेशों का पालन करना राज्य के प्रत्येक नागरिक का वैधानिक कर्त्तव्य होता है। यदि कोई व्यक्ति उसके आदेशों का उल्लंघन करता है तो उस व्यक्ति को न्यायालय दण्डित कर सकते हैं। वैधानिक प्रभुता के आदेशों का पालन अनिवार्य (लाजमी) और उल्लंघन दण्डनीय होता है। इस दृष्टि से ब्रिटेन की वैधानिक-प्रभुता ब्रिटेन-संसद में और भारत की वैधानिक-प्रभुता भारतीय संविधान में निहित है। भारतीय-संसद को हम वैधानिक प्रभुताधारी नहीं कह सकते क्योंकि उसकी शक्ति पर संविधान ने अनेक बन्धन लगाये हैं।

डायसी ने लिखा है कि—"ब्रिटिश-संसद बालकों को वयस्क घोषित कर सकती है, मृत्यु के पश्चात् भी किसी व्यक्ति को राजद्रोही सिद्ध कर सकती है, अवैध सन्तान को वैध ठहरा सकती है और यदि वह चाहे तो किसी व्यक्ति को अपने मामले में स्वयं न्याय करने का अधिकार दे सकती है।" इससे हमें संसद की वैधानिक प्रभुता का बोध होता है। कानूनी प्रभुता राष्ट्र की इच्छा की प्रतीक होती है तथा राज्य के सब अधिकार इसी में से निकलते हैं। कोई भी व्यक्ति कानूनी प्रभुता के विरोध में ठहर नहीं सकता। वह सर्वोच्च होती है।

राजनीतिक प्रभुता—ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है कि राज्य के भीतर वैधानिक-प्रभुता ही एक-मात्र सक्रिय-प्रभुता (इफैक्टिव सॉवरेन्टी) होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वैधानिक-प्रभुता स्वयभू (अपने आप में से उत्पन्न) या मूल-प्रभुता है। वैधानिक प्रभता के पीछे एक अदृश्य इच्छा-शक्ति काम करती है, इसी का नाम

राजनीतिक प्रभुता है। यह राजनीतिक प्रभुता असंगठित और मौन होती है, परन्तु यह राज्य के भीतर एक ऐसी सत्ता है जिसकी उपेक्षा वैधानिक-प्रभुताधारी (लीगल सॉवरेन) विधियों का निर्माण करते समय नहीं कर सकता। वास्तव में राजनीतिक प्रभुता एक ऐसी प्रभुता है जो अपने सक्रिय स्वरूप में वैधानिक प्रभुता का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् वैधानिक प्रभुता उसके आदेशों की अवहेलना नहीं कर सकती। यह आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक प्रभुता निश्चित रूप से समूची जनता या उसके बहुमत की इच्छा ही हो। प्रायः ऐसा होता है कि राज्य के भीतर एक क्रियाशील अल्पसंख्यक व्यक्तियों का समूह राजनीतिक प्रभुता प्राप्त कर लेता है और वह वैधानिक प्रभुता पर आधिपत्य जमा लेता है। यद्यपि कानून राजनीतिक प्रभुता के अस्तित्व को कोई मान्यता नहीं देता तथापि वह राज्य में सर्वोच्च शक्ति होती है। यह संगठित हो जाने पर वैधानिक प्रभुता का स्वरूप ले लेती है ऐसा पण्डित गिलक्राइस्ट का मत है। राजनीति-विज्ञान के दूसरे प्रकाण्ड पण्डित गेटल का विचार है कि, 'वैधानिक प्रभुता की खोज करने से प्रभुता समाप्त हो जाती है'। इसका यही अर्थ है कि राजनीतिक प्रभुता ही वैधानिक-प्रभुता का रूप धारण करती है। जैसा पीछे कहा जा चुका है नाम-मात्र की प्रभुता और वैधानिक प्रभुता निश्चित व्यक्तियों के द्वारा प्रकट होती है। परन्तु राजनीतिक प्रभुता किन व्यक्तियों में रहती है—यह पता लगाना प्रायः असम्भव-सा है। विद्वान् लीकॉक का कहना है कि, 'जितनी ही अधिक खोज की जाती है राजनीतिक प्रभुता उतनी ही दूर दिखाई देती है।' ऐसे लोग जो राज्य के निर्णयों को प्रभावित करते हैं तथा जो सरकार के सदस्य न होने पर भी राज्य की नीतियों में अपनी बात लागू करा सकते है वे लोग राजनीतिक प्रभुताधारी कहलाते हैं उनका प्रभाव राज्य में अनेक प्रकार का होता है :—

(१) नैतिक प्रभाव (२) आर्थिक प्रभाव (३) राजनीतिक प्रभाव।

कुछ लोग अपनी नैतिकता के बल पर वैधानिक प्रभुता को अपनी इच्छा के अनुसार नियम बनाने के लिए बाध्य कर सकते हैं—महात्मा गाँधी और महर्षि विनोबा। दूसरे लोग धनवान पूँजीपति होते हैं। वे अपने पैसे के बल पर राज्य को अपनी इच्छा के अनुकूल निर्णय करने के लिए मजबूर कर सकते हैं। तीसरे कुछ लोग ऐसे होते हैं जो यदि वैधानिक प्रभुताधारी का समर्थन करना बन्द कर दें तो राज्य की सत्ता उसके हाथ से निकल सकती है, ये लोग अपनी इस राजनीतिक शक्ति का उपयोग अपनी इच्छा के अनुसार कानून बनवाने में कर सकते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि राजनीतिक प्रभुता मुख्य रूप से तीन प्रकार के लोगों में मिलती है—(१) जिनका राज्य में नैतिक प्रभाव हो (२) जिनके हाथ में पैसा हो तथा (३) जिनके पास राजनीतिक शक्ति हो अर्थात् जो जनता को अपने पीछे ले जाना जानते हों।

लोक प्रभुता—जनतंत्र के विकास के साथ प्रभुता की व्यापकता भी बढ़ी। जो प्रभुता राजतन्त्रात्मक राज्यों में राजा के भीतर निवास करती है वह अल्पतन्त्र या

कुलीनतन्त्र (अरिस्टोक्रेसी) में चन्द लोगों के हाथों में रहती है और वही प्रभुता जनतंत्र के भीतर सर्व-व्यापक हो जाती है। लोक प्रभुता किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियों में नहीं रहती वरन् वह राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक में निवास करती है। लोक प्रभुता या प्रभुता की व्यापकता की तुलना हम सर्वव्यापी आत्मा से कर सकते हैं। वास्तव में लोक प्रभुता का अधिष्ठान (आधार) आत्मा की प्रतिष्ठा में ही निहित है। लोक प्रभुता या पापुलर सॉवरेनटी का आधार व्यक्ति की गरिमा अर्थात् उसके व्यक्तित्व की महत्ता पर टिका हुआ है। लोक-प्रभुता का अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति पर शासन करने का अधिकार नहीं रखता है, वरन् प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है तथा उस पर कोई भी नियम उसकी अपनी इच्छा से ही लागू हो सकता है।

लोक प्रभुता अत्यन्त सूक्ष्म और पूर्णतः अदृश्य होती है। उसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को शासन में भाग लेना पड़ता है, वरन् उसका प्रधान भाव यह है कि उसमें व्यक्ति अपने महत्व को पहचाने और राज्य के भीतर एक सर्वहित-कारिणी-इच्छा शक्ति के उदय होने में सहयोग दे। लोक प्रभुता की अभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन) महापंडित रूसो के अनुसार जनता के 'लोक संकल्प' या 'समष्टि संकल्प' (जनरल-विल) में होती है।

लोक प्रभुता का अर्थ मताधिकार (वोट देने का हक) नहीं है। उसका अर्थ तो यह है कि राज्य के भीतर समूची सत्ता लोक हित की साधना में लगे। लोक प्रभुता में यह विचार निहित है कि राज्य की सत्ता लोक अर्थात् राज्य के भीतर जन-साधारण की सम्मिलित सत्ता है। अतः उसका उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह स्वयं लोगों द्वारा लोक सेवा में प्रयोग की जाये। मताधिकार तो लोक-प्रभुता का अंश-दर्शन (पार्शल व्यू) है। उसमें लोक प्रभुता व्यक्त यानी जाहिर नहीं होती। आज के परोक्ष जनतन्त्रात्मक (इनडायरेक्ट-डेमॉक्रेसी वाले) राज्यों में लोक प्रभुता का सच्चा दर्शन होता ही नहीं। उसका सम्पूर्ण दर्शन तो तभी सम्भव है जब केन्द्रित शासन व्यवस्था (सेन्ट्रेलाइज्ड गवर्नमेन्ट) को मिटाकर ग्राम-राज्य (विलेज रिपब्लिक्स) की स्थापना की जाए।

तथ्यतः और विधानतः प्रभुता

राज्य के संविधान की दृष्टि से जिस व्यक्ति में राज्य की प्रभुता निहित होती है वह विधानतः प्रभुता-धारी (डि जूरे सॉवरेन) कहलाता है परन्तु कभी कोई दूसरा व्यक्ति राज्य की शक्ति हड़प कर प्रभुता अपने हाथों में ले लेता है तब उसे तथ्यतः प्रभुताधारी (डि फैक्टो सावरेन) तथा उसकी प्रभुता को तथ्यतः प्रभुता कहा जाता है।

वास्तव में विधानतः प्रभुता और तथ्यतः प्रभुता बहुत समय तक भिन्न-भिन्न हाथों में नहीं रह सकती। यदि विधानतः प्रभुता बहुत लम्बे समय तक तथ्यतः प्रभुता पर अधिकार नहीं कर पाती तो तथ्यतः प्रभुता विधानतः प्रभुता मान ली जाती है। कुछ समय पश्चात् ये दोनों प्रतभुायें एक हो जाती हैं।

चीन में मार्शल च्यांगकाई शेक की सरकार विधानत: प्रभुता-धारी थी परन्तु कम्यूनिस्टों ने उसे खदेड़ कर चीन में अपनी सरकार बना ली। कम्यूनिस्टों की सरकार को हम तथ्यत: प्रभुताधारी कहेंगे। वास्तव में सत्ता जिसके हाथ में हो वह तथ्यत: प्रभुताधारी कहलाता है। थोड़े दिनों बाद ब्रिटेन, भारत, रूस आदि बड़े देशों ने चीन की कम्यूनिस्ट सरकार को वहाँ की विधानत: प्रभुताधारी सरकार मान लिया। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका और संयुक्त राष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) ने अभी तक चीन की कम्यूनिस्ट सरकार को विधानत: प्रभुताधारी नहीं माना है। अत: अभी तक वहाँ मार्शल च्यांगकाई शेक की सरकार के प्रतिनिधि ही हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ और अमेरिका अभी तक च्यांग सरकार को ही विधानत: प्रभुताधारी मानते हैं हालाँकि उसके हाथ में चीन देश के राज्य की कोई सत्ता नहीं है, वह सत्ता कम्यूनिस्ट सरकार के हाथ में है। इस उदाहरण से पाठकों को विधानत: और तथ्यत: प्रभुता का अन्तर समझने में सुविधा होगी।

ऑस्टिन की दृष्टि में प्रभुता

उन्नीसवीं शताब्दी के एक महान् विचारक जान आस्टिन ने वैधानिक प्रभुता की बड़ी सुन्दर परिभाषा की है। उनका कहना है कि 'यदि कोई निश्चित उच्च सत्ताधारी मनुष्य जोकि स्वयं अपने से ऊँची सत्ता वाले किसी दूसरे मनुष्य से आदेश प्राप्त नहीं करता है और जो स्वयं किसी मनुष्य समाज के एक बड़े अंश से अपनी आज्ञाओं का पालन कराने की स्थिति में हो, तो वह उच्च सत्ताधारी मनुष्य उस समाज में प्रभुता-सम्पन्न होता है और वह समाज (उस उच्च-सत्ताधारी मनुष्य सहित) एक राजनीतिक व स्वतन्त्र समाज होता हैं।

ऑस्टिन ने प्रभुता का जो वर्णन किया है उसके अनुसार—(१) प्रत्येक राज्य के भीतर प्रभुता का होना अनिवार्य है, (२) प्रभुता किसी 'निश्चित' मनुष्य या सभा में निवास करती है, (३) प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति अथवा सभा जो आदेश दे वही राज्य का कानून (विधि) है, (४) प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति अथवा सभा अपने आदेशों अर्थात् कानूनों का पालन जनता के अधिकांश भाग से 'कराती' है तथा (५) राज्य की यह प्रभुत्व शक्ति और किसी की आज्ञाओं का पालन नहीं करती।

यह प्रभुता की वैधानिक परिभाषा है कानून की दृष्टि से राज्य पूर्ण, असीम और अनियन्त्रित सत्ता का स्वामी होता है। यही सत्ता उसकी प्रभुता है।

आलोचना—ऑस्टिन के इस सिद्धान्त की आलोचना कई दृष्टियों से की जाती है। (१) जनतन्त्र के युग में प्रभुता का निवास किसी एक या कुछ व्यक्तियों में नही बल्कि समूचे समाज में होता है। ऑस्टिन का यह कहना कि राज्य में एक व्यक्ति (या सभा) प्रभुत्व-सम्पन्न होता है, गलत है। (२) प्रभुता का 'निश्चित' होना असम्भव है वह सारे समाज में इस प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार शरीर में प्राण। शरीर में प्राण कहाँ हैं और कहाँ नहीं है? प्रभुता राज्य का एक व्यापक तत्व है।

ऑस्टिन ने वैधानिक दृष्टि से जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है लोक प्रभुता की दृष्टि से वह गलत ठहरता है। (३) ऑस्टिन के विचार से शासन की आज्ञा ही कानून है। वास्तव में शासन की आज्ञा विधियों को बनाने वाली अनेक शक्तियों में से एक है, परन्तु आस्टिन ने उसे ही सब कुछ मान लिया है। (४) ऑस्टिन के अनुसार प्रभुता-धारी व्यक्ति जनता से कानूनों का पालन 'कराता' है। 'कराता' शब्द में शक्ति की गन्ध है अर्थात् राजा अपनी शक्ति के बल पर कानून 'मनवाता' है यह गलत है, जनता का अधिकाँश भाग हमेशा स्वभाववश राज्य के आदेशों का पालन करता है। हाँ, सम्भव है कि राज्य कुछ व्यक्तियों को आज्ञा पालन के लिए बाध्य करे, परन्तु मनुष्य समाज भेड़ों का झुण्ड नहीं है जिसे डण्डे के बल पर चलाया जा सके। मनुष्य स्वभाव से ही आज्ञापरायण और अनुशासन-प्रिय होता है, साथ ही उसकी अपनी इच्छा भी राज्य के कानूनों में प्रकट होती है अतः उनका पालन वह स्वेच्छापूर्वक करता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि ऑस्टिन का विचार पूर्णतः असत्य था। वैधानिक दृष्टि से ऑस्टिन का मत ठीक समझा जायेगा, परन्तु लोक प्रभुता की दृष्टि से यह कभी भी मान्य नहीं हो सकता।

बहुवाद (प्लुरलिज्म)

राज्य-प्रभुता के प्रसंग में बहुवादी सिद्धान्त का उल्लेख भी आवश्यक है। बहुवाद राज्य की असीम प्रभुता के सिद्धान्त का खण्डन करता है। इसके प्रबल समर्थक हेराल्ड जे० लास्की का कथन है कि, 'राज्य की प्रभुता की कल्पना का त्याग देना राज्य विज्ञान के लिए स्थायी रूप से उपयोगी होगा।' प्रो० लिन्डसे ने यहाँ तक कहा है कि 'प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सिद्धान्त का खण्डन हो चुका है'।

बहुवादियों का यह कहना है कि राज्य हमारे जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नही कर सकता। हमें दैनिक जीवन में अनेकों संघों, समूहों और समुदायों की सदस्यता स्वीकार करनी पड़ती है। ये समुदाय किसी प्रकार भी राज्य से कम महत्वपूर्ण नही है। राज्य अन्य समुदायों के समान ही एक समुदाय है। उसकी व अन्य समुदायों की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है। अतः राज्य को सम्पूर्ण-प्रभुता देना सामाजिक हित की दृष्टि से अन्यायपूर्ण है।

जहाँ तक बहुवाद सामाजिक जीवन में समुदायों की उपयोगिता और उनके महत्व का यश गाता है, वह ठीक है। समुदायों को अपने आन्तरिक मामलों में काफी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। परन्तु बहुवादी लेखक भी इस प्रश्न पर भटक जाते हैं कि विविध समुदायों के मध्य सामंजस्य कौन कायम रखेगा ? उनके पारस्परिक झगड़ों को कौन निपटायेगा तथा व्यक्ति के अधिकारों को समुदायों की निरंकुशता से कौन बचायेगा ? बहुवादी लेखक भी मानते हैं कि राज्य ये सब कार्य करेगा।

तब फिर ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से राज्य के हाथों में सर्वोच्च सत्ता

आ जाती है। उसे यह अधिकार मिल जाता है कि वह अन्य समुदायों पर नियन्त्रण रखे, उनके झगड़ों का न्याय करे और अपने निर्णय का पालन शक्ति के बल पर करावे। वास्तव में बहुवादी लेखक यह भूल जाते हैं कि एक समुदाय व्यक्ति के केवल एक हित की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है परन्तु राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास है। इसी कारण राज्य निश्चय ही सर्वोपरि अथवा प्रभुत्व-सम्पन्न होता है। उसे अधिकार है कि वह अपने समस्त नागरिकों और उनके समुदायों का नियमन व नियन्त्रण करे। इस प्रकार बहुवादी सिद्धांत की इस धारणा को स्वीकार करना असम्भव है कि राज्य की प्रभुता में अन्य समुदायों को भी साझीदार बनाया जाये। वास्तव में राज्य की प्रभुता अनन्य, अखण्ड, पूर्ण तथा अविभाज्य होती है।

(२) विधि (कानून)

संसार का प्रत्येक कार्य कुछ नियमों के अनुसार चलता है। प्रकृति में हमें सैंकड़ों प्रकार के नियम मिलते हैं, उदाहरण के लिए पानी सदा नीचे की ओर बहता है यह एक नियम है, इसी प्रकार का एक दूसरा नियम यह है कि धरती प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करती है। मनुष्य के आचरण के भी कुछ नियम होते हैं। इन नियमों को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) नैतिकता के नियम—इनका सम्बन्ध मनुष्य के आंतरिक विचारों और उसके प्रयोजन (मोटिव) से होता है, (२) बाह्य-व्यवहार के नियम—ये नियम मनुष्य के बाहरी कार्यों का मार्ग दर्शन करते हैं। मनुष्य के बाह्य व्यवहार के नियमों को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) बाह्य व्यवहार के वे नियम जिनका पालन मनुष्य अपने समाज की परम्परा, कुल-प्रथा अथवा लोक लज्जा के भय से करता है। ऐसे नियमों को सामाजिक-प्रथा (रीति-रिवाज) के नाम से पुकारा जाता है, तथा (ब) बाह्य आचरण के वे नियम जिनका पालन राज्य की सीमा के भीतर रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को राज्य-दण्ड के अधीन करना पड़ता है। इन नियमों को शास्त्रीय भाषा में विधि अथवा कानून कहते हैं। यहाँ हम बाह्य-आचरण के उन नियमों का ही अध्ययन करेंगे जो राज्य द्वारा स्वीकृत होते हैं तथा जिन्हें विधि के नाम से पुकारा जाता है।

परिभाषा—विधि (कानून) किसी भी राज्य के व्यवस्थित शासन का प्रमुख अंग हैं। विधि के बारे में इतना समझ लेना आवश्यक है कि विधि मनुष्य के बाहरी आचरण का वह नियम है, (१) जो राज्य द्वारा लागू किया जाता है, (२) जिसका पालन जनता का अधिकांश भाग करता है और (३) जिसका उल्लंघन करने पर राज्य की ओर से दण्ड मिलता है।

आचार्य विलोबी ने कहा है कि, 'आचरण के वे नियम विधि के अन्तर्गत आते हैं जिनके अनुसार न्यायालय न्याय करते हैं तथा जो समाज के अन्य प्रचलित नियमों से भिन्न होते हैं, व जिनका पालन अन्ततः राज्य की पूर्ण-सत्ता के दबाव द्वारा होता है।' इस प्रकार विधि के स्वरूप का वर्णन हम यों कर सकते हैं—

'विधियां राज्य द्वारा स्वीकृत नियमों का समूह है। इन नियमों का पालन जनता करती है। तथा जब जनता इन्हें स्वेच्छा से नहीं मानती तो राज्य इन नियमों को शक्ति के बल पर लागू करता और मनवाता है।'

हम राज्य के उन नियमों को विधि कह सकते हैं जिनका पालन करना राज्य के प्रत्येक सदस्य के लिये आवश्यक होता है। विधि राज्य की प्रभुता-शक्ति का आदेश है। राज्य अपनी प्रभुता को अपनी विधियों द्वारा प्रकट करता और प्रयोग में लाता है। कोई भी नैतिक या सामाजिक नियम तब तक विधि नहीं कहला सकता जब तक कि राज्य उसे अपनी स्वीकृति न प्रदान कर दे। राज्य जब किसी नियम को स्वीकार कर लेता है तो वह अपने सदस्यों को अपनी प्रभुत्व शक्ति द्वारा उसके पालन के लिए बाध्य कर सकता है। विधियों का पालन न करने पर दण्ड मिलता है यही इन नियमों की विशेषता है। राज्य जिन नियमों को नहीं मानता उनका पालन कराने का वह ध्यान नहीं रखता तथा उनका उल्लंघन करने पर वह किसी प्रकार का दण्ड भी नहीं देता। राज्य की विधियों के पीछे राज्य की सर्वोच्च सत्ता का बल होता है, इसी कारण अन्य नियमों की अपेक्षा विधियाँ अधिक उच्च होती हैं।

विधि की प्रकृति—विधि की परिभाषा में हमने उसे बाह्य-आचरण का नियम कहा है। अब प्रश्न उठता है कि इस नियम (विधि) की प्रकृति क्या है? इसके विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। प्रसिद्ध विधान-शास्त्री ऑस्टिन का मत है कि "प्रभुता-धारी की आज्ञा ही विधि है।" इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी नियम तब तक विधि नहीं बन सकता जब तक कि वह प्रभुताधारी व्यक्ति अथवा सभा का आदेश न हो। विधि प्रभुताधारी की इच्छा है और इसके पीछे प्रभुताधारी की सत्ता होती है। परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। प्रभुताधारी स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता उसे यह स्वतन्त्रता नहीं होती कि वह जो चाहे सो आदेश जारी कर दे, उसे अनेक मर्यादाओं का पालन करना होता है। अतः विधि को प्रभुता-धारी का आदेश नहीं मानना चाहिये। सर हेनरी मेन का विचार है कि शासक अथवा प्रभुताधारी की इच्छा मात्र से किसी विधि का निर्माण नहीं हो सकता, वास्तव में प्रथाएं और परम्पराएँ विधियों का निर्माण करती हैं। इस विषय में वुडरो विल्सन ने कहा है कि' 'परम्परागत विचार और अभ्यास के उस भाग को विधि कहते हैं जिसे कि राज्य की स्पष्ट और निश्चित स्वीकृति प्राप्त हो जाय तथा जिसकी पीठ पर शासन-सत्ता का बल हो।' इस प्रकार विधि की प्रकृति का दूसरा सिद्धान्त यह है कि समाज के प्रतिष्ठित रीति-रिवाजों से ही विधियों का निर्माण होता है।

कुछ लोगों (रूसो, कॉन्ट, ग्रीन, बोजङ्क) का विचार है कि विधि जनता का सत्य-संकल्प प्रकट करती है। यह विधि की एक जनतन्त्रात्मक कल्पना है। इसके अनुसार जनता की सत्य इच्छा अथवा सामान्य इच्छा ही विधियों का निर्माण करती है। इसके अतिरिक्त ड्युग्वी और क्रेब जैसे लेखकों का मत है कि विधियाँ सामाजिक जीवन का परिणाम होती हैं अर्थात् विधि की प्रकृति मूल रूप से सामाजिक है।

इस मत के अनुसार जनता विधियों का पालन राज सत्ता के भय से नहीं वरन् सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से करती है जिससे कि सामाजिक जीवन कायम रह सके।

लॉस्की और पाउण्ड जैसे अन्य लेखक विधि को नैतिक मानते हैं। उनके विचार से विधि मनुष्य की नैतिक-प्रकृति की उपज है तथा वह मनुष्य को नैतिकता प्राप्त करने में सहायता व बल देती है।

विधि की प्रकृति बहुत विचित्र प्रकार की है। विधि प्रभुताधारी की आज्ञा भी है और सामाजिक प्रथाओं और परम्पराओं की उपज भी। इतना ही नहीं वह मनुष्य की सत्य इच्छा को प्रकट करती है, वह सामाजिक जीवन के लिये उपयोगी भी है। विधियों की नैतिक-प्रकृति में भी कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। विधि का उद्देश्य ही समाज के भीतर एक नैतिकतापूर्ण वातावरण का निर्माण है। अतः विधियाँ नैतिक भी होती हैं।

विधि के स्रोत

विधि के विषय में अधिक विस्तार-पूर्वक चर्चा करने के पूर्व यह आवश्यक है कि उसके स्रोतों का एक संक्षिप्त अध्ययन किया जाये। बिधि का निर्माण किस प्रकार होता है ? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न के उत्तर में हमें उन अनेक प्रभावों का उल्लेख करना होगा जो विधि के निर्माण में हाथ बँटाते हैं।

विधानशास्त्रियों ने विधि के छः प्रधान स्रोतों का उल्लेख किया है—(१) प्रथा और परम्परा (कस्टम या यूसेज), (२) धर्म, (३) न्यायिक निर्णय और व्याख्या (जुडीशियल डिसीजन और इन्टरप्रीटेशन), (४) शास्त्रीय-चर्चा (५) न्याय्यता (ईक्विटी) तथा (६) विधायिका (लेजिस्लेचर)।

(१) **प्रथा और परम्परा**—प्राचीनकाल में आधुनिक समय की भाँति विधियों का निर्माण नहीं होता था। समाज के भीतर आपसी व्यवहार के कुछ रिवाज पड़ जाते थे, ये ही रीति-रिवाज धीरे-धीरे विधि का रूप ले लेते थे। इस प्रकार विधियों का अपने आप ही विकास होता था, उन्हें जान बूझकर बनाया नहीं जाता था। आज भी हम देखते हैं कि अनेक रीति-रिवाज समाज के भीतर प्रचलित हैं और लिखित न होने पर भी राज्य उन्हें मानता है। बहुत सी प्रथाओं और परम्पराओं को जिन्हें राज्य बहुत आवश्यक समझता है विधि के रूप में स्वीकार कर लेता है तथा उन्हें अपनी सर्वोच्च-सत्ता द्वारा साधारण-विधियों की ही भाँति लागू करता है। आधुनिक समय में भी अनेक प्रथाएँ और परम्परायें न्यायालयों द्वारा विधियों के समान ही मानी जाती हैं। इस प्रकार की विधियों को प्रथागत विधियाँ (कस्टमरी लॉज) कहते हैं।

(२) **धर्म**—प्रथागत विधियों का धर्म के साथ गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन समय में राज्य की विधियों को ईश्वरीय नियम माना जाता था तथा यह विश्वास प्रचलित था कि उनका उल्लंघन करने का अर्थ है कि ईश्वर की आज्ञाओं का न मानना। उस युग में जीवन के भीतर अत्यन्त गहरी धार्मिकता पाई जाती थी तथा

विधि को ईश्वरीय-इच्छा समझा जाता था। प्राचीन हिन्दू-विधि हमें धर्म-ग्रन्थों जैसे मनुस्मृति आदि के भीतर ही मिलती हैं। इसी प्रकार मुसलमानों के कानून का आधार हदीस है। रोम के कानून भी धार्मिक नियमों का संग्रह मात्र थे। धर्म के नियम (विशेषकर सदाचार के नियम) विधि का रूप धारण कर लेते है जैसे—"चोरी नहीं करनी चाहिए" यह एक धार्मिक सूत्र है, न्यायालय इसे विधि के समान ही मानते हैं और उसका उल्लंघन करने पर दण्ड देते हैं। धर्म ने विधि निर्माण में बहुत बड़ा योग दिया है।

(३) **न्यायिक निर्णय और व्याख्या**—जिन मामलों में राज्य की कोई विधि स्पष्ट नहीं होती अथवा किसी प्रथा के ऊपर झगड़ा होता है तो उस विधि अथवा प्रथा की व्याख्या न्यायाधीश करते हैं। यह व्याख्या (जुडीशियल-इन्टरप्रिटेशन) विधि के समान ही मान्य होती है तथा भविष्य में अन्य न्यायाधीश उसके अनुसार निर्णय करते हैं। इसी प्रकार जब किसी महत्वपूर्ण मुकदमे में कोई वैधानिक अड़चन होती है तो न्यायाधीश अपनी बुद्धि के अनुसार निर्णय दे सकते हैं। ऐसे निर्णय भविष्य में उदाहरण (नजीर—केस लॉ) बन जाते हैं।

(४) **शास्त्रीय चर्चा**—न्यायाधीशों की भाँति प्रसिद्ध विधान-शास्त्रियों (जूरिस्ट्स) की टिप्पणियाँ (कामेन्ट्रीज) भी धीरे-धीरे विधि बन जाती हैं ये टिप्पणियाँ निर्णय के रूप में नहीं होतीं बल्कि इनमे विधान-शास्त्री वैधानिक दृष्टि से तर्क पेश करते हैं। बहुत से ऐसे तर्क न्याय-संगत होने के कारण न्यायालयों द्वारा मान लिये जाते हैं। शास्त्रीय-चर्चा अथवा वैधानिक-विवेचन ने विधान के क्षेत्र को काफी विस्तृत बनाया है।

(५) **न्याय्यता**—न्याय्यता (ईक्विटी) का अर्थ समानता अथवा न्याय है। जिन मामलों में राज्य की वर्तमान विधियाँ लागू नहीं होती उनमें न्यायधीश अपनी न्याय भावना अथवा समझ के आधार पर निर्णय दे देते हैं इसे न्याय्यता कहते हैं। न्याय्यता विधि का एक प्रधान स्रोत है। इसके द्वारा नई विधियों का जन्म होता है। जब पुरानी विधियाँ नई परिस्थितियों में ठीक प्रकार से लागू नहीं होतीं तो न्याय्यता उसमें संशोधन और सुधार भी कर देती है। न्याय्यता नैतिकता और न्याय भावना पर आधारित है। न्याय्यता के आधार पर बनी हुई विधियाँ भी न्यायिक निर्णय और व्याख्या की भांति न्यायाधीशों द्वारा ही बनाई जाती है।

(६) **विधायिका**—आधुनिक युग में विधियों का निर्माण मुख्य रूप से राज्य की विधायिका (विधान मण्डल) करती है। राजतन्त्रात्मक राज्यों में विधियों का निर्माण राजा करता है तथा जनतन्त्रात्मक देशों में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा अर्थात् विधायिका (लेजिस्लेचर) को अधिकार होता है कि वह पुरानी विधियों को बदल सके तथा नई विधियों की रचना कर सके। विधायिका जिन विधियों का निर्माण करती है उन्हें हम गिलक्राइस्ट के अनुसार राज्य की घोषित-इच्छा कह सकते है। आज के युग में विधि-निर्माण के अन्य सब साधन समाप्त होते जा रहे है तथा विधियाँ बनाने और उनको लागू करने की सारी शक्ति जनता के चुने

हुए प्रतिनिधियों (विधायिका) के हाथों में आती जा रही है। अन्य सब साधन सीधे रूप में विधियों का निर्माण नहीं करते वरन् वे विधायिका के विचारों पर प्रभाव मात्र डालते है। इस प्रकार, आधुनिक युग में विधिनिर्माण का कार्य प्रधान रूप से विधायिका के हाथों में आ गया है तथा धर्म, प्रथा, न्याय्यता आदि उसको केवल प्रभावित कर सकते हैं।

विधि का उद्देश्य

विधि मनुष्य के सामाजिक जीवन की उपज है। मनुष्यों को समाज में मिलकर रहने के कारण कुछ नियम बनाने और उन पर पालन करने कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को मनमाने ढंग से काम करने की अबाध स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, उसके व्यवहार पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाने होते है जिससे कि वह दूसरों के विकास में बाधक न बन सके।

शान्ति व सुव्यवस्था—विधि का सर्वप्रथम उद्देश्य समाज के भीतर शांति व सुव्यवस्था की स्थापना करना है। विधि में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, अधिकार और कर्त्तव्य की व्याख्या की जाती है तथा उसका क्षेत्र निश्चित होता है। इस क्षेत्र का उल्लंघन करने पर व्यक्ति राज्य की ओर से दण्ड का भागी होता है—प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपनी रोटी खा सकता है परन्तु दूसरे की थाली में हाथ डालने से विधि उसको रोकती है। यदि इस प्रकार व्यक्ति को मनमानी करने से न रोका जाय तो समाज में शान्ति व व्यवस्था नहीं रह सकती। इस प्रकार विधि समाज के भीतर मनुष्य की मानवता के सिद्धान्त को स्वीकार करके शांति और व्यवस्था की स्थापना करती है।

नैतिक विकास—राज्य की प्रकृति के विषय में हम कह चुके हैं कि राज्य एक नैतिक समुदाय है और उसका उद्देश्य अपने सदस्यों के नैतिक विकास में मदद देना है। राज्य अपनी विधियों द्वारा अपने नैतिक उद्देश्य (मारल पर्पज) की प्राप्ति करता है। विधि का उद्देश्य, समाज मे सभी व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिये आवश्यक परिस्थितियों का समान रूप से निर्माण करना है। विधि मनुष्यों को समान रूप से यह अवसर देती है कि वे अपना नैतिक विकास कर सकें।

बाधाओं का हरण—विधि का तीसरा कार्य मनुष्य के विकास की बाधाओं को दूर करना है। ग्रीन के अनुसार राज्य का उद्देश्य नैतिक जीवन की बाधाएँ मिटाना है, अतः विधि का प्रयोजन भी यही है।

आवश्यकता की पूर्ति—रॉस्को पाउन्ड का कथन है कि विधिका चौथा उद्देश्य व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति करना है।

विधि मनुष्य के विकास की बाधाओं को केवल दूर ही नहीं करती वरन् वह उसके नैतिक विकास में सक्रिय सहयोग भी देती है। विधि की श्रेष्ठता इस बात में निहित है कि वह राज्य के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार और अवसर प्रदान

करें। विधि की दृष्टि में समस्त नागरिक एक समान होने चाहियें इसे विधि शासन कहते हैं।

आदर्श विधि

जो विधियाँ अपने नैतिक उद्देश्य की पूर्ति करती हैं उन्हें भली और जो उनकी पूर्ति नहीं करतीं उन्हें बुरी विधि कहा जाता है। भली विधि के भीतर निम्नलिखित गुण होने आवश्यक हैं—(१) विधि राज्य के समस्त सदस्यों पर समान रूप से लागू हो तथा सबको समान अधिकार व सुविधायें प्रदान करे। (२) निश्चित स्पष्ट और सरल हो जिससे की उसकी व्याख्या अर्थात् अर्थ निकालने में सर्व-साधारण को कोई कठिनाई न हो, (३) वह स्थायी हो, शीघ्र बदलने वाली विधियों का पालन करने में जनता को कठिनाई होती है। परन्तु विधि इतनी कठोर भी न हो कि परिस्थितियों के अनुसार उसमें कोई परिवर्तन ही न हो सके। यदि कोई विधि बहुत दुष्परिवर्तनीय (रिजिड) होती है तो उसे बदलने के लिए राज्य-क्रांतियाँ तक हो जाती हैं। अतः विधि न अत्यधिक सुपरिवर्तनीय (फलैक्सिबिल) हो न अत्यधिक दुष्परिवर्तनीय ही। (४) पालन करने में सरल होनी चाहिए। यदि कोई विधि नागरिकों के आचरण पर बहुत कड़े प्रतिबन्ध लगा दे तो लोग उसका पालन नहीं कर पायंगे तथा वे समय समय पर विधि का उल्लंघन करेंगे इससे विधि की प्रतिष्ठा तो घटती ही है समाज में अव्यवस्था भी पैदा होती है। (५) वह नागरिकों के अधिकतम हित की पूर्ति का प्रयत्न करे। (६) विधि का एक महत्वपूर्ण गुण यह भी है कि उसका निर्माण जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों ने जनता के सत्य संकल्प अथवा सामान्य इच्छा के आधार पर किया हो। निरंकुश शासन द्वारा बनाई गई विधियों को इस जनतन्त्रात्मक युग में आदर्श विधि नहीं माना जा सकता। जनतन्त्र का मूल आधार यही है कि विधि का निर्माण जनता द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार किया जाय।

जिस विधि के भीतर उपरोक्त गुण पाये जाते हैं उन्हें श्रेष्ठ कहा जा सकता है। इन गुणों से रहित होने पर विधि को निकृष्ट माना जाना चाहिए।

विधि के भेद

विधियों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। सबसे पहले हम विधियों को न्याय की दृष्टि से विभाजित करेंगे—व्यवहार विधि तथा दण्ड विधि। (१) व्यवहार विधि (सिविल लॉ) के अन्तर्गत राज्य के वे नियम आते हैं जिनका सम्बन्ध व्यवहार सम्बंधी (सिविल) मामलों से होता है जैसे—धन के लेन देन, ऋण और ब्याज आदि से सम्बंधित विधियाँ। इन्हें दीवानी कानून भी कहते हैं। (२) दण्ड विधि (क्रिमिनल लॉ) में उन विधियों का समवेश होता है जिनका सम्बन्ध फौजदारी के मामलों से होता है, जैसे--चोरी, डकैती, मारपीट, हत्या आदि से सम्बन्धित विधियाँ होती है।

विधियों का दूसरा विभाजन इस प्रकार हो सकता है—व्यक्तिगत और सार्वज-

निक विधियाँ। (१) व्यक्तिगत विधि (प्राइवेट लॉ) व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करती है जैसे सम्पत्ति, लेन देन और उत्तराधिकार (विरासत) आदि से सम्बन्धित विधियां। (२) सार्वजनिक विधि (पब्लिक लॉ) का सम्बन्ध सार्वजनिक जीवन से होता है। यह व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्ध निश्चित करती हैं। इस के भीतर राज्यद्रोह, सार्वजनिक सुरक्षा, शान्ति तथा व्यवस्था आदि से सम्बन्धित विधियाँ होती हैं।

विधियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार भी किया जा सकता है—संविधि (कान्स्टीट्यूशनल लॉ), अधिनियम (स्टैच्यूट) अध्यादेश (आर्डिनेन्स), न्यायिक निर्णय, प्रथागत विधि, प्रशासकीय विधि (एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ), तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि (इन्टरनेशनल लॉ)।

(१) **संविधि**—प्रत्येक राज्य के शासन-संगठन के कुछ निश्चित नियम होते है जिनके अनुसार उस राज्य के शासन की रचना की जाती है तथा जो शासन की कार्य-विधि को निर्धारित करते है। इस प्रकार के नियमों को संविधि अथवा सांविधानिक-विधि के नाम से पुकारा जाता है। भारतीय संविधान की प्रत्येक धारा को हम संविधान कह सकते हैं। संविधि के निर्माण और संशोधन का अधिकार कुछ देशों में संसद (पार्लियामेंट) को होता है और कुछ में नहीं।

(२) **अधिनियम**—राज्य की विधायिका (विधान मण्डल) संविधान के अनुसार जिन विधियों को पारित करती है उन्हें अधिनियम (ऐक्ट) कहा जाता है। विधायिका को पूरा अधिकार होता है कि वह अपने बनाये हुए अधिनियमों में कोई संशोधन, परिवर्तन या परिवर्द्धन (रिवीजन) कर सके। वह अपने किसी अधिनियम को रद्द करके नया अधिनियम भी पारित कर सकती है।

(३) **अध्यादेश**—राज्य की कार्य-पालिका आवश्यकता पड़ने पर अपनी इच्छा से कुछ नियम जारी कर सकती है इन्हें अध्यादेश कहा जाता है। ये जब अध्यादेश जारी किये जाते है तब इन्हें विधि के समान ही शक्ति प्राप्त होती है परन्तु ये थोड़े ही काल के लिये जारी हो सकते हैं। निश्चित अवधि के पश्चात् उन्हें संसद के सामने रखा जाता है। वह उन्हें अस्वीकार कर दे तो तुरन्त कार्य-पालिका अधिकारी उन्हें वापिस ले लेता है।

(४) **न्यायिक निर्णय**—न्यायाधीश अपनी न्याय भावना और समझ के अनुसार जो स्वतन्त्र निर्णय देते है न्यायालयों में वे भी विधियों के समान ही माने जाते हैं। इनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

(५) **प्रथागत विधि**—समाज के भीतर कुछ प्रथायें और परम्परायें कानून द्वारा मान्य होती है तथा न्यायालय उनका आदर करते हैं। इन्हें प्रथागत-विधि कहा जाता है इनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

(६) **प्रशासकीय विधि**—फ्रांस आदि देशों में प्रशासकीय कर्मचारियों के लिए विशेष प्रकार की विधियाँ होती है। इन्हें प्रशासकीय विधि कहा जाता है। इन विधियों

के लिए न्यायालय भी अलग होते हैं जिन्हें प्रशासकीय-न्यायालय (एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्ट्स) कहते हैं। जब कोई सरकारी कर्मचारी अपने पद से सम्बन्धित किसी कर्त्तव्य का पालन करते समय कोई अपराध करता है तो उसका मामला प्रशासकीय न्यायालय में प्रशासकीय विधि द्वारा तय होता है, साधारण न्यायालय में नहीं।

(७) **अन्तर्राष्ट्रीय विधि**—क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि हो सकती है? यह एक महत्वपूर्ण समस्या है। विधि के लिए एक प्रभुता-सम्पन्न राज्य की सत्ता अनिवार्य है। विधि सदा अनिवार्य होती है, ऐच्छिक नहीं। अर्थात् उसका पालन करना पड़ता है। पालन न करने पर राज्य की ओर से दण्ड की व्यवस्था होती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए एक राज्य होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं हैं; ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि जैसी किसी वस्तु का होना असम्भव है। इतना ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ ऐच्छिक भी होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों को लागू करने के लिए कोई संगठित राज्य-सत्ता नहीं है।

अतः हमें 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' के स्थान पर 'अन्तर्राष्ट्रीय-सदाचार के नियम' शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमों के समूह का नाम है जिनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को सुलझाया जाता है। जब तक कोई सर्वोच्च प्रभुता सम्पन्न विश्व-संगठन नहीं बनता तब तक सच्चे अर्थों में 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। परन्तु आधुनिक काल में इस शब्द का प्रयोग होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन राष्ट्रों की सामूहिक इच्छा के द्वारा होता है।

विधियों का पालन क्यों करें ?

नागरिक शास्त्र का यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि नागरिकों को राज्य की विधियों का पालन क्यों करना चाहिये? विधि की प्रकृति और उसके उद्देश्यों का अध्ययन करने के उपरान्त इस प्रश्न का उत्तर देना हमारे लिए सरल होना चाहिये। इस प्रश्न को विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से हल किया है। इस प्रसंग में निम्न सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है—शक्ति सिद्धान्त, संविदा सिद्धांत, दैवी सिद्धांत, उपयोगितावाद, मनोवैज्ञानिक सिद्धांत तथा दार्शनिक सिद्धान्त।

शक्ति सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार जनता राज्य की आज्ञाओं का पालन दण्ड के भय से करती है। इस विचार के समर्थकों का कहना है कि मनुष्य हृदय से विधियों का पालन नही करना चाहता, परन्तु राज्य की ओर से दण्ड मिलने की जो सम्भावना रहती है उसके कारण वह उनका पालन विवश होकर करते हैं। इस मत के अनुसार एक वर्ग पर दूसरे वर्ग के शासन को राज्य कहते है, इस प्रकार की विधियाँ एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए लादी जाती हैं। मनुष्य स्वभाव से विधियों का पालन नहीं करना चाहता, वह उनका पालन दण्ड के भय से करता है।

यह सिद्धान्त विधियों के नैतिक स्वरूप को नहीं मानता। ठीक बात तो यह है कि मनुष्य के भीतर आज्ञाओं का पालन करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है तथा विधियों का पालन उनकी नैतिक प्रवृति के कारण किया जाता है मनुष्य भली प्रकार जानते हैं कि राज्य की विधियों का पालन उनके नैतिक विकास के लिए और समाज की शान्ति व व्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है इसी कारण वे उनका यथासम्भव पालन करते हैं। हाँ ! यह ठीक है कि यदि नागरिक राज्यों की विधियों का पालन स्वेच्छापूर्वक न करे तो राज्य उन्हें दंड देकर उनके पालन के लिए विवश कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को सदा विधि (कानून) का पालन करना पड़ता है। परन्तु राज्य सदा शक्ति के बल पर अपनी विधियों का पालन नहीं कर सकता। जनता की शक्ति ही राज्य की शक्ति है। यदि जनता राज्य की विधियों के विरुद्ध विद्रोह कर दे तो राज्य को उन्हें वापिस लेना पड़ता है। अतः नागरिक, राज्य की आज्ञाओं (विधियों) का पालन उसकी शक्ति के भय से नहीं वरन् अपना नैतिक कर्त्तव्य मान कर करते हैं।

संविदा सिद्धान्त—यह सिद्धाँत मानता है कि राज्य की विधियों का पालन करना मनुष्य का कर्त्तव्य है क्योंकि राज्य बनाते समय जो संविदा (समझौता) किया गया था उसकी एक शर्त यह भी थी कि मनुष्य राज्य की आज्ञाओं का पालन करेगा।

यह सिद्धाँत बहुत अवैज्ञानिक है। प्रसिद्ध दार्शनिक बेन्थम का कथन है कि "मैं राज्य की आज्ञा का पालन करने के लिए इस आधार पर बाध्य नहीं किया जा सकता कि मेरे प्रपितामह ने शायद जार्ज तृतीय (सम्राट) के प्रपितामह के साथ कोई कल्पित संविदा (सौदा) की है; इसके विपरीत मैं केवल इस कारण उसका पालन करता हूँ क्योंकि उसका विद्रोह करना अधिक हानिकारक है।" राज्य की विधियों का पालन समझौते पर आधारित नहीं है।

दैवी सिद्धान्त—इस सिद्धांत के अनुसार विधि ईश्वर के प्रतिनिधि (राजा) की आज्ञा है अतः उसका उल्लंघन करना धर्म के विरुद्ध है।

इस मत का खण्डन हम राज्य की उत्पत्ति के प्रसंग में कर चुके हैं।

उपयोगितावाद—उपयोगितावाद विधियों की उपयोगिता (यूटिलिटी) को आज्ञापालन का कारण मानता है। इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक मनुष्य दुख से बचना और सुख को पाना चाहता है। राज्य की विधियों के पालन में थोड़ा बहुत कष्ट अवश्य होता है अतः मनुष्य स्वभाव से उनका पालन नहीं करना चाहता। परन्तु राज्य की आज्ञाओं का उल्लंघन करने पर उसे जो दण्ड प्राप्त होता है वह और भी अधिक कष्टदायक होता है अतः व्यक्ति राज्य की विधियों का पालन करना ही ठीक समझता है। राज्य की विधियों का उद्देश्य अपने सदस्यों को अधिकतम सुख पहुँचाना है अतः मनुष्य का अपना हित इसी में है कि वह उनका पालन करे।

उपयोगितावाद की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह विधि की नैतिक प्रकृति की ओर ध्यान न देकर उसे सुख-दुख की भावनाओं से नापता है। इसका स्वाभाविक

परिणाम यह होगा कि जिन व्यक्तियों का सुख विधि के उल्लंघन में होगा वे विधि की कोई पर्वाह नहीं करेंगे। इस प्रकार समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी। राज्य एक स्थायी व अनिवार्य तथा नैतिक समुदाय है उसको उपयोगिता के पैमाने से नापना ठीक नहीं होगा।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त—यह सिद्धान्त मानता है कि जनता के भीतर अनुकरण (इमिटेशन) की वृत्ति होती है। मनुष्य बिना सोचे समझे दूसरों के सुझाव के अनुसार कार्य करते हैं। राज्य की विधियों का पालन किसी उपयोगिता, नैतिकता या स्वभाव के कारण नहीं होता वरन् दूसरे लोगों की देखा-देखी प्रत्येक मनुष्य उन का पालन करने लगता है।

यह एक अबुद्धि-वादी तर्क है। मनुष्य बुद्धिमान प्राणी है। वह बिना सोचे-समझे कोई काम नहीं करता। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि भेड़ों की तरह मनुष्य भी अपनी अनुकरण-शीलता के कारण विधि का पालन करता है। विधि का पालन मनुष्य की नैतिक प्रकृति में निहित है।

दार्शनिक सिद्धान्त—दार्शनिक सिद्धान्त विधि के पालन की सही सही व्याख्या करता है। इस मत के अनुसार राज्य एक नैतिक संस्था है तथा 'विधि का प्रयोजन नैतिकता के नियमों अर्थात् सदाचार की स्थापना करना है।' मनुष्य के विकास के लिये यह आवश्यक है कि वह सदाचार के इन नियमों का पालन करे। राज्य और व्यक्ति के हितों में कभी विरोध नहीं हो सकता। उन दोनों का उद्देश्य एक ही है। विधि इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन है अतः उसका पालन करने से व्यक्ति अपने लक्ष्य अर्थात् विकास को प्राप्त करता है। विधि के उल्लंघन का अर्थ है सदाचार के नियमों का उल्लंघन। मनुष्य की पूर्णता के लिए विधि का पालन अनिवार्य है।

राज्य और व्यक्ति एक ही वस्तु हैं। उनके सच्चे हितों में विरोध सम्भव नहीं है। जनता की सामान्य इच्छा ही राज्य की आज्ञा अर्थात् विधि के रूप में प्रकट होती है। अतः विधि के पालन द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छा का पालन करता है। दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह कभी भी राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर सके, क्योंकि राज्य कोई ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकता जोकि सार्वजनिक इच्छा के विरुद्ध हो। राज्य समाज की नैतिकता का संरक्षक होता है अतः उसकी आज्ञाओं का पालन करने से ही नैतिकता कायम रह सकती है।

इस प्रकार दार्शनिक विचारधारा राज्य की आज्ञाओं के पालन का सही कारण बताती है। परन्तु क्या इसका अर्थ यह होगा कि व्यक्ति कभी भी विधि के विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकता चाहे विधि कितनी भी अत्याचारपूर्ण क्यों न हो?

विधि का उल्लंघन—राज्य और शासन में बहुत अन्तर है। व्यक्ति अपनी सारी सत्ता और भक्ति राज्य को सौंपता है शासन को नहीं। शासन का संचालन करने वाले भी मनुष्य ही होते हैं। अतः उनके विचारों को सदा पूर्णमानना असम्भव है यह हो सकता है कि कोई अत्याचारी शासक ऐसी विधि बनावे जिससे कि जनता के

विकास में बाधा पड़ती हो । ऐसी स्थिति में व्यक्ति का धर्म है कि वह ऐसे शासन को बदलने के लिए हर समय चेष्टा करे । जब तक शासन राज्य के नैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य कर रहा है तब तक उसकी आज्ञाओं का पालन करना हमारा कर्त्तव्य है । परन्तु यदि वह हमें कोई ऐसी आज्ञा दे जो हमारी नैतिक भावना के विरुद्ध हो तो हमें अधिकार है कि हम उसका पालन न करें । महात्मा गाँधी ने 'सत्याग्रह' का प्रयोग किया । उनका कहना है कि जो विधि सत्य के नियमों के विरुद्ध हो अर्थात् जिससे समाज को हानि होती हो उसका उल्लंघन करना आवश्यक है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी एक अनैतिक विधि को तोड़ने के लिए हम राज्य के दूसरे नैतिक नियमों को भी तोड़ने लग जाएं; वैधानिक उपायों से शासन की अनीति का विरोध करना चाहिये । जनतन्त्र में तो यह कार्य बहुत ही सरल है । जनता एक निश्चित अवधि के पश्चात् अत्याचारी शासक से सत्ता छीन कर श्रेष्ठ शासन की स्थापना कर सकती है ।

राज्य का कोई भी नियम (विधि) यदि लोकमत की उपेक्षा करता है अथवा सर्वसामान्य हित के विरुद्ध है तो वह अधिक समय तक नहीं चल सकता । प्रबल लोक-सत्ता के सामने बड़े-बड़े साम्राज्यों और निरंकुश सम्राटों को झुकना पड़ा है । यदि जनता के विरोध पर राज्य की विधि में परिवर्तन नहीं किया जाता तो राज्य-क्रान्ति होने की सम्भावना रहती है । ब्रिटिश शासन को भारत से हटाने के लिए ऐसी ही क्रान्ति का आश्रय लेना पड़ा था । यह क्रान्ति हिंसक अथवा अहिंसक दो प्रकार की हो सकती हैं । भारतीय राज्य-क्रान्ति का नेतृत्व एक ऋषि के हाथों में होने से वह अहिंसक रही । मैकाले ने कहा है कि 'समस्त क्रांतियों का प्रधान कारण यह है कि राष्ट्र तो आगे बढ़ जाते हैं और संविधान जैसे के तैसे बने रहते हैं ।' यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वक्तव्य है । यदि समय की गति के साथ शासन की रचना और विधि का स्वरूप नहीं बदलता तो क्रान्ति आवश्यक हो जाती है । परन्तु हर समय क्रान्ति का स्वप्न देखना मूर्खता है । साधारण विधि में थोड़े से प्रयत्न और परिश्रम से परि-वर्तन हो सकता है । विधि के परिवर्तन का कोई भी प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उस परिवर्तन के पक्ष में जनमत को तैयार न कर लिया जाए । समाज का बहुमत जब किसी विधि के विरुद्ध हो जाता है तब या तो शासन स्वयं ही विधि को बदल डालता है या फिर उसके विरुद्ध स्वाभाविक रूप से क्रान्ति होती है । इससे राज्य को कोई हानि नहीं पहुँचती । अन्यायी शासन के समाप्त होने और अत्याचार-पूर्ण विधि के बदलने में राज्य का सच्चा हित है ।

योग्यता प्रश्न

(१) प्रभुता के लक्षणों का वर्णन कीजिए तथा वैधानिक और राजनीतिक प्रभुता का अंतर बताइये ?
Describe the important characteristics of sovereignty and distinguish between legal and political sovereignty.

(२) प्रभुता के बारे में ऑस्टिन की परिभाषा की व्याख्या और आलोचना कीजिए।
Explain and criticize Austin's definition of sovereignty.

(३) प्रभुता राज्य का एक अनिवार्य लक्षण क्यों है ? (अ) विधानतः और तथ्यतः प्रभुता एवं (ब) राजनीतिक व लोक प्रभुता का अन्तर बताइये ?
Why sovereignty is regarded as an essential element of State ? Distinguish between (a) de facto and de jure sovereignty, and (b) political and poular sovereignty.

(४) विधि की परिभाषा कीजिए ? विधि के प्रमुख स्रोत कौन-कौन से हैं ?
Define Law. What are the chief sources of law ?

(५) नागरिक को विधि का पालन क्यों करना चाहिए ? क्या उसे विधि का विरोध करने का अधिकार है ? यदि है तो किन परिस्थितियों में ?
Why should a citizen obey the laws of his State ? Has he got a right to oppose them ? If yes, under what conditions ?

(६) विधि कितने प्रकार की होती है ? अन्तर्राष्ट्रीय विधि से आप क्या समझते हैं ?
What are the various kinds of laws ? What do you understand by International-law ?

—:o:—

अध्याय ९

स्वतन्त्रता और समानता

"अनुशासन के बन्धन तथा व्यक्तिगत आकाँक्षाओं के समर्थन द्वारा ही स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। सहनशीलता तथा प्रतिबन्धों के द्वारा ही हम अपने प्रेम को दैवी बना सकते हैं।
—महात्मा गाँधी

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
.................स योगी परमोमतः ॥

[हे अर्जुन जो (मनुष्य) सबको अपने समान समझता है......वह श्रेष्ठ योगी है।]
—श्रीकृष्ण

फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के तीन नारे थे—स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता। लोकतन्त्र (डेमोक्रेसी) के विचार के पीछे ये तीन शक्तियाँ ही काम करती है। लोकतन्त्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता, दूसरों के साथ उसकी समानता और प्रजा में परस्पर बन्धुता की भावना होनी अनिवार्य है। आज संसार में स्वतन्त्रता का विचार बहुत तेजी से फैल रहा है परन्तु कठिनाई यह है कि जब किसी व्यक्ति या देश को किसी दूसरे व्यक्ति या देश से खतरा होता है तब वह समानता की माँग करता है, परन्तु जब उसके अपने हितों का प्रश्न उठता है तो वह अपनी स्वतन्त्रता के नाम पर अपने कामों का समर्थन और बचाव करता है। वास्तव में हमें यह समझ लेना चाहिए कि स्वतंत्रता अलग-अलग धारणाएँ नहीं हैं। हमारा लक्ष्य संसार के प्रत्येक मनुष्य को समान स्वतन्त्रता प्रदान करना और उसकी रक्षा करना है। स्वतंत्रता और समानता शब्दों का अलग-अलग प्रयोग करने से उनका सही अर्थ प्रगट नहीं होता। समान स्वतन्त्रता, शब्द से सही अर्थ का बोध होता है। इसका अर्थ यह है कि समाज के प्रत्येक सदस्य को समान स्वतन्त्रता, समान-न्याय पाने का अधिकार है।

स्वतन्त्रता

मनमाने ढंग से कर्म करने की आजादी का नाम स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य समाज में रहता है वहाँ उसे दूसरों के साथ मिलकर रहना और काम करना होता है अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य के आचरण पर कुछ नियम, सीमाएँ और बन्धन लगाये जाएँ जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को बराबर-बराबर स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति की हर शक्ति पर बन्धन लगा दिये जाएँ

तथा उसको अपनी शक्तियों के विकास का अवसर ही न मिले ।

मनुष्य एक इच्छा प्रधान प्राणी है, पशु की भाँति उसका जीवन डन्डे के बल पर नहीं चलाया जा सकता । व्यक्ति की शक्तियों का पूरा विकास तभी हो सकता है जब कि पर्याप्त स्वतन्त्रता हो । समाज का विकास तभी हो सकता है जबकि व्यक्तियों की शक्तियां पूरे ढंग से विकसित हो सकें । व्यक्ति की शक्ति को पूरी तरह विकसित करने के लिए उसे काफी स्वतंत्रता देनी होगी । यद्यपि हमने पीछे कहा है कि समाज के भीतर मनुष्य का व्यवहार सीमित और मर्यादित होता है, हमें दूसरों का ध्यान रखना चाहिए फिर भी हमें यह ध्यान में रखना पड़ता है कि हमारे आचरण की मर्यादाएँ तय करने का अधिकार हमें ही होना चाहिए किसी दूसरे को नहीं, यही मनुष्य की बुनियादी स्वतन्त्रता है ।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में हमें समाज के प्रत्येक सदस्य की स्वतंत्रता की रक्षा करनी होती है । इसे ही हमने समान स्वतंत्रता कहा है । प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपने घर की सफाई करे परन्तु अपने घर का कचरा दूसरों के द्वार पर डालने की स्वतंत्रता उसे नहीं मिल सकती । मैं चाहता हूँ कि मेरे द्वार पर सफाई रहे तो मैं अपने ऊपर यह बन्धन लगा देता हूँ कि मैं किसी दूसरे व्यक्ति के द्वार पर गन्दगी नहीं करूँगा । कोई भी बुद्धिमान मनुष्य निस्सीम और पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा नहीं करेगा । मनुष्य जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक बन्धनों में जकड़ा हुआ रहता है ।

ब्रेडले ने स्वतंत्रता की परिभाषा इस प्रकार की है, 'समाज के भीतर अपने कर्त्तव्यों के पालन और सामाजिक जीवन में अपने स्थान की प्राप्ति में मनुष्य की स्वतंत्रता निहित है ।' हम स्वतंत्र हैं, इसका यह अर्थ है कि हम कुछ करने के लिये स्वतंत्र हैं । स्वतंत्रता के भीतर हम उन कार्यों को ही कर सकते हैं जो कि सामाजिक जीवन बिताते हुए हमारे लिए कर्त्तव्य-स्वरूप हैं । हम केवल अपने कर्त्तव्यों के पालन में स्वतंत्र हैं, हमें दूसरे लोगों के कर्त्तव्यों में हस्तक्षेप करने की स्वतंत्रता नहीं हैं ।

विधि और स्वतन्त्रता

स्वतंत्रता की परिभाषा से हमें ज्ञात होता है कि बिना मर्यादाओं के स्वतंत्रता स्थापित नहीं हो सकती । बन्धन लगाने वाली सत्ता समाज में राज्य से बढ़कर और कोई नहीं है । राज्य ही एकमात्र प्रभुता-सम्पन्न समुदाय है । स्वतंत्रता की स्थापना के लिए राज्य की परम् आवश्यकता है । राज्य के बिना स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं होता । मनुष्य को उसकी स्वतंत्रता राज्य अपनी विधियों द्वारा प्रदान करता है तथा उनके ही द्वारा यह उसकी रक्षा करता है । 'राज्य-सत्ता या विधि का पालन स्वतंत्रता की शर्त है ।' लीकॉक का कथन है कि '''जो स्वतंत्रता सबके काम की है उसके लिए प्रत्येक व्यक्ति के कार्य पर प्रतिबन्ध आवश्यक होता है । इस प्रकार प्रतिबन्धों को लगाकर स्वतंत्रता को जन्म देना राज्य का कार्य है ।'

विरोध नहीं—विधि और स्वतंत्रता परस्पर विरोधी नहीं हैं। विधि जिस स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाती है वह स्वतंत्रता नहीं है, उसे उच्छृङ्खलता कहना अधिक उपयुक्त होगा। विधि का आक्रमण मनमाने काम करने की स्वतंत्रता पर होता है। जिस देश के भीतर विधि का पालन दृढ़ता से होता है उसी देश में स्वतंत्रता की स्थापना हो सकती है। अराजक समाज के भीतर स्वतंत्रता का अस्तित्व असम्भव है।

विधि स्वतन्त्रता की जननी—नागरिकों को उनकी स्वतंत्रता विधि द्वारा ही प्राप्त होती है। विधि हमें जिन कार्यों के करने का अधिकार दे देती है, वही हमारी स्वतंत्रता के भीतर आते हैं। इतना ही नहीं स्वतंत्रता को जन्म देने के पश्चात् विधि स्वतंत्रता की रक्षा भी करती है। कोई किसी की स्वतंत्रता न छीन सके यह देखना विधि का कार्य है। इस प्रकार विधि स्वतंत्रता की संरक्षिका भी है। जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे की स्वतंत्रता छीनना चाहता है तो राज्य ऐसे व्यक्ति को दण्ड देता है। इससे स्वतंत्रता की रक्षा होती है। स्वतंत्रता का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि उसे कोई छीन न सके। यह आश्वासन राज्य की विधियों से ही प्राप्त होता है।

स्वतन्त्रता के अस्तित्व के लिये अनुशासन अनिवार्य है। राज्य की विधियां समाज के भीतर इस अनुशासन को कायम रखती हैं। 'स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है—एक तो मनमाने कार्य करने की झूठी स्वतन्त्रता और दूसरी—जो कार्य करने चाहिएं उनके करने की सच्ची स्वतन्त्रता।' परन्तु व्यक्ति को झूठी स्वतन्त्रता से बचाकर सच्ची स्वतन्त्रता में लगाने के लिये कोई सत्ता अनिवार्य है राज्य ही वह सत्ता है जो अपनी विधियों द्वारा व्यक्ति की झूठी स्वतन्त्रता को छीनकर उसे सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान करती है।

स्वतन्त्रता छीनी जा सकती है—स्वतन्त्रता एक सामाजिक धारणा है। उसका उपयोग समाज के हित में किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करता है तो राज्य उसकी स्वतन्त्रता उससे छीन सकता है। इतना ही नहीं कभी-कभी समाज के सभी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता समाज हित की दृष्टि से कुछ समय के लिये छीनी जा सकती है। जैसे—युद्ध काल में भाषण देने और सभा करने की स्वतन्त्रता नागरिकों से छीनी जा सकती है, राज्य नागरिकों को युद्ध में अनिवार्य सैनिक सेवाएं देने के लिए बाध्य कर सकता है और उन पर भारी कर भी लगा सकता है। ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। संकट काल समाप्त होने पर व्यक्तियों को उनकी स्वतन्त्रता फिर से मिल जाती है।

परन्तु इस स्थिति को आदर्श नहीं माना जा सकता। राज्य की विधियाँ इस प्रकार की होनी चाहियें कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कम से कम बंधन लागू करें। विधियों का निर्माण स्पष्ट और सरल भाषा में किया जाना चाहिये जिससे कि शासन कर्मचारी उनकी आड़ में जनता के अधिकारों का अपहरण न कर सकें। जन-

तन्त्रात्मक देशों में विधि और स्वतन्त्रता के मध्य बहुत कम संघर्ष होता है उनमें विधि का प्रथम उद्देश्य व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता की प्राप्ति माना गया है।

स्वतन्त्रता के मुख्य भेद

स्वतन्त्रता के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं—(१) जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता, (२) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, (३) सामाजिक स्वतन्त्रता, (४) राजनीतिक स्वतन्त्रता, (५) आर्थिक स्वतन्त्रता, (६) नैतिक स्वतन्त्रता, (७) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, (८) धार्मिक स्वतन्त्रता।

(१) **जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता**—बहुत से लेखक प्राकृतिक या नैसर्गिक स्वतन्त्रता का उल्लेख करते हैं। हमारा नम्र विचार ऐसा है कि प्रकृति के भीतर व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। स्वतन्त्रता मनुष्य को समाज की देन है। प्रकृति में मनुष्य उच्छृङ्खल हो सकता है, स्वतन्त्र नहीं। हाँ इतना अवश्य है कि मनुष्य होने के नाते ही कुछ स्वतन्त्रता भोगने का मनुष्य का अधिकार समाज ने स्वीकार कर लिया है। इसे हम जन्म-सिद्ध स्वतन्त्रता कह सकते हैं। जन्म-सिद्ध स्वतन्त्रता उस स्वतन्त्रता को कहते हैं जो मनुष्य जन्म को सार्थक बनाने के लिये आवश्यक होती है। जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता वास्तव में एक नैतिक धारणा हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि समाज इस स्वतन्त्रता को स्वीकार न करे तो स्वयं समाज का भी अन्त हो जायगा। अतः जन्मसिद्ध स्वतंत्रता को मौलिक स्वतंत्रता भी कह सकते हैं इस में जीने की स्वतन्त्रता सबसे प्रमुख है। प्राकृतिक और जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता में बड़ा ही अंतर है। प्रकृति के भीतर बलवान ही स्वतन्त्र हो सकता है परन्तु जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता का भाव ही यह है कि यह स्वतन्त्रता जन्म से ही प्रत्येक मनुष्य को मिलती है इसके अतिरिक्त प्रकृति में मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा का कोई साधन नहीं है। अतः वह क्षणिक भी हो सकती है परन्तु जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता के पीछे समाज का नैतिक समर्थन (मारल सपोर्ट) तथा राज्य-सत्ता का बल होता है जिसके कारण वह स्थायी होती है।

बहुत से देशों ने अपने संविधान के भीतर इन मौलिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया है तथा राज्य को साधारण परिस्थितियों में उनके छीनने का अधिकार नहीं दिया है। अमेरिका के संविधान में 'अधिकार पत्र' और भारतीय संविधान में 'मौलिक अधिकार' मनुष्य की जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये ही रखे गये हैं।

(२) **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता**—प्रत्येक मनुष्य समाज के भीतर रहकर दो प्रकार के कार्य करता है—(अ) अपने से सम्बन्ध रखने वाले तथा (आ) दूसरों पर प्रभाव डालने वाले। जहाँ तक मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन अर्थात् अपने से सम्बन्ध रखने वाले कार्य का प्रश्न है, उसे उसमें पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इसमें खान-पान रहन-सहन, वेश-भूषा, विवाह-शादी तथा परिवार बनाकर रहने के अधिकारों का समावेश

होता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार धर्म अपनाने और व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के भीतर ऐसे काम करने की छूट नहीं हो सकती जो सामाजिक नैतिकता (सोशल मॉरेलिटी) के नियमों के विरुद्ध हो, जैसे—किसी व्यक्ति को आत्महत्या करने अथवा नंगा रहने की अनुमति नहीं दी जा सकती।

इस युग में यह विचार जोर पकड़ता जा रहा है कि व्यक्ति का कोई भी कार्य पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं होता, उसके प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है। अतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का क्षेत्र बहुत सीमित होता जा रहा है।

(३) **सामाजिक स्वतन्त्रता**—नागरिकता के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि व्यक्ति के मुख्य अधिकार दो प्रकार के होते हैं—सामाजिक और राजनीतिक। सामाजिक स्वतन्त्रता व्यक्ति को सामाजिक जीवन में भाग लेने का अवसर देती है। मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास तब तक नहीं कर सकता जब तक कि उसे सामाजिक जीवन में भाग लेने की स्वतन्त्रता न हो। इसमें आने जाने, भाषण अथवा लेख द्वारा अपने विचारों का प्रदर्शन करने, सभा सम्मेलन में भाग लेने तथा संघ समुदाय बनाने आदि की स्वतन्त्रता का समावेश होता है। लोकतन्त्रात्मक शासन के भीतर जनता को समान रूप से अधिकाधिक सामाजिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये।

(४) **राजनीतिक स्वतन्त्रता**—राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है राज्य के कार्यों में भाग लेने की स्वतंत्रता। यह स्वतंत्रता जनतन्त्र के लिए प्राण के समान है। 'जनता' द्वारा 'जनता' के हित में 'जनता' का शासन यह जनतंत्र का सबसे बड़ा उद्घोष (नारा) है। इसका अर्थ यह है कि जनता राज्य-शासन में भाग ले। जनता शासन-कार्य में दो प्रकार से भाग ले सकती है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष जनतंत्र ग्रीस के नगर राज्यों में पाया जाता था जहाँ नगर के समस्त नागरिक इक्लीसिया नामक सभा में बैठकर राज्य शासन का संचालन करते थे। आधुनिक युग में प्रतिनिधि मूलक अथवा परोक्ष जनतंत्र प्रचलित है। इसमें राज्य के सदस्य अपने प्रतिनिधि चुनकर, स्वयं चुने जाकर और शासकीय पदों पर नियुक्त होकर देश के शासन में भाग लेते हैं। अतः राजनीतिक स्वतन्त्रता के भीतर मत देने, मत पाने और मत ग्रहण करने के अधिकार का समावेश होता है। राज्य मनुष्य का सर्वोच्च समुदाय है, उसकी प्रकृति नैतिक है अतः व्यक्ति के सर्वोच्च नैतिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य के कार्यों में भाग लेने की स्वतन्त्रता अर्थात् राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके।

(५) **आर्थिक स्वतन्त्रता**—मनुष्य के जीवन का आर्थिक पहलू भी बहुत महत्वपूर्ण है। उसे कुछ आर्थिक स्वतन्त्रता भी मिलनी चाहिये। इसमें प्रधान रूप से तीन बातें आती है—(अ) सम्पत्ति रखने, (आ) इच्छानुसार पेशा या व्यवसाय करने तथा (इ) समाज के अन्य किसी सदस्य द्वारा शोषण किये जाने (एक्सप्लाइटेशन) के विरुद्ध

स्वतन्त्रता। सम्पत्ति मानव जीवन की एक महत्वपूर्ण संस्था है, प्रत्येक व्यक्ति को थोड़ी सम्पत्ति रखने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये जिससे वह अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। प्रत्येक-व्यक्ति को स्वतन्त्रता आवश्यक रूप से मिलनी चाहिये। वह जिस व्यवसाय में रुचि लेता है उसे ही अपना सके। हर एक व्यक्ति हर एक काम नहीं कर सकता। काम छाँटने में मानसिक झुकाव, योग्यता, शिक्षा और रुचि सभी पर ध्यान देना चाहिए।

पूँजीवादी देशों में आर्थिक स्वतन्त्रता केवल नाममात्र को रह गई है। सम्पत्ति की विषमता ने समाज में समृद्ध और दीन दो वर्गों का निर्माण कर दिया है। बेचारा मजदूर घर में नमक के दो दाने भी न होने से पूँजीपति के हाथों अपनी मजदूरी उस भाव पर बेचने के लिए विवश हो जाता है जो पूँजीपति या उसके ऐजेन्ट तय कर देते हैं। शोषण के विरुद्ध रक्षण पाना अथवा शोषण से स्वतन्त्रता (मुक्ति) पाना नागरिक और समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक शोषण के रहते हुये व्यक्ति का विकास असम्भव है अतः उसे आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं हो सकता। आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी समाज कभी भी अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का समुचित उपयोग नहीं कर पाता। वह सदा दूसरों के प्रभाव में काम करता है।

(६) **नैतिक स्वतन्त्रता**—मनुष्य एक नैतिक प्राणी है। सबसे पहले उसके लिए यह आवश्यक है कि वह नैतिकता के आदर्शों पर चले तथा अनैतिकता से छुटकारा पाने का पूर्ण प्रयत्न करे। प्रत्येक मनुष्य के भीतर स्वार्थ, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य आदि अनैतिक तत्व होते हैं, इनको जीतना तथा सत्य और प्रेम के मार्ग का अनुसरण करना उसकी नैतिक स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है। जब तक मनुष्य नैतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं कर लेता उसका अन्तःकरण जागृत नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति का अन्तःकरण (कांशेंस) जागृत और शुद्ध नहीं है वह अन्य किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति समाज के लिए निरुपयोगी ही नहीं हानिकारक भी होता है।

नैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति मनुष्य द्वारा स्वयं अपने प्रयत्न से की जा सकती है। नैतिकता एक आंतरिक गुण है राज्य की विधि और संविधि चाहे कितनी भी श्रेष्ठ हो, वह बाहर से अपने सदस्यों पर नैतिक स्वतन्त्रता नहीं लाद सकती।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा वही समाज कर सकता है जिसके व्यक्ति नैतिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते है। स्वतन्त्रता एक ऐसी वस्तु है जिसे अपने और पराए सभी राज्यों से हर समय खतरा बना रहता है। जो जाति निरन्तर जागरूक नहीं रहती वह एक न एक दिन अपनी स्वतन्त्रता अवश्य खो देगी। स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये सतर्कता अथवा जागरूकता और सदुपयोग की आवश्यकता होती है। ये दोनों गुण नैतिक रूप से स्वतन्त्र नागरिकों में ही पाये जा सकते हैं।

(७) **राष्ट्रीय स्वतन्त्रता**—आज के युग की सर्व प्रधान विशेषता यह हैं कि

प्रत्येक राष्ट्रीय समूह के लिए आत्म-निर्णय के सिद्धान्त (प्रिंसिपल आफ सेल्फ डिटर-मिनेशन) को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे किसी भी राष्ट्र की पर-तन्त्रता से मुक्त होने का पूर्ण अधिकार है तथा वह इस दृष्टि से स्वतन्त्र है कि वह अपने यहाँ किसी भी प्रकार के शासन की व्यवस्था करे। एक देश की जनता दूसरे किसी देश की जनता के हस्तक्षेप से मुक्त होती है। यही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का सार है। "स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" भारतीय राष्ट्र के मुक्तिदूत महात्मा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की यह घोषणा आज भी हमारे हृदयों में साहस और गौरव का संचार करती है तथा युग युग तक पराधीन जातियाँ इस उद्घोष के नीचे अपनी स्वतन्त्रता का संग्राम परिचालित करेंगी। अपने भाग्य का आत्म-निर्णय यही राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का मूल मंत्र है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्रभुता का ही दूसरा नाम है। यह स्मरण रखना चाहिये कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अन्य सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं की जड़ है। १९४७ ई० के पूर्व भारत राष्ट्रीय दृष्टि से स्वतन्त्र नहींथा इसी कारण यहाँ व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक किसी प्रकार की स्वतन्त्रता भी नहीं थी। अंग्रेज शासक अपने स्वार्थो के लिए भारत के निवासियों का हर प्रकार से शोषण करते थे। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर देश में सभी प्रकार की स्वतन्त्रता का प्रादुर्भाव हुआ है।

(८) **धार्मिक स्वतन्त्रता**—मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से किसी न किसी धर्म जैसे हिन्दू, इस्लाम, क्रिश्चियैनिटी का पालन किया करता है। राज्य का धर्म है कि वह नागरिकों के धर्म में हस्तक्षेप न करे एवं उन्हें अपने-अपने धर्म के पालन की स्वतन्त्रता दे। साथ ही यह भी आवश्यक हैकि नागरिक भी परस्पर एक दूसरे के धार्मिक विश्वास और पूजापाठ की विधि एवं कर्म काण्ड में कोई बाधा न डालें या उसकी कोई निन्दा न करें। इसे हम धार्मिक स्वतन्त्रता कह सकते हैं।

समानता

समाज का अर्थ यह है कि उसके भीतर समस्त सदस्यों का स्थान सम अर्थात् समान है। एक व्यक्ति को जिस कार्य के करने का अधिकार है समाज का प्रत्येक सदस्य उस कार्य को कर सकता है। समाज मनुष्यों का वह संगठन है जिसके भीतर प्राकृतिक असमानताओं के रहते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति समान स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

परिभाषा—समानता से हमारा तात्पर्य समाज के भीतर प्राप्त होने वाली जीवन की उन सुविधाओं से है जो सबको समान रूप से प्राप्त होती हैं। प्राकृतिक समानता जैसी कोई वस्तु नहीं होती। प्रकृति के भीतर कोई भी दो मनुष्य एक समान नहीं होते। उनके शरीर, भाव, विचार और विश्वास भिन्न-भिन्न होते हैं। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि मनुष्यों के भीतर यह प्राकृतिक समानता है कि वे जन्म से मनुष्य हैं। अर्थात् मनुष्य के रूप में जन्म लेने के कारण सभी मनुष्य प्राकृतिक रूप से समान हैं।

हमारे विचार से यह मत गलत है। प्रकृति में मनुष्य जैसे किसी प्राणी का जन्म नही होता। मनुष्यता प्राकृतिक वस्तु नहीं है। दो पाँवों पर चलने वाले मनुष्य देह-धारी प्राणी को हम मनुष्य नहीं कह सकते। मनुष्यता एक सामाजिक वरदान है। वह समाज में रहने वाले प्राणी को समाज की ओर से प्राप्त होती है। अतः मनुष्य होने की समानता सामाजिक समानता है वह प्राकृतिक समानता नहीं है।

समानता का अर्थ यह भी नहीं लगाना चाहिए कि सभी व्यक्ति बुद्धि, बल अथवा नैतिकता की दृष्टि से समान होते हैं। जैसा पीछे कह चुके हैं प्रकृति में किसी प्रकार की समानता नहीं पाई जाती अतः प्राकृतिक वरदानों में भी समानता होनी असम्भव है। बुद्धि और बल ये प्राकृतिक वरदान हैं, समाज के भीतर इनका विकास हो सकता है परन्तु समाज इन्हें पैदा नहीं कर सकता।

समानता एक सामाजिक धारणा है, असमान प्राकृतिक शक्तियों वाले मनुष्यों को विकास की समान सुविधाएँ देकर समाज समानता को जन्म देता है। समानता का सच्चा अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास का समान अवसर प्राप्त हो।

राज्य और समानता

राज्य समाज का संरक्षक है। समाज जिस समानता के आधार पर संगठित हुआ है राज्य उस समानता को अपनी विधियों द्वारा मान्यता प्रदान करता है, इस प्रकार राज्य समानता का संरक्षक है। राज्य की विधि समाज के भीतर दण्ड और अनुशासन के द्वारा समानता की स्थापना व रक्षा करती है।

राज्य द्वारा समानता की स्थापना व रक्षा—राज्य तीन प्रकार से समाज में समानता स्थापित करता है—(१) समाज के भीतर स्थित असमानताओं को दूर करके, (२) विधि के सामने सब व्यक्तियों को समान पद देकर तथा (३) विकास के समान अवसर प्रदान करके।

(१) जब तक किसी समाज के भीतर पद, धर्म, रंग, भाषा, जाति, सम्पत्ति अथवा उपाधियों के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भेद किया जाता है तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उस समाज में समानता है। इस प्रकार की समस्त असमानता को दूर करके प्रत्येक नागरिक को समान स्थान प्रदान करना राज्य का धर्म है। भारत के राज्य ने अपने संविधान द्वारा इस असमानता को नष्ट किया है।

(२) विधि तब तक स्वतन्त्रता की रक्षा नही कर सकती जब तक कि वह राज्य के प्रत्येक सदस्य को समान दृष्टि से न देखे। विधि का आदर्श उद्देश्य सामाजिक असमानताओं को समाप्त करके विधि शासन (रूल ऑफ लॉ) की स्थापना करना है। प्रत्येक सदस्य न्यायालय के सामने समान है चाहे वह राष्ट्र का प्रधान मंत्री हो या एक साधारण मजदूर। न्यायालय दोनों को समान दृष्टि से देखेगा तथा न्याय की दृष्टि से दण्ड या पुरस्कार जिसके लिए जो उचित है उसे वही प्रदान करेगा।

(३) प्रत्येक नागरिक अपने जीवन के विकास की सुविधाओं तथा उन्नति के अवसरों को समान रूप से प्राप्त करने का अधिकार रखता है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक बालक को निःशुल्क व अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा दे तथा विकास की अन्य समस्त सुविधायें वर्ण, लिंग, जन्म और धर्म आदि भेदभाव बिना निष्पक्ष भाव से सभी नागरिकों को प्रदान करे। समाज के भीतर किसी आदमी की स्थिति ऐसी नहीं होनी चाहिए जिससे उसके पड़ौसी की नागरिकता छिन जाये।

असमानता और क्रांति—राज्य की ओर से नागरिकों को समान सामाजिक व राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। किसी व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार नहीं मिलना चाहिये। इस विशेष अधिकार से समाज में असमानता बढ़ती है। अरस्तु ने कहा है कि असमानता ही क्रान्तियों का मूल कारण है। जब एक लम्बे समय तक समाज के भीतर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानता रहती है अर्थात् समाज के भीतर एक वर्ग निरन्तर सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक समृद्धि और राजनीतिक सत्ता से वंचित रखा जाता है तथा शक्ति सम्पन्न वर्ग द्वारा उसका शोषण होता है तो उस समाज में क्रान्ति का होना निश्चित है। उसे कोई टाल नहीं सकता। असमानता से असन्तोष का जन्म होता है और असन्तोष क्रांति का जन्मदाता है।

अतः सामाजिक सुरक्षा और राजनीतिक स्थायित्व की दृष्टि से यह आवश्यक है कि राज्य समाज के भीतर विधि और अवसर की पूर्ण समानता स्थापित रखे। इस समानता में अन्तर आते ही समाज का मानसिक सन्तुलन बिगड़ जायेगा और उसकी व्यवस्था लड़खड़ा उठेगी।

समानता और स्वतन्त्रता—समानता का अर्थ है समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता के उपभोग का समान अवसर और स्वतन्त्रता का अर्थ है प्रत्येक मनुष्य के लिए विकास की समान स्वतन्त्रता। इस प्रकार दोनों का अर्थ एक ही है। समानता की आवश्यकता यही है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता का समान उपभोग कर सके। दूसरी ओर वही स्वतन्त्रता वास्तविक है जिसका उपभोग आम व्यक्ति अपने जीवन के विकास के लिये कर सके। स्वतन्त्रता और समानता परस्पर पूरक हैं।

समाज के भीतर समानता की स्थापना करने के लिये लोगों से मनमानी करने की स्वतन्त्रता छीननी पड़ेगी। इसी विचार को लेकर कुछ विद्वान समानता को स्वतंत्रता का शत्रु मानते हैं। परन्तु वास्तव में स्वतन्त्रता और समानता एक दूसरे पर निर्भर है। सच्ची स्वतन्त्रता वही है जो समाज में सबको प्राप्त हो। किसी भी सभ्य समाज की यह पहली पहचान है कि उसके भीतर समस्त नागरिकों को समान पद प्राप्त होता है। लॉस्की का कथन है कि 'यदि स्वतन्त्रता मानवीय अन्तरात्मा के निरंतर विकास की शक्ति है तो यह समान व्यक्तियों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिलेगी।' 'कुछ सबल व्यक्तियों की स्वतंत्रता' एक बर्बर कल्पना है। सभ्य समाज में स्वतन्त्रता का अर्थ है—'समस्त व्यक्तियों की समान स्वतंत्रता।' बिना समानता के ऐसी स्वतंत्रता का अस्तित्व असम्भव है।

समानता के भेद

मनुष्य जीवन के विविध पहलू हैं। जीवन के बहुमुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य समाज के भीतर दूसरों के साथ समानता का उपभोग करे अर्थात् उसके कर्त्तव्य और अधिकार दूसरों के समान हों। इस दृष्टि से हम समानता को निम्नलिखित क्षेत्रों में विभाजित कर सकते हैं—(१) सामाजिक समानता, (२) राजनीतिक समानता, (३) वैधानिक समानता, (४) सांस्कृतिक समानता, (५) आर्थिक समानता, (६) धार्मिक समानता।

(१) **सामाजिक समानता**—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह अपनी मनुष्यना का विकास समाज के भीतर रहकर करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति समान है। समाज के भीतर ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि के भेद नहीं होने चाहियें। सबको सामाजिक जीवन में भाग लेने का समान अवसर मिलना चाहिए। जाति अथवा निवास के आधार पर भी समाज में कोई असमानता नहीं होनी चाहिये। ये असमानतायें सामाजिक जीवन की नींव को खोखला कर देती हैं। हिन्दू समाज में ऐसी असमानतायें बहुत पाई जाती हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि इन असमानताओं को समाज सुधार के प्रबल आन्दोलनों द्वारा समाप्त करके, अपने समाज को समानता के पवित्र आधार पर खड़ा करें। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से स्पष्ट कहा है कि सबसे श्रेष्ठ पुरुष वह है जो सबको अपने समान देखता है। हमें मनुष्यों के बीच भ्रातृत्व-भाव की स्थापना करनी चाहिए। प्लेटो ने कहा है कि "स्वाभाविक रूप से सब मनुष्य समान हैं, हम सब का निर्माण एक ही विश्वकर्मा ने एक सी मिट्टी से किया है। हम चाहे अपने को कितना भी धोखा दें परमेश्वर को निर्धन किसान और शक्तिशाली राजकुमार दोनों समान रूप से प्रिय हैं।"

हमारे धर्मशास्त्रों ने कहा है—'सर्व भूतेषु नारायणः' सब प्राणियों में परमेश्वर है। महात्मा श्री हरिदास जी ने इसी आधार पर एक पद में कहा है कि—

अब हौं कासों बैर करौं ?
कहत पुकारत प्रभु निज मुख ते 'घट घट हो बिहरों' !!

अब किससे बैर किया जाए ! भगवान स्वयं यह कहते है कि मैं प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करता हूँ। इसी से वह इस परिणाम पर पहुँचे कि 'आपु समान सबै जग लेखौं, अपने समान ही मैं सारे संसार को देखूंगा।

धर्म ने इस प्रकार सामाजिक समानता की स्थापना में बहुत बड़ा कार्य किया है। जैसा कि अध्याय के आरम्भ में दिये गए उद्धरण से पता चलता है भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं कि 'समोऽहं सर्व भूतेषु—।' मैं सब प्राणियों में समान भाव से रहता हूँ। यह समानता सामाजिक धारणा से ऊपर उठकर एक आध्यात्मिक-सत्य बन जाती है। कोई भी समाज इस प्रकार की सामाजिक और आध्यात्मिक समानता के बिना सभ्यता की प्राप्ति नहीं कर सकता।

(२) **राजनीतिक समानता**—मनुष्य जिस प्रकार स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है, उसी प्रकार वह एक राजनीतिक प्राणी भी है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी राज्य का सदस्य होता है तथा वह राज्य को अपनी प्रभुता समर्पित करता है। अतएव राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी समस्त जनता को बिना किसी भेद भाव के राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार प्रदान करे।

(क) अपने राज्य के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह प्रतिनिधियों के निर्वाचन में अपना मत दे सके। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि समानता के सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए हमें बेन्थम के इस कथन को स्वीकार करना होगा कि 'प्रत्येक व्यक्ति केवल एक मत दे सकेगा तथा किसी भी व्यक्ति को (चाहे वह कितना ही योग्य, धनी अथवा बली हो) एक से अधिक मत देने का अधिकार नहीं होना चाहिए।'

(ख) इसी प्रकार, प्रत्येक उस व्यक्ति को जो आवश्यक योग्यता रखता हो किसी भी सभा की सदस्यता अथवा राजकीय पद के लिए खड़े होने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय शासन के भीतर भारतीयों को ऊँचे पद नहीं दिए जाते थे, यह राजनीतिक असमानता का एक उदाहरण है। स्वाधीनता की प्राप्ति के उपरान्त हमारे महान् राष्ट्र के नागरिकों को यह समानता प्रदान की गई।

(ग) कोई व्यक्ति चाहे किसी भी राजनीतिक दल का सदस्य हो, जब तक वह सार्वजनिक सुरक्षा और शान्ति को भंग करने की चेष्टा नहीं करता उसे यह अधिकार है कि वह शासन करने वाले राजनीतिक दल के सदस्यों के समान ही भाषण देने की स्वतन्त्रता को उपभोग कर सके और पत्र-पत्रिकाओं में अपने विचारों का प्रकाशन कर सके।

राजनीतिक समानता एक अत्यन्त महत्वशाली धारणा है। यदि राज्य के भीतर कोई वर्ग एक लम्बे समय तक यह अनुभव करता रहे कि उसे अन्य वर्गों के साथ समान राजनीतिक अधिकार नहीं मिले हैं तो उसके भीतर क्रांति के अंकुर पैदा हो सकते हैं। राज्य-शासन में भाग लेने की आकांक्षा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में होती है और जनतन्त्र के सिद्धांत के अनुसार तो यह उसका अधिकार भी है। अतः सामाजिक और राजनीतिक स्थिरता के लिये राज्य के भीतर राजनीतिक समानता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(३) **वैधानिक समानता**—राज्य के भीतर शांति और सुरक्षा की भावना का विकास उसकी न्याय-व्यवस्था पर आधारित होता है। यदि किसी देश के लोग यह अनुभव करते हैं कि देश की विधि उनके मध्य भेद करती है तथा उसके सामने सबकी स्थिति एक समान नहीं है तो उनके मन में यह भावना स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जायगी कि उस राज्य के भीतर उनका जीवन सुरक्षित नहीं है। वैधानिक समानता का अर्थ है कि विधि के सामने राजा और रंक, पूंजीपति और श्रमिक तथा ब्राह्मण

और शूद्र की समानता है । विधि का कार्य न्याय करना है, समुचित न्याय तब तक असम्भव है जब तक कि सबको निष्पक्षता पूर्वक एक दृष्टि से न देखा जाय । विधि के लिये सब समान हैं जो भी व्यक्ति अपराध करता है विधि उसके लिये दण्ड की व्यवस्था करती है । वैधानिक समानता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि देश के भीतर न्याय की सर्वोच्च शक्ति कार्यपालिका के हाथों में न होकर एक स्वतन्त्र न्यायपालिका के हाथों में हो । भारतीय संविधान ने इस आवश्यकता की पूर्ति की है तथा सर्वोच्च-न्यायालय को भारतीय-नागरिकों की वैधानिक समानता का रक्षक नियुक्त किया है ।

विधि को निष्पक्ष और समदृष्टा होना चाहिये तभी नागरिकों में सुरक्षा की भावना उत्पन्न होगी और वे निश्चिन्तता पूर्वक अपनी शक्तियों के विकास में लग सकेंगे ।

(४) **सांस्कृतिक समानता**—राष्ट्रीय राज्यों का जब से विकास हुआ है, एक राज्य के भीतर अनेक जातीयताओं (नेशनेल्टीज) के लोग रहने लगे है । प्रत्येक जातीय समूह की अपनी पृथक संस्कृति होती हैं । राष्ट्रीय एकता को कायम रखते हुए इन जातीय-समूहों को अपनी संस्कृति के पालन और विकास का समान अवसर मिलना चाहिये । संस्कृति के भीतर भाव, भाषा, रहन-सहन, वेषभूषा और उत्सव-त्यौहार आदि मनाने की विशेष रीतियों का समावेश होता है । जिस प्रकार एक वाटिका की शोभा उसमें खिलने वाले रंग-बिरंगे फूलों से हैं उसी प्रकार एक राष्ट्र की शोभा उसके भीतर पनपने वाली अनेक संस्कृतियों से है । भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के विकास से साहित्य, कला और जीवन के आध्यात्मिक अनुभवों में वृद्धि और विकास होता है । अतः देश के भीतर पाई जाने वाली विविध संस्कृतियों को समान दृष्टि से देखा जाना चाहिये । भारत में कई प्रकार की प्रादेशिक संस्कृतियें मिलती हैं जैसे द्राविड़ संस्कृति आदि । इन सभी संस्कृतियों को हमारे महान-संविधान ने समानता प्रदान की है । किसी राष्ट्र के स्थिर जीवन के लिये सांस्कृतिक समानता भी अत्यन्त आवश्यक है ।

(५) **आर्थिक समानता**—इस युग में आर्थिक समानता अन्य सब प्रकार की समानताओं की नींव है । किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं होना चाहिये कि वह देश के भौतिक साधनों पर अधिकार जमा कर सम्पत्ति संचय करले तथा समाज के एक बड़े भाग का शोषण करता रहे । पूँजीवाद का सबसे महान् अभिशाप यही है कि उसने समाज के भीतर समृद्धि और दरिद्र (हैव्ज एण्ड हैव-नॉट्स) की विषमता उत्पन्न कर दी है ।

कोई व्यक्ति निर्धन रहकर अपने विकास की ओर नहीं बढ़ सकता, इतना ही नहीं धन के ढेर में डूबे रहकर भी व्यक्ति का विकास असम्भव है । इस प्रकार ऐसी व्यवस्था जो समाज के भीतर सम्पत्ति का असमान वितरण करके धनी और निर्धन का भेद पैदा करती है खतरे की दृष्टि से देखी जानी चाहिये । एक गरीब नागरिक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह निर्वाचनों में अपने मत का प्रयोग स्वतंत्रता पूर्वक कर सकेगा क्योंकि उसकी रोजी जिस पूँजीपति के हाथ में होती है वह हमेशा

ही उसके वोट को लेने के लिये नैतिक और अनैतिक हर प्रकार की चेष्टा करेगा।

आर्थिक समानता के बिना राजनैतिक समानता का कोई अर्थ ही नहीं है। राज्य का सबसे बड़ा धर्म यह है कि वह आर्थिक विषमता को समाप्त कर के समानता की स्थापना करे। इस दिशा में सोवियत समाजवादी-गण-राज्य-संघ, यूगोस्लाविया और चीन ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

भारतवर्ष में यह आर्थिक असमानता धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। महात्मा गाँधी ने इसे दूर करने का एक अहिंसात्मक सुझाव रखा है कि प्रेम और बुद्धि से तर्क के द्वारा धनवानों का हृदय और मस्तिष्क जीत कर समाज में आर्थिक समानता की स्थापना की जाए। महर्षि विनोबा अपनी दुर्बल देह को संकट में डालकर इस दिशा में एक महान प्रयोग कर रहे हैं। उन्होंने भूदान और सम्पत्ति-दान आन्दोलनों को हाथ में लिया है। गाँव-गाँव में पैदल घूमकर आर्थिक समानता का यह देवदूत सम्पत्ति-वानों को चेतावनी दे रहा है कि वह समय रहते सम्पत्तिहीनों को अपनी सम्पत्ति में साझीदार बना लें तथा सम्पत्तिहीनों को वह यह आशापूर्ण सन्देश दे रहा है कि 'रघुपति कै आही' और "सबै भूमि गोपाल की" अर्थात् सम्पत्तिहीनों का भी सम्पत्ति और धरती पर समान अधिकार है जो उन्हें मिलकर ही रहेगा।

हम आशा कर सकते हैं कि ये आन्दोलन किसी दिन सफल हो जायेंगे तथा हमारे देश में आर्थिक समता की स्थापना हो सकेगी। परन्तु यदि ऐसा न हो सका और लोगों की आर्थिक आय में यह हजारों गुना अन्तर रहा जो आज है, तो क्या पता भविष्य हमें कौन-सा कीमती पाठ पढ़ने के लिये विवश करे।

स्थायी आर्थिक समानता स्थापित करने का एक ही साधन है कि उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण करके छोटे पैमाने पर उत्पादन किया जाय तथा जिन उद्योगों का बड़े पैमाने पर चलाना आवश्यक हो उन्हें पूर्णतः राज्य के हाथों में दे दिया जाए। सहयोगी उत्पादन तथा ग्रामोद्योगी व्यवस्था (काटेज-इन्डस्ट्री) ही आर्थिक समानता की स्थापना करने में समर्थ हैं—विशेषकर भारत जैसे देश में जहाँ प्रकृति समृद्ध तथा जनसंख्या विशाल है।

(६) **धार्मिक समानता**—आज संसार के कुछ देशों को छोड़कर प्रायः सभी देशों ने धार्मिक समानता के सिद्धान्त को अपना लिया है। सब धर्म समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी धर्म का पालन करे, यह धार्मिक समानता का सार है। जिस राज्य में धार्मिक समानता का सिद्धांत स्वीकार किया जाता है उसे लौकिक राज्य (सेकूलर स्टेट) कहते हैं। राज्य की ओर से किसी विशेष धर्म को प्रोत्साहन या समर्थन नहीं मिलता। राज्य किसी धर्म के प्रचार को रोक भी नहीं सकता। भारत में कुछ दिनों से ईसाई मिशनरियों के प्रचार की चर्चा चल रही है, उसके बिषय में स्पष्टीकरण देते हुए भारत सरकार के संचार मंत्री श्री जगजीवन राम ने २६ मई १९५२ को लखनऊ में कहा था कि हमारे संविधान ने किसी राज्य-धर्म को स्वीकार नहीं किया है अतः राज्य शासन

किसी विशेष धर्म को प्रोत्साहन नहीं दे सकता । सरकार तब तक किसी धर्म के प्रचारकों की कार्यवाहियों को नहीं रोक सकती जब तक कि वे आपत्तिजनक सिद्ध न हों । हमारा संविधान धार्मिक स्वतन्त्रता का आश्वासन दिलाता है ।

अन्त में हम एक अन्य प्रकार की समानता का उल्लेख भी कर सकते हैं । संसार के भीतर जितने भी स्वतन्त्र राष्ट्र हैं चाहे वे छोटे हों या बड़े, उनका स्तर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से समान है । इसे हम राष्ट्रों की अन्तर्राष्ट्रीय समानता कह सकते हैं । उदाहरण के लिए संयुक्तराष्ट्र-संघ (यू० एन० ओ०) की साधारण सभा के सदस्य-राष्ट्रों में प्रत्येक को केवल एक मत देने का अधिकार होता है । संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, भारत और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ जैसे बड़े राष्ट्रों और ब्रिटेन, हालैंड, पोलैंड व फाँस जैसे छोटे राज्यों सबको संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा (जनरल असेम्बली) में समान पद दिया गया है । प्रत्येक राज्य अपनी स्वतंत्रता की दृष्टि से समान होता है । यही अन्तर्राष्ट्रीय समानता का सिद्धान्त है ।

योग्यता प्रश्न

१. स्वतन्त्रता की परिभाषा कीजिए । 'स्वतंत्रता के उपभोग के लिए बन्धन आवश्यक हैं ।' इस कथन की समीक्षा कीजिए ।

   Define liberty. 'Restraints are necessary for enjoyment of liberty.' Explain.

२. विधि और स्वतन्त्रता में क्या सम्बन्ध है ? स्वतंत्रता कितने प्रकार की होती है ? विस्तार से लिखिए ।

   What is the relation between law and liberty ? What are the various types of liberty ? Discuss in detail.

३. स्वतन्त्रता और समानता क्या परस्पर विरोधी हैं ? विस्तार से समझाइये ।

   Give a detailed account of the relation between liberty and equality. Is liberty opposed to equality ?

४. समानता की परिभाषा कीजिए । राज्य किस प्रकार समानता की स्थापना करता है ?

   Define equality. How does the State establish equality ?

५. समानता कितने प्रकार की होती है ? क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि आर्थिक समानता के बिना लोकतंत्र खोखला है ?

   What are the various types of equality ? Do you agree with the view that democracy has no meaning without economic equality ?

६. 'असमानता ही क्रांतियों का मूल कारण है ।' क्या आप अरस्तु के इस कथन से सहमत है ? तर्क दीजिए ।

   'Inequality is the root cause of all revolutions.'—Aristotle Discuss.

अध्याय १०

शासन-व्यवस्था

'शासन, मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानवीय बुद्धि की एक रचना है।'
—एडमंड बर्क

राज्य और शासन, इन दो शब्दों का प्रयोग हम निरन्तर करते आ रहे हैं। हमने राज्य की सत्ता, राज्य के उद्देश्य और राज्य के कार्यों का वर्णन पिछले अध्यायों में किया है। परन्तु राज्य एक अदृश्य संज्ञा है, वह एक राजनीतिक कल्पना है। यदि हम चाहें कि राज्य का कोई चित्र हमारे सामने आ जाय तो यह उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार ईश्वर का कोई वास्तविक चित्र बना सकता। यों तो ईश्वर के अनेक काल्पनिक चित्र बने हैं, ऐसे ही राज्य के भी अनेक काल्पनिक चित्र प्रत्येक विचारक ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार बनाने का प्रयत्न किया है। राज्य एक ऐसी आध्यात्मिक धारणा है जिसका प्रगट स्वरूप हमें विभिन्न रूपों मे देखने को मिलता है। शासन राज्य का एक ऐसा ही प्रमुख स्वरूप है।

शासन—राज्य का अपना एक निश्चित उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य अपनी ओर से शासन नामक संस्था का निर्माण करता है। शासन एक राजनीतिक संगठन है। यह राज्य की ओर से उसके कार्यों को पूरा करने के लिए बनाया जाता है, तथा इन कार्यो के करने में वह राज्य की प्रभुता का प्रयोग भी करता है। इस प्रकार शासन बाह्य दृष्टि से राज्य का प्रकट स्वरूप है। जब हम यह कहते हैं कि राज्य को हमारी रक्षा करनी चाहिए अथवा हमारे बालकों को शिक्षा देनी चाहिये तो उसका अर्थ यही होता है कि शासन इन कार्यो को पूरा करेगा। शासन वैधानिक तथा व्यावहारिक दृष्टियों से राज्य का प्रतिनिधि होता है। परन्तु राज्य और शासन दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं, दोनों में अंतर है। इसका वर्णन पीछे किया जा चुका है। इस स्थान पर हमें शासन और उसके विविध अंगों का उल्लेख करना है।

तीन कार्य—शासन राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तीन प्रकार के कार्य करता है—वह जो कुछ भी करना चाहता है उसके लिए सबसे पहले विधि (लॉ) बनाता है, तत्पश्चात् उसे लागू करता है तथा उसी के अनुसार न्याय करता है। इस प्रकार शासन के तीन भिन्न कार्य हुए—(अ) विधि-निर्माण, (ब) विधियों का पालन तथा (स) न्याय।

तीन अंग—इन तीनों कार्यों की पूर्ति के लिए शासन की सत्ता तीन अंगों में बँट जाती है। (१) विधि निर्माण करने वाले अङ्ग को विधायिका (लेजिस्लेचर), (२) विधियों का पालन कराने वाले अङ्ग को कार्यपालिका, तथा (३)न्याय करने वाले अङ्ग को न्यायपालिका कहते हैं।

(१) विधायिका (लेजिस्लेचर)

शासन के भीतर विधायिका का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। विधायिका का प्रधान कार्य विधि निर्माण(लॉ मेकिंग) है। शासन की सारी व्यवस्था विधि(कानून) पर टिकी हुई है यदि विधायिका विधि न बनाये तो कार्यपालिका और न्यायपालिका के लिए कोई कार्य ही न रह जाये। कार्यपालिका उन विधियों का पालन कराती है जो कि विधायिका द्वारा बनाई जाती हैं, तथा न्यायपालिका भी उन्हीं विधियों के आधार पर न्याय करती है। अतः सिद्ध होता है कि विधायिका शासन का सबसे महत्वपूर्ण अङ्ग है। आधुनिक जनतंत्रात्मक-युग में विधायिका का महत्व और भी बढ़ गया है क्योंकि वह जनता की प्रतिनिधि होती है तथा अपने निर्णयों में जनता की इच्छाओं को प्रतिबिम्बित करती है।

विधायिका के प्रमुख कार्य—विधायिका से हमारा तात्पर्य शासन के उस अंग से है जिसका निर्वाचन जनता शासन के संचालन के लिए करती है। शासन का यह अंग विविध प्रकार से कार्य करता है—(क) विधि निर्माण (ख) राज्य की वित्तीय-व्यवस्था (फाइनेन्शियल सिस्टम) पर नियन्त्रण, (ग) कार्यपालिका का निर्माण, (घ) राज्य की नीतियों का निर्धारण तथा कार्य-पालिका की कार्यवाहियों पर देख-भाल, (ङ) राज्य के प्रमुख (हैड ऑफ दी स्टेट) का निर्वाचन, (च) राज्य के कुछ अधिकारियों के विरुद्ध महाभियोग (इम्पीचमेंट) चलाना व सुनना, (छ) राज्य के कुछ कार्यपालिका कार्यों में भाग लेना तथा (ज) लोकमत (पब्लिक ओपीनियन) का निर्माण करना।

विधायिका का संगठन

विधायिका का संगठन दो प्रकार से होता है। उसमें या तो एक सदन (हाउस) होता है या दो सदन होते हैं। एक सदन की विधायिका को एकसदनात्मक विधायिका (यूनिकेमरल-लेजिस्लेचर) तथा दो सदनों वाली विधायिका को द्विसदनात्मक विधायिका (बाइकेमरल लेजिस्लेचर) कहते हैं।

एक सदन प्रणाली—एकसदनात्मक विधायिका का सबसे महान् गुण यह है कि इससे देश की विधि-सम्बन्धी नीति में समरूपता या एकरूपता स्थापित रहती है। इसके समर्थकों का कहना है कि विधायिका के भीतर जनता की इच्छा प्रकट करने के लिए एक ही सदन हो सकता है जिसे प्रतिनिधि सदन (रिप्रेजेन्टेटिव हाउस) कहा जाना चहिए।

इसकी दूसरी विशेषता यह है कि एक सदन अपनी इच्छा के अनुसार बिना किसी कठिनाई के आम जनता की भलाई के लिए आवश्यक विधियाँ बना सकता है तथा राज्य की नीतियाँ निश्चित कर सकता है। इस प्रकार उसे क्रांतिकारी-लोकतंत्रात्मक विधान बनाने में सुविधा रहती है।

यदि विधायिका के भीतर दो सदन हों और उनमें परस्पर विरोध रहे तो इस का परिणाम यह होगा कि देश की वैधानिक प्रगति रुक जायेगी। जो विधियाँ आवश्यक परिस्थितियों के कारण तुरन्त पारित (पास) होनी चाहियें उनके बनने में वर्षों लग सकते हैं जिससे हानि होने की सम्भावना रहती है। बेन्जामिन फ्रेंकलिन ने इसके लिये बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। उसने कहा है कि दो सदनों वाली विधायिका एक ऐसी गाड़ी है जिसमें एक घोड़ा आगे और एक घोड़ा पीछे जुड़ा हुआ हो तथा दोनों घोड़े गाड़ी को दो विरोधी दिशाओं में खींचने का प्रयत्न कर रहे हों। जनता की इच्छा भी दो नहीं होती वह सदा एक होती है। अतः वह एक सदन द्वारा ही प्रकट हो सकती है दो सदनों द्वारा नही।

लार्ड ब्राइस ने कहा है कि यदि दूसरा सदन पहले सदन का समर्थन करे तो दूसरे सदन का कोई महत्व नहीं है और यदि वह पहले सदन का विरोध करे तो वह हानिकारक है। इस प्रकार उनके विचार से दूसरे सदन का कोई उपयोग नहीं है।

लोक-तंत्रात्मक शासन में दो सदन रखने से व्यर्थ ही विधायिका के भीतर संघर्ष पैदा होता है तथा खर्च भी बढ़ जाता है।

द्वि-सदन प्रणाली—परन्तु संसार के प्रायः सभी जनतंत्रात्मक देशों में द्वि-सदनात्मक विधायिका पाई जाती हैं। इसके पक्ष में सर्वप्रथम तर्क यह दिया जाता है कि यदि एक सदन पर विधि बनाने में कोई नियंत्रण अथवा प्रतिबंध (चैक) न हो तो वह क्षणिक आवेश के भीतर ऐसी विधियाँ पारित कर सकता है जो हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं। दूसरा सदन उसके इस आवेश पर नियंत्रण लगाता है। जब वह विधि दूसरे सदन में विचार के लिए आती है तो वहाँ उस पर धीरज से शांतिपूर्वक विचार होता है। इसमें कुछ समय लग जाता है। इस बीच में पहले सदन के सदस्यों का आवेश भी शांत हो जाता है तथा जनता को भी इस विधि पर सोचने का अवसर मिल जाता है। जनता समाचारपत्रों अथवा सभा सम्मेलनों द्वारा उस पर अपना मत प्रकट करती है। इस प्रकार किसी विधि के बारे में समूचे राष्ट्र का मत इकट्ठा होने का अवसर मिल जाता है तथा समस्या पर शांतिपूर्वक और हर दृष्टि से विचार हो पाता है।

दूसरा तर्क यह है कि प्रथम सदन के सदस्य जब यह जानते हैं कि जिस विधेयक (बिल) पर वे विचार कर रहे हैं वह दूसरे सदन के सामने भी जायेगा और उस पर वहाँ भी विचार होगा तो वे अपना निर्णय गम्भीरता पूर्वक करते हैं। परन्तु दूसरा सदन न हो तो सत्ता के मद में एक सदन निरंकुश भी हो सकता है जिसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। विधि पारित करने में अत्यन्त शांति और गम्भीरता

पूर्वक विचार होना चाहिए क्योंकि उसका प्रभाव समूचे राष्ट्र के जीवन पर होता है, कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र पर भी उसका प्रभाव पड़ सकता है।

तीसरे, प्रत्येक राज्य के भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग रहते हैं, उनके हित भी भिन्न प्रकार के होते हैं। यह सम्भव नहीं है कि सभी व्यक्तियों के हितों का समुचित प्रतिनिधित्व एक सदन में हो जाय। उसके भीतर वे लोग भी निर्वाचित हो सकते हैं जो देश की बहुसंख्या के हितों का प्रतिनिधित्व कर सकें। विधि बनाने में राष्ट्र के सभी प्रकार के लोगों के हितों का ध्यान रखा जाना चाहिए। द्वितीय सदन इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है। उसमें देश के अल्प-संख्यक तथा विशिष्ट हितों (माइनॉरिटी-इन्टरेस्ट्स) को विशेष रूप से प्रतिनिधित्व दिया जाता है जैसे पूँजीपति, जागीरदार, वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यिक आदि।

अन्त में यह स्मरण रखना चाहिए कि संघीय राज्यों (फैडरल-स्टेट्स) में द्वितीय-सदन की आवश्यकता इसलिए होती है जिससे कि संघ के भीतर सम्मिलित राज्यों को पृथक-पृथक रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। सं० रा० अमेरिका की सिनेट में उसके राज्यों का प्रतिनिधित्व होता है। इसी प्रकार भारत भी एक संघ है उसकी राज्य सभा (द्वितीय सदन) में विभिन्न राज्यों व विशेष-हितों को पृथक-पृथक स्थान दिये गए हैं।

इस पद्धति के विरोध में वे ही तर्क दिये जाते हैं जिनका उल्लेख हम एक-सदनात्मक विधायिका के पक्ष में पीछे कर चुके है, यहाँ उनको दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

(२) कार्यपालिका (एक्जीक्यूटिव)

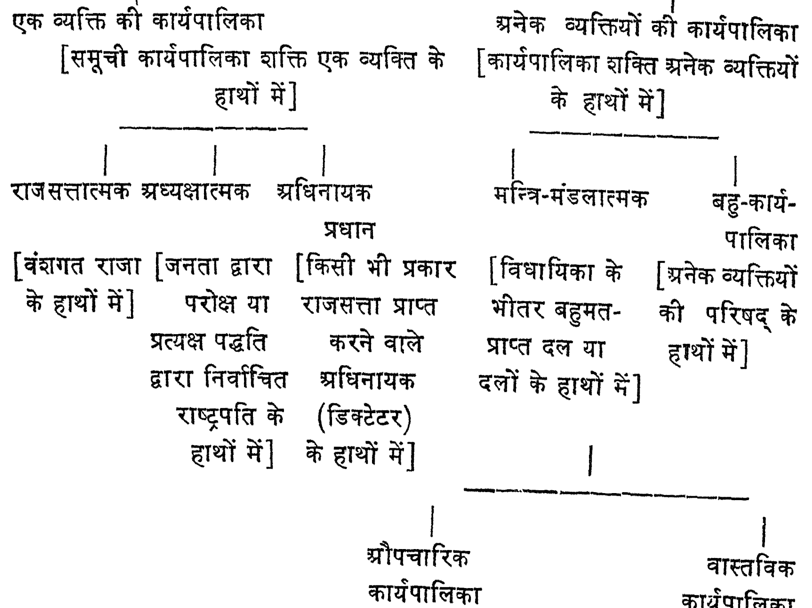
विधायिका जिन विधियों और नीतियों का निर्माण करती है उनके पालन कराने का महत्वपूर्ण कार्य कार्यपालिका करती है। कार्यपालिका राज्य के अनेक कार्यों को करती है। इसके लिए वह अपने काम को विभिन्न विभागों (डिपार्टमेंट्स) में बाँट लेती है, जैसे शिक्षा-विभाग, पुलिस विभाग, गृह-विभाग, विदेशी सम्बंध विभाग आदि। कार्यपालिका के दो भाग होते हैं—(क) प्रशासकीय, तथा (ख) राजनीतिक।

प्रशासकीय-कार्यपालिका—कार्यपालिका के प्रशासकीय अंग के अंतर्गत वे सैंकड़ों हजारों राज्य कर्मचारी तथा अधिकारी आते हैं जो राज्य की लोक सेवाओं (पब्लिक सर्विसेज) के सदस्य होते हैं। ये लोग प्रशासन के लिए पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। ये अपने कार्य के विशेषज्ञ होते हैं तथा स्थायी रूप से अपने विभागों के भीतर कार्य करते हैं। स्थाई कार्य-काल होने के कारण विशेष विषय में इनका ज्ञान और अनुभव निरंतर बढ़ता रहता है। इन लोगों को मंत्रिमंडल द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार कार्य करना होता है।

राजनीतिक कार्यपालिका—कार्यपालिका का दूसरा अंग राजनीतिक होता है।

इसका प्रधान कार्य विधायिका के आदेशों के अनुसार शासन की नीतियों का निर्णय करना है। यह अंग अपने इस महत्वपूर्ण कार्य में राज्य के स्थायी कर्मचारियों की सहायता लेता है। राजनीतिक-कार्यपालिका के सदस्य शासन के कार्यों में विशेषज्ञ नहीं होते। उन्हें इस पद पर प्रत्यक्ष या परोक्ष निर्वाचन द्वारा जनता नियुक्त करती है।

राजनीतिक कार्यपालिका का संगठन भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है—



इनमें से प्रत्येक प्रकार की कार्यपालिका का वर्णन हम संविधान नामक अध्याय में आगे करेंगे।

(३) न्यायपालिका (जुडीशियरी)

राज्य-शासन का तीसरा प्रधान अंग न्यायपालिका है। इसका कार्य न्याय करना है। न्याय विभाग राज्य का अंग होते हुए भी निष्पक्ष होता है तथा यदि किसी मामले में उसे यह सिद्ध हो जाये कि विधि का उल्लंघन राज्य-कर्त्ताओं की ओर से हुआ है अर्थात् उन्होंने कोई अपराध किया है तो वह उनको भी दण्ड दे सकता है। लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि, 'किसी शासन की श्रेष्ठता उसके न्याय-विभाग के अच्छे

संगठन पर निर्भर है'। नागरिक जीवन का सम्यक् विकास उसी देश में हो सकता है जहाँ न्यायपालिका अपने कार्यों को बिना किसी भेद-भाव के 'धर्म' और 'सत्य' के आधार पर करती है। विधियों की व्याख्या करते समय न्यायपालिका को उचित, अनुचित का ध्यान रखना पड़ता है। न्यायपालिका को हम नागरिकों की संरक्षिका कह सकते हैं। वह उनमें हस्तक्षेप करने वालों को दण्ड देकर उनकी रक्षा करती है। यह तभी हो सकता है जबकि वह कार्यपालिका और विधायिका के नियंत्रण से बहुत हद तक स्वतंत्र हो तथा न्यायाधीश चरित्रवान, ईमानदार, न्यायप्रिय तथा निःस्वार्थ हों, एवं लोकतंत्र के मूल सिद्धांतों और जनता की स्वतंत्रता का आदर करते हों। न्यायाधीशों को राजनीतिक कार्यों में भाग नहीं लेना चाहिए।

न्यायपालिका का कार्य—न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. व्यक्तियों के आपसी झगड़ों का निपटाना।

२. व्यक्तियों की स्वतंत्रता और उनके अधिकारों को शासकीय हस्तक्षेप से बचाना। यदि शासन अपनी सत्ता का उपयोग नागरिकों के अधिकारों का अपहरण करने के लिए करता है तो नागरिकों को अधिकार है कि वे न्यायालय में जाकर न्याय की माँग करें। न्यायालयों का कर्त्तव्य है कि वे नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा करें।

३. अपराध सिद्ध होने पर उन व्यक्तियों को दण्ड देना जो किसी सार्वजनिक अपराध में पकड़े गए हैं, जैसे—चोर, डाकू, हत्यारे, दंगा करने वाले, जेबकट आदि। न्यायालय यह प्रयत्न करता है कि किसी भी निर्दोष व्यक्ति को दन्ड न मिले और कोई अपराधी बिना दण्ड पाये छूट न सके।

४. कानूनों की व्याख्या करना। इसके विषय में हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं।

५. जिन मामलों में कानून लागू न होता हो अथवा कानून स्पष्ट न हो उनमें अपनी बुद्धि से निर्णय देना। ऐसे निर्णय विधि (कानून) का रूप ले लेते हैं तथा अन्य न्यायाधीश भी उन्हें मान्यता देते हैं।

६. जिन देशों में लिखित संविधान होते हैं वहाँ न्यायपालिका का प्रधान कार्य यह होता है कि यदि कोई व्यक्ति, उसके सामने राज्य की किसी साधारण विधि के बारे में यह शंका उठाये कि वह संविधान के विपरीत है तो वह उस विधि को संविधानिकता का निर्णय करे। यदि न्यायालय उस विधि को असंविधानिक अर्थात् संविधान के विरुद्ध समझता है तो वह विधि उस समय रद्द समझी जायेगी। इसी प्रकार वह कार्यपालिका के किसी कार्य को भी असंविधानिक घोषित कर सकती है इसे न्याय समीक्षा का अधिकार कहते हैं।

७. संघीय राज्य में राज्य तथा संघ के मध्य सत्ता का वितरण होता है। यदि कोई राज्य यह समझे कि संघ उसकी सत्ता में अनुचित हस्तक्षेप कर रहा है तो वह

सर्वोच्च न्यायालय के सामने अपने मामले को पेश कर सकता है। इस प्रकार न्यायालय संघीय राज्य में संघ और राज्यों के क्षेत्राधिकार सम्बन्धी झगड़ों को भी निपटाते हैं।

८. बहुत से देशों में विधायिका और कार्यपालिका को यह अधिकार होता है कि वे कोई भी काम करने से पूर्व न्यायालयों से वैधानिक परामर्श कर सकते हैं। ऐसे राज्यों में न्यायालयों का एक कार्य राज्य को वैधानिक परामर्श देना भी है।

९. इसके अतिरिक्त न्यायालयों को अपने न्याय-कार्यों की पूर्ति के सम्बन्ध में (बन्दी-प्रत्यक्षीकरण) (हैवियस कार्पस), परमादेश (मैंन्डेमस) और उत्प्रेक्षण (सेरीटो-रारी) आदि अनेक लेख (रिट्स) व निरोधादेश (इन्जकशन्स) जारी करने का अधि-कार होता है।

न्यायपालिका का संगठन

न्यायपालिका का संगठन एक पिरेमिड की भांति होता है जिसकी तली में नाना प्रकार के न्यायालय होते हैं तथा सबसे ऊपर एक सर्वोच्च न्यायालय होता है।

अधिकतर देशों में तीन प्रकार के सामान्य न्यायालय पाये जाते हैं—

(१) व्यवहार न्यायालय (सिविल कोर्ट), (२) दण्ड-न्यायालय (क्रिमिनल कोर्ट) तथा (३) राजस्व न्यायालय (रेवेन्यू कोर्ट)।

(१) व्यवहार न्यायालयों में व्यक्तियों के आपसी लेन-देन के तथा व्यवहार-सम्बन्धी झगड़ों का निर्णय किया जाता है।

(२) दण्ड न्यायालयों में मारपीट, फौजदारी, हत्या, डाका, चोरी, लूट-खसोट आदि भयंकर अपराधों के मामलों पर निर्णय किया जाता है।

(३) राजस्व न्यायालयों का सम्बन्ध राजस्व (रेवेन्यू) से होता है। जो लोग समय पर तथा नियत राजस्व नहीं चुका पाते उनके विरुद्ध चलाये जाने वाले मुकदमे राजस्व न्यायालय में लाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त प्रत्येक देश में अनेकों प्रकार के अन्य न्यायालय भी होते हैं, जैसे—आयकर न्यायालय (इनकमटैक्स कोर्ट), सैनिक न्यायालय (मिलिटरी कोर्ट) श्रम न्यायालय आदि।

फ्रांस व यूरोप के कुछ अन्य देशों में एक अन्य प्रकार के न्यायालय भी पाये जाते हैं जिन्हें प्रशासकीय न्यायालय (एडमिनिस्ट्रेटिव कोर्ट्स) कहा जाता है।

शक्तियों का पृथक्करण
(Separation of Powers)

शासन सत्ता के तीन स्वरूप हैं—विधायी सत्ता, कार्यकारी सत्ता और न्याय-कारी सत्ता। इन तीनों शक्तियों का विस्तृत विवरण पिछले अध्याय में किया गया है। यहाँ हमें एक मौलिक प्रश्न पर विचार करना है। वह प्रश्न यह है कि इन तीनों शक्तियों का आपस में क्या सम्बन्ध है? अर्थात् इन तीनों में हम किसे प्रधान शक्ति या मुख्य शक्ति मानें और किसे गौण, तथा इनमें परस्पर विरोध है या अवलम्बन?

शासन की सत्ता को विभाजित नहीं किया जा सकता। उसका कोई भी अंग स्वतंत्र रूप से अलग कोई हस्ती नहीं रखता। विधायी-शक्ति राज्य और शासन की विधियों और नियमों का निर्माण करती है, कार्यकारी शक्ति उनको लागू करती है और न्यायकारी शक्ति उनकी प्रतिष्ठा और मर्यादा की रक्षा करती है। शासन की यह सम्पूर्ण अविभाजित सत्ता ही राज्य की प्रभुता है। वह खंडित नहीं की जा सकती। शासन इस प्रभुता का प्रयोग राज्य की ओर से करता है। वास्तव में तो राज्य की प्रभुता का मूर्त स्वरूप ही शासन है।

पृथक्करण आवश्यक—अखंड होते हुए भी शासन सत्ता के विविध अंगों का पृथक्करण आवश्यक है। यदि तीनों शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के हाथों में रहें तो उनके दुरुपयोग की बहुत बड़ी सम्भावना रहती है। उस पर कोई प्रतिबंध या मर्यादा नहीं रह जाती और उसे इस बात का अवसर मिल जाता है कि वह उच्छृ-ङ्खलता के साथ मनमाने ढंग से कानून बनाये, उनका पालन कराये और उनका जैसा चाहे अर्थ लगाकर न्याय करे।

शक्तियों के पृथक्करण का प्रश्न व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता की माँग के साथ सामने आया। फ्रांस के एक प्रसिद्ध दार्शनिक मांटेसक्यू ने पहले-पहल इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि राज्य के भीतर व्यक्ति की स्वतंत्रता तभी कायम रह सकती हैं जब कि शासन की तीनों शक्तियाँ अलग-अलग लोगों के हाथों में रहें। मांटे-सक्यू ने सबसे अधिक जोर न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर दिया। संयुक्त-राज्य अमेरिका के संविधान निर्माताओं ने मांटेसक्यू के इस सिद्धांत को अपने यहां बहुत दृढ़ता से लागू किया। उन्होंने वहाँ कार्यपालिका-अधिकारी (राष्ट्रपति), विधायिका (काँग्रेस) और न्यायपालिका (सर्वोच्च न्यायालय) के बीच शासन की शक्तियाँ पृथक्-पृथक् बाँट दीं।

पूर्ण पृथक्करण असम्भव—अमेरिका में शक्तियों का पृथक्करण तो हुआ और तीनों शक्तियाँ अपने अपने क्षेत्र में काफी स्वतन्त्र भी हो गई लेकिन फिर भी उनके लिए यह सम्भव नहीं हुआ कि वह एक दूसरे से बिलकुल पृथक और स्वतंत्र की जा सकें। इसलिए उनको परस्पर एक दूसरे पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने की छूट दी गई। बिल्कुल अलग हो जाने पर भी वही परिणाम होता है जो तीनों शक्तियों के एक ही हाथों में एकत्रित होने पर होता है। तीनों शक्तियाँ एक व्यक्ति के हाथों में होने पर तो शासन केवल निरंकुश ही होता है—उन्हें पूर्ण रूप से स्वतंत्र कर देने पर वह निरंकुश और विश्रृंखल दोनों हो जाता है। शक्तियों का पूर्ण रूप से पृथक्करण होने पर विधायिका मनमाने नियम बना सकती है, कार्यपालिका मनमाने तरीके से कोई भी कानून लागू कर सकती है और न्यायपालिका बिना किसी कानून की परवाह किए फैसला दे सकती है। ऐसी स्थिति में हमें यही कहना होगा कि शक्तियों के पूर्ण पृथक्क-रण से शासन ही समाप्त हो सकता है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

जनतन्त्रात्मक राज्यों के भीतर व्यक्ति की स्वतंत्रता का बहुत बड़ा महत्व है। जनतंत्र की एक मौलिक धारणा है कि व्यक्ति स्वतंत्र वातावरण में ही अपना सम्यक् विकास कर सकता है। अतः व्यक्ति को शासन की निरंकुशता (टाइरैनी) से बचाने के लिए राज्य के भीतर एक स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता है।

न्यायपालिका शासन का ऐसा अंग है जो इस कार्य को पूरा करने की क्षमता रखता है। परन्तु न्यायपालिका नागरिकों के अधिकारों की रक्षा तथा शासन की स्वेच्छाचारिता से उनकी रक्षा तभी कर सकता है जब वह स्वयं निष्पक्ष अथवा स्वतन्त्र हो।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि उस पर कार्यपालिका एवं विधायिका का ऐसा नियंत्रण न हो कि वे उसके निर्णयों पर प्रभाव डाल सकें। न्यायपालिका शेष दोनों अंगों के दबाव से मुक्त होनी चाहिए तभी वह नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा कर सकेगी।

परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि न्यायपालिका कार्यपालिका और विधायिका से पूर्णतः पृथक् नहीं हो सकती। उसे अपने व्यय और न्यायाधीशों के चुनाव व नियुक्ति के लिये विधायिका एवं कार्यपालिका पर निर्भर रहना पड़ता है। इतना ही नहीं न्यायपालिका जिन विधियों के अनुसार न्याय करती है वे विधायिका द्वारा बनाई जाती हैं तथा न्यायपालिका जो निर्णय करती है उनका पालन कराने के लिए वह पूरी तरह कार्यपालिका पर आश्रित है।

तथापि न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका को केवल न्यायाधीशों की नियुक्ति का काम सौंपा जावे उसे उनके पदच्युत करने का अधिकार न मिले। किंतु यह भी ठीक नहीं कि उन्हें अनीति करने पर भी अलग ही न किया जा सके। अतः विधायिका को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वह लगभग २/३ बहुमत से न्यायाधीशों को महाभियोग चलाकर पदच्युत कर सके।

इसी प्रकार विधायिका के सदस्यो को न्यायाधीशों के वेतन व न्यायालयों के अन्य व्यय निश्चित करने का अधिकार तो रहे किंतु उन्हे यह अधिकार न हो कि वे अनुचित दबाव डालने के लिए उनके वेतन आदि को जब चाहे कम कर सकें। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि एक बार वेतन आदि निश्चित हो जाने पर साधारण परिस्थिति में वह न्यायाधीशों के पूरे कार्यकाल तक लागू रहे।

न्यायपालिका को यह भी स्वतंत्रता होनी चाहिए कि यदि शासन के कार्यपालिका व विधायिका अंग असांविधानिक (अनकान्स्टीट्यूशनल) रूप से नागरिकों के अधिकारों का अपहरण करें तो वह उन्हें वापिस दिला सके। जनता को न्यायपालिका की निष्पक्षता एवं न्याय भावना में विश्वास रहेगा तभी शासन को जनता का सहयोग मिल सकेगा अन्यथा राज्य में क्रांतियों का उदय अनिवार्यतः होगा ही।

भारत में न्यायपालिका को इस प्रकार की स्वतंत्रता संविधान द्वारा दी गई है। हमारा संविधान एक सीमा तक अपनी रक्षा तथा अर्थ लगाने व व्याख्या करने का कार्य न्यायपालिका को सौंपता है।

संघात्मक शासन में तो सर्वोच्च न्यायालय को और भी अधिक निष्पक्ष होना चाहिए क्योंकि यदि वह संघ शासन का पक्ष लेने लगे तो संघ-भावना ही समाप्त हो जायेगी एवं सम्मिलित राज्य निर्बल हो जावेंगे। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में न्यायपालिका बहुत अधिक स्वतंत्र है, वह सच्चे अर्थों में संविधान की संरक्षिका है।

योग्यता प्रश्न

१. शासन-व्यवस्था से आप क्या समझते हैं ? उसके प्रमुख अंगों का वर्णन कीजिए।
What is government ? What are its chief organs ?

२. विधायिका कितने प्रकार की होती हैं ? उसके प्रमुख कृत्यों का वर्णन कीजिए।
What are the various types of legislature ? What are its chief functions ?

३. कार्यपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए। वह कितने प्रकार की होती हैं ?
Give an account of the functions of executive. What are the various kinds of Executive ?

४. न्यायपालिका की स्वतंत्रता का क्या अर्थ है ? न्यायपालिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए।
What do you understand by the independence of Judiciary ? Describe the chief functions of Judiciary.

५. शक्ति-पृथक्करण का क्या अर्थ है ? क्या यह व्यावहारिक है ?
What is separation of powers ? Is it a practical ideal ?

—:o:—

अध्याय ११

संविधान

"उन नियमों के समूह को संविधान कहते हैं जो कि राज्य में राजसत्ता के वितरण अथवा उसके प्रयोग पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभाव डालें।"

—डायसी

राज्य की शासन व्यवस्था का निर्माण करने के लिए प्रत्येक राज्य में कुछ लिखित नियम या अलिखित परम्पराएं होती है। इन नियमों अथवा परम्पराओं का उल्लंघन आसानी से नहीं किया जा सकता है। राज्य के शासकों को इन नियमों को स्वीकार करना पड़ता है। जनता का प्रत्येक नया शासक स्वतन्त्रतापूर्वक यह निश्चय नहीं कर सकता कि वह शासन का ढाँचा किस प्रकार से बनाये, उसे युग-युग से चले आने वाले नियमों, परम्पराओं और मर्यादाओं के भीतर अपने आपको बाँधना पड़ता है। ये नियम, परम्परायें और मर्यादाएँ वैधानिक भाषा में संविधान कहलाती हैं।

संविधान की परिभाषा

संविधान की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं—'किसी राज्य की शासन व्यवस्था के विविध अंगों की रचना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों, उनकी शक्तियों, उनके कर्त्तव्यों तथा समूची शासन व्यवस्था की मूल-भावना को निश्चित करने वाले नियमों के संग्रह को संविधान कहते हैं।' संविधान के नियम किसी देश के सर्वोच्च नियम होते हैं अर्थात् उनका पालन करना शासक-वर्ग के लिए अनिवार्य होता है।

संविधान का उद्देश्य राज्य-शासन और उसके संगठन के स्वरूप को निश्चित करना है। वह यह निश्चित करता है कि शासन में कौन-कौन से अंग होंगे, उनका संगठन क्या होगा तथा उनकी रचना कैसे अर्थात् किस प्रकार की जायगी, उन अंगों में परस्पर क्या सम्बन्ध रहेंगे, उसकी शक्तियाँ क्या होंगी तथा उन्हें किन कार्यों और कर्त्तव्यों की पूर्ति करनी होगी। इतना ही नहीं वह यह भी निर्धारित करता है कि शासन के कार्यो के पीछे क्या भावना रहेगी अर्थात् संविधान राज्य की मौलिक नीतियों (फन्डामेन्टल पालिसीज) के लिए आधारभूत सिद्धान्त भी निश्चित करता है।

संविधान की परिभाषा के विषय में कुछ विद्वानों के मत देना ठीक होगा।

बोर्जो—'संविधान उन आधारभूत विधियों को कहते हैं जिनके अनुसार राज्य-शासन का संगठन और व्यक्तियों तथा समाज का आपसी सम्बन्ध निश्चित किया जाता है। यह संविधान लिखित और अलिखित दोनों प्रकार का हो सकता है।'

जेलिनेक—'संविधान उन विधियों का नाम है जिनके द्वारा राजसत्ता को प्रयोग में लाने वाले प्रमुख साधनों का स्वरूप निश्चित किया जाता है तथा जो यह भी निश्चित करते हैं कि इन विविध साधनों की रचना कैसे की जाय, इनके पारस्परिक सम्बन्ध क्या हों, इनका कार्यक्षेत्र क्या रहे तथा इनमें से प्रत्येक का राज्य के साथ क्या सम्बन्ध हो।'

ब्राइस—'राज्य का संविधान लिखित अथवा अलिखित विधियों अथवा नियमों का वह समूह है जो कि शासन के संगठन का स्वरूप, शासन के विविध अंगों के मध्य सत्ता के वितरण, नागरिकों के प्रति शासन के और शासन के प्रति नागरिकों के अधिकारों, तथा शक्तियों के प्रयोग के लिए सामान्य सिद्धान्तों को निश्चित करता है।'

ऑस्टिन—'संविधान वह है जो कि सर्वोच्च शासन के ढाँचे का स्वरूप निश्चित करे।'

अरस्तु—संविधान राज्य में विविध अंगों को संगठित करता है तथा यह निश्चित करता है कि शासक-मण्डल कैसा होगा व राज्य का उद्देश्य क्या होगा।'

लार्ड ब्राइस ने अपनी परिभाषा में कहा है कि संविधान के नियम शक्तियों के प्रयोग के लिए सामान्य सिद्धांतों को निश्चित करते हैं तथा अरस्तु ने कहा है कि वह यह निश्चित करते हैं कि राज्य का उद्देश्य क्या होगा। अभिप्राय यह है कि संविधान का कार्य केवल शासन के विविध अंगों के संगठन, रचना शक्तियों, कृत्यों व पारस्परिक सम्बन्धों का ही निश्चित करना नहीं है वरन् वह यह भी निर्धारित करता है कि राज्य का क्या उद्देश्य होगा अर्थात् जनता का जीवन कैसा होगा। राज्य की शासन व्यवस्था के अनेक अंग हो गये हैं, इन सबके मध्य सामंजस्य पैदा करने के लिए तथा राज्य की नीतियों के पीछे मौलिक सिद्धांत क्या होंगे। हमारे भारतीय संविधान में इसी भावना की पूर्ति के लिये 'राज्य की नीति के निर्देशक तत्व' (डाइरेक्टिव प्रिंसिपिल्स आफ स्टेट पालिसी) नामक अध्याय जोड़ा गया है जो यह बताता है कि शासन को अपनी नीतियाँ किन सिद्धांतों के आधार पर बनानी चाहियें।

संविधान का महत्व

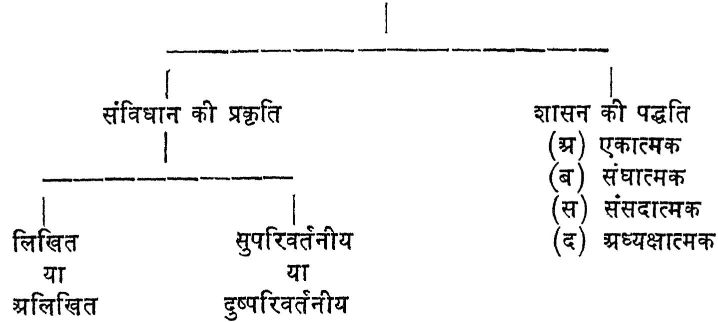
आधुनिक युग जनतन्त्र का युग है। जनतन्त्रात्मक देशों में संविधान का बहुत अधिक महत्व है। संविधान द्वारा शासकों की निरंकुश सत्ता पर प्रतिबन्ध लगाना सरल होता है। आजकल शासन व्यवस्था बहुत जटिल हो गई है, गाँव के चौकीदार और लेखापाल (पटवारी) से लेकर भारत के राष्ट्रपति तक अगणित शासकीय पद हैं तथा शासन को सुचारु रूप से चलाने और जनता के अधिकारों की रक्षा के लिये यह आव-

श्यक है कि शासन।व्यवस्था के आकार प्रकार और संगठन के विषय में कुछ स्थिर नियम हों। ये नियम ही संविधान हैं।

प्रत्येक राज्य का अपना एक संविधान होना आवश्यक है। जिन देशों में कोई संविधान नहीं पाया जाता अर्थात् जिनमें शासन रचना के कोई नियम नहीं हैं उन्हें हम अराजक के नाम से पुकार सकते हैं। संविधान का अर्थ है व्यवस्था के नियम। जिस राज्य में व्यवस्था के कोई नियम ही न हों उसे अराजक या अव्यवस्थित कहना सर्वथा उचित होगा।

संविधानों का वर्गीकरण

संविधानों के वर्गीकरण के दो आधार हैं—(१) राज्य शासन की पद्धति, (२) संविधान की प्रकृति।



(१) राज्य-शासन की पद्धति के आधार पर संविधानों का वर्गीकरण इस प्रकार कर सकते हैं जैसे ब्रिटेन का संविधान एकात्मक है और भारत का संघात्मक। भारत का संविधान संसदात्मक (मन्त्रिमण्डलात्मक) है तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का अध्यक्षात्मक। इसका अर्थ यह है कि शासन के स्वरूप की दृष्टि से संविधानों का वर्गीकरण किया जाये। वास्तव में वर्गीकरण शासन-व्यवस्था की प्रकृति पर आधारित है संविधानों की प्रकृति पर नहीं। अतः इसका विवेचन करना आवश्यक है। पिछले अध्याय में विविध शासन-पद्धतियों की विवेचना कर चुके हैं।

(२) संविधान की प्रकृति के आधार पर किया गया वर्गीकरण ही संविधानों का सच्चा वर्गीकरण होगा। इस दृष्टि से संविधान दो प्रकार के होते हैं—(अ) लिखित या अलिखित, (ब) सुपरिवर्तनीय अथवा दुष्परिवर्तनीय।

(अ) **लिखित या अलिखित संविधान**—लिखित संविधान से उस संविधान का बोध होता है जो किसी एक या अनेक लेख पत्रों में लिखा हुआ हो। ऐसे संविधान को अधिनियमित संविधान भी कहते है। लिखित संविधान प्रायः किसी संविधान निर्मातृ परिषद् (कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली) द्वारा एक निश्चित समय पर तथा निश्चित स्थान

पर बनाया जाता है, जैसे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका व भारत के संविधान। कभी-कभी किसी एक देश की संसद् भी अपने अधीन देशों के लिए संविधान बनाती है जैसे ब्रिटिश संसद ने १९१९ व १९३५ में भारतीय शासन अधिनियम बनाकर भारत में लागू किये थे। इसके अतिरिक्त राजा अथवा राज्य का प्रमुख अधिकारी एक अधिकार-पत्र (चार्टर) के रूप में भी किसी आश्रित देश को संविधान दे सकता है। ऐसा संविधान प्रायः निर्मित संविधान होता है।

लिखित संविधान की धाराएं स्पष्ट रूप से लिखी हुई होती है तथा वे राज्य की सर्वोच्च विधि अथवा संविधि (सुप्रीम लॉ आफ दी लैण्ड) मानी जाती हैं।

अलिखित संविधान किसी लेखपत्र के रूप में नहीं मिलते। उनका निर्माण नहीं किया जाता वरन् उनका धीरे-धीरे विकास होता है अतः उन्हें विकसित संविधान भी कहते हैं। वे परम्पराओं, प्रथाओं और अभिसमयों (कन्वेन्शन्स) पर आधारित होते हैं। ब्रिटेन का संविधान प्रायः अलिखित है। वह अधिकाँशतः प्राचीन प्रथाओं, परम्पराओं, लोकाचार और जनश्रुतियों पर आधारित है। इसको परिवर्तित करना लिखित संविधान के परिवर्तन की अपेक्षा अधिक सरल होता है। यदि लोकमत संविधान की किसी धारा के विरुद्ध हो जाय, तो बिना किसी काट-छाँट के छोड़ा जा सकता है परन्तु क्योंकि लिखित संविधान विधिवत् (बाकायदा) रीति से बनाया जाता है अतः उसका संशोधन (अमेन्डमेन्ट) भी विधिवत् रीति से (बाकायदा) ही हो सकता है।

संविधान का यह भेद अधिक वैज्ञानिक नहीं है क्योंकि पूर्णतः लिखित या पूर्णतः अलिखित संविधान कहीं नहीं मिलते। प्रत्येक लिखित संविधान अपने जन्म से ही विकसित होने लग जाता है और उसमें अनेकों परम्पराओं, प्रथाओं और अभिसमयों के रूप में अलिखित अंश का समावेश होने लगता है। तथा प्रत्येक अलिखित संविधान में लिखित अंश जुड़ने लगता है। उदाहरण के लिए अमेरिकन संविधान लिखित है परन्तु उसमें अनेकों अलिखित प्रथाओं, परिपाटियों का समावेश हो गया है। जो संविधान आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले एक कृषि-प्रधान और पिछड़े हुए देश में बनाया गया था वही संविधान आज इतना विकसित हो गया है कि वह एक पूर्णतया भिन्न औद्योगिक और शहरी सभ्यता वाले अमेरिका में सफलतापूर्वक काम में आ रहा है। ब्रिटिश संविधान प्रधानतः एक अलिखित संविधान है परन्तु उसमें भी अनेक लिखित अंशों का समावेश हो गया है जैसे पहले प्रधान मंत्री के पद का कोई भी उल्लेख संविधान में नही था, ब्रिटेन की इतनी बड़ी संस्था अर्थात् मन्त्रिमण्डल का संचालन केवल परम्परा के आधार पर होता था परन्तु अब उसके पद को संसद ने एक अधिनियम (ऐक्ट) पारित करके वैधानिक रूप दे दिया है।

कोई भी संविधान पूर्णतः लिखित या पूर्णतः अलिखित नहीं होता। हाँ यह कह सकते हैं कि कोई संविधान अधिकांशतः लिखित या अधिकांशतः अलिखित हो

सकता है। ब्रिटिश संविधान अधिकांशतः अलिखित है और अमेरिकन संविधान अधिकांशतः लिखित।

(ब) **सुपरिवर्तनीय तथा दुष्परिवर्तनीय संविधान**—सुपरिवर्तनीय संविधान (फ्लेक्सिबिल) के भीतर संविधि (कान्स्टीट्यूशनल ला) और साधारण विधि (आर्डिनरी लॉ) के मध्य कोई अन्तर नहीं होता। दोनों का स्थान राज्य में समान होता है तथा दोनों को राज्य की विधायिका (अर्थात् संसद) बना बिगाड़ सकती है। संसद जिस प्रकार साधारण विधियों का निर्माण करती है, उसके निर्माण के लिए न कोई अन्य संस्था ही होती है और न किसी विशेष ढंग के अपनाने की आवश्यकता ही। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ब्रिटिश संविधान है, उसमें संसद किसी भी संविधि को रद्द कर सकती है तथा किसी भी संविधि का निर्माण कर सकती है।

दुष्परिवर्तनीय संविधान (रिजिड) में संविधि और साधारण विधि में अन्तर होता है। संविधि राज्य की सर्वोच्च विधि मानी जाती है। साधारण विधि का निर्माण व अन्त राज्य की विधायिका कर सकती है परन्तु संविधि के मामले में उसे कोई शक्ति नहीं होती। यदि किसी संविधि में कुछ सुधार या परिवर्तन करना हो अथवा कोई नई संविधि बनानी हो तो उसके लिए एक अन्य संस्था की आवश्यकता पड़ती है। दुष्परिवर्तनीय संविधानों में यदि कोई सुधार करना हो तो वह साधारण विधि निर्माण की भाँति नहीं हो सकता, उसके लिए कोई विशेष प्रक्रिया (रीति) अपनानी पड़ती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में कोई साधारण परिवर्तन भी वहाँ की काँग्रेस नहीं कर सकती। उसके लिए विशेष ढंग अथवा प्रक्रिया का सहारा लेना पड़ता है।

सुपरिवर्तनीय संविधान अधिकांशतः अलिखित होते हैं और दुष्परिवर्तनीय अधिकांशतः लिखित। कुछ लेखक इन्हें क्रमशः आनम्य (लचीला) तथा कठोर संविधान के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में कोई भी संविधान इतना लचीला नहीं हो सकता कि उसे बिना जनता की इच्छा के बदला जा सके, इसी प्रकार कोई भी संविधान ऐसा नहीं हो सकता जो कि इतनी कठोर हो कि बदला ही न जा सके अतः इन्हें सुपरिवर्तनीय अर्थात् सरलता से बदला जा सकने वाला संविधान व दुष्परिवर्तनीय अर्थात् कठिनाई से बदला जा सकने वाला संविधान कहना अधिक ठीक होगा बदले दोनों जा सकते हैं एक सरलता से एक कठिनाई से। यदि कोई संविधान रोज बदला और तोड़ा मरोड़ा जा सके तो उसका कोई महत्व नहीं रहेगा। उसमें शासन व्यवस्था स्थायी और स्थिर नहीं रह सकती तथा यदि कोई संविधान इतना कठोर हो कि उसे बदला ही न जा सके तो वह देश की बदली हुई परिस्थितियों के साथ न चल सकने के कारण प्रगति में बाधक बन जायेगा तथा उसे उखाड़ फेंकने के लिये खूनी क्राँति होने की सम्भावना निरन्तर बनी रहेगी।

वही संविधान सर्वश्रेष्ठ है जिसमें न बेहद लचीलापन हो न बेहद कठोरता ही।

संविधान के आवश्यक तत्व

एक अच्छे संविधान में निम्न तत्वों का होना आवश्यक है—

(१) **शासन व्यवस्था का स्पष्ट वर्णन**—शासन के संगठन, रचना, उसके विविध अंगों की शक्तियों, उनके कार्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना।

(२) **नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख**—उनके उन अधिकारों का वर्णन जिन्हें राज्य-शासन भी साधारण परिस्थितियों में नहीं छीन सकता।

(३) **राज्य की नीति के सिद्धान्तों का वर्णन**—उन सिद्धान्तों का उल्लेख जिनके अनुसार राज्य को अपनी नीतियाँ बनानी चाहियें।

(४) **आपात काल (एमरजेन्सी) में सत्ता के प्रयोग की व्यवस्था**—जब देश किसी संकट में पड़ जाये तो उस संकट से छुटकारा पाने के लिए सत्ता का किस प्रकार प्रयोग किया जाये। भारतीय संविधान में उल्लेख किया गया है कि आपात काल में राज्य की समूची सत्ता को राष्ट्रपति अपने हाथ में लेकर राष्ट्रीय संकट का सामना कर सकता है परन्तु उस पर भी कुछ मर्यादायें लगाई गई हैं। इस सब व्यवस्था का वर्णन संविधान में किया जाना चाहिये जिससे संकट आने पर मुँह ताकने की आवश्यकता न पड़े।

(५) **संशोधन की रीति (मैथड आफ एमेन्डमेन्ट) का वर्णन**—प्रत्येक संविधान के भीतर यह उल्लेख किया जाना चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर उसे किस प्रकार बदला अर्थात् संशोधित किया जा सकता है। यह उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि जिन संविधानों के संशोधन की कोई रीति नहीं होती उन्हें बदलने के लिये क्रांति और विप्लव की आवश्यकता पड़ती है जिससे समूचे राष्ट्र का जीवन और उसकी सभ्यता संकट में पड़ सकती है।

संविधान का विकास

संसार परिवर्तनशील है। प्रत्येक राष्ट्र का जीवन, उसकी आवश्यकताएँ और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां हर क्षण बदल रही हैं। अतः उसके संविधान का भी विकास निरन्तर होना चाहिए तभी वह बदलती हुई परिस्थितियों में अपनी उपयोगिता कायम रख सकेगा।

संविधान का विकास मुख्यतः तीन साधनों द्वारा होता है—

(१) **प्रथाओं और परम्पराओं द्वारा**—प्रत्येक संविधान के चारों ओर उस देश की जनता के चरित्र और सामाजिक आदर्शों के अनुसार कुछ प्रथाओं और परम्पराओं का विकास होता रहता है। ये प्रथायें और परम्परायें संविधान की कार्यविधि को बहुत कुछ बदल देती हैं। ब्रिटेन में संविधानिक दृष्टि से राजा सर्वशक्तिमान है परन्तु वहाँ ऐसी परम्परायें बन गई हैं कि राज्य की सम्पूर्ण सत्ता मन्त्रिमण्डल और संसद के हाथों में आ गई है।

(२) **न्यायाधीशों के निर्णयों द्वारा**—संविधान की व्याख्या करने और उनके

अर्थ लगाने का काम न्यायाधीशों का होता है । चतुर और कुशल न्यायाधीश समय की गति और आवश्यकता को ध्यान में रखकर उसकी व्याख्या करते हैं । वे संविधान की भाषा के अभिप्राय और प्रयोजन की व्याख्या भी करते है इससे संविधान विकसित होता है तथा समय की माँग की पूर्ति कर पाता है ।

(३) **संविधानिक संशोधनों द्वारा**—प्रत्येक संविधान की अपनी संशोधन की रीति होती है जिसके द्वारा आवश्यकता पड़ने पर उसमें सुधार और परिवर्तन किये जा सकें । समय-समय पर इस साधन का प्रयोग भी किया जाता है जिससे संविधान देश की प्रगति में रोड़ा न अटका सके ।

एक विकासशील संविधान ही स्थायी व टिकाऊ हो सकता है, कठोर और अपरिवर्तनीय संविधान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

एकात्मक संविधान

एकात्मक संविधान—इस संविधान के भीतर राज्य की सम्पूर्ण प्रभुता एक केन्द्रीय शासन में निहित होती है अर्थात् समूचे राज्य के लिए एक सर्वोच्च विधायिका, एक सर्वोच्च कार्यपालिका तथा एक न्यायपालिका होती है । शासन (एडमिनिस्ट्रेशन) की सुविधा की दृष्टि से राज्य को अनेक प्रशासकीय क्षेत्रों में बांटा जा सकता है परन्तु उन सबका शासन एक केन्द्र से चलता है । इसी कारण इसे एकात्मक (यूनिटरी) शासन व्यवस्था कहते है ।

एकात्मक संविधान के भीतर राज्य की सत्ता का वितरण नहीं होता । एक केन्द्रीय शासन समूची राज्य सत्ता का प्रयोग करता है अन्य सभी प्रशासकीय अधिकारी अथवा निकाय (बॉडीज) उसके आधीन होते हैं ।

ऐसी व्यवस्था ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, बेलजियम, हॉलैंड आदि देशों में पाई जाती है । भारत में भी १५ अगस्त १९४७ से पूर्व यही पद्धति प्रचलित थी । शासन की समूची शक्ति केन्द्रीय शासन के पास सुरक्षित थी, उसकी ओर से शासन की सुविधा की दृष्टि से अनेक प्रांतीय गवर्नरों और उनके परामर्शदाताओं को कुछ शक्तियां धरोहर के रूप में दे दी थीं जिन्हें जब चाहे केन्द्रीय शासन वापिस ले सकता था । स्वतन्त्रता प्राप्ति तथा २६ जनवरी १९५० को नवीन संविधान की घोषणा के उपरान्त यह स्थिति बदल गई है ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि एकात्मक-शासन व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय शासन की संस्थाएं (लोकल गवर्नमेंट बॉडीज) तो होती हैं, परन्तु उनकी अपनी कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं होती । वे सब अपनी सत्ता केन्द्रीय शासन से प्राप्त करती है उन्हें हम केन्द्रीय शासन व्यवस्था की एजेंट मात्र कह सकते हैं । केन्द्र जब चाहे इन शक्तियों को वापिस ले सकता है ।

एकात्मक संविधान के गुण—(१) एकात्मक व्यवस्था का प्रधान गुण यह है कि राज्य की समस्त विधियाँ एक ही विधायिका द्वारा बनाई जाकर एक ही कार्य-

पालिका द्वारा लागू किये जाने के कारण राज्य भर में विधियों की एकरूपता मिलती है अर्थात् देश के हर कोने में एक सी विधियां मिलती है। इस कारण शासन सुदृढ़ व व्यवस्थित रहता है।

(२) एकात्मक शासन की नीतियाँ स्थिर और समान होती हैं। विदेशों के साथ सम्बन्धों की दृष्टि से एकात्मक-राज्य अधिक सुदृढ़ व शक्तिशाली होता है क्योंकि उसमें राज्य की समस्त सत्ता एक ही केन्द्र में केन्द्रित होती है। केन्द्रीय शासन सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न होने के कारण प्रत्येक विषय पर अन्तिम निर्णय कर सकता है उसे अपने किसी भी प्राप्त अथवा क्षेत्र के साथ संघर्ष का सामना नही करना पड़ता।

(३) एकात्मक शासन कम व्ययशील (कम खर्चीला) होता है तथा उसमें समय का दुरुपयोग भी नही होता। एक ही विधायिका, कार्यपालिका और न्याय-पालिका समूचे राज्य पर शासन कर लेती है। इसमें अनेक शासन-व्यवस्थाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती अतः एक ही प्रकार के कार्य के लिए दो प्रकार के अधिकारी नहीं रखने पड़ते—केन्द्रीय और प्राँतीय। इसमें एक ही प्रकार के अधिकारी राज्य के समस्त कार्यो का संचालन कर लेते है इससे समय और सार्वजनिक-धन की बचत होती है।

(४) एकात्मक राज्य में चाहे कितने भी प्राँत अथवा जिले हों परन्तु नागरिक केवल राज्य का ही सदस्य होता है अर्थात् उसे दोहरी नागरिकता प्राप्त नही होती। इससे निष्ठाओं के मध्य संघर्ष नहीं होता तथा देश-भक्ति को प्रोत्साहन मिलता है। एकात्मक राज्यों में एकता और राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती है।

दोष—(१) एकात्मक शासन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके भीतर जनतंत्र भली प्रकार नहीं पनप सकता। जनता के लिए यह आवश्यक है कि जनता स्थानीय शासन को स्वयं चलाये तथा उसमें उसे काफी स्वतंत्रता हो। एकात्मक शासन पद्धति में राज्य की सम्पूर्ण सत्ता केन्द्रीय शासन के हाथों में रहती है तथा स्थानीय शासन की संस्थायें उनके हाथों में कठपुतली के समान नाचती है। उनकी अपनी स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं, उन्हें पग-पग पर केन्द्रीय शासन के नियमों, उसके अनुशासन और नियंत्रण से चलना पड़ता है तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करना होता है।

इनसे न तो स्थानीय प्रश्नों का ठीक-ठीक हल ही होता है न जनता को स्थानीय शासन में भाग लेने का पूरा-पूरा अवसर ही मिलता है। एक केन्द्र में बैठा हुआ शासन स्थानीय समस्याओं को उतनी भली भाँति नहीं समझ सकता जितना कि स्थानीय संस्थायें समझ सकती हैं। एकात्मक शासन में केन्द्रीय शासन अवश्य अधिक मजबूत हो जाता है परन्तु स्थानीय विकास नही हो पाता। जनतंत्र के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि जनता को शासन चलाने का प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) मिले। यह प्रशिक्षण स्थानीय संस्थाओं में ही मिल सकता है परन्तु एकात्मक शासन पद्धति में स्थानीय संस्थाओं को स्वतंत्रता प्राप्त न होने के कारण नागरिकों को यह प्रशिक्षण नहीं मिल पाता। इससे जनतंत्र का विकास अवरुद्ध होता है।

(२) एकात्मक शासन बड़े राज्यों में सफल नहीं हो सकता क्योंकि विभिन्न भाषा, प्रजाति (रेस), वेषभूषा तथा धर्म के लोगों पर केन्द्र से शासन करना सरल व सुविधाजनक नहीं होगा। उन्हें भिन्न उपराज्यों में बाँट कर अपने शासन की व्यवस्था में पर्याप्त स्वतंत्रता दी जानी चाहिए तथा केन्द्रीय शासन के पास केवल वे शक्तियां ही छोड़नी चाहियें जिनका सम्बन्ध समूचे राष्ट्र के जीवन से हो। आधुनिक काल में सभी बड़े देश एकात्मक व्यवस्था को त्याग कर संघात्मक पद्धति को अपना रहे है जैसे अमेरिका, स्विट्जरलैंड, भारत आदि।

संघात्मक संविधान

(१) संघात्मक व्यवस्था (फेडरल सिस्टम) में राज्य की प्रभुता का प्रयोग दो शासन-व्यवस्थायें करती हैं, एक संघीय शासन व्यवस्था तथा दूसरी सम्मिलित राज्यों अथवा प्रदेशों की शासन-व्यवस्थायें।

(२) जब अनेक राज्य अपनी स्वतंत्र सत्ता को बनाये रखते हुये एक ऐसे नये राज्य और शासन का निर्माण करते है जिसे कि राज्यों के सम्मिलित हितों से सम्बन्धित विषयों के प्रशासन (एडमिनिस्ट्रेशन) का अधिकार दिया गया हो, तो उसे संघीय-राज्य अथवा शासन कहते हैं। संघ वह राज्य है जिसके अनेकों राज्य एक साथ मिल कर अपने कुछ अधिकार व अपनी कुछ सत्ता उसे सौप दें तथा अपने-अपने क्षेत्र में अपनी स्वतंत्रता बनाये रक्खें।

(३) संघात्मक शासन व्यवस्था का आधार एक संविधान (कान्स्टीट्यूशन) होता है जो कि लिखित और दुष्परिवर्तनीय होना चाहिए। लिखित तो इस कारण होना चाहिए जिससे कि संघ और राज्यों की शक्तियों का पृथक-पृथक उल्लेख किया जा सके। दोनों में संघर्ष होने पर लिखित संविधान के आधार पर ही निर्णय किया जा सकता है। संविधान दुष्परिवर्तनीय इस कारण होना चाहिए जिससे कि अकेला संघ या अकेला राज्य अपनी मर्जी से उसे बदल न सके।

(४) संघात्मक शासन में शक्तियों का वितरण बहुत महत्वपूर्ण बात है। संघ को जो शक्तियाँ दी जाती है संघ शासन केवल उन्हीं शक्तियों का प्रयोग कर सकता है उसे राज्य के शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता। राज्य अपने शासन के मामले में अपने विषयों और अपनी शक्ति के भीतर पूर्णतया स्वतन्त्र होते हैं वे भी संघ शासन के विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते। जो विषय दोनों को मिले होते हैं उन्हें समवर्ती विषय (कान्करेन्ट सब्जैक्ट्स) कहते हैं। उन पर दोनों विधि निर्माण कर सकते हैं परन्तु यदि दोनों की विधियों में संघर्ष हो तो राज्यों को झुकना पड़ेगा तथा संघ शासन की विधियाँ ही मान्य समझी जायेंगी।

(५) संघात्मक व्यवस्था के भीतर प्रत्येक व्यक्ति को दोहरी नागरिकता मिलती है, अपने राज्य की नागरिकता और संघ की नागरिकता। परन्तु यह आवश्यक नहीं है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में दोहरी नागरिकता पाई जाती है किन्तु भारत में केवल

एक ही नागरिकता होती है। प्रत्येक व्यक्ति संघ का सदस्य होता है तथा वह भारत का नागरिक कहलाता है, उसे भारत की भूमि के किसी भी भाग में रहने का अधिकार है। हमारे यहाँ राज्य की कोई पृथक् नागरिकता नहीं होती, हम सब भारतीय नागरिक हैं।

(६) संघात्मक-शासन-पद्धति के भीतर एक सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) की अत्यन्त आवश्यकता होती है जो कि संविधान के आधार पर संघशासन व राज्य शासनों के मध्य उठने वाले अथवा एक राज्य शासन और दूसरे राज्य शासन के संघर्षों का निपटारा कर सके तथा संविधान की धाराओं की व्याख्या और उनका ठीक अर्थ बता सके। सर्वोच्च न्यायालय संघ व राज्यों की शक्तियों की व्याख्या करता है तथा प्रत्येक को अपने अपने क्षेत्र के भीतर रखकर कार्य करने के लिए बाध्य करता है। सर्वोच्च न्यायालय संविधान की रक्षा भी करता है। यदि उसको यह बताया जाय कि किसी व्यक्ति अथवा संघ या राज्य शासन ने संविधान का उल्लंघन किया है तो वह उसे दण्ड दे सकता है।

(७) संघात्मक व्यवस्था में संघ-शासन अपने कार्यों की पूर्ति के लिए पृथक राज्य कर्मचारियों की नियुक्ति करता है परन्तु कभी-कभी वह राज्यों के कर्मचारियों द्वारा ही कार्य करा लेता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कार्य के लिये पृथक कर्मचारियों की नियुक्ति की ही जाये।

संघात्मक संविधान के गुण—(१) संघात्मक संविधान का एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि इसके भीतर एक बड़ी मात्रा में स्थानीय स्वशासन होता है। सारी व्यवस्था एक ही केन्द्र से नहीं होती। प्रादेशिक सरकारें शासन-व्यवस्थाओं के अनुसार नियम बनाती और प्रशासन करती है। इससे केन्द्रीय शासन का बोझ भी घट जाता है और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार ठीक ठीक कार्य भी हो जाता है।

(२) दूसरे इसमें नागरिकों को स्थानीय स्वशासन में भाग लेने का पूरा-पूरा अवसर मिलने के कारण उन्हें राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है और वे देश की समस्याओं को भली प्रकार समझ पाते हैं।

(३) इसमें भिन्न-भिन्न भाषा और धर्म के लोगों को अपनी सांस्कृतिक उन्नति करने का पूरा अवसर मिलता है तथा ये संतुष्ट रहते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता में सहायता मिलती है।

(४) संघात्मक शासन में राजसत्ता इतनी अधिक व्यापक अर्थात् फैली हुई होती है कि उसमें किसी एक व्यक्ति या वर्ग (गुट) के लिए यह सम्भव नहीं होता कि वह जबरदस्ती राज्य पर अपना अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) जमा सके।

दोष—संघात्मक शासन पद्धति में कुछ कमियाँ भी हैं। (१) सर्वप्रथम तो यह कि यह पद्धति केवल बड़े राज्यों में ही लागू हो सकती है। इसमें स्विट्जरलैंड एक अपवाद है उसका कारण यह है कि वहाँ जर्मन, इटालियन व फ्रेंच आदि अनेक जाती-

यताओं (नेशनेलिटीज) के लोग रहते है जिसके कारण वहाँ संघात्मक शासन पद्धति को लागू करना आवश्यक हो गया था।

(२) संघात्मक शासन अन्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों को उतनी अच्छी प्रकार नहीं बनाये रख सकता जितने कि एकात्मक राज्य। उसकी शक्ति और सत्ता विभाजित रहती है, एक केन्द्र में केन्द्रित नहीं रहती जिसके कारण उसकी शक्ति कम हो जाती है।

(३) संघात्मक-व्यवस्था के अन्तर्गत देश के भिन्न राज्यों में भिन्न प्रकार की विधियाँ पाई जाती हैं। सारे देश की शासन-व्यवस्था में एकरूपता नहीं होती। उत्तर प्रदेश में जमींदारी व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है परंतु कुछ अन्य प्रदेशों में यह अभी तक जागीरदारी व ताल्लुकेदारी के रूप में जीवित है।

(४) संघात्मक राज्य की स्थिति भीतर से भी निर्बल होती है, कभी-कभी एक या अनेक उपराज्य (कान्स्टीट्यूएन्ट स्टेट) मिलकर उसका विरोध करने लगते है, ऐसे समय पर उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(५) संघ के भीतर धन और समय का बहुत अपव्यय होता है। एक ही प्रकार की विधियों को बनाने के लिए अनेक विधायिकाएँ (लेजिस्लेचर्स) होती हैं तथा संघ व प्रत्येक राज्य में एक ही कार्य के लिए पृथक-पृथक राज-कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। इससे धन का बहुत व्यय होता है और समय भी बहुत नष्ट होता है।

परन्तु कुल मिलाकर संघ शासन आधुनिक समय में एकात्मक शासन की अपेक्षा अधिक उपयोगी और जनतन्त्र का पोषक सिद्ध हुआ है। संसार के प्रायः सभी बड़े राज्य इसे अपनाते जा रहे हैं।

मन्त्रिमण्डलात्मक अथवा संसदात्मक संविधान

मंत्रिमण्डलात्मक शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमण्डल विधायिका अर्थात् संसद के प्रति उत्तरदायी (जवाबदेह) होती है। इसी कारण इसे संसदात्मक पद्धति (पार्लियामेंट्री सिस्टम) भी कहते है।

इस पद्धति में शासन का प्रधान अथवा प्रमुख केवल नाममात्र का सत्ताधारी होता है। वास्तविक सत्ता एक मंत्रिमण्डल के हाथों में होती है जिसका निर्माण संसद् के बहुसंख्यक दल (मेजारिटी पार्टी) में से होता है। यह मंत्रिमण्डल अपने कार्यों और नीतियों के लिए संसद के सामने उत्तरदायी होता है अर्थात् संसद् के सदस्य मंत्रिमण्डल के सदस्यों से उनके कार्यों और नीतियों के विषय में प्रश्न पूछ सकते हैं तथा यदि संसद् के बहुसंख्यक सदस्य यह समझते हैं कि मंत्रिमण्डल ठीक ढंग से कार्य नहीं कर रहा है अर्थात् यदि वे उसकी नीतियों और कार्यप्रणाली से असहमत हैं तो वे उसके प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे पद त्याग करने के लिए विवश कर सकते हैं।

मंत्रिमण्डल यद्यपि राज्य की नीतियाँ निश्चित करता है तथा विधेयकों को

तैयार करके संसद के सामने रखता है अर्थात् वह संसद का नेतृत्व व मार्गदर्शन करता है तथापि वह संसद के अधीन होता है। संसद की अनुमति के बिना वह कुछ भी नहीं कर सकता। इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत राज्य की प्रभुता संसद में निहित होती है। संसद राज्य की सर्वोच्च सत्ता की स्वामिनी मानी जाती है तथा वह किसी भी समय मंत्रिमण्डल को पदच्युत कर सकती है।

मन्त्रिमण्डलात्मक शासन में जब हम मंत्रिमण्डल के उत्तरदायित्व का उल्लेख करते हैं उससे हमारा अभिप्राय यह होता है कि वह विधायिका अर्थात् संसद के लोकप्रिय सदन (पापुलर चेम्बर) के प्रति उत्तरदायी होता है जैसे ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल लोकसभा (हाउस आफ कामन्स) के प्रति उत्तरदायी होता है लार्ड सभा के प्रति नहीं। इसी प्रकार भारत में भी वह राज्य सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं होता।

संसद के नये निर्वाचनों के पश्चात् राज्य का नाममात्र अध्यक्ष चाहे वह ब्रिटेन की भाँति राजा (या रानी) हो अथवा भारत और फ्राँस की भाँति राष्ट्रपति हो, संसद में बहुमत-दल के नेता को बुलाकर उसे मन्त्रिमण्डल के निर्माण का निमंत्रण देता है। उसके पश्चात् वह नेता अर्थात् प्रधान मंत्री अपने दल के सदस्यों से मिलकर उनमें से कुछ प्रमुख व्यक्तियों को छाँट लेता है जिन्हें कि राज्य का अध्यक्ष मंत्रि-पद पर नियुक्त कर देता है।

प्रत्येक मंत्री शासन में एक या अनेक विभागों का राजनीतिक अध्यक्ष (पोलिटिकल चीफ) होता है। वह अपने विभाग (डिपार्टमेंट) की नीतियों और कार्यवाहियों के लिये संसद के समक्ष उत्तरदायी होता है।

मंत्रिमण्डल के सदस्य संसद के भी सदस्य होते हैं। वे संसद की सभाओं में बैठते, उसके वाद-विवाद में भाग लेते और मत-दान भी करते हैं। वे बिना संसद की स्वीकृति और सहमति के एक भी पाई न व्यय कर सकते हैं और न कर (टैक्स) के रूप में वसूल ही कर सकते है।

राजा या राष्ट्रपति के नाम से जितने कार्य किये जाते हैं उन सबके लिए राजा या राष्ट्रपति उत्तरदायी नहीं होता। उनका उत्तरदायित्व सम्बन्धित मंत्रियों पर होता है। मंत्रिमण्डलात्मक शासन व्यवस्था में राज्य का नाममात्र अध्यक्ष स्वयं कुछ भी नहीं कर सकता। कहा जाता है कि वह कोई भी गलती नहीं करता अर्थात् प्रशासन में जो भी कमियाँ और गलतियाँ होती है उन सबका उत्तरदायित्व मंत्रिमण्डल के कन्धों पर होता है। प्रत्येक मंत्री संसद के सामने अपने कार्यों का ब्यौरा देता है तथा उसे अपने विभाग से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देना पड़ता है। उसे हर क्षण अपने कार्यों की आलोचना का भय बना रहता है, इसका कारण यह है। राज्य की नीतियों और योजनाओं का निर्णय मंत्रिमण्डल करता है राज्य का नाम-मात्र अध्यक्ष नहीं।

मंत्रिमण्डलात्मक संविधान के गुण-दोष—मंत्रिमण्डलात्मक शासन के भीतर कार्यपालिका और विधायिका में परस्पर गहरा सम्बन्ध व सहयोग स्थापित हो जाता है जिसके कारण एक ओर तो मन्त्रियों को शासन की नीतियाँ निर्धारित करने का

समुचित अवसर मिल जाता है, दूसरी ओर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि राज्य की नीतियों की आलोचना कर पाते हैं तथा उनके कार्यों पर आवश्यक नियन्त्रण भी रख पाते हैं इसके अतिरिक्त वे सार्वजनिक धन के उपयोग पर भी आँख रख सकते हैं। मंत्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी होता है इस कारण वह सदा संसद की आलोचना का शिकार बनने से डरता है। यह भय उसे निपट-निरंकुश (डेस्पाटिक) होने से रोके रखता है। यदि निरंकुश होना चाहे तो संसद का बहुमत उसे पदच्युत कर सकता है।

मंत्रिमण्डलात्मक व्यवस्था बहुत आनम्य अर्थात् लचीली या सुपरिवर्तनीय होती है। इसमें संसद सर्वशक्तिमान होती है तथा संकट आ पड़ने पर यह सम्भव हो जाता है कि राज्य की समस्त शक्ति एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित की जा सके। इतना ही नहीं, ऐसे समय पर इसके भीतर राष्ट्र के विभिन्न राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है, जैसे, १९१४-१८ ई० के विश्व युद्ध में ब्रिटेन की सम्पूर्ण सत्ता प्रधान-मंत्री श्री लायड जार्ज के हाथों में दे दी गई तथा १९३९ ई० के महायुद्ध में श्री चर्चिल के हाथों में। गत युद्ध के अवसर पर ब्रिटेन में राष्ट्रीय-मंत्रिमण्डल का निर्माण हुआ था जिसमें संसद के भीतर विभिन्न दलों के सदस्य सम्मिलित थे, यह सहयोग अध्यक्षात्मक-पद्धति (प्रेजीडेन्शियल गवर्नमेंट) के भीतर सम्भव नहीं है।

यह व्यवस्था योग्य व्यक्तियों को राष्ट्रीय-नेतृत्व के लिये तैयार करती है। व्यक्ति जनता का प्रतिनिधि निर्वाचित होकर तथा संसद के वाद-विवाद में भाग लेकर अपनी प्रतिभा का प्रकाशन व विकास कर पाता है। वह संसद में एक प्रकार का राजनीतिक शिक्षण प्राप्त करता है। संसद एक ऐसा विद्यालय है जिसमें राष्ट्रीय प्रश्नों पर लोकमत शिक्षित किया जाता है। संसद के सजीव वाद-विवाद साधारण जनता को भी राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं।

परन्तु इस व्यवस्था को सर्वथा दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता। इसका सबसे प्रधान दोष यह है कि इसमें कार्यपालिका और विधायिका दोनों शक्तियाँ एक ही हाथों में केन्द्रित हो जाती हैं। मंत्रिमण्डल एक प्रकार से विधायिका की एक समिति है, वह उसका अभिन्न अंग है। इस दृष्टि से कार्यपालिका-शक्ति संसद अर्थात् विधायिका के हाथों में आ गई है। जहाँ मंत्रिमण्डल बहुत सबल होता जा रहा है, जैसे भारत और ब्रिटेन में, वहाँ संसद का नेतृत्व और विधि-निर्माण का प्रधान कार्य उसके हाथों में आ गया है और संसद केवल स्वीकृति देने वाली संस्था बन गई है। इस दृष्टि से कार्यपालिका के हाथों में विधायी शक्ति भी आ गई है। यह खतरनाक स्थिति है इसमें विधि बनाने और लागू करने वाले एक ही व्यक्ति होते हैं और वे निरंकुश होकर मनमानी विधियाँ बनाकर उन्हे लागू कर सकते हैं।

इस प्रणाली का दूसरा दोष यह है कि इसमें दलीय-भावना (पार्टी स्पिरिट) बहुत उग्र हो जाती है तथा कभी-कभी शासन की अन्धाधुन्ध आलोचना होने लगती

है । विरोधी दल वर्तमान मंत्रिमण्डल के विरुद्ध प्रचार करता है तथा मंत्रिमण्डल उसका खण्डन करके आत्म-प्रशंसा में लगा रहता है । आचार्य विनोबा ने कहा है कि आधुनिक दलीय व्यवस्था, पराई निन्दा और आत्म-स्तुति अर्थात् आत्म-प्रशंसा पर आधारित है, अर्थात् प्रत्येक दल दूसरे पर कीचड़ उछालने तथा अपनी सफाई देने में शक्ति का अपव्यय कर रहा है ।

इस व्यवस्था के भीतर शासन स्थायी नहीं होता क्योंकि मंत्रिमंडल संसद की दया पर जीवित रहता है, संसद जब चाहे उसे हटा सकती है । इस कारण कोई भी मंत्रिमण्डल पूरे ५ वर्ष (संसद की कार्य-अवधि) के लिये योजना नहीं बना सकता । कभी-कभी मंत्रिमंडल को अपनी योजनाएं बीच में छोड़कर पद त्याग करना होता है इससे राष्ट्रीय हित को हानि पहुँचती है, एक ओर तो राष्ट्रीय-निर्माण की योजना अपूर्ण रह जाती है दूसरी ओर अपूर्ण योजनाओं का सार्वजनिक कोष से व्यय होने वाला समस्त धन व्यर्थ जाता है ।

मंत्रिमंडलात्मक शासन पद्धति में मंत्रियों पर कार्य भार बहुत अधिक होता है । उन्हें प्रशासन की देख भाल करनी होती है और विधि निर्माण में भाग लेना होता है । इस कारण वे अपने कर्त्तव्यों का ठीक पालन नहीं कर पाते । उन्हें बहुत सा प्रशासन सम्बन्धी कार्य अपने स्थायी-सचिवों (पर्मानेन्ट सेक्रेटरीज) पर छोड़ देना पड़ता है ।

इस व्यवस्था का एक अवगुण यह होता है कि इसमें मंत्रिमंडल की शक्तियाँ धीरे-धीरे बढ़ जाती हैं तथा वह संसद पर हावी हो जाती है । रैमजेम्योर ने कहा है कि ब्रिटेन में मंत्रिमण्डल का अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप आफ दि केबिनेट) स्थापित होता जा रहा है । इससे संसद की शक्ति घट जाती है और वह अपना कार्य नहीं कर पाती । संसद की शक्ति घटने का अर्थ है जनतन्त्र की निर्बलता अर्थात् इस स्थिति में जनता शासन पर पूरा नियन्त्रण नहीं रख सकती ।

अध्यक्षात्मक संविधान

अध्यक्षात्मक शासन पद्धति (प्रेजीडेन्शियल सिस्टम) की सर्व प्रथम विशेषता यह है कि इसमें कार्यपालिका राज्य की विधायिका के प्रति उत्तरदायी नही होती अर्थात् विधायिका उसे पदच्युत नहीं कर सकती । इसमें कार्यपालिका स्थायी होती है उसका निर्वाचन जनता प्रत्यक्ष या परोक्ष निर्वाचन पद्धति से एक निश्चित अवधि के लिये करती है । इस निश्चित अवधि के भीतर राष्ट्रपति अथवा अध्यक्ष को उसके पद से साधारणतया नहीं हटा सकता, उसे हटाने का केवल एक साधन है कि उस पर विधायिका (काँग्रेस) की ओर से महाभियोग चलाया जाए तथा सिद्ध किया जाय । अध्यक्ष का कार्य काल बढ़ाया भी नहीं जा सकता चाहे कैसी भी परिस्थिति हो युद्ध-काल हो अथवा अशाँतिकाल । अध्यक्ष का निर्वाचन अवश्य होता है, जैसे गत विश्व-युद्ध के दौरान में अमेरिकन राष्ट्रपति का निर्वाचन हुआ था ।

इस पद्धति की एक अन्य विशेषता यह है कि कार्यपालिका का अध्यक्ष एक ही व्यक्ति होता है, जनता केवल उसे ही निर्वाचित करती है। यह अध्यक्ष ही राज्य का प्रधान भी होता है। अध्यक्ष का शासन होने के कारण ही इसे अध्यक्षात्मक शासन कहा जाता है।

अध्यक्ष स्वयं अपनी इच्छा से अपने मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। ये मन्त्री विधायिका अर्थात् काँग्रेस के प्रति उत्तरदायी नहीं होते वरन अध्यक्ष के प्रति उत्तर-दायी होते हैं। अध्यक्ष जब चाहे उन्हें हटा सकता है। वह चाहे उनकी बात माने या न माने। अध्यक्ष अपने मन्त्रिमण्डल का स्वामी या अधिपति होता है। मन्त्रिमंडलात्मक शासन में ऐसा नहीं होता।

अध्यक्ष और उसके मन्त्रियों में से कोई भी विधायिका (काँग्रेस) का सदस्य नहीं हो सकता। परन्तु यदि कोई मन्त्री चाहे तो वह काँग्रेस के विवाद में भाग ले सकता है तथा प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यह पद्धति प्रचलित नहीं है। मन्त्रियों को विधायिका में केवल बैठने का अधिकार होता है मत (वोट) देने का नहीं।

अध्यक्षात्मक शासन में अध्यक्ष अर्थात् कार्यपालिका का कार्य केवल प्रशासन का नेतृत्व, मार्गदर्शन और नियन्त्रण करना है, न कि विधि निर्माण में भाग लेना। अध्यक्ष अथवा उसके मन्त्री न विधेयकों (बिल्स) का प्रारूप (ड्राफ्ट) तैयार करते हैं न विधायिका में उन्हें पेश करते हैं वे उनकी वकालत भी नहीं करते।

इस व्यवस्था में कार्यपालिका और विधायिका में प्रायः पूर्ण पृथकता रहती है, एक दूसरे के काम में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। फिर भी दोनों में कुछ सम्बन्ध रहते हैं, जैसे—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में नियुक्तियां और विदेशों से सन्धियां करने का कार्य राष्ट्रपति का है परन्तु उनके लिए सिनेट के दो तिहाई बहुमत का समर्थन आव-श्यक है। इसी प्रकार विधियों का निर्माण कांग्रेस करती है परन्तु उन पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने आवश्यक है।

अध्यक्षात्मक संविधान के गुण व दोष—अध्यक्षात्मक शासन में मन्त्रियों पर कार्य भार अत्यधिक नहीं होता, वे केवल प्रशासन के कार्य करते हैं, उन्हें विधि निर्माण सम्बन्धी कोई कार्य नही करना पड़ता। इस कारण उनके कार्य में कुशलता अधिक मात्रा में पाई जाती है और प्रशासन अधिक सुचारु ढंग से चल पाता है।

कार्यकाल स्थायी होने के कारण अध्यक्ष योजना बनाकर कार्य कर सकता है तथा शासन की कार्यक्षमता बढ़ जाती हे। एक ही राष्ट्रपति लगातार कई बार निर्वा-चित हो सकता है, इस प्रकार उसकी योग्यता मे वृद्धि होती जाती है।

संकटकाल में राष्ट्रपति अथवा अध्यक्ष राष्ट्र की सम्पूर्ण शक्ति का स्वामी अथवा अधिनायक (डिक्टेटर) जैसा बन जाता है जिससे संकट का सामना संगठित शक्ति और एकतापूर्वक किया जा सकता है।

इस व्यवस्था के भीतर विधायिका कार्यपालिका के दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप नही कर सकती तथा कार्यपालिका की ओर से भी यह खतरा टल जाता है कि वह विधायिका (लेजिस्लेचर) पर अपना पूर्ण प्रभुत्व जमाकर अधिनायकत्व ग्रहण कर लेगी। दोनों एक दूसरे से काफी स्वतन्त्र रहती है, इससे शासन निरकुश नही हो पाता और जनता के अधिकारों व हितों की समुचित रक्षा हो जाती है।

परन्तु अध्यक्षात्मक पद्धति के भी अपने दोष हैं। इसमे कार्यपालिका और विधायिका के मध्य अच्छे सम्बन्ध नहीं रह पाते। विधायिका प्राय: अध्यक्ष का विरोध करती है, यह स्थिति उस समय और भी अधिक उग्र हो जाती है जबकि अध्यक्ष (राष्ट्रपति) एक राजनीतिक दल का सदस्य हो तथा विधायिका (कांग्रेस) में दूसरे दल का बहुमत हो।

अध्यक्षात्मक शासन में अवधि से पूर्व कोई परिवर्तन नहीं किये जा सकते चाहे वे कितने ही आवश्यक क्यों न हों। उदाहरण के लिए यदि सं० रा० अमेरिका का एक राष्ट्रपति युद्ध के संचालन की दृष्टि से कुशल व्यक्ति सिद्ध न हो तो उसे हटाकर उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति उस पद पर नहीं बैठाया जा सकता परन्तु ब्रिटेन में गत महायुद्ध के अवसर पर चेम्बरलेन को एक अकुशल प्रधान मन्त्री समझ कर हटाने तथा उसके स्थान पर चर्चिल को प्रधान मन्त्री बनाने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी। इस प्रकार अध्यक्षात्मक व्यवस्था कठोर (रिजिड) है।

इस शासन पद्धति का अध्यक्ष (राष्ट्रपति) बहुत ही निरंकुश हो सकता है। क्योंकि वह विधायिका (कॉंग्रेस) के प्रति उत्तरदायी नही होता। वह अपनी बुद्धि के अनुसार शासन की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करने में स्वतन्त्र होता है। उधर उसका स्थायी कार्यकाल उसकी निरंकुशता को और भी बल प्रदान करता है।

अध्यक्षात्मक संविधान का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अनुत्तरदायी (नॉन-रेस्पान्सिबिल) होता है। शासन के कार्यों के लिए कौन जिम्मेवार है इसमें यह बताना बहुत कठिन है, काग्रेस राष्ट्रपति पर और राष्ट्रपति काग्रेस पर दोष लगाता है। मन्त्रि-मण्डलात्मक शासन पद्धति में स्पष्ट रूप में मन्त्रिमण्डल शासन के कार्यों के लिए उत्तर-दायी होता है।

योग्यता प्रश्न

१. संविधान की परिभाषा तथा प्रकृति के आधार पर संविधानों का वर्गीकरण कीजिए।

Define the term constitution. How can you classify constitutions on the basis of quality ?

२. संविधान के आवश्यक तत्व क्या हैं ? संविधान का विकास कैसे होता है ?

What are the essential ingredients of constitution ? How does a constitution grow ?

३. एकात्मक व संघात्मक तथा संसदात्मक व अध्यक्षात्मक संविधान में क्या अन्तर है ?

Distinguish between unitary and federal; as well as between parliamentary and presidential constitutions.

४. सुपरिवर्तनीय संविधान से आप क्या समझते हैं ? क्या कोई संविधान अपरिवर्तनीय हो सकता है ?

What do you understand by flexible constitution ? Can a constitution afford to be rigid to the point of being unchangeable ?

—:o:—

अध्याय १२

जनतन्त्र

'प्रजातन्त्र का अर्थ मैं यह समझता हूँ कि इस तन्त्र में नीचे से नीचे और ऊँचे से ऊँचे आदमी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिलना चाहिए।'

—महात्मा गाँधी

आज हम जनतन्त्र के युग में जी रहे हैं। अपने युग के महत्व और उसकी आकांक्षा को पहचानने के लिए जनतन्त्र के बुनियादी विचार का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। निरंकुश राजतंत्र के नीचे दबा हुआ मनुष्य उठकर खड़ा हुआ है। प्रजा को राज-सत्ता मिली है तथा हम में से प्रत्येक अपने भाग्य का निर्माता बन गया है। परन्तु फिर भी मानव समाज सुखी नहीं है। उसका कारण यह है कि जन-साधारण ने अभी तक जनतन्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों को न तो समझा है, न वे जनतन्त्र के द्वारा अपने ऊपर आई जिम्मेदारियों को पहचान पाये हैं। इस स्थिति में जनतन्त्र का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है।

अरस्तु ने डेमोक्रेसी शब्द का प्रयोग अकुशल शासन अथवा भीड़ के शासन के लिए किया है, परन्तु आधुनिक काल में इसका प्रयोग इन अर्थों में नहीं किया जाता है। आजकल डेमोक्रेसी शब्द एक भावना का प्रतीक बन गया है। अरस्तु का पॉलिटी शब्द का जो अभिप्राय था वही इस युग में हमारा अभिप्राय डेमोक्रेसी से है। इसी कारण हम इसके लिए जनतन्त्र शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। डेमोक्रेसी का शाब्दिक अर्थ है जनता का शासन यह दो ग्रीक शब्दों डेमोस और क्रेसिया से बना है। डेमोस का अर्थ है जनता तथा क्रेसिया का अर्थ है सत्ता। जनतन्त्र से उस शासन-पद्धति का बोध होता है जिसमें स्वयं जनता अपने हितों की सिद्धि के लिये अपने ऊपर शासन करती हो।

विद्वान सीले ने जनतंत्र की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार की है—"जनतन्त्र एक ऐसा शासन है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को भाग मिलता है।" यह आवश्यक है कि जनतंत्र के मूल-सिद्धांतों का स्पष्ट उल्लेख किया जाय।

जनतन्त्र के मूल सिद्धान्त—(१) जनतंत्र का सर्वप्रथम मूल सिद्धान्त यह है कि मनुष्य अन्तिम लक्ष्य अथवा साध्य है। प्रसिद्ध दार्शनिक कॉन्ट ने कहा है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व को कभी साधन नहीं मानना चाहिए वह सर्वदा साध्य (फाइनल अँण्ड)

है। जनतन्त्र व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करता है।

(२) परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि यह किसी व्यक्ति की विशेष प्रतिष्ठा करता है। जनतन्त्र का दूसरा मूल सिद्धान्त यह है कि राज्य के भीतर प्रत्येक मनुष्य का मूल्य समान है। इसे बेन्थम ने सूत्र रूप में इस प्रकार कहा है—'प्रत्येक व्यक्ति को एक गिनना चाहिये, एक से अधिक नहीं'। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को समान प्रतिष्ठा और अवसर मिलना चाहिये।

(३) जनतन्त्र का तीसरा मौलिक विचार यह है कि यह प्रत्येक वयस्क तथा मन बुद्धि से स्वस्थ व्यक्ति को चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष राज्य के शासन में भाग लेने का पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिये।

(४) इसके अतिरिक्त जनतन्त्र के दो मूल-सिद्धान्त और हैं जिन पर समस्त जनतन्त्रीय ढाँचा टिका हुआ है। वे हैं—स्वतन्त्रता और समानता। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के सम्यक् विकास के लिये कुछ मौलिक-स्वतन्त्रताओं की आवश्यकता होती है। इनका वर्णन हम पीछे कर चुके है।

(५) स्वतन्त्रता के अतिरिक्त जनतन्त्र के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य पूर्ण समानता होनी चाहिये। यह समानता केवल समान मताधिकार (इक्वेलिटी आफ फ्रेन्चाइज) तक ही सीमित नहीं रह सकती वरन् आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में समानता की स्थापना जनतन्त्र के लिये आवश्यक है। जब तक समाज में एक भी व्यक्ति दरिद्र अथवा सामाजिक दृष्टि से अछूत या बहिष्कृत पाया जाता है तब तक हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह व्यक्ति अपने मत का सही सही और स्वतन्त्रता-पूर्वक उपयोग कर सकेगा।

समानता का एक अर्थ यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति विधि (कानून) के सामने बराबर हो अर्थात् सबको समान रूप से न्याय पाने का अधिकार हो। इसे विधि-शासन (रूल आफ ला) के नाम से पुकारते है अर्थात् न्यायालयों के सामने गरीब, अमीर, राजा, रंक और ऊंच-नीच की समानता।

जनतन्त्र का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धाँत यह है कि प्रत्येक नागरिक को विकास करने का समान अवसर प्राप्त होता है। लॉस्की का कथन है कि जनतन्त्र के भीतर 'किसी व्यक्ति की स्थिति ऐसी नहीं होनी चाहिये जिसमें उसके पड़ौसी की नागरिकता छिन जाय। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के आधार पर राज्य में बड़े से बड़ा पद पाने का अवसर प्राप्त होता है।'

जनतन्त्रता का सार—प्रसिद्ध इटालियन राष्ट्रभक्त मेजिनी का कथन है कि सर्व श्रेष्ठ और सबसे अधिक बुद्धिमानी व्यक्तियों के नेतृत्व में सबकी प्रगति का नाम ही जनतन्त्र है।

वास्तव में जनतन्त्र के भीतर स्वयं जनता ही शासक और शासित (राजा और दोनों होती हैं। अपनी व्यक्तिगत हैसियत में प्रत्येक व्यक्ति प्रजा है तथा नाग-

रिक के रूप में वह शासक है क्योंकि अपनी नागरिकता के द्वारा वह शासन-प्रबन्ध में भाग लेता है।

जनतन्त्र का सार इस सत्य में निहित है कि जनतन्त्रात्मक शासन का संचालन जनता की सामान्य इच्छा (जनरल विल) द्वारा होता है। रूसो ने जनता की इस सामान्य-इच्छा को ही प्रभुता-सम्पन्न कहा है उसके विचार से जनतन्त्र के भीतर प्रभुता का निवास जनता की सामान्य-इच्छा में होता है।

जनता के भीतर एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों का स्वेच्छाचारी शासन नहीं होता है। इसमें उत्तरदायी शासन (रेस्पाँन्सिबिल गवर्नमेंट) की स्थापना की जाती है। यह शासन अपनी नीतियों और अपने कार्यों के लिये जनता के सामने जवाबदेह (उत्तरदायी) होता है। यदि जनता उसकी नीतियो से अप्रसन्न होती है तो अगले निर्वाचनों मे वह उसे बदल कर दूसरे व्यक्तियों के हाथों में शासन की बागडोर दे देती है। परन्तु फिर भी जनतन्त्र को हम सबका शासन नहीं कह सकते। आधुनिक जनतन्त्र वास्तव में बहुमत (मेजारिटी) का शासन है।

इसलिये विद्वान डायसी ने कहा है कि जनतन्त्र वह शासन पद्धति है जिसमें शासक वर्ग समूचे राष्ट्र का तुलनात्मक दृष्टि से बड़ा अंश होता है।

तथापि यह बहुमत सदा स्थिर नही रहता अर्थात् जनतन्त्र के भीतर जो आज बहुमत है वह कल अल्पमत (माइनारिटी) हो सकता है तथा अल्पमत प्रचार और लोक-शिक्षण के द्वारा बहुतांश जनता का समर्थन प्राप्त करके बहुमत में परिवर्तित हो सकता है।

जनतंत्र का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित करना है। इसे ही हमारे यहाँ 'बहुजन-हिताय बहुजन सुखाय' का आदर्श माना जाता है। जो शासन बहुजन के हित और सुख के लिये प्रयत्न करता हो तथा जिसके संचालन में बहुजन स्वयं भाग भी लेते हों वह जनतंत्र कहलाता है। परन्तु यह एक अपूर्ण आदर्श है, वास्तविक आदर्श तो 'सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय' ही हो सकता है। महात्मा गाँधी ने यह स्पष्ट लिखा है कि 'बहुमत के इशारे पर चलना दासता है, भले ही उसके निर्णय कैसे ही क्यों न हों।' वह सर्वोदय विचारधारा के प्रवर्तक है। उनकी दृष्टि मे मनुष्यों के सामाजिक व राजनीतिक संगठनों का उद्देश्य समस्त प्राणियों का सब प्रकार से उदय अर्थात् सच्चा हित करना है। वे अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के लिए बलिदान करना सहन नहीं कर सकते। सबके हितों मे इस प्रकार सामंजस्य पैदा होना चाहिये कि उनमें हित संघर्ष न हो सके।

जनतन्त्र का सच्चा आदर्श है, 'सब की सहमति से सबके हित की पूर्ति के लिये सबका शासन।'

दो प्रकार का जनतंत्र

जनतन्त्र के दो भेद होते हैं—(१) प्रत्यक्ष जनतंत्र (डायरेक्ट डेमाक्रेसी) तथा (२) परोक्ष जनतंत्र (इनडायरेक्ट-डेमॉक्रेसी) अथवा प्रतिनिधि मूलक जनतन्त्र।

प्रत्यक्ष जनतन्त्र के भीतर राज्य के समस्त नागरिक राज्य प्रबन्ध के कार्य में प्रत्यक्ष और नियमित भाग लेते हैं। वे अपनी सम्मिलित-सभाओं में इकट्ठे होकर स्वयं विधियों का निर्माण करते है तथा अपने भीतर से स्वयं ही उन लोगों की नियुक्ति करते हैं जो उन विधियों का पालन करायेंगे। न्याय का कार्य भी वे ही करते हैं।

इस प्रकार का शासन हमें प्राचीन यूनान के नगर राज्यों में तथा भारत के गणराज्यों में मिलता है। एथेन्स के नागरिक अपनी प्रारम्भिक सभा (ऐक्लीशिया) में एकत्रित होकर शासन-सूत्र का संचालन करते थे। भारत में विज्ज-संघ का लोकतन्त्र शासन महात्मा बुद्ध ने भी आदर्श माना है। संघ के अन्तर्गत अनेक गण (रिपब्लिक) होते थे उनमें नागरिकों को 'राजा' के नाम से पुकारा जाता था तथा वे अपने संथागारों (सभाभवनों) में मिलकर शासन चलाते थे।

आधुनिक काल में राज्य बहुत बड़े हो गये है तथा उनकी समस्यायें बहुत जटिल हो गई है जिसके कारण प्रत्यक्ष जनतन्त्र का चलाना असम्भव हो गया है, जैसे भारत की करोड़ों जनता के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह राज्य संचालन के लिये कहीं एकत्रित हो सके। अतः इस युग में परोक्ष अथवा प्रतिनिधिमूलक जनतन्त्र (रेप्रेजेन्टेटिव डेमॉक्रेसी) पाया जाता है। इनमें नागरिकों का मताधिकार मिल जाता है। वे अपने मतों द्वारा अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं और ये प्रतिनिधि राज्य की विधान सभाओं में बैठकर जनता की ओर से शासन प्रबन्ध करते हैं।

आजकल संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों में परोक्ष अथवा प्रतिनिधिमूलक जनतंत्र पाया जाता है। इसकी सबसे पहली पहचान यह है कि बिना किसी भेदभाव के राज्य के प्रत्येक स्वस्थ वयस्क को मत देने का अधिकार प्राप्त हो।

प्रतिनिधि मूलक जनतंत्र में जनता स्वयं नहीं वरन् अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन करती है। वह समय समय पर उनका निर्वाचन करती रहती है तथा उन्हें बदल कर नये प्रतिनिधि चुनती रहती है। इसके अतिरिक्त सभाओं, सम्मेलनों, समाचारपत्रों और आवेदनों द्वारा वह समय समय पर अपने विचारों का प्रदर्शन करती रहती है जिससे कि उसके प्रतिनिधि उसका मत जान सकें और उसके अनुसार विधियों तथा नीतियों का निर्माण कर सकें।

जनतन्त्र का महत्व—(१) राज्य का उद्देश्य समस्त जनता के हितों की अभिवृद्धि करना है। जनतन्त्र राज्य के इस उद्देश्य की सबसे अधिक पूर्ति करता है। राजतंत्र व कुलीनतन्त्र शासन पद्धतियों में समस्त जनता का शासन नहीं होता राज्य की सम्पूर्ण सत्ता एक या कुछ व्यक्तियों के हाथों में रहती है जिसका प्रयोग वे स्वार्थों की पूर्ति में करने लगते हैं परंतु जनतन्त्र में शासन पर जनता का पूर्ण नियंत्रण होता है अतः इस व्यवस्था के भीतर उसके हितों की अधिकतम पूर्ति हो सकती है।

(२) जनतंत्र का सबसे महत्वशाली गुण यह है कि यह प्रत्येक व्यक्ति की शक्तियों को जाग्रत कर देता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को आत्मविकास का समान अवसर और स्वतन्त्रता मिलती है तथा अपने सामूहिक उत्तरदायित्व का अनुभव होता है

इससे उसके भीतर कार्य करने की एक विलक्षण शक्ति जाग उठती है।

(३) जनतंत्र व्यक्ति के भीतर सक्रियता उत्पन्न कर देता है उसके भीतर स्वयं चलने की शक्ति आ जाती है, उसे ठेलने की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह दूसरों के भरोसे नहीं बैठा रहता वरन् वह स्वयं अपने को राष्ट्रीय जीवन में बराबर का साझेदार समझ कर उसके सुख दुख की चिन्ता में पड़ता है और उचित कदम उठाता है। उसके मन में सार्वजनिक कार्यों की ओर से उदासीनता की वृत्ति समाप्त हो जाती है तथा उसके भीतर उत्तरदायित्व जाग उठता है।

(४) जनतंत्रात्मक शासन उत्तरदायी शासन होता है, वह राजतंत्र या कुलीनतंत्र की भाँति निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। इस कारण इसमें जनता के हित और अधिकार अधिक सुरक्षित रह सकते हैं।

(५) जनतंत्र का एक महान् शिक्षणात्मक-मूल्य है। इसके भीतर जनता को शासन की प्रत्यक्ष समस्याओं को समझने और उन पर विचार करने का अवसर मिलता है तथा स्थानीय संस्थाओं के प्रबन्ध से उन्हें शासन करने की कला का ज्ञान प्राप्त होता है।

(६) जनतंत्रात्मक-शासन जनता की सामान्य-इच्छा के अनुसार चलता है अतः इस में क्राँतिकारी-विप्लवों की सम्भावना नहीं रहती। क्रांतियाँ उन शासन व्यवस्थाओं में होती हैं जिनमें जनता की इच्छा के अनुसार परिवर्तित होने की गुंजायश नहीं होती। जनता देश की व्यवस्था में जो परिवर्तन करना चाहे कर सकती है।

(७) यह एक आदर्श व्यवस्था है क्योंकि इसके भीतर कोई विशेष-सुविधा प्राप्त वर्ग नहीं होता तथा सब मनुष्यों को समान पद मिलता है। इसके फलस्वरूप व्यक्तियों में आत्म गौरव की भावना जाग्रत हो जाती है तथा उनका नैतिक विकास होता है। वास्तव में जनतंत्र एक नैतिक व्यवस्था है, इसके भीतर मनुष्यों का नैतिक विकास हो पाता है। यह व्यक्तित्व को आदर व सम्मान की दृष्टि से देखता है जिससे व्यक्तित्व ऊँचा उठता है।

(८) जनतंत्र प्रत्येक व्यक्ति को देश का स्वामी और सम्राट बना देता है। जनतंत्र मनुष्य के मन में यह भावना भर देता है कि 'यह देश मेरा है इसका शासन मेरा है और मेरे लिए है, मैं इसके लिए उत्तरदायी हूँ।' इसी भावना से देश-भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

(९) जनतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार प्रगट करने का अवसर प्राप्त होता है। यह सब की श्रेष्ठतम बुद्धि का शासन कहा जा सकता है। जनतंत्रात्मक शासन के संचालन में समस्त नागरिक अपना-अपना सहयोग देते हैं इससे इसके निर्णय अधिक श्रेष्ठ तथा कार्य अधिक कुशलतापूर्ण होते हैं। जे० एस० मिल कहता है कि 'जनतन्त्रात्मक शासन की श्रेष्ठता दो सिद्धान्तों पर आधारित है..............प्रथम तो यह है कि व्यक्ति के अधिकारों व हितों की तभी रक्षा हो सकती है जब कि वह स्वयं इसके लिये प्रयत्नशील हो, दूसरा यह कि जनता की समृद्धि में वृद्धि और व्याप-

कता उसमें लगी हुई व्यक्तिगत शक्तियों की मात्रा और विविधता में बहुत वृद्धि होती है अतः उसमें अन्य शासन-प्रणालियों की अपेक्षा जनता की समृद्धि सबसे अधिक पाई जाती है ।

जनतन्त्र की आलोचना—प्रत्येक मानवीय योजना के दो पक्ष होते हैं उज्ज्वल और अन्धकारमय । जहाँ जनतंत्र की शासन पद्धति का अपना महत्व है, जहाँ उसमें अनेक महान् गुण हैं वहीं उसके भीतर कुछ दोष भी पाये जाते हैं । इनमें से कुछ दोष गम्भीर प्रकृति के हैं ।

(१) जनतंत्र का एक प्रधान दोष यह है कि गुणात्मक (क्वालिटेटिव) होने की अपेक्षा संख्यात्मक (क्वान्टिटेटिव) अधिक है, अर्थात् इसके भीतर शासकों के गुण और उनकी योग्यता पर ध्यान न देकर संख्या पर ध्यान दिया जाता है । जनतंत्र बहुसंख्या का शासन अथवा बहुतंत्र है । वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर शासन-प्रबन्ध की क्षमता और योग्यता नहीं मिल सकती, वह तो बिरले ही किसी व्यक्ति के भीतर पाई जाती है । ऐसे व्यक्ति जनतंत्र में भीड़ से भागते हैं तथा शासन से दूर ही रहना पसन्द करते हैं क्योंकि यहाँ तो शासन में घुसने के लिये जनता का समर्थन प्राप्त करना पड़ता है तब कहीं व्यक्ति निर्वाचित हो पाता है । प्रतिभावान और योग्य व्यक्ति चुनाव, प्रचार, दलील और तोड़-फोड़ के चक्र में फँसना पसन्द नहीं करते इसी कारण जनतन्त्र को अयोग्य व्यक्तियों का शासन भी कहा गया है । प्रायः वे लोग ही जो झूठे-सच्चे साधनों से साधारण जनता को बहका सकते हैं, सत्ता के पाने में सफल होते हैं ।

(२) जनतंत्र बहुसंख्यकों का शासन है जो कि प्रायः निर्धन, अशिक्षित और शासन की समस्याओं को समझने में असमर्थ होते हैं । इसी कारण इसमें कार्यकुशलता और निश्चय की दृढ़ता नहीं पाई जाती । इसके भीतर कोई ऐसा साधन नहीं है जिससे कि जनता अपने लिये सर्वश्रेष्ठ शासकों का निर्वाचन कर सके । इसमें भावनाओं का बड़ा प्रभाव होता है, जो राजनीतिक दल अथवा गुट जनता की भावनाओं को भड़का सकता है वही शक्ति पाने में सफल होता है । इसी कारण यह भीड़ का शासन अथवा सर्व-साधारणतंत्र बन जाता है । इसकी ही अरस्तु ने आक्लोक्रेसी के नाम से निन्दा की है । आक्लोक्रेसी का अर्थ है निरंकुश मूर्खों का शासन ।

(३) जनतन्त्र शासन में देश के भीतर दलबन्दी बढ़ जाती है । राष्ट्रीय हितों के स्थान पर दलीय-हितों को प्रधानता दी जाने लगती है तथा राजशक्ति का दुरुपयोग संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति और अपने को सत्ता में बनाये रखने के लिये किया जाने लगता है ।

(४) ब्राइस का विचार है कि जनतन्त्रात्मक-शासन शीघ्र ही धनिकों के प्रभाव में आकर दूषित हो जाता है ।

(५) लेकी और सर हेनरीमेन का मत है कि जनतंत्र के भीतर बौद्धिक प्रगति और वैज्ञानिक सत्यों को कोई स्थान नहीं मिलता । इसी कारण ब्राइस ने कहा है कि

जनतन्त्र में नैतिकता का पतन हो जाता है तथा वोट प्राप्त करने के लिये झूठे-सच्चे सभी मार्ग अपनाये जाते हैं।

(६) जनतन्त्रात्मक शासन बहुत अधिक खर्चीला होता है। उसमें काम धीरे-धीरे होता है तथा समय और धन का बहुत दुरुपयोग होता है। एक या कुछ व्यक्ति जिस काम को बहुत आसानी के साथ थोड़े समय में कर सकते हैं उसमें जनतंत्र के भीतर महीनों और वर्षों लग जाते हैं। इतना ही नहीं निर्वाचनों का व्यय भी बहुत होता है। एक स्थान (सीट) के लिए दो तीन व्यक्ति खड़े होते हैं तथा वे सब बड़ी रकम खर्च करते हैं।

(७) ट्रीट्सके का विचार है कि जनतन्त्र में कुछ धनी लोग निर्धनों का शोषण करते हैं तथा इसमें अधिक बातूनी और चालाक राजनीतिज्ञों के लिए सत्ता हड़पने का अच्छा अवसर रहता है। जो नेता जनता को कुशलतापूर्वक मूर्ख बना सकता है वही सफल होता है।

(८) वास्तव में संसार के भीतर कहीं भी सच्चा जनतन्त्र नहीं पाया जाता है। यह केवल एक धोखा अथवा षडयंत्र है। शासन के भीतर कुछ शक्तिशाली व्यक्ति होते हैं जो जनता के नेता कहे जाते हैं। ये चोटी के नेता ही बैठकर समस्त शासन का संचालन करते हैं और इन नेताओं में भी एक व्यक्ति सर्वमान्य होता है। हम अपने देश को ही लें। यों कहने के लिए हमारे यहाँ जनतन्त्र है तथा शासन की सत्ता संसद के हाथों में है पर वास्तव में सारे निर्णय अन्तरंग मंत्रिमण्डल (केबिनेट) करता है और इसमें भी हमारे प्रधान मंत्री अर्थात् श्री जवाहरलाल नेहरू सबसे अधिक शक्तिशाली हैं। पिछले चुनाव में कांग्रेस की विजय अकेले नेहरू जी के नाम पर हुई। उनके पीछे समूचे राष्ट्र का बल है। इसी प्रकार अमेरिका का राष्ट्रपति भी बहुत बली होता है और वास्तव में सीनेट और प्रतिनिधि सभा के कुछ सबल सदस्यों के साथ वही शासन करता है। अतः प्रत्येक जनतंत्र देश में एकतंत्रात्मक अथवा अल्पतंत्रात्मक शासन पाया जाता है। देखने में जनता प्रभुता-सम्पन्न होती है परन्तु वास्तविक शक्ति कुछ चोटी के नेताओं के हाथ में रहती है जोकि जनता के मस्तिष्क को मनमाने ढंग पर घुमाया और नचाया करते हैं।

(९) जनतंत्र की एक कमी यह भी है कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे बुद्धिमान व्यक्ति और उनके चपरासी जैसे अशिक्षित के भीतर कोई अन्तर न करके दोनों को एक-एक मत (वोट) देने का अधिकार देता है। इस प्रकार यह श्रेष्ठता और बुद्धिमत्ता को कोई विशेष स्थान नहीं देता। प्रत्येक दस व्यक्तियों में से नौ व्यक्ति मूर्ख होते हैं अतः जनतंत्र मूर्खों का शासन बन जाता है, ऐसा भी कुछ लोग मानते हैं।

(१०) जनतंत्र में जनता को राजनीतिक शिक्षा मिलती है यह कहना गलत है। निर्वाचनों के समय जनता विरोधी दलों के प्रचार से भ्रांति में पड़ जाती है। उसके सामने सत्य को तोड़-मरोड़कर और दलीय हितों के अनुकूल रखा जाता है। सत्ता के पीछे एक अन्धी दौड़ होती है जिसके कारण भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। अतः

जनतन्त्र के भीतर सत्य और नैतिकता को पनपने का अवसर नहीं मिल पाता।

ये सब अवश्य ही जनतंत्र की व्यावहारिक कमियाँ हैं तथापि जनतंत्र के गुणों और उसकी आवश्यकताओं की ओर से आँखें बन्द नहीं की जा सकतीं। कोई भी व्यवस्था पूर्ण नहीं हुआ करती, जनतंत्र भी शासन की समस्याओं का अन्तिम और पूर्ण हल नहीं माना जा सकता परन्तु निश्चय ही वह एकतन्त्र और अल्पतन्त्र की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अतः उसे बुरा कहकर त्याग देना तब तक मूर्खता होगी जब तक कि हम उससे श्रेष्ठ पद्धति न खोज लें।

यदि परिणाम की दृष्टि से देखा जाय तो यही कहा जा सकता है कि जनतंत्र संसार में सफल हुआ है। इसी शताब्दि के भीतर हमने दो विश्व युद्ध देखे हैं उनके बाद कितने ही राज्यों में जनतंत्र की स्थापना हुई है, तथा फासिस्ट और नाजी अधिनायकवादी (डिक्टेटोरियल) शक्तियों का अन्त भी जनतन्त्रात्मक देशों के हाथों हमने देखा है। आज संसार के प्रायः सभी सभ्य देश जनतंत्रात्मक शासन व्यवस्था रखते हैं। कम्यूनिस्ट राज्य भी अपने को जनतंत्र कहने में गर्व और गौरव अनुभव करते हैं तथा उन्होंने अपनी शासन रचना इसी के एक नये आधार पर की है। जनतंत्र का भविष्य उज्ज्वल है।

जनतन्त्र की सफलता के आधार—जनतन्त्र की सफलता के लिए कुछ बातें आवश्यक हैं यहाँ हम उनका उल्लेख करेंगे —

(१) जनतन्त्र की सफलता का सर्वप्रथम आधार शिक्षा है। जिस देश की जनता सुशिक्षित नहीं है तथा राज्य की जटिल समस्याओं को समझकर उन पर अपने मत का प्रयोग करना नहीं जानती, वहाँ जनतन्त्र असफल रहेगा।

(२) जनतन्त्र में जनता में नैतिक चरित्र, देश प्रेम तथा राष्ट्रीय एकता का भाव ऊँचा होना चाहिए। जनता को चाहिए कि वह राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का नियमपूर्वक और स्वतः पालन करे जैसे कर चुकाना, शाँति व्यवस्था बनाये रखना आदि।

(३) जनता के भीतर अपने अधिकारों के प्रति सतत जागरूकता की अत्यन्त आवश्यकता है। जो जनता अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हो जाती है वह अपने अधिकार गँवा बैठती है तथा जनतन्त्र का अन्त हो जाता है।

(४) जनता को चाहिए कि वह राज्य के कार्यों के प्रति उदासीन भाव न रखे वरन् उनमें सक्रिय भाग ले। जनतन्त्र सब का शासन है उसमें सबका सक्रिय-सहयोग मिलना ही चाहिए तभी उसका उद्देश्य पूरा हो सकता है।

(५) जनतन्त्र की अन्तिम और अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता यह है कि राज्य के भीतर पूरी तरह सामाजिक और आर्थिक समानता होनी चाहिये। जब तक समाज में ऊँच-नीच, राजा-रंक, छूत-अछूत, काले-गोरे, धनी और निर्धन के बीच भेद भाव की दीवारें खड़ी हैं, एक को जीवन की सुविधायें अधिक मात्रा में प्राप्त हैं तथा दूसरे उससे वंचित रखे जाते हैं तथा एक धनिक-वर्ग मजदूरों और शिल्पियों का शोषण

कर सकता है तब तक हम उसे जनतन्त्रात्मक समाज और राज्य नहीं कह सकते ।

(६) जनतन्त्र की स्थापना के लिए केवल मत (वोट) की समानता काफी नहीं है । प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्रीय उत्पादन में लगभग समान अंश मिलना चाहिए । एक सी शिक्षा और विकास का समान अवसर, समान सामाजिक स्तर (सोशल स्टेट्स) और प्रतिष्ठा ये सभी जनतन्त्र की सफलता के आधार हैं । यदि ऐसा न होगा तो राज्य में धनियों और निर्धनों के बीच वर्ग संघर्ष उत्पन्न होगा तथा अन्त में क्रांति-कारी परिवर्तन हो सकते हैं । रूस और चीन में हम यह देख चुके हैं ।

भारतीय जनतन्त्र—सौभाग्य से हमारा देश भारत एक जनतन्त्रात्मक राज्य है । १५ अगस्त १९४७ को स्वाधीनता की प्राप्ति के पश्चात् यहाँ एक जनतन्त्र की स्थापना हुई ।

२६ जनवरी १९५० से नये संविधान ने भारत में एक जनतंत्रात्मक-गणतन्त्र (डेमॉक्रेटिक रिपब्लिक) की स्थापना की है । संविधान में स्पष्ट रूप से लिख दिया गया है कि राष्ट्र की प्रभुता जनता में निहित है तथा देश के नागरिकों को अधिकार है कि वे अपने देश में किसी भी प्रकार के शासन की स्थापना करें ।

परन्तु जनतन्त्र की स्थापना से जन-साधारण के कन्धों पर जो उत्तरदायित्व आ गया है उसे पूरी तरह से निबाहने की क्षमता और शक्ति अभी तक उनमें नहीं आ पाई है ।

हमारे यहाँ शिक्षा का अभाव है और जो कुछ शिक्षा इस देश में दी भी जाती है वह अधिक उपयोगी नहीं है। अभी तक जनता जनतन्त्र के महत्व को भली भाँति न समझने के कारण अपने उत्तरदायित्वों को नहीं समझ पायी है ।

भारत की जनता सैकड़ों वर्षों से विदेशियों की दासता में रह चुकी है अतः उसमें अभी तक नैतिक चरित्र की प्रबलता, कर्त्तव्य-पालन की उत्कटता एवं कर्मठता का अभाव है । इस सब में थोड़े समय और परिश्रम की आवश्यकता है । लोगों के हृदय में राष्ट्रीयता की भावना अभी तक अधिक प्रबल नहीं हो पाई है । राष्ट्रीय चेतना के अभाव के कारण ही हमारी विकास योजनाएं प्रायः अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर पातीं ।

भारत की जनता अपने अधिकारों के प्रति अधिक सजग नहीं है इसका प्रधान कारण लोगों का आलसी स्वभाव और अशिक्षित होना है ।

लोगों के भीतर राज्य के कार्यों में सक्रिय रुचि का अभाव है । वे राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने का महत्व नहीं समझ पाते, इसके कई कारण हैं, उनमें सबसे प्रधान कारण देश-व्यापी बेकारी है ।

बेकारी फैलने के कारण स्वाभाविक रूप से जनता का नैतिक स्तर गिर जाता है और उनकी कार्य-शक्ति लुप्त होने लगती है । भारत में भी यही हुआ है । आर्थिक दशाओं के बिगड़ने से सदा जनतन्त्र का अस्तित्व संकट में पड़ जाता है तथा अराजक-वादी विचारधारा (अनार्किज्म) को उत्तेजना प्राप्त होती है ।

हमारे देश के भीतर कई प्रकार की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व आर्थिक असमानताएं घर कर गई हैं। यद्यपि हमारे संविधान ने उन्हें दूर करने का बीड़ा उठाया है तथापि अभी तक हम अपने समाज के भीतर घनी विषमता पाते हैं। जनतंत्र केवल एक राजनीतिक कल्पना ही नहीं है यह एक सामाजिक ढाँचा भी है। जिस समाज का आधार समता और स्वतन्त्रता पर नहीं खड़ा होता उसमें जनतंत्र की सफलता कठिन होती है।

इतना होते हुए भी भारत में जनतन्त्र को भारी सफलता मिली है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के दीर्घकाल में महात्मा गाँधी व अन्य राष्ट्रीय नेताओं ने देश की जनता के भीतर प्रबल राजनीतिक चेतना भर दी है। यही राजनीतिक चेतना हमारी सफलता का मूल-मन्त्र है।

हम आशा कर सकते हैं कि भारत संसार का एक आदर्श जनतन्त्र बनेगा जिसमें समूची जनता सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक समानता एवं स्वतन्त्रता का उपभोग करके सुख-समृद्धि के पथ पर अग्रसर हो सकेगी।

योग्यता-प्रश्न

१. जनतंत्र की परिभाषा कीजिए। जनतंत्र में भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता का क्या महत्व है ?

Define Democracy. What is the importance of freedom of speech and freedom of expression in democracy ?

२. जनतन्त्र कितने प्रकार का होता है ? जनतन्त्र का महत्व समझाइये।

What are the various kinds of democracy ? Explain the importance of democracy.

३. जनतन्त्र के गुण दोषों की विवेचना कीजिए। क्या जनतन्त्र का भविष्य उज्ज्वल है ?

Give arguments in favour of and against democracy. Is the future of democracy bright ?

४. जनतंत्र की सफलता किन बातों पर आधारित है ? भारतीय जनतंत्र का क्या स्वरूप है ?

What are the requirements of successful working of democracy ? What is the character of Indian democracy ?

—:o:—

अध्याय १३

लोकमत और राजनीतिक दल

"एक लाख तलवारों की अपेक्षा मुझे तीन समाचार पत्रों से अधिक भय है।"

—नैपोलियन

'मनुष्यों के उस संगठन को राजनीतिक दल कहते हैं जिसमें वे अपने संयुक्त प्रयास द्वारा किसी ऐसे सिद्धान्त पर राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करने के लिए संगठित होते हैं जिसके विषय में वे सहमत हों।'

—एडमन्ड बर्क

जनतन्त्रात्मक शासन का आधार लोकमत है। जनता के शासन का संचालन जब जनता की इच्छा द्वारा होता है तो उसे जनतन्त्र कहते हैं। जनता की इच्छा को वैधानिक भाषा में जनमत अथवा लोकमत कहा जाता है। यह लोकमत जितना अधिक स्पष्ट सुलझा हुआ, व्यापक और उदार होगा उतना ही जनतन्त्रात्मक शासन भी श्रेष्ठ बनेगा। जनतन्त्रात्मक-शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह लोकमत के अभिव्यक्त (जाहिर) होने के साधन और अवसर कहाँ तक देता है तथा कहाँ तक लोकमत के अनुसार अपनी नीतियाँ निर्धारित करता है। जिस राज्य में लोकमत मुक्त रूप से प्रगट हो सकता है तथा जहाँ शासन की नीतियों का आधार एक आदर्श लोकमत हैं हम उसी राज्य को जनतन्त्रात्मक राज्य कह सकते हैं।

परिभाषा—जनतन्त्रात्मक शासन को हम लोकमत का शासन भी कह सकते हैं। किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर सर्वसाधारण जनता के मत का नाम ही लोकमत है।

लार्ड ब्राइस ने लोकमत की परिभाषा इस प्रकार की है—'राष्ट्रीय हितों को प्रभावित करने वाले विषयों पर मनुष्यों के संग्रहीत मत को लोकमत कहते हैं।' इस परिभाषा के अनुसार लोकमत किसी विषय पर जनता की आम-राय अथवा सर्वसामान्य मत है। जनता के उसी मत को हम आदर्श लोकमत कह सकते है जो उसने बिना किसी आवेश या भावुकता के निष्पक्ष बुद्धि और मौलिक चिन्तन के उपरान्त बनाया हो। कभी कभी जनता क्षणिक आवेश और उत्तेजना में भड़क कर असंयत भीड़ (इनडिसिप्लिन्ड-मॉब) का रूप ले लेती है। इन अनुशासनहीन भीड़ के मत को लोकमत नहीं कह सकते। लोकमत के निर्माण में कुछ समय लगता है तथा इसका परिवर्तन भी कुछ समय लेता है। किसी विषय पर लोकमत का सही निर्माण समाज के

शिक्षित तथा सम्मानित व्यक्तियों और नेता वर्ग पर निर्भर करता है। 'यथा राजा तथा प्रजा'। इस उक्ति के अनुसार शासन भी लोकमत के निर्माण में बहुत कार्य करता है।

जनतंत्र के समर्थक प्राय: लोकमत पर बहुत बल देते हैं। वे लोकमत अर्थात् जनता की इच्छा को ही ईश्वर की इच्छा मानते हैं। परन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब कि यह विचार पूरे समाज के हितों के अनुकूल हो। यदि समाज का बहुमत अल्पमत की इच्छाओं का कोई आदर नहीं करता तो उसे हम जनतंत्रात्मक शासन न कह कर 'बहुमत की स्वेच्छाचारिता' कहेंगे। लोकमत केवल बहुमत की इच्छा नहीं है। लोकमत वास्तव में जनता के विचार और विश्वास का सार अथवा निचोड़ है जिसमें अल्पमत और बहुमत दोनों का मत सम्मिलित रहता है—

लोकमत का महत्व

पीछे हम कह चुके हैं कि जनतंत्र लोकमत का शासन है। जनतंत्र की सफलता एक स्वस्थ लोकमत पर निर्भर होती है। यहाँ हम यह अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे कि लोकमत किस प्रकार जनतन्त्र की रक्षा करता है।

(१) वह राजनीतिक दल निर्वाचनों में बहुमत प्राप्त कर सकता है जो लोकमत को अपने पक्ष में कर सके तथा उसका समर्थन प्राप्त कर सके।

(२) लोकमत यह प्रकट कर देता है कि जनता किस विषय में क्या चाहती है?

(३) लोकमत शासन की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता पर बन्धन लगाये रखता है क्योंकि यदि शासन तनिक भी जन-हित का उल्लंघन करे अथवा लोकमत के विरुद्ध कार्य करे तो जनता में चारों ओर से शासन की आलोचनायें आरम्भ हो जाती हैं।

(४) यदि किसी राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक सुधार या परिवर्तन के लिये राज्य की ओर से विधियां बना दी जायें परन्तु लोकमत उनके पक्ष में न हो अथवा उनकी ओर से उदासीन हो तो उनका कोई भी मूल्य नहीं होगा।

(५) इसके विपरीत यदि लोकमत किसी सुधार या परिवर्तन को चाहे तो राज्य को उसके अनुसार विधियां बनानी पड़ेंगी। यदि राज्य ऐसा नहीं करता तो राज्य-क्रांति की सम्भावना रहेगी अथवा जनता उस सुधार को प्रथा और परम्परा के रूप में मान्यता दे देगी।

इस प्रकार लोकमत बहुत महत्वशाली शक्ति है। बली से बली सम्राट, आततायी और निरंकुश शासक को भी लोकमत अपने पक्ष में करना पड़ता है अन्यथा वह अधिक समय तक सत्ता में नहीं रह सकता। जनता के सम्मुख सम्राटों के मुकुट सदा से झुकते रहे हैं। प्रजा ही परमेश्वर है, उसकी ध्वनि ईश्वरीय इच्छा की प्रतिध्वनि है।

आदर्श लोकमत के आधार

आदर्श लोकमत का निर्माण कुछ विशेष परिस्थितियों पर आधारित होता है। उनका उल्लेख हम इस प्रकार कर सकते है—

(१) **सुशिक्षित जनता**—आदर्श लोकमत का निर्माण इस बात पर निर्भर है कि जनता भली प्रकार शिक्षित है या नहीं। आधुनिक राज्यों की जटिल और व्यामिश्र समस्याओं को भली प्रकार समझने और उन पर अपने मत का निर्माण करने के लिये सुशिक्षा अनिवार्य है। अशिक्षित जनता सदा संकीर्ण स्वार्थों और नीच संघर्षों में फँसी रहती है। शिक्षा ही मनुष्य को मानसिक-उदारता और दृष्टिकोण की विशालता प्रदान करती है। अतः सुशिक्षा के अभाव में आदर्श लोकमत के निर्माण की कल्पना निरर्थक है।

(२) **जनता की जागरूकता और सक्रिय रुचि**—आदर्श लोकमत के निर्माण में दूसरा महत्वपूर्ण तत्व यह है कि जनता अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों दोनों के प्रति निरन्तर सजग रहे। जनता केवल अधिकारों की माँग ही करती है, अपने कर्त्तव्यों को भारस्वरूप समझकर उनका समुचित पालन करना नहीं चाहती, उसका मत कभी भी आदर्श नहीं हो सकता। आदर्श लोकमत के लिए यह अनिवार्य है कि जनता के भीतर शासन की कमियों, अपने कर्त्तव्यों तथा अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता हो। इसके अतिरिक्त जनता के भीतर राज्य की समस्याओं के प्रति सक्रिय रुचि भी होनी आवश्यक है, जब जनता मनोयोगपूर्वक राज्य की समस्याओं का अध्ययन करती है और उस पर अपने मत का निर्माण करती है तभी उसका मत आदर्श-लोकमत होता है।

(३) **राष्ट्रीयता की भावना**—जब तक किसी देश की जनता राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित नही होगी और उसके भीतर साम्प्रदायिकता व जातीयता की संकीर्ण भावनाएँ भरी रहेंगी तब तक वहाँ आदर्श लोकमत नहीं पाया जा सकता। प्रत्येक समस्या पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करने और राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित राजनीतिक दलों के नेतृत्व में कार्य करने वाली जनता ही आदर्श लोकमत का निर्माण कर सकती है। परन्तु यह राष्ट्रीयता भी अधिक उग्र और संकीर्ण नहीं होनी चाहिए।

(४) **आर्थिक समानता**—आदर्श लोकमत के निर्माण के लिए केवल निर्धनता का अन्त ही काफी नहीं है। जब तक आर्थिक असमानता बनी रहेगी तब तक धनी वर्ग अपने धन और सत्ता के बल पर दूसरों पर अपने मत को थोप सकते हैं अतः आदर्श लोकमत के निर्माण के लिए आर्थिक समानता भी अनिवार्य है। यह उसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार है।

(५) **सदाचार-युक्त और दृढ़ नेतृत्व**—जिस समाज के नेता सदाचारी और दृढ़ चरित्र वाले होते है वहाँ आदर्श लोकमत बनने की हर सम्भावना रहती है।

जनता प्राय: अपने नेताओं का अनुकरण करती है। यदि नेता उसे सदविचार और सदाचार का मार्ग दिखायेंगे तो निश्चय ही उसमें दृष्टिकोण की व्यापकता और उदारता आ जायेगी, जिससे लोकमत आदर्श बन सकेगा।

(६) **सूचना के निष्पक्ष साधन**—आदर्श लोकमत के निर्माण के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता को स्पष्ट और सीधे शब्दों में सच्ची सूचनायें दी जायें। उन्हें दलीय हितों के विचार से रंगा न जाये। समाचार पत्र, आकाशवाणी तथा सूचना व प्रचार के अन्य साधन निष्पक्ष होने चाहियें जिससे जनता तथ्यों को उनके वास्तविक स्वरूप में देखकर अपना मत निश्चित कर सके।

(७) **समुन्नत नैतिक चरित्र**—नैतिक दृष्टि से उन्नत समाज ही सही विचार और सही चिन्तन कर सकता है, चाहे हमारे नेता कितने भी महान् हों, हमारा देश कितना भी प्राकृतिक दृष्टि से साधन सम्पन्न हो, तथा हमारा अतीत कितना भी गौरवमय हो परन्तु यदि हमारा नैतिक चरित्र गिरा हुआ है, हमारे भीतर सामाजिकता का अभाव है तथा हम राष्ट्रीय हितों को भुलाकर संकीर्ण स्वार्थों में फंसे रहते हैं तो कभी भी हमसे यह आशा नहीं की जा सकती कि हमारा समाज आदर्श लोकमत का निर्माण कर सकेगा।

आदर्श लोकमत के लिये इनमें से कोई भी एक आधार अकेला अपर्याप्त रहेगा, उसके लिए इन सभी की आवश्यकता है।

आदर्श लोकमत की बाधाएं

आदर्श लोकमत के निर्माण में अनेक बाधायें पड़ती हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त आवश्यकताओं में एक भी पूरी न होने पर आदर्श लोकमत का विकास रुक जायेगा। इस प्रसंग में हम निम्न बाधाओं का उल्लेख कर सकते हैं—

(१) **राज्य के कार्यों के प्रति नागरिकों की उदासीनता**—यदि राज्य में नागरिक राष्ट्रीय समस्याओं और प्रश्नों तथा शासन के कामों की ओर ध्यान ही न दें तथा उधर से अपने आँख-कान बन्द कर लें तो न उन्हें समस्याओं का ज्ञान होगा, न वे विचार ही कर सकेंगे तथा मत देने के समय मित्रों के कहने से, धन के लालच में, साम्प्रदायिक, जातीय अथवा अन्य संकीर्ण भावनाओं से उत्तेजित होकर वे अपने मत का उपयोग करेंगे। ऐसे मत को आदर्श नहीं कह सकते। जनतन्त्र के भीतर राज्य के प्रति नागरिकों की उदासीनता एक घोर-अभिशाप है। जिस जनता के हाथ में शासन की बागडोर है यदि वह शासन में रुचि न ले तो जनतन्त्र सफल नहीं हो सकता। आदर्श लोकमत और उदासीनता दोनों एक साथ सम्भव नहीं है।

(२) **राजनीतिक दलों का संकुचित आधार**—लोकमत के निर्माण में प्रधान कार्य राजनीतिक दल करते हैं। यदि किसी देश में राजनीतिक दल ही न हों अथवा यदि वे हों भी और उनका संगठन संकुचित आधारों, जैसे—साम्प्रदायिकता, जाती-

यता, प्रान्तीयता या वर्ग-हित पर हुआ हो तो कभी यह आशा नहीं की जा सकती कि राष्ट्रीय प्रश्नों पर राष्ट्रीय-हित की दृष्टि से निष्पक्षता पूर्वक विचार किया जा सकता है ।

(३) **अशिक्षित और रूढ़िग्रस्त जनता**—जिन देशों में जन-साधारण अशिक्षित होते हैं तथा प्राचीन (दकियानूसी) प्रथाओं और परम्पराओं से उनकी उपयोगिता न रहने पर भी चिपटे रहते हैं, उन देशों में सच्चे लोकमत का विकास असम्भव है । अशिक्षा का अर्थ शिक्षा का अभाव ही नहीं है, आदर्श लोकमत के निर्माण में वह जितना बाधक है उतना ही बाधक संकुचित, गन्दी और स्वार्थी बनाने वाली शिक्षा का प्रसार भी है ।

(४) **अधिनायक-तन्त्र**—जिन देशों में किसी एक व्यक्ति या दल का स्वेच्छाचारी और निरंकुश-शासन है जो कि दूसरे व्यक्ति या दल की उन्नति नहीं सहन कर सकता वहाँ जनता को विरोधी विचार के अध्ययन और विचार प्रदर्शन की स्वतंत्रतायें नहीं मिलतीं, जिनके कारण उनके भीतर विचार और चिन्तन की प्रवृत्ति कुंठित हो जाती है । दूसरे, ऐसी शासन पद्धति में जनता के मस्तिष्क को एक विशेष सिद्धान्त में दीक्षित किया जाता है (इसे इन्डाक्ट्रिनेशन ऑफ माइन्ड कहते हैं) इसके कारण जनता का सोचने और विचारने का एक ही ढंग बन जाता है । इस प्रकार बनने वाले लोकमत को हम आदर्श लोकमत कह सकते हैं ।

(५) **आदर्श नागरिकता का अभाव**—आदर्श नागरिकता के प्रसार से ही आदर्श लोकमत निर्मित होता है, उसके अभाव में अनैतिकता और भ्रष्टाचार का साम्राज्य फैलता है । जहाँ नागरिकों के भीतर आदर्श नागरिकता नहीं है वहाँ आदर्श लोकमत भी नहीं है यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है ।

(६) **असत्य प्रचार**—लोकमत को प्रभावित करने वाले साधन जैसे समाचार पत्र, रेडियो आदि यदि स्वार्थी दलों के हाथों में आ जाते हैं तो वे झूठा और दुष्टतापूर्ण कलुपित प्रचार करके लोकमत को आदर्श नहीं बनने देते । यह आदर्श लोकमत की वृद्धि में एक बड़ी बाधा है ।

आदर्श लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि इन बाधाओं को लांघ कर उनके लिये अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया जाय ।

लोकमत की रचना

लोकमत के निर्माण का कार्य राजनीतिक दल करते हैं । प्रत्येक राजनीतिक दल सदा इस बात का प्रयत्न करता रहता है कि लोकमत उसके पक्ष में रहे । कभी-कभी समाज के भीतर बनने वाले गुट तथा स्वार्थपरायण समूह भी लोकमत को प्रभावित करने का प्रयत्न किया करते हैं, विशेषकर जब यह गुट धनी व्यक्तियों के होते हैं तब इनसे विषैले लोकमत के निर्माण का खतरा पैदा हो जाता है ।

लोकमत के निर्माण के लिए प्रायः निम्न साधनों का आधार लिया जाता है--

(१) **समाचार पत्र**—लोकमत के निर्माण में समाचार पत्रों का बड़ा महत्व है। जैसा हम पीछे कह चुके हैं, जनतन्त्र के भीतर नागरिकों को राज्य के कार्यों के प्रति जागरूक रहना चाहिए अर्थात् उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपने को देश-विदेश के समाचारों से अवगत रखें तथा राज्य की कार्यवाहियों का ज्ञान प्राप्त करें। इसके लिये दिन-प्रतिदिन निकलने वाले समाचार पत्र तथा साप्ताहिक, अर्द्धमासिक व मासिक पत्रिकाएँ ही सर्वसुलभ साधन हैं। प्रत्येक नागरिक किसी न किसी समाचार पत्र का अवलोकन अवश्य करेगा। जनतन्त्रात्मक देशों में समाचार पत्रों का प्रबन्ध प्राय: राजनीतिक दलों के हाथों में रहता है। वे समाचारों को इस प्रकार से छापते हैं तथा अपने सम्पादकीय लेखों में उन पर इस प्रकार टीका टिप्पणी करते हैं जिससे वे जनता के मस्तिष्क पर अज्ञात में ही अपने विचारों की छाप जमा सकें।

कभी-कभी धनिकों के हाथ में पड़कर इस साधन का दुरुपयोग भी होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक दलीय शासन भी लोकमत की अवहेलना नहीं कर सकता उसे भी अपने पक्ष में लोकमत का निर्माण करना पड़ता है। वह इसके लिये अनेक समाचार पत्र निकालता है तथा उनके द्वारा जनता के मस्तिष्क को अपनी विचार-धारा और चिन्तन-शैली में दीक्षित करता है।

समाचार पत्र जनता के मस्तिष्क पर परोक्ष-रीति से (किसी विचार की) छाप डालने के सर्वोत्तम साधन हैं।

(२) **राजनीतिक साहित्य**—दलीय नीतियों को स्पष्ट करने के लिए तथा सामयिक समस्याओं के विषय में प्रत्येक सुसंगठित दल राजनीतिक साहित्य का प्रकाशन करता है। इसमें निर्वाचनों से पूर्व जारी किये जाने वाले निर्वाचन-घोषणा पत्रों (इलेक्शन मैनीफैस्टो) का बहुत महत्व होता है। जनता प्रत्येक दल की नीति और योजनाओं का परिचय प्राप्त करने के लिये निर्वाचन-घोषणा पत्र का तुलनात्मक अध्ययन करती है तथा अपने मत को स्थिर करती है।

(३) **सभा और लोक सम्मेलन**—लोकमत को शिक्षित करने के लिए एक अन्य प्रभावकारक साधन सभा व सम्मेलन करना भी है। सभा और सम्मेलनों मे बहुत सी जनता और कार्यकर्त्ता इकट्ठे होते हैं, वहाँ दलों के नेता उनका ध्यान राज्य की समस्याओं की ओर दिलाते हैं तथा नीतियों का स्पष्टीकरण करते हैं। अपने भाषणों में वे अनेकों तर्कों का उपयोग करते हैं तथा जनता के मस्तिष्क पर यह छाप डालने की चेष्टा करते हैं कि उनकी नीतियाँ ही देश का कल्याण कर सकती हैं।

इन सभा सम्मेलनों से यह लाभ होता है कि जनता समस्याओं को और उनके प्रति विभिन्न दलों के दृष्टिकोण को समझ पाती है जिससे कि उसे अपने अन्तिम मत का निश्चय करने में सुविधा रहती है।

(४) **आकाशवाणी तथा चित्रपट**—आधुनिक युग में आकाशवाणी (रेडियो) और चित्रपट (सिनेमा) भी लोकमत निर्माण में एक बड़ा कार्य करते हैं। दोनों के कार्यक्रम जनता को मनोरंजन के द्वारा शिक्षा देते हैं। यह शिक्षा परोक्ष होने के कारण

चुपके से मस्तिष्क में प्रवेश कर जाती है तथा लोगों को यह पता भी नहीं लग पाता कि वे कुछ सीख रहे हैं अथवा उन्हें किस प्रकार कोई शिक्षा दी जा रही है। इस प्रकार सीखे गये विचार उनके अपने हो जाते है। यही लोकमत का निर्माण है।

(५) **शिक्षा**—विद्यार्थी अपने अध्ययन काल में विद्यालयों के भीतर जो कुछ भी या अपनी पुस्तकों अथवा गुरुओं से सीख लेता है, वे जीवन भर उसके साथ रहते हैं। मनुष्य के विचारों का निर्माण विद्यालयों में होता है। राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करने वाली पुस्तकें बालकों में आरम्भ से ही राष्ट्रीयता का अंकुर पैदा कर देती हैं जो आगे चलकर श्रेष्ठ लोकमत के निर्माण में बड़ा काम देता है। यदि विद्यालयों में कार्लमार्क्स, लेनिन और स्टालिन का साहित्य पढ़ाया जाता है तो निश्चित रूप से लोकमत का निर्माण कम्यूनिस्ट विचारधारा के अनुकूल होगा और महात्मा गाँधी, लियो-टॉलस्टाय, महर्षि विनोबा जैसे व्यक्तियों का साहित्य पढ़ाया जाय तो लोकमत सर्वोदयी विचार पद्धति पर निर्मित होगा। जैसी शिक्षा, वैसा लोकमत।

(६) **धार्मिक संस्थाएँ**—धर्म का मनुष्य के जीवन के साथ एक गहरा सम्बन्ध होता है। धार्मिक संस्थायें मनुष्य के विचारों को बहुत कुछ प्रभावित करती हैं। यह प्रभाव संकीर्ण और उदार दो प्रकार का हो सकता है, यदि धार्मिक संस्थायें राष्ट्रीय और मानवीय हित की दृष्टि से सोचने लगें और अपने साम्प्रदायिक स्वरूप का अन्त कर दें तो वे एक स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बहुत योग दे सकती है।

(७) **अफवाह**—जनता के मस्तिष्क में क्षणिक आवेश पैदा करने के लिए कभी-कभी अफवाह (र्‌यूमर) बहुत सफल होती है। कुछ शैतान मनोवृत्ति के लोग आस-पास के लोगों से कोई बात कह देते है और वह बात धीरे-धीरे सारे शहर में फैल जाती है। इसे अफवाह कहते हैं। हरएक व्यक्ति यही कहता है कि लोग ऐसा कहते हैं, या हमने ऐसा सुना है परन्तु कहने वाले का कोई पता नहीं होता। कभी-कभी लोग अफवाह पर विश्वास कर लेते हैं और आवेश या भय में आकर बिना सोचे-समझे तथा समाचार की सत्यता का पता लगाये विना ही कुछ का कुछ कर बैठते हैं। बड़े-बड़े विद्वान लोग भी बहुधा अफवाहों के शिकार हो जाते है और वे धोखे में आ जाते हैं।

एक शहर के एक कोने में यदि कोई यह कह दे कि उस शहर के दूसरे हिस्से में बाजार लुट रहा है तो फौरन वहाँ के दुकानदार भी अपनी दुकानें बन्द करने लगेंगे और बाजार में भगदड़ मच जायगी। बस इसी भगदड़ में कुछ गुण्डे लोग दुकानों और मकानों को लूटना शुरू कर देते है तथा मारपीट मच जाती है। यह अफवाह का प्रभाव होता है।

समझदार लोगों को अफवाहों के प्रभाव से बचना चाहिए और हर एक खबर को जाँचना चाहिए कि वह सत्य है या नहीं। अन्यथा इससे बहुत बड़ी हानि हो सकती है।

राजनीतिक-दल

जनतन्त्र की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का होना आवश्यक है। जनतंत्र का अर्थ है जनता का शासन। सम्पूर्ण जनता प्रत्येक विषय में एकमत हो, यह कल्पना असम्भव सी है। जनता के भीतर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का विश्वास अलग-अलग सिद्धांतों में हो सकता है तथा वे राष्ट्रीय-समस्याओं का हल अलग-अलग ढंग से सोच सकते हैं। जनतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को न केवल सोचने और अपनी राय बना लेने का ही अधिकार है वरन् उसे यह भी अधिकार है कि वह अपने मत को भाषण, लेख अथवा प्रदर्शन द्वारा प्रकट कर सके। स्वाभाविक रूप से एक से विचारों के व्यक्ति एक साथ मिल जाते हैं। बड़े प्रश्नों और महत्व के सिद्धांतों पर सहमत हो जाते हैं तथा छोटी-छोटी बातों और संकीर्ण मतभेदों को भुलाकर एक साथ काम करने लगते हैं। यही वास्तव में राजनीतिक दलों के जन्म की कथा है।

परिभाषा—राजनीतिक दल की एक परिभाषा हमने अध्याय के आरम्भ में दी है। उसमें विद्वान बर्क ने हमारा ध्यान इस ओर खींचा है कि प्रथम तो राजनीतिक दल मनुष्यों का एक संगठन है, दूसरे, उसके संगठन का आधार एक या अनेक ऐसे सिद्धांतों पर टिका होता है जिनके विषय में दल के समस्त सदस्य सहमत होते हैं, तीसरे, ये मनुष्य अथवा दल के सदस्य एक साथ मिलकर कार्य (संयुक्त प्रयास) करते हैं और चौथे, दल का उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करना है, व्यक्गित स्वार्थों या वर्गीय हितों की पूर्ति करना नहीं।

यहाँ हमें राजनीतिक-दल और गुटबन्दी का अंतर समझ लेना चाहिये। राजनीतिक दल का उद्देश्य व्यापक राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिये संयुक्त प्रयत्न करना है, परन्तु एक गुट के सदस्य अपने संकीर्ण स्वार्थों व वर्गीय हितों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हैं। साम्प्रदायिक आधार पर बने दलों को हम राजनीतिक दल न कहकर साम्प्रदायिक दल अथवा संगठन कहना अधिक ठीक समझते हैं जैसे—हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, अखिल भारतीय परिगणित जाति संघ, आदिवासी-संघ, आदि।

उन मनुष्यों के संगठन को राजनीतिक दल कहते हैं जो राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि के लिये कार्यक्रम तथा साधनों के विषय में एकमत हों तथा छोटे मतभेदों को भुलाकर दल के नेतृत्व में एक साथ कार्य करने के लिए तैयार हों। राजनीतिक दल के सदस्य किसी विषय में अपना व्यक्तिगत मत तभी तक प्रकट कर सकते हैं जब तक कि दल उस विषय पर कोई निर्णय अथवा कोई नीति निर्धारित नहीं कर लेता। उसके पश्चात् दल का निर्णय ही व्यक्ति का विचार बन जाता है।

मैकाइवर ने राजनीतिक दल की परिभाषा इस प्रकार की है—"राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जिसका निर्माण किसी ऐसे सिद्धान्त अथवा नीति के समर्थन के लिये किया जाता है जिसे वह वैधानिक साधनों द्वारा शासन की नीतियों का आधार बनाना चाहता है।"

इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक दल को अपने कार्यों में केवल वैधानिक साधनों का ही प्रयोग करना चाहिये अर्थात् उसे शांतिपूर्वक वैधानिक सीमा के भीतर ही कार्य करना चाहिए। इससे यह भी पता चलता है कि राजनीतिक दल का उद्देश्य राज्य शासन पर अधिकार जमाना है जिससे वह अपने सिद्धान्तों के आधार पर राज्य की नीतियाँ निर्धारित करके राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए प्रयास कर सके।

राजनीतिक दलों के विषय में आगे चर्चा करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि राजनीतिक दल किन आधारों पर संगठित होते है।

राजनीतिक दलों के कार्य

जनतन्त्रात्मक देशों में राजनीतिक दलों का महत्वपूर्ण स्थान है। वे प्राय: निम्न कार्यो की पूर्ति करते हैं—

राजनीतिक दल जनता के भीतर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। इसके लिए वे मन्च (प्लेटफार्म), समाचार पत्रों तथा सभा-सम्मेलनों का सहारा लेते हैं। आधुनिक युग में राज्य की समस्यायें बहुत जटिल होती है। साधारण जनता उन्हें आसानी से नहीं समझ सकती जिसके कारण वह उन पर कुछ भी निर्णय करने में पूर्णतया असमर्थ होती है। परन्तु राजनीतिक दल इन समस्याओं को सरल और सुलझे हुए रूप में जनता के सामने पेश करते है तथा उस पर अपना मत या विचार भी जनता के सामने रख देते है इससे जनता को अनेक राजनीतिक दलों के विचार सुनने तथा समस्याओं को सुलझाने का अवसर मिलता है और उन पर निर्णय करने में सुविधा होती है।

(१) राजनीतिक दलों में सर्वप्रथम कार्य जनमत अथवा लोकमत का निर्माण करना है। प्रत्येक राजनीतिक दल जनमत को अपने पक्ष में प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। इससे निर्वाचनों के अवसर पर मतदाताओं का अव्यवस्थित समूह विविध दलों में बंट जाता है।

(२) इस प्रकार राजनीतिक दलों का दूसरा कार्य निरन्तर राजनीतिक शिक्षण और प्रचार के द्वारा निर्वाचकों अथवा मतदाताओं के अव्यवस्थित समूह को व्यवस्थित करना है।

(३) राजनीतिक दलों का कार्य जनतंत्र की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक प्रतिनिधित्व की समस्या को सुलझाना है। प्रत्येक राजनीतिक दल निर्वाचनों में प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र से अपने उम्मीदवार खड़े करता है तथा व्यक्ति की योग्यता को प्रभाव के आधार पर नहीं वरन् दल के कार्य-क्रम और योजना के आधार पर जनता से मत माँगता है और वह निर्वाचन का समस्त व्यय अपने कोष से करता है। इससे निर्वाचन की समस्या बहुत हल हो जाती है। कोई भी अकेला उम्मीदवार न तो इतना अधिक प्रचार ही कर सकता है न इतना धन ही व्यय कर सकता है। दलीय पद्धति

में प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र पर पूरे दल का जोर लगता है। उस दल के बड़े-बड़े नेता, जिन पर जनता विश्वास करती है जब आ-आकर अपने उम्मीदवार के लिये जनता के मत माँगते हैं तो जनता बरबस उसका समर्थन करने ही लगती है। अकेला व्यक्ति, अकेला ही होता है, वह जनता पर औरों के नैतिक प्रभाव का प्रयोग अपने लिये नहीं करा सकता।

(४) निर्वाचनों के उपरान्त जब कोई दल जनता का बहुमत प्राप्त करके सत्ता प्राप्त कर लेता है तो वह अपनी योजनाओं को कार्य रूप में परिणत करता है। इसे हम यों कह सकते हैं कि राजनीतिक दलों का एक अन्य कार्य शासन का निर्माण करना है।

(५) एक दल द्वारा शासन का निर्माण होने के परिणामस्वरूप राज्य की नीतियों में एकता और समरूपता स्वाभाविकतया ही आ जाती है। राजनीतिक दलों का एक महत्वपूर्ण कार्य शासन के विविध विभागों के मध्य सामंजस्य और सहयोग की स्थापना करना है। सत्ता प्राप्त राजनीतिक दल सब विभागों को एक सी ही नीति देता है तथा उन सबके मध्य एक निकट का सम्पर्क और सहकार उत्पन्न करता है।

(६) राजनीतिक दल केवल शासन का निर्माण ही नहीं करते वरन् जनता का बहुमत प्राप्त न होने पर वे विरोधी दल के रूप में शासन पर अंकुश और नियंत्रण बनाये रखने का महत्वपूर्ण और उपयोगी कार्य करते हैं। जनतन्त्रात्मक-शासन पद्धति में शासन का निर्माण करना जितना महत्वपूर्ण कार्य है उतना ही महत्वपूर्ण कार्य एक सबल और स्वस्थ विरोधी पक्ष निर्माण भी है। यदि किसी राज्य में विरोधी दल संयम और बुद्धि से कार्य करे तो वह शासन की नीतियों और योजनाओं को बहुत कुछ प्रभावित कर सकता है। विरोधी दल प्रश्न पूछ कर तथा विधायिका के भीतर और बाहर जनता में शासन की आलोचना करके शासन की निरंकुशता और उद्दण्डता पर अंकुश लगाता है। यह अंकुश जनतन्त्र की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना शासन स्वेच्छाचारी बन कर जनता के अधिकारों और हितों को हानि पहुँचा सकता है।

(७) राजनीतिक दलों का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य विधायिका के सदस्यों को एक अनुशासन और मर्यादा के भीतर रखना है जिससे कि वे अपने दल के साथ रहें तथा संगठित होकर काम करें। दल का कठोर अनुशासन उन्हें गैर-जिम्मेदारी के काम करने से रोके रखता है तथा एक निश्चित दिशा में चलने के लिये बाध्य करता है। इससे विधियों के निर्माण में सुविधा हो जाती है, जो कोई भी संशोधन किसी दल की ओर से आते हैं वे भली भाँति विचार और चिन्तन के पश्चात् आते हैं जिसके कारण उन पर सैद्धांतिक चर्चा और विचार-विमर्श में सरलता रहती है।

(८) राजनीतिक दलों के कार्य केवल राजनीति तक सीमित नहीं रहते, वे आर्थिक और सामाजिक सुधार का बीड़ा भी उठाते हैं। भारतीय काँग्रेस स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ ही साथ हरिजनोद्धार तथा महिला-जागृति के क्षेत्र में भी बड़ा काम

किया है । आगरा के काँग्रेस अधिवेशन में काँग्रेस के अध्यक्ष और हमारे महान् राष्ट्र के लोकप्रिय प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ७ जुलाई १९५३ को घोषणा की, "काँग्रेस का ध्येय मौलिक रूप से समाज का सुधार करना रहा है और जैसा कि मैंने कल भी कहा था, मेरा यह विश्वास है कि हमें जीवन को एक समन्वित दृष्टिकोण से देखना चाहिए । आपकी आर्थिक-सुधार की चर्चाओं से क्या लाभ है यदि आप सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुये और कुछ ऐसी प्रथाओं से जकड़े हुये रहे जिनका आज कोई भी उपयोग नहीं है । आज इस काँग्रेस का उद्देश्य जीवन के प्रति एक समन्वित दृष्टिकोण लेकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सुधार करना है ।"

इस महान नेता के इस वक्तव्य से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि राजनीतिक दलों का उद्देश्य राज्य के सम्पूर्ण जीवन के कल्याण की चिन्ता करना है।

दलीय शासन

वास्तव में जनतन्त्रात्मक शासन बहुमत का शासन है । जिस राजनीतिक दल को विधायिका में बहुमत प्राप्त हो जाता है वही अपने सिद्धान्तों के अनुसार विधियों का निर्माण कर सकता है तथा मन्त्रिमण्डलात्मक शासन-पद्धति में तो उस दल के हाथों में राज्य की कार्यपालिका सत्ता भी आ जाती है । अध्यक्षात्मक शासन में कभी-कभी राष्ट्रपति किसी एक दल का व्यक्ति होता है तथा विधायिका में दूसरे दल का बहुमत होता है ।

इस प्रकार दलीय शासन का प्रमुख लक्षण यह है कि इसमें बहुमत प्राप्त करने वाला दल ही शासन सत्ता का स्वामी होता है, अन्य दल उसकी आलोचना कर सकते हैं परन्तु वे जब तक अल्पमत में हैं तब तक शासन सत्ता से बाहर ही रहते हैं ।

यदि राजनीतिक दल शासन का निर्माण न करें अर्थात् वे विधायिका के सदस्यों को संगठित और व्यवस्थित न रखें तो एक प्रकार की अराजकता फैल जाये । जनता का प्रत्येक प्रतिनिधि मनमानी बात करता रहे तथा कभी भी न कोई निर्णय हो सके, न वह कार्यरूप में परिणित ही हो सके । अत: व्यवस्था और प्रबन्ध के विचार से दलीय शासन ही एकमात्र व्यवाहारिक उपाय है ।

दलीय शासन के दोष

(१) दलीय शासन पर सर्वप्रथम यह दोष लगाया जाता है कि यह मन्त्रियों की नियुक्ति में योग्यता का ध्यान नहीं रखता वरन् उन्हें दलीय आधारों पर छाँटता है । जो दल बहुमत में होता है वह अपने ही दल में से समस्त राजनीतिक पदों जैसे मन्त्रि-पद व राजदूतों आदि के पद पर नियुक्ति करता है । इससे विरोधी पक्ष में बैठने वाले व्यक्ति पूर्णतया सत्ता से बाहर हो जाते हैं । शासन में योग्य से योग्य व्यक्ति लेने चाहियें जिससे कि राष्ट्रीय हित का समुचित सम्पादन हो सके ।

यह आलोचना व्यर्थ है । शासन में योग्यता से भी बढ़कर महत्व शासन की एकता और समरूपता का है । यदि विविध मन्त्री विविध दलों के होंगे तो कभी भी

राज्य की नीतियों में एकता और समरूपता नहीं हो सकती, इससे शासन अव्यवस्थित व निर्बल हो जायगा। अतः दलीय शासन पर यह दोष लगाना गलत है। दूसरे राजनीतिक शासकों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे अपने विभागों के विषयों में निपुण हों, उन्हें नौसिखिया ही होना चाहिये तभी शासन ठीक चल सकता है। शासन में निपुण तत्व की पूर्ति स्थायी लोक सेवाओं के सदस्य करते हैं। जहाँ तक राज्य की नीतियों की कुशलता का प्रश्न है उनका निर्माण कोई एक व्यक्ति नहीं करता, वे दल के नेताओं द्वारा बनाई जाती है।

(२) दलीय शासन के विषय में यह कहा जाता है कि अस्वाभाविक और अप्राकृतिक रूप से विधायिका को दो भागों में विभक्त कर देता है (शासन और विरोधी पक्ष)। विरोधी पक्ष का कार्य शासन की आलोचना करना तथा जनता की दृष्टि में उसे नीचा करना है। इस प्रकार ब्राइस के शब्दों में, संसद एक युद्ध क्षेत्र बन जाती है जहाँ कि सत्ताप्राप्त और सत्ताहीन दलों के बीच संघर्ष रहता है तथा जिसमें राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की जाती है। दलीय शासन संकीर्ण और एकपक्षीय हो जाता है, उसकी शासन-नीति और प्रत्येक कार्य में दलीय भावना विद्यमान रहती है। समस्याओं पर राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से न सोचकर दलीय-हित और दलीय-सम्मान की दृष्टि से विचार किया जाता है।

परन्तु वास्तव में यह विचार गलत है कि विरोधी पक्ष शासन के लिये आवश्यक नहीं है। विरोधी पक्ष शासन का उतना ही महत्वपूर्ण अंग है जितना कि मन्त्रिमण्डल। ब्रिटेन में विरोधी पक्ष को 'राजा का विरोधी पक्ष' कहा जाता है। विरोधी पक्ष की आलोचना का मुख्य उद्देश्य शासन को नीतियों के दोषों पर प्रकाश डालना और उसकी स्वेच्छाचारिता को रोकना होता है। यह आलोचना सदा रचनात्मक और स्वस्थ होनी चाहिये जिससे कि जब विरोधी पक्ष को शासन के निर्माण करने का अवसर मिले तब उस पर भीऐसा ही दोष न लगाया जैसा कि उसने अपने से पहले शासन पर लगाया था। यदि ऐसा न हुआ तो विरोधी-पक्ष सत्ता में आने पर अधिक लोकप्रिय वसबल नहीं हो सकता।

(३) दलीय पद्धति पर यह भी दोष लगाया जाता है कि यह सत्ता की अन्धी दौड़ को जन्म दे देती है। प्रत्येक राजनीतिक दल किसी भी प्रकार राज्य सत्ता पर अपना अधिकार जमाना चाहता है, इसके लिये वह निर्वाचनों के अवसर पर विरोधियों के बारे में झूठ सच सभी कुछ लाँछन लगाता है तथा अपनी ओर से जनता को झूठे प्रलोभन देता है। निर्वाचनों के अवसर पर कार्यकर्त्ताओं और साधारण मतदाताओं को कुछ न कुछ वचन दिये जाते है कि हम शासन में पहुँचने पर तुम्हारे लिये यह करेंगे, वह करेंगे आदि। इसका परिणाम यह होता है कि सत्ता प्राप्त करने वाला दल इन सब वचनों की पूर्ति के लिये अनैतिक रूप से प्रयत्न करता है तथा राज्य का अहित करके भी उन्हें पद या धन आदि देकर प्रसन्न करता है क्योंकि यदि विजयी दल ऐसा न करे तो अगले निर्वाचनों में कार्यकर्त्ता उसकी सहायता नहीं करेंगे। इसे लूट प्रथा (स्पाँयल सिस्टम) कहते हैं।

इस प्रकार दलीय शासन के कारण जनता को राजनीतिक शिक्षा नहीं वरन् कुशिक्षा मिलती है, वह अनीति और असत्य का पथ ग्रहण करने के लिये विवश की जाती है तथा एक ही विषय पर अनेक मत सुनने पर उसकी मति भ्रम में पड़ जाती है।

इतना ही नहीं, दलीय शासन में दलीय हितों और स्वार्थों का बोलबाला रहता है, राष्ट्रीय हित स्वाहा हो जाते हैं। कभी-कभी कई व्यक्ति दलीय-स्थिति का उपयोग अपने स्वार्थों के लिये करने लगते हैं।

परन्तु ये सब जनता और उनके प्रतिनिधियों के चरित्र की दुर्बलताएँ हैं। इन से दलीय शासन का कोई सम्बन्ध नहीं है। इन बुराइयों को दूर करने का उपाय दलीय शासन का अन्त करना नहीं, वरन् जनता का नैतिक चरित्र ऊँचा बनाना है।

जनतन्त्रात्मक शासन के समुचित-संचालन के लिये आज दलीय शासन के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। जब तक अनेक मनुष्य हैं, तब तक अनेक मत हैं और अनेक मतों का अर्थ है अनेक दल। अनेक दलों में जो दल बहुमत में हैं, वही अपना शासन-निर्माण करने का अधिकारी है क्योंकि (१) उनमें जनता के बहुतांश का विश्वास है, तथा (२) उसके भीतर इतनी शक्ति (सदस्य संख्या) है कि वह विरोधी-पक्ष की चोटें सहन कर सकता है तथा उसे विधायिका के भीतर करारी हार दे सकता है।

दलीय पद्धति तो निर्दोष है। दोष है हमारे चरित्र और आचार-व्यवहार का, हमारा नैतिक-चरित्र उठे तो जीवन की सभी समस्यायें हल हो जाएँ।

योग्यता-प्रश्न

१. जनतंत्रात्मक राज्य में लोकमत किन साधनों द्वारा प्रगट होता है ?
   What are the ways of expression of public-opinion in a democratic state ?

२. जनतंत्र में लोकमत का क्या महत्व है और उसका निर्माण कैसे होता है ?
   What is the importance of public-opinion in democracy ? How is it formed ?

३. आदर्श लोकमत के क्या आधार हैं ? उसके विकास में क्या बाधाएं हो सकती हैं ?
   What is the basis of ideal public-opinion ? What are the difficulties in the proper growth of ideal public opinion ?

४. राजनीतिक दल किसे कहते हैं ? वे क्या कार्य करते हैं ?
   What is a political party ? What are the functions of political parties ?

—:o:—

भाग २

भारत का नागरिक जीवन और संविधान

(राजस्थान के शासन-प्रबन्ध और पंचायत प्रशासन के विवरण सहित)

अध्याय १४

भारतीय समाज

वरनाश्रम निज-निज धरम निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहि भय सोक न रोग।।

—रामचरित मानस

भारत एक महान् और प्राचीन देश है। इसका क्षेत्रफल १२,५९,७९७ वर्ग मील है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह संसार का सातवाँ देश है। प्रकृति ने अपनी समस्त देनें इस महान् देश को दी है। जिस समय संसार के दूसरे भागों में मनुष्य जंगली जीवन व्यतीत कर रहा था उस समय भारत में सभ्य जीवन पनप रहा था। इतनी प्राचीन हमारी सभ्यता है।

भारत का समाज बहुत विकसित रहा है। इसकी कुछ विशेषताओं की ओर हम यहाँ ध्यान देंगे। इससे पहले, हमें यह देख लेना चाहिये कि हमारे देश की सामाजिक रचना किस प्रकार से हुई है तथा यहाँ प्रधान रूप से कौन-सी भाषायें प्रयोग में लाई जाती हैं।

भारत एक भौगोलिक और राजनीतिक इकाई है तथापि यह कहना बहुत कठिन है कि यहाँ उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक एक-सा रहन-सहन, एक-सी भाषा और एक-सा खान-पान प्रचलित हैं। सारा देश जीवन के विभिन्न और विविध ढंगों से सजा हुआ है। हमारे देश की कुल आबादी १९६१ की जनगणना के अनुसार ४३ करोड़ ६४ लाख, २४ हजार, चार सौ, उन्तीस है। इसमें स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा एक करोड़ पैंतीस लाख के लगभग कम है। हमारी यह जनसंख्या अनेक नस्लों से मिलकर बनी है। इनमें आर्य, द्रविड़, ईरानी, मंगोलियन, यूनानी, सिथियन, कुशन, हूण, अरब, तुर्की, पारसी व यूरोपियन मुख्य हैं। आर्यों के भारत में आने से पूर्व यहाँ द्रविड़ सभ्यता प्रचलित थी जो किसी भी प्रकार आर्य सभ्यता से कम विकसित और व्यवस्थित नहीं थी। आर्यों के आने के बाद द्रविड़ जातियाँ दक्षिण भारत की ओर चली गईं तथा उत्तर भारत में आर्य सभ्यता का विकास आरम्भ हुआ। जहाँ तक वर्तमान काल का प्रश्न है आज यह कहना कठिन हो गया है कि कौन द्रविड़ है और कौन आर्य। इसका कारण यह है कि भारत में जातियों का सघन सम्मिश्रण होता रहा है और एक भारतीय-संस्कृति के निर्माण की चेष्टा होती रही है।

भारत में जब भी कोई नई जाति आई यहाँ के लोगों ने उसे अपने भीतर समा लेने की कोशिश की। यदि अंग्रेज जाति को अपनी गोरी चमड़ी का अभिमान न होता और वह भारत की जनता के साथ सामाजिक रूप में मिश्रित हो जाती तो हम उन्हें भी विदेशियों के रूप में देखना छोड़ देते।

आज भी हमें भारत के भीतर दो प्रकार के भारतीय मिलते हैं—सामान्य भारतीय और आदिवासी भारतीय। ये आदिवासी भारतीय उतने ही सच्चे भारतीय हैं जितने दूसरे भारतीय। अन्तर इतना ही है कि ये अपने प्राचीन रीति-रिवाजों से चिमटे रहे हैं तथा इन्होंने अपने को समय के साथ बदलने में जल्दी नहीं दिखाई है। तथापि ये बहुत चरित्रवान और सज्जन होते हैं तथा धीरे-धीरे इन्होंने नये जमाने के साथ अपने आपको बदलना आरम्भ कर दिया है।

हमारे संविधान में १४ भारतीय भाषाओं का उल्लेख किया गया है—१. हिन्दी (राष्ट्रभाषा), २. संस्कृत, ३. पंजाबी, ४. तेलगू, ५. मराठी, ६. तमिल, ७. बंगला, ८. गुजराती, ९. कन्नड़, १०. मलयालम, ११. उड़िया, १२. असमिया, १३. काश्मीरी, १४. उर्दू।

तथापि, भारत में इनके अतिरिक्त अन्य अनेक भाषायें प्रचलित है, जिनमें से बहुत सी केवल बोली जाती है, लिखी नहीं जातीं। हमारे देश में राज्यों का निर्माण इन भाषाओं के आधार पर ही किया गया है। यहाँ हम राज्यवार अपनी जनसंख्या का विवरण दे रहे हैं :—

भारत की जनसंख्या का राज्यवार विवरण

सन् १९६१ का जनगणना के अनुसार

राज्य का नाम	जनसंख्या	पुरुष	महिलायें
आंध्र	३,५९,७७,९९९	१,८१,७५,३४९	१,७८,०२,६५०
असम	१,१८,६०,०५९	६३,१८,२२९	५५,४१,८३०
बिहार	४,६४,५७,०४२	२,३३,२८,१७८	२,३१,२८,८६४
गुजरात	२,०६,२१,२८३	१,०६,३६,४७०	९९,८४,८१३
जम्मू-काश्मीर	३५,८३,५८५	१९,०२,९०२	१६,८०,६८३
केरल	१,६८,७५,१९९	८३,४५,८९७	८५,२९,३०२
मध्यप्रदेश	३,२३,९४,३७५	१,६५,९८,५२६	१,५७,९५,८४९
मद्रास	३,३६,५०,९१७	१,६९,१५,४५४	१,६७,३५,४६३
महाराष्ट्र	३,९५,०४,२९४	२,०४,१९,०५९	१,९०,८५,२३५
मैसूर	२,३५,४७,०८१	१,२०,२१,२४८	१,१५,२५,८३३
उड़ीसा	१,७५,६५,६४५	८७,७२,१९४	८७,९३,४५१
पंजाब	२,०२,९८,१५१	१,०८,६६,९१०	९४.३१,२४१

राजस्थान	२,०१,४६,१७३	१,०५,५८,१३८	९५,८८,०३५
उत्तर-प्रदेश	७,३७,५२,९१४	३,८६,६४,४६३	३,५०,८८,४५१
पश्चिम बंगाल	३,४९,६७,६३४	१,८६,११,०८५	१,६३,५६,५४९
अण्डमान निकोबार	६३,४३८	३९,२५९	२४,१७९
दिल्ली	२६,४४,०५८	१४,८०,७०८	११,६३,३५०
हिमाचल प्रदेश	१३,४८,९८२	७,००,७३८	६,४८,२४४
लक्षाद्वीप, मिनिकाय व अमीन द्वीप	२४,१०८	११,९२७	१२,१८१
त्रिपुराव अन्य केन्द्र शासित प्रदेश	११,४१,४९२	५,९१,२१४	५,५०,२७८
योग	४३,६४,२४,४२९	२२,४९,५७,९४८	२१,१४,६६,४८१

विशेषताएँ

भारतीय समाज के संगठन का मूलमन्त्र व्यक्ति से कर्त्तव्य पूर्ति की मांग है। यहाँ व्यक्ति के अधिकारों पर उतना बल नहीं दिया गया जितना उसके कर्त्तव्यों पर। भारतीय सामाजिक विचारधारा की प्रमुख देन यही है। यदि समाज के सभी नागरिक सच्चरित्रता-पूर्वक अपने-अपने कर्त्तव्यों का परिपालन करते रहें तो सबको अपने-अपने अधिकार स्वतः सहज स्वरूप में प्राप्त हो जायेंगे।

इतना ही नहीं भारतीय समाज ने कर्त्तव्य-पालन को ही सबसे बड़ा अधिकार माना है क्योंकि कर्त्तव्य-पालन द्वारा ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप में कर पाता है।

भारतीय समाज की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें व्यक्ति के समूचे जीवन के सर्वतोमुखी विकास की योजना रखी गई है। मानव जीवन के चार फल माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। भारतीय समाज व्यक्ति को इनकी प्राप्ति करने के उद्देश्य से धर्म के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम, अर्थ और काम के लिए गृहस्थ तथा मोक्ष के लिए बानप्रस्थ तथा संन्यास की व्यवस्था करता है।

इसी प्रकार समाज में वर्ण-व्यवस्था द्वारा कार्यों के बटवारे की एक सुन्दर योजना रची गई थी। प्रत्येक व्यक्ति को उसके स्वभाव के अनुसार कार्य मिलता था जिसे वह मन लगाकर करता था। इससे समाज हर प्रकार सुखी था।

वर्ण व्यवस्था

वैदिक काल में समाज संगठन का मूल आधार उसकी वर्ण व्यवस्था थी। वर्ण का अर्थ होता है रंग, परन्तु यहाँ इसका यह अर्थ नहीं है। समाज को कार्यों के आधार पर चार वर्णों अथवा वर्गों में विभाजित कर लिया गया था। शिक्षण कार्य करने वालों तथा पुजारी-पुरोहितों को ब्राह्मण, शासकों एवं राजाओं को क्षत्रिय,

कृषि तथा वाणिज्य व्यवसाय करने वालों को वैश्य एवं इन तीनों वर्णों की सेवा करने वाले तथा श्रमिक वर्ग को शूद्र वर्ण के नाम से पुकारा जाता था। कोई व्यक्ति अपनी शिक्षा, अपने स्वभाव एवं रुचि तथा क्षमता के आधार पर जिस वर्ण के कार्य करता था वह उससे ही सम्बन्धित माना जाता था। वर्ण का आधार वैदिक-काल में जन्म न होकर कर्म था।

चारों वर्णों के लोगों में परस्पर समान आधार पर सहयोग था। ऊंच-नीच की भावना नहीं थी। सभी लोग आर्य थे और आर्य जाति ही एक जाति थी। चाहे किसी भी वर्ण के लोग हों, उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध व खान-पान के विषय में कोई संकीर्ण प्रतिबन्ध नहीं थे।

वर्ण-व्यवस्था का जहाँ तक प्रश्न है उसे हम कार्यों के आधार पर समाज का विभाजन मान सकते हैं। व्यक्ति में जिस कार्य के करने की रुचि और योग्यता होती थी उसे वही काम मिलता था एवं अपने कार्य के आधार पर उसका वर्ण निश्चित होता था।

अध्ययन एवं अध्यापन तथा वैदिक शिक्षाओं व धर्म का प्रचार करने एवं सरल सात्विक जीवन बिताने वाले व्यक्तियों को ब्राह्मण के नाम से पुकारा जाता था। वैदिक काल में ब्राह्मण ब्रह्मविद्या के सचमुच ज्ञाता होते थे। ब्राह्मण माता-पिता की कोख से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक सन्तान को चाहे वह युद्ध में सैनिक बनकर लड़े अथवा सेवा करे ब्राह्मण नाम नहीं मिलता था। एक ब्राह्मण का बालक क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कुछ भी हो सकता था। यह उसकी रुचि, विशेष शिक्षा एवं क्षमता पर निर्भर था।

चारों वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। कोई भी काम छोटा-बड़ा नहीं माना जाता था। कार्यों का मूल्य सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से आंका जाता था। वर्ण धर्म का पालन एक सामाजिक कर्त्तव्य एवं दायित्व समझा जाता था।

धीरे-धीरे कर्मकाण्ड की वृद्धि हुई तथा कालान्तर में वर्ण-विभाजन की आदर्श व्यवस्था का अन्त हो गया एवं उसका स्थान जाति-प्रथा ने ले लिया।

जाति-प्रथा

वर्ण विभाजन का आधार कालान्तर में कर्म से हट कर जन्म माना जाने लगा। जिस व्यवस्था का उदय जन्म से हो वह जाति-प्रथा है। ऐसे व्यक्तियों के समुदाय का नाम जाति है जो मूलवंश, रक्त, धर्म तथा सामाजिक प्रथा परिपाटियों से एक हों तथा जिनके मध्य खान-पान एवं विवाह सम्बन्ध खुले हों। प्रारम्भिक काल में जाति का उद्योग अथवा पेशे से गहरा सम्बन्ध था। एक जाति का व्यक्ति उसी जाति के पेशे को अप-नाता था उसके अतिरिक्त और किसी पेशे को अपनाने में जातीय मर्यादा का उल्लंघन समझा जाता था। जातीय पंचायतें होती थीं जो जातीय व्यवस्था एवं अनुशासन

सम्बन्धी मामलों में निर्णय करती एवं दण्ड देती थीं। पुत्र अपने पैतृक-व्यवसाय (Hereditary Profession) को ही अपनाता था।

इस प्रकार जिन जातियों का निर्माण हुआ वे प्रधान रूप से तो चार ही रहीं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, परन्तु उनमें अनेक शाखायें तथा उपशाखाये उत्पन्न हो गई इन्हें हम उपजातियों व गोत्र के नाम से पुकारते हैं।

जाति व्यवस्था धीरे-धीरे जटिल होती चली गई, आज देश में हजारों उप-जातियाँ पाई जाती हैं। इतना ही नहीं वर्ण-व्यवस्था के विपरीत जाति व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना ने प्रवेश किया और धीरे-धीरे व्यापक छुआछूत का स्वरूप धारण कर लिया।

हानियाँ—१. जाति-प्रथा ने समाज संगठन की नींव को खोखला कर डाला है। आज भारत में चार हजार से अधिक उपजातियाँ हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना संकीर्ण क्षेत्र है। इस प्रथा ने भयंकर जातिवाद को जन्म दिया है जिसके कारण हमारी सामाजिक एकता प्रायः लुप्त ही हो गई है।

२. जातिगत-भावना के फैलने के कारण राष्ट्रीयता के विकास में बहुत कठिनाई पड़ी है तथा अब भी पड़ रही है। अतीत में इसी भावना के कारण विविध जातियों में द्वेष की मात्रा बढ़ जाने से विदेशी शासकों ने भारत पर अपना अधिकार आसानी से जमा लिया था। आज भी व्यक्ति अपनी जाति के हितों के सामने राष्ट्रीय हितों को बलिदान कर देता है।

३. आर्थिक क्षेत्र में श्रम का ठीक प्रकार से विभाजन इस जाति-प्रथा ने असम्भव बना दिया है। कुछ वर्गों को आर्थिक उत्पादन और श्रम करने से कोई मतलब ही नहीं, वह घर बैठ कर खाना और अपनी इच्छानुसार कार्य करना अपना अधिकार समझते हैं। दूसरी ओर कुछ वर्ग अत्यधिक कार्य-भार से लदे होने के कारण अपना समुचित साँस्कृतिक एवं मानसिक उत्थान नहीं कर पाते।

४. जाति-प्रथा ने देश के भीतर ऊंच-नीच की विषम भावना को जन्म देकर एक दूषित वातावरण की सृष्टि की है। मनुष्य-मनुष्य के मध्य वर्ण और जाति की श्रेष्ठता अथवा नीचता की दीवार खड़ी करना स्वयं भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है। यह हिन्दू समाज में अस्पृश्यता के कलंक के लिए सर्वथा उत्तरदायी है। जाति प्रथा ही करोड़ां अछूत परिवारों के धर्म परिवर्तन (ईसाई अथवा इस्लाम धर्म ग्रहण) के लिए उत्तरदायी है।

५. इसी प्रथा के कारण समाज में विवाह का अर्थात् पति-पत्नि चुनने का क्षेत्र अत्यन्त सीमित व संकुचित हो गया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि जाति के भीतर अच्छे वर या कन्या के न मिल पाने से आज सैकड़ों, हजारों अनमेल विवाह होते हैं जिनका अन्त अत्यन्त दुखदायी होता है। इतना ही नहीं दहेज की कलुषित प्रथा के लिये भी जाति प्रथा से उत्पन्न यह संकीर्णता ही उत्तरदायी है जिसके कारण आज कन्या अपने माता-पिता के लिए अभिशाप बन गई है।

६. जातिवाद जनतन्त्र का परम शत्रु है। जनतन्त्र में नागरिक का धर्म है कि वह अपना मत योग्य उम्मीदवार को दे, जातिवाद उसे यह सिखाता है कि अपना मत जाति-बन्धु को देना चाहिए। इससे जनतन्त्र की नींव खोखली हो जायगी तथा समाज में संकीर्ण भेद-भाव फैल जायेंगे।

आज की सामाजिक रचना के भीतर तथा बदलती हुई परिस्थितियों में जाति प्रथा टिक नहीं सकेगी। शिक्षा और व्यापक एवं उदार विचारों के फैल जाने तथा नूतन मानवीय मूल्यों के विकास के फलस्वरूप यह कलुषित प्रथा निश्चय ही भारतीय समाज का पीछा छोड़ देगी।

विवाह

भारत में विवाह एक महत्वपूर्ण संस्था है। यह अन्य देशों में प्रचलित विचारों से मूलतः भिन्न धारणाओं पर आधारित है।

हिन्दू धर्म के अनुसार विवाह जीवन का एक सौदा न होकर दो आत्माओं का मिलन है।

हिन्दुओं में विवाह की अनेक प्रथाएं प्रचलित रही हैं। जाति प्रथा के आरम्भिक काल में जाति के बाहर भी विवाह हो जाते थे, उसकी दो पद्धतियाँ थीं एक मान्य और दूसरी निषिद्ध। मान्य पद्धति को अनुलोम (Hypergamy) तथा निषिद्ध को प्रतिलोम (Hypogamy) कहते थे। अनुलोम विवाह वह विवाह है जिसमें किसी उच्च जाति का पुरुष किसी निम्न जाति की स्त्री से विवाह करे तथा प्रतिलोम ऐसा विवाह है जिनमें किसी निम्न जाति का पुरुष किसी उच्च जाति की स्त्री से विवाह कर ले।

इसके अतिरिक्त बहुपत्नि-प्रथा (Polygamy) एवं बहुपति प्रथा (Polyandry) भी भारत में प्रचलित रही हैं। जहाँ तक बहुपत्नि प्रथा का सम्बन्ध है वह हिन्दू धर्म में काफी प्रचलित रही है। हमें महाराजा पांडु, महाराजा दशरथ, उत्तानपाद आदि की कई पत्नियों की कथाएँ मिलती है। बहुपति का उदाहरण महाभारत में द्रोपदी से मिलता है उनके पाँच पति थे। आज भी कुछ आदिवासी जातियों जैसे हिमालय की कोल्टा जाति में बहुपति-प्रथा पाई जाती है। यहाँ पुरुष पर स्त्री के शासन की कल्पना मूर्त हुई है।

वर्तमान काल में प्रत्येक स्त्री, पुरुष एक विवाह ही कर सकता है, बहुविवाह गैर कानूनी माना गया है।

परिवार

पाश्चात्य संस्कृति में प्रत्येक नवयुवक विवाह के दिन से ही एक नवीन परिवार का निर्माण कर लेता है किन्तु भारत में परिवार की कल्पना अधिक विशद् है।

भारत में समाज की व्यवस्था संयुक्त-कुटुम्ब प्रणाली पर आधारित रही है।

एक कुल-वृद्ध की सन्तान, पौत्र, प्रपौत्र सभी अनन्त काल तक एक परिवार के भीतर रहते थे। अभी तक हमें ऐसे परिवार देखने को मिल जाते हैं जहाँ एक पिता की सन्तान, तथा उस सन्तान से पैदा होने वाली सन्तानें एक घर में रहती हैं।

संयुक्त परिवार के भीतर परिवार के वयोवृद्ध व्यक्ति की आज्ञा का पालन अनिवार्य होता है। घर के कमाने वाले सभी सदस्य अपनी कमाई का धन परिवार के मुखिया के पास जमा करते है जो उसे परिवार के समस्त सदस्यों के हित में व्यय करता है।

इस प्रणाली के अनेक लाभ तथा हानियाँ हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीनकाल में यह प्रणाली अत्यन्त उपयोगी थी। परिवार के सभी सदस्य एक स्थान पर रहकर अपने परम्परागत व्यवसाय (खान्दानी पेशे) में लगे रहते थे इससे उन्हें एक साथ रहने में कोई कठिनाई न थी। एक ही स्थान पर रहने से संयुक्त परिवार के कई लाभ थे, सम्मिलित व्यवस्था के कारण निवास; भोजन और वस्त्र एवं शिक्षा के व्यय में भारी कमी हो जाती थी। दूसरे, कई व्यक्ति स्त्री और पुरुष होने से धन्धा करने में (चाहे कृषि हो अथवा कोई गृह-उद्योग) बड़ी सुविधा रहती थी। मजदूर रखने की प्रथा नहीं थी। पारिवारिक सहयोग द्वारा सभी लोग कड़ा परिश्रम करके अधिक उत्पादन करते थे एवं इस प्रकार उत्पन्न वस्तुएं समूचे परिवार की सम्पत्ति मानी जाती थीं। आजकल संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के नष्ट होने से भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं जिनमें वैज्ञानिक खेती करना असम्भव हो गया है। गृह-उद्योगों के नाश का भी यही कारण है। खेती और गृह-उद्योगों का आधार सहकारिता है और यह जितनी सरलता एवं स्वाभाविकता से एक परिवार के व्यक्तियों में हो सकती है उतनी कृत्रिम संगठनों में नहीं हो सकती।

संयुक्त-परिवार के भीतर अनाथ बालकों और विधवाओं के पालन की समस्या भी आसानी से हल हो जाती है। न वे समाज पर भार-स्वरूप होते हैं, न उनके विकास का मार्ग कुंठित हो पाता है। उनका लालन-पालन व पोषण गृहस्थ के अन्य लोग पहले की ही तरह माता-पिता अथवा पति की मृत्यु के उपरान्त करते रहते हैं।

संयुक्त परिवार वृद्धावस्था की समस्या भी हल कर देता है। यह एक प्रकार से वृद्धावस्था का बीमा है। यहाँ वृद्धों के लिए परामर्श एवं व्यवस्था का कार्य भी होता है तथा उनके आर्थिक प्रश्न का हल भी हो जाता है। संयुक्त कुटुम्ब के भीतर वृद्धों के अनुभव तथा तरुणों की प्रतिभा और उनकी कर्म-शक्ति का सुन्दर संयोग होता है जिसके द्वारा परिवार अपने आदर्श की सिद्धि करता है।

दूसरी ओर संयुक्त परिवार प्रथा का धुन्धला पक्ष भी है इसके गुणों का धीरे धीरे लोप हो गया है और आज उसमें दोष अधिक दिखाई देने लगे हैं। संयुक्त परिवार प्रमादी और निष्क्रिय लोगों के लिए एक सहारा बन जाता है एवं उत्तरदायित्व को समझने वाले कर्मठ सदस्य धन उपार्जन व अन्य कार्यों में लगे रहते हैं तथा

आलसी व कामचोर सदस्य बैठकर खाते हैं। यही प्रधान कारण है जिसने संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली को नष्ट किया है। धीरे-धीरे जब परिश्रमी सदस्यों के मन में आलसी व निकम्मे सदस्यों की मुफ्तखोरी चुभने लगती है तो परिवार की कड़ियां ढीली हो जाती हैं एवं उपयुक्त अवसर आने पर वह विश्रृंखल हो जाता है। उसके पश्चात् ये निकम्मे लोग समाज पर भार होते हैं एवं उसके लिए अभिशाप सिद्ध होते हैं।

आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादियों का विचार है कि संयुक्त परिवार में वृद्धों का अर्थात् (उनकी राय में) मतिभ्रष्टों का शासन होता है तथा उसमें नवयुवकों व नवयुवतियों की प्रतिभा कुंठित हो जाती है, उसे पूर्ण विकास का अवसर नहीं मिल पाता। इस विषय में मौन ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि तरुण अवस्था में मिली स्वच्छन्दता प्रतिभा का विकास करती है या विनाश यह एक विवादास्पद प्रश्न है।

संयुक्त परिवार प्रथा के नाश का प्रधान कारण इस युग में आर्थिक है। भारत की आर्थिक दशा बहुत बदल गई है। गृह-उद्योग नष्ट प्रायः हो गये हैं, खेती पर दबाव बहुत अधिक बढ़ गया है, उधर जीवन पर होने वाला व्यय बढ़ता जा रहा है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति को नौकरी या धन्धे की खोज में घर छोड़कर जाना पड़ता है। यहाँ से संयुक्त परिवार की कड़ियाँ खुलनी आरम्भ होती हैं। यह आधुनिक काल में बढ़ती हुई पश्चिमी संस्कृति के साथ नहीं चल सकता। व्यक्तिवाद की लहर और आर्थिक कठिनाइयों के तूफान ने संयुक्त परिवार प्रथा को पूर्णतः नष्ट भ्रष्ट कर डाला है।

योग्यता-प्रश्न

(१) भारतीय समाज की रचना का वर्णन कीजिए।
Describe the formation of Indian Society.

(२) भारत की प्रमुख भाषाओं और उनके आधार पर बने राज्यों का वर्णन कीजिए।
Give an account of the chief languages of India and States formed in accordance with them.

(३) वर्ण व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
Give a note on the Varan—system.

(४) जाति प्रथा किसे कहते हैं? उससे क्या हानियाँ हैं?
What is Caste-system ? What are its demerits ?

(५) संयुक्त परिवार प्रथा से आप क्या समझते हैं? उससे क्या लाभ व क्या हानियाँ हैं?
What do you understand by Joint family system ? What are its merits and demerits.

—:o:—

अध्याय १५

भारत के प्रमुख धर्म

'कल की चिन्ता मत करो, उसकी चिन्ता ईश्वर करेगा। आज का काम ईमानदारी और परिश्रम से पूरा करो।' —महात्मा ईसा।

भारतीय जीवन में धर्म का विशेष स्थान है। यहाँ के निवासी अनादि काल से धर्म की भावनाओं से प्रेरित होते रहे हैं। इस देश में धर्म केवल सैद्धान्तिक चर्चा अथवा वाद-विवाद का ही विषय नहीं रहा है वरन् यहाँ धर्म और जीवन के मध्य साम्य साधने की कोशिश की जाती है। वह धर्म हमारी दृष्टि में निरर्थक है जिसको व्यावहारिक जीवन में प्रयोग न किया जा सके। इस दृष्टि से हमने जीवन को धर्ममय और धर्म को प्राणमय बनाने का प्रयत्न किया है। जीवन के प्रत्येक कार्यों को हमारे यहाँ महत्व दिया जाता है क्योंकि वह हमारे मन पर संस्कार डालता है तथा हमारे आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित करता है। अतः जीवन में चाहे कुछ भी करें, प्रत्येक कार्य धर्म विधान के अनुकूल हो यह हमारा विशेष प्रयत्न रहता है।

धर्म ने भारतीय लोकजीवन को सदा पदार्थवाद के प्रभाव से बचाये रखा है, आज के घोर पदार्थवादी युग में भी भारतीय समाज अध्यात्मिकता का संदेश समूचे विश्व को प्रसारित करने की क्षमता रखता है। इसका कारण यही है कि यहाँ धर्म को व्यावहारिक स्वरूप देने की चेष्टा को परम धर्म माना जाता है।

धर्म ने सामाजिक जीवन में त्याग और बलिदान की प्रवृत्ति जागृत की है। उसने व्यक्ति को संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक हित की दृष्टि से कार्य करने की प्रेरणा दी है! 'सर्वभूत हितेरतः' का महान् आदर्श जो आज हमारे समाज को हिला डालता हैं धर्म की ही देन है। इस घोर स्वार्थ-परायण जगत में भारत के भीतर आज भी संत विनोबा जैसे कृशकाय व्यक्ति की पुकार पर लोग अपनी भूमि और सम्पत्ति दरिद्रनारायण के चरणों पर चढ़ाने के लिए घर से निकल पड़ते हैं।

भारतीय लोकजीवन पर धर्म का प्रभाव बहुमुखी है। संसार के किसी भी देश में धर्म उस देश की राजनीति को उस सीमा तक कभी प्रभावित नहीं कर पाया जितना कि भारत में। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहाँ के आर्य नरेश सदा धार्मिक विद्वानों, ऋषियों एवं गुरुओं के आदेशानुसार जन-हिताय अथवा

लोक-कल्याणार्थ शासन करते थे। हमारे सामने महाराजा जनक और देवप्रिय सम्राट अशोक के उदाहरण सदा अमर रहेंगे।

अतीत पर यदि हम अविश्वास की दृष्टि से देखना चाहें तो कोई बात नहीं, आधुनिक समय में हमें भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि धर्म की भावना ने ही हमें यह महान् कार्य करने के लिए अनुप्राणित किया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गाँधी स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये यत्न करना अपना धर्म समझते थे। पूज्य गाँधी जी ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि मेरा धर्म मुझे भारत की स्वाधीनता के लिए मर मिटने का आदेश दे रहा है। इतना ही नही उन्होंने राजनीति के भीतर शत-प्रतिशत धर्मनीति के मूल सिद्धान्तों सत्य और अहिंसा का अनुसरण किया और कराया। उन्होंने निस्संकोच रूप से घोषणा की कि हिंसा से मिली हुई स्वाधीनता मेरे लिये कोई मूल्य नहीं रखती। प्रेम और अहिंसा का बल ही हमें सच्चा स्वराज्य दिला सकता है।

इस प्रकार से भारतीय लोकजीवन पर चारों ओर से धर्म का प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किसी भी देश के नागरिक तब तक सच्चरित्र एवं ईमानदार तथा राष्ट्र-निष्ठ नहीं हो सकते जब तक कि उनके भीतर धर्म भावना ओत प्रोत न हो। हमारे राष्ट्र का सैंकड़ों वर्षों तक विदेशी शासन के अधीन चारित्रिक एवं नैतिक अधःपतन हुआ तथापि आज भी हम अपने देश के भीतर अपने राज्य-शासन को सन्तोषपूर्ण ढंग से चला पा रहे हैं, यह हमारी धर्म-प्रियता का ही फल है।

धर्मों की विविधता का आधार

आज हमें संसार के भीतर अनेक धर्म दिखलाई पड़ते हैं। भारत में तो धर्मों का अच्छा खासा बाजार ही लगा हुआ है। अनेक धर्म और प्रत्येक धर्म में अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं। धर्मों की विविधता आत्मा और परमात्मा के स्वरूप के सिद्धान्तों तथा ईश्वर की प्राप्ति के मार्गों अथवा उपायों की भिन्नता पर आधारित हैं।

वास्तव में विविध धर्मों के मध्य इतने मौलिक अन्तर नहीं हैं जितने वह बाहर से दिखाई देते हैं। सभी धर्मों का सार यह है कि मनुष्य सदाचार द्वारा अपने को पूर्ण बनाने की चेष्टा करे। परन्तु प्रत्येक धार्मिक विश्वास के साथ स्थानीय परिस्थितियों के आधार पर आचार, व्यवहार, वेषभूषा, भाषा एवं रहन-सहन की एक विशेष प्रणाली भी बन जाया करती है जिसे संस्कृति कहते है, जैसे—हिन्दू धर्म स्नान और निरामिषाहार पर जोर देता है परन्तु इस्लाम नहीं। इस प्रकार धर्मों में इतना भेद नहीं है जितना कि विभिन्न धर्मों के धर्माचार्यों तथा धर्मावलम्बियों के बाह्य जीवन में।

मोटे रूप में धर्मों की विविधता का आधार जीव और ईश्वर की कल्पना, उपासना-पद्धति तथा बाह्य आचार व्यवहार की भिन्नता है।

विविध धर्म

भारत में प्रचलित विविध धर्मों में से हम निम्न प्रमुख धर्मों का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं—

१. वैदिक (हिन्दू) धर्म
२. जैन धर्म
३. बौद्ध धर्म
४. सिक्ख धर्म
५. इस्लाम धर्म
६. ईसाई धर्म
७. पारसी धर्म

यहाँ हमें यह बात भली-भाँति समझ लेनी चाहिए कि इन धर्मों में से प्रथम चार भारत में ही उत्पन्न हुए हैं तथा अन्तिम तीन का जन्म अन्य देशों में हुआ है। विदेशी धर्म विदेशी आक्रमणकारियों के साथ भारत में आये तथा उनका प्रचार इस देश में शासन सत्ता के बल पर तथा उसके प्रभाव व सहयोग से हुआ।

इन धर्मों का अध्ययन करते समय यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिये कि कालान्तर में इनके भीतर अनेक शाखाओं तथा सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। इन सब का वर्णन भी यथास्थान किया जायगा।

वैदिक (हिन्दू) धर्म

वैदिक धर्म संसार का सर्व प्राचीन धर्म है। इसे हम आर्यों का धर्म अथवा अनादि काल से चला आने के कारण सनातन-धर्म भी कहते हैं। इसके जन्मकाल का अनुमान लगाना असम्भव है। आर्य जिस समय भारत में आये यह धर्म उनके साथ इस देश में आया तथा उसके उपरान्त भारत की उर्वरा धर्म-भूमि में इसका पर्याप्त विकास हुआ।

भारत की जन-संख्या का एक विशाल भाग इस महान् धर्म का अनुयायी है। इसका स्थान संसार के श्रेष्ठतम धर्मों में है।

हिन्दू धर्म के विषय में यह स्मरण रखना चाहिये कि यह धर्म किसी एक व्यक्ति द्वारा चलाया हुआ धर्म नहीं है। संसार के अन्य सभी धर्म एक व्यक्ति के मस्तिष्क की उपज हैं—बौद्ध धर्म भगवान बुद्ध ने चलाया, जैन धर्म का सूत्रपात महावीर स्वामी ने किया, सिक्ख धर्म गुरु नानक देव ने, ईसाई धर्म महात्मा ईसा ने तथा इस्लाम हजरत मुहम्मद ने चलाया। परन्तु वैदिक धर्म का जन्म विकास के एक अनादि काल में हुआ। इसीलिये इसे ईश्वर से उत्पन्न हुआ धर्म माना जाता है। हिन्दू धर्म का आधार वैदिक-अनुशासन है। वेद संसार के सर्व प्राचीन धर्मग्रन्थ हैं। उन्हें अपौरुषेय बताया जाता है, स्वयं ईश्वर ने उनकी रचना जन-कल्याण के लिये की है।

हिन्दू धर्म वास्तव में कोई एक पंथ अथवा सम्प्रदाय नहीं है। यह तो एक विशाल सागर के समान है जिसके गर्भ में सभी कुछ समा जाता है तथा जो जीवन की ओर एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान करता है। इसमें साधना, उपासना और ईश-आराधना के सैंकड़ों मार्ग हैं तथापि इसमें गहरी एकता निहित है। उस एकता का आधार इसका केन्द्रीय तत्व है जिसमें से विविध प्रकार की धर्म प्रणालियाँ निःसृत होती हैं।

केन्द्रीयतत्व—हिन्दू धर्म की कोई एक परिभाषा दे सकना प्रायः असम्भव है। यह कहना बहुत कठिन है कि वैदिक विचार का मूल तत्व क्या है। तथापि सार रूप से हम कह सकते हैं कि आस्तिक विचार तथा पुनर्जन्म में विश्वास हिन्दू धर्म के दो मूल सिद्धान्त हैं।

आस्तिकता का अर्थ है ईश्वर में विश्वास। ईश्वर सृष्टि का जन्मदाता (ब्रह्मा), पालक (विष्णु) और संहारक (शिव) है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप है : सत् का अर्थ है जिसका कभी नाश न हो, इसी से परमेश्वर को अविनाशी, अजन्मा और अनन्त भी कहते हैं। वह शाश्वत सत्ता है, चिरन्तन और चिरस्थायी है। चित् अर्थात् चैतन्यस्वरूप। परमेश्वर केवल है ही नहीं वह चैतन्य भी है अर्थात् वह जड़ न होकर चेतनामय है। जगत की समस्त चेतना उसी चैतन्य की चेतना से प्रकाशित हो रही है। प्रभु आनन्द स्वरूप भी है। वह दुःख और सुख से परे है। दुःख और सुख क्षणभंगुर होते हैं—कभी आते हैं कभी जाते हैं। ईश्वर निरन्तर आनन्दमय है। आनन्द आत्मा की सर्वोच्च स्थिति है। वैदिक धर्म एक ईश्वर में विश्वास रखता है तथा उसे सर्व-व्यापक, सर्वशक्तिमान मानता है। भगवान चराचर सृष्टि में परिव्याप्त है अर्थात् वह प्रत्येक जीव और जड़ पदार्थ के भीतर है। इस प्रकार हिन्दू धर्म दया का पाठ पढ़ाता है। किसी को कष्ट पहुँचाने का अर्थ है ईश्वर की सत्ता का निरादर करना।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अर्थ यह है कि आत्मा अमर है वह परमात्मा का अंश है परन्तु वह काल कर्म के वश में होकर देह धारण करता है। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नहीं मरती। मृत्यु शरीर की होती है। आत्मा एक देह छोड़कर अपने पिछले कर्मों के आधार पर नई देह धारण करती है। यह सिद्धान्त हिन्दू धर्म का मूल आधार है। पुनर्जन्म के आधार पर ही परलोक की सारी कल्पना टिकी हुई है। आत्मा के अमर होने से सच्ची आध्यात्मिकता का ज्ञान होता है, इसी से 'मैं और मेरे शरीर' के मध्य अन्तर का बोध होता है। सदाचार की आवश्यकता यहीं से आरम्भ होती है। मनुष्य का शरीर नहीं रह जायेगा किन्तु आत्मा रह जायेगी और उसे इस नाशवान शरीर के कर्मों का फल भोगना पड़ेगा अतः व्यक्ति को सदा अच्छे आचरण में लगे रहना चाहिये।

हिन्दू धर्म आचार-विचार की शुद्धि पर बहुत बल देता है। इसका अभिप्राय यह है कि कोरे ज्ञान से कुछ नहीं होता जब तक उस ज्ञान का अनुसरण व्यावहारिक जीवन में न किया जाये। दूसरे शब्दों में हिन्दू धर्म साधारण से साधारण कार्यों में भी

व्यक्ति को शुद्ध आचरण की प्रेरणा देता है।

हिन्दू धर्म के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य पूर्णतत्व की प्राप्ति है। ईश्वर और जीव में अन्तर नहीं है परन्तु दोनों के बीच में माया का आवरण पड़ जाने से दोनों अलग हो गये हैं। धर्म का प्रयोजन आत्मा और परमात्मा के बीच से माया के इस पर्दे को हटाकर दोनों में अन्तर्सम्बन्ध की स्थापना करना है।

जैन धर्म

जैन धर्म का प्रतिपादन महावीर स्वामी (वर्धमान) ने किया। इनका जन्म ईसा से लगभग छः सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इन्होंने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया था। इनका कथन है कि मनुष्य स्वयं अपना भाग्य निर्णायक है, उसे किसी दूसरे ईश्वर की पूजा की आवश्यकता नहीं है। ये नास्तिक थे, ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे।

जैन धर्म दो बातों पर विशेष बल देता है (१) जितेन्द्रिय बनो अर्थात् अपनी इन्द्रियों पर काबू रखो। शरीर और मन को तप, व्रत आदि द्वारा अपने अधीन कर लो (२) किसी को कष्ट मत पहुंचाओ—अहिंसा परमो धर्मः। शांतिपूर्वक कष्ट सहन करना चाहिए तथा माया या अज्ञान का आवरण हटाकर चिन्तनपूर्वक ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए।

जैन धर्म के पंच-यम इस प्रकार हैं—

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य तथा (५) अनासक्ति अथवा सांसारिक धन का त्याग। इन पंचयमों के पालन द्वारा शरीर पर विजय प्राप्त करके मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष में तीन गुण है—सत्ज्ञान, सत्निष्ठा और सत्-आचरण।

जैनियों के दो मार्ग हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर जैन अपनी मूर्तियों को नंगा रखते हैं तथा इनके साधु लोग भी नग्न रहते हैं। श्वेताम्बर जैन अपनी मूर्तियों को सफेद वस्त्र पहनाते हैं तथा श्वेताम्बर साधु भी श्वेत वस्त्र धारण करते हैं।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान गौतम बुद्ध हैं। ये कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन के पुत्र थे। इन्होंने संसार की नश्वरता के कारण विरक्त होकर तरुणावस्था में ही घर का त्याग कर दिया और कठोर तपस्या की। अन्त में इन्हें गया में बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई।

उन्होंने चार सत्यों का निरूपण किया :—

(१) जगत दुखों से भरा है।

(२) दुःख का कारण अनन्त इच्छाओं की तृप्ति में लगा रहना है।

(३) सभी इच्छाओं के दमन से सारे दुःखों का अन्त हो जायगा।

(४) प्रत्येक मनुष्य को दुख की निवृत्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

बौद्ध भी दो मतों में विभक्त हो गये हैं—हीनयान तथा महायान। हीनयान महात्मा बुद्ध को गुरु मानता है तथा उनके उपदेशों के प्रति सच्चा है। परन्तु महायान ने उन्हें ईश्वर बना डाला तथा उनकी मूर्ति की उपासना आरम्भ कर दी।

सिक्ख धर्म

पंजाब में १४६९ ई० में गुरु नानक देव नाम के महात्मा का जन्म हुआ। इनमें बचपन से ही वैराग्य था। इन्होंने प्रधानतः सदाचरण की शिक्षा दी है। सिक्ख का अर्थ है शिष्य, वास्तव में सिक्ख धर्म गुरु नानक का शिष्य सम्प्रदाय है।

उन्होंने धर्मों की विविधता का खण्डन करके उसकी सार्वभौमिक एकता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। वे हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य सभी धर्मो की संकीर्णता के विरोधी तथा भक्ति के महान व व्यापक धर्म के प्रतिपादक थे।

सिक्ख धर्म में गुरु का बड़ा महत्व है, होना भी चाहिये, क्योंकि यह शिष्यों का धर्म है। इनका प्रमुख धर्म-ग्रन्थ 'ग्रन्थ साहिब' है जिसमें उनके गुरुओं की वाणी संग्रहीत हैं। इसका सम्पादन पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने किया था। इनके कुल दस गुरु हुए हैं, गुरु गोविन्दसिंह जी ने इसे एक सैनिक सम्प्रदाय का रूप दे दिया था। उनके अनुयायी 'खालसा सिक्ख' कहलाते हैं, दूसरे सिक्ख शांतिमय जीवन में विश्वास रखते हैं, उन्हें 'नानक पंथी सिक्ख' कहते हैं।

इस्लाम धर्म

भारत में इस्लाम धर्म के अनुयायियों की संख्या विभाजन के पश्चात् भी काफी है। यह धर्म भारत में अरब से आया। इसका जन्म हजरत मुहम्मद की शिक्षाओं के आधार पर हुआ। हजरत मुहम्मद ५७० ईस्वी से ६३२ ई० तक अरब में हुए थे।

इस्लाम धर्म का पवित्र ग्रन्थ कुरान है जिसमें इस्लाम की समस्त शिक्षाएँ लिखी हुई हैं।

इस्लाम धर्म का मूल सिद्धान्त एकेश्वरवाद है। इसमें पवित्र जीवन, भ्रातृ-भाव एवं ईश्वर के दूत हजरत मुहम्मद के उपदेशों के निष्ठापूर्ण अनुकरण पर बहुत बल दिया गया है।

इस्लाम ने व्यक्ति के सामाजिक जीवन को बहुत महत्व दिया है। धार्मिक-साधना को भी सामूहिक स्वरूप मिल गया है। दिन में कई बार व्यक्ति को परमेश्वर के सामने उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करनी चाहिए तथा प्रत्येक शुक्रवार को सामूहिक रूप से मस्जिद में सम्मिलित नमाज पढ़नी चाहिए। इस्लाम धर्म एक ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य देवी-देवता की उपासना में विश्वास नहीं रखता। ईश्वर में इस्लाम की अटूट निष्ठा है। इस्लाम अपने अनुयायियों को यह सिखलाता है कि यदि ईश्वर उनकी रक्षा करता है तो फिर उन्हें भय का कोई कारण नहीं है।

ईसाई धर्म

भारत के धर्मों में एक प्रमुख धर्म ईसाई-धर्म भी है। भारत में यह धर्म यूरोपीय

आक्रमणकारियों के साथ आया। इस्लाम भी भारत में इसी प्रकार आया था। भारत में ईसाई धर्मावलम्बियों को अपने धर्म के प्रचार व अनुसरण का अन्य धर्मों के समान अधिकार प्राप्त है।

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा हैं। इनका जन्म जेरुसलम में हुआ था। इनकी शिक्षाओं से क्रुद्ध होकर इन्हें सर्वोच्च यहूदी न्यायालय में मृत्यु दण्ड दिया गया था। ईसा को एक चौखटे (क्रॉस) पर कीलों से ठोककर लटका दिया गया था। उसी की स्मृति के रूप में ईसाई लोग गले में 'क्रॉस' पहनते हैं।

महात्मा ईसा की शिक्षायें अत्यन्त उदार मानवता से परिपूर्ण तथा धर्मपरायण हैं। उनकी प्रधान शिक्षायें 'पर्वत के संदेश' (Sermon on the Mount) में लिखी हुई हैं।

ईसाई धर्म एक ईश्वर में ही विश्वास रखता है। उसे ही वह मनुष्यमात्र का पिता मानता है। ईसाई धर्म का सन्देश है कि सभी मनुष्य ईश्वर की सन्तान हैं उनमें छोटे बड़े का भेद नहीं हैं। ईश्वर सभी सन्तानों से समान स्नेह रखता है अतः मनुष्यों के साथ समता और स्नेह का व्यवहार करना चाहिये।

पारसी धर्म

भारत के निवासियों में पारसी धर्म के अनुयायी भी मिलते हैं। इनकी संख्या इस देश में एक लाख से कुछ अधिक है।

पारसी धर्म के संस्थापक महर्षि जरथुस्त्र थे। ये फारस के रहने वाले थे। वहीं इन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया था परन्तु अरब के मुसलमानों ने ईरान से इन्हें खदेड़ दिया तथा फारस में इस्लाम का प्रचार किया। उसी समय लगभग ७१७ ई० में कुछ पारसी भारत के पश्चिमी तट पर आकर बस गये। इस धर्म का भारत में व्यापक प्रचार नही हो पाया है।

उपदेश—अहुरमज्द (ईश्वर) जगत का पिता है। वह प्रकाश स्वरूप तथा सर्वश्रेष्ठ, उदार एवं सुन्दरतम होता है।

जरथुस्त्र का मत था कि संसार के भीतर दैवी और आसुरी दो शक्तियाँ काम करती हैं। हमें आसुरी वृत्तियों को नष्ट करके दैवी शक्तियों का विकास करना चाहिये।

अग्निपूजा—पारसी धर्मावलम्बी अग्नि-पूजक होते हैं। ये लोग सूर्य, चन्द्रमा, तारों व अग्नि की पूजा करते हैं। इतना ही नहीं ये अन्य प्राकृतिक-शक्तियों जैसे वायु, जल व पर्वतों की भी पूजा करते हैं। ये स्वर्ग और नरक में विश्वास रखते हैं तथा मृत्यु के बाद अन्तिम दिन के निर्णय की धारणा को मानते हैं। पारसी धर्म पवित्रता पर बहुत जोर देता है।

इनके धर्म-ग्रन्थ का नाम जेन्द अवस्ता है। इसके अतिरिक्त अनेक गाथाओं में भी इनके धर्मोपदेश संग्रहीत हैं।

धर्म और साम्प्रदायिकता

आजकल के युग में धर्म का ठीक ठीक अर्थ न लगाकर लोग इसका दुरुपयोग करते हैं। धर्म वास्तव में व्यक्ति की आचार-शुद्धि के नियमों का संग्रह है। धर्म का प्रधान अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अधिक से अधिक सदाचारी बने। व्यवहार के बाह्य नियमों पर धर्म का प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु वे ही धर्म नहीं हैं।

धर्म व्यक्ति को संकुचित विचारों के दायरे से निकालकर उसे उदार व महा-मना बना देता है। परन्तु बहुत से लोग धर्म को साम्प्रदायिकता का संकीर्ण स्वरूप दे डालते हैं। एक ही धर्म के अनुयायी अपने धर्मावलम्बियों का एक गुट अथवा सम्प्रदाय बना लेते हैं तथा उसकी प्रथाओं व उसके आदेशों को ही सर्वश्रेष्ठ मानने लगते हैं। इतना ही नहीं वे लोग दूसरे धर्मो को अपने से हीन एवं दूसरे धर्मों के अनुयायियों को अपने से कम सभ्य मानने लगते हैं। इस प्रकार संकीर्ण स्वार्थों की एक होड़ होती है तथा परस्पर सम्प्रदायों में संघर्ष होता है।

साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति पैदा होने से देश के राष्ट्रीय जीवन को भारी आघात पहुँचता है।। राष्ट्र के भीतर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में झगड़े होते हैं। इस अन्तर्कलह से देश की शक्ति दुर्बल पड़ जाती है। जिसका लाभ उठाकर दूसरे देश हमें दबा लेते हैं। भारत के भीतर साम्प्रदायिकता का विष बहुत फैला है। १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत और पाकिस्तान का विभाजन इसी साम्प्रदायिकता का दुष्परिणाम है। ३० जनवरी १९४८ को महात्मा गांधी की हत्या इसीलिए की गई क्योंकि वे सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखते थे एवं इस बात को सम्प्रदायवादी लोग सहन न कर सके।

भारत के नागरिकों का परम कर्त्तव्य है कि वे अपने भीतर से इस विषैली भावना को समूल नष्ट कर दें एवं इसके बजाय अपने भीतर उत्कृष्ट राष्ट्रीयता भरने की चेष्टा करें। यदि हम महान् बनना चाहते हैं तो साम्प्रदायिक विचारों का परि-त्याग करके हमें अधिक व्यापक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक हमारा बन्धु है, वह सुख और शांति से देश में रह सके, यह हमारा परम धर्म है।

धार्मिक सहिष्णुता—संसार के भीतर अनेक धर्म प्रचलित हैं। प्रत्येक धर्म के सिद्धांत और आचार-व्यवहार के नियमों में दूसरे धर्मों से कुछ न कुछ अन्तर होता है। इस अन्तर के परिणामस्वरूप संकीर्ण विचारों के लोग साम्प्रदायिकता के आवेश में (जो पीछे लिख चुके हैं) परस्पर लड़ बैठते हैं। इससे देश तथा संसार की शान्ति भंग हो जाती है।

सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मनुष्यों ने दूसरों के विचारों को सम्मान देने तथा उन्हें सहन करने का नियम भी बनाया। जिस प्रकार कुछ लोगों को अपने

धर्म के परिपालन का अधिकार है उसी प्रकार अन्य लोगों को भी अपने धर्मों के अनुसरण का अधिकार है। हमें समाज की शान्ति और सुख समृद्धि के निमित्त धार्मिक सहनशीलता का अभ्यास करना चाहिये।

धार्मिक सहिष्णुता का केवल राजनीतिक महत्व ही नहीं है वरन् यह धार्मिकता का एक चिह्न भी है। धर्म का पालन व्यक्ति को यह सिखाता है कि वह अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाये तथा अपने अनुभवों का लाभ दूसरों को उठाने दे। इतना ही नहीं धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का धर्म है कि वह दूसरों को अपनी अपनी धारणा और श्रद्धा के अनुसार धर्म का आचरण करने दे। जिस प्रकार हम अपने धर्म का आदर करते हैं, उसी प्रकार हम दूसरों के धर्मों का भी आदर करें।

इसी धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा देते देते हमारे राष्ट्रपिता पूज्य महात्मा गांधी ने अपनी बलि दी है। हम भारतवासियों को अपने उस मुक्तिदाता एवं राष्ट्रपिता की शिक्षाओं को हृदयंगम करके उनके आदर्शों का पालन करना चाहिए। हमारा पवित्र धर्म है कि हम अपने धर्म का अनुसरण करें और दूसरों को उनके रास्ते जाने देने की उदारता का प्रदर्शन करें।

योग्यता-प्रश्न

१. भारतीय नागरिक जीवन पर धर्म का क्या प्रभाव पड़ा है ? धर्म और साम्प्रदायिकता में क्या अन्तर है ?

Describe the influence of religion on Indian civic life. What is the difference between religion and communalism ?

२. भारत के प्रमुख धर्मों का वर्णन कीजिए।

Give an account of the chief religions of India.

३. 'साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता के ही विरुद्ध नहीं है, यह धर्म के भी प्रतिकूल है।' सिद्ध कीजिए।

Prove that communalism is not only a hinderance in the growth of Nationalism but it is also contrary to all religiosn teachings.

४. बौद्ध और ईसाई धर्मों का विस्तार से वर्णन कीजिए। क्या विविध धर्मों के मूल तत्वों में समानता है ?

Discuss in detail Buddhism and Christianity. Do you find any similarity between the fundamental principles as laid down by different religions ?

—:o:—

अध्याय १६

भारत में सुधार आन्दोलन

"मुझे पक्षपात सत्य का ही है और मैं अहिंसा के मार्ग से सत्य का शोधन करता हूँ।"
—महात्मा गांधी

भारतीय सुधार आन्दोलनों की विशेषता यह है कि इनका क्षेत्र बहुत व्यापक रहा है। भारतीय संस्कृति ने मानव जीवन को विविध पृथक खंडों में विभाजित नहीं किया है वरन् उसने समूचे जीवन की समस्त समस्याओं को एक ही दृष्टि में देखने की चेष्टा की है। प्रत्येक भारतीय सुधार आन्दोलन ने समाज के सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में कार्य किया है। भारतीय सुधारकों ने जीवन के व्यापक सुधार की योजनायें सामने रखी हैं। हमारा दृष्टिकोण यह रहता है कि व्यक्ति को बदला जाये, उसके चरित्र और विचारों में आवश्यक सुधार किये जायें तभी समाज के विविध क्षेत्रों में सुधार कार्य सम्पन्न हो सकता है—महात्मा गांधी एक बड़े सुधारक थे उन्होंने केवल राजनीति के सुधार पर ही बल नहीं दिया वरन् देश के आर्थिक स्वरूप, उसकी धार्मिक धारणा तथा सामाजिक अवस्था में सुधार की योजनाएं एक साथ रखीं, वह एक साथ ही महात्मा, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ एवं समाज-शास्त्री सब कुछ थे, इतना ही नहीं उन्होंने हमारे दैनिक जीवन, खानपान, चिकित्सा पद्धति, शिक्षा आदि के क्षेत्रों में भी अनेक सुधारों के सुझाव दिये हैं क्योंकि उनका उद्देश्य अन्य प्रधान भारतीय सुधारकों की भाँति व्यक्ति का सुधार था। व्यक्ति समाज की आधारशिला है। यदि उसका चरित्र सुदृढ़ है तो समाज एक ठोस नींव पर खड़ा हैं, ऐसा हम मान सकते हैं।

सुधार आन्दोलन

(क) **ब्रह्म समाज**—आधुनिक काल में भारत के एक नवीन जागरण का सूत्रपात बंगाल में ब्रह्म-समाज की स्थापना के साथ हुआ। ब्रह्म-समाज की स्थापना श्रद्धेय राजा राममोहनराय ने की थी। इन्हें हम इस युग के सुधार आन्दोलन का पिता कह सकते हैं।

ब्रह्म समाज की स्थापना का उद्देश्य यह था कि प्राचीन हिन्दुत्व की पवित्रता की छाप जनता के मन पर बैठाई जाए; रूढ़िवादिता मिटे तथा उसके स्थान पर नैतिक चरित्र की स्थापना हो जाये। समाज की कुप्रथाओं (जैसे—सती प्रथा, बाल

विवाह आदि) के विरुद्ध ब्रह्म समाज ने बीड़ा उठाया तथा एकेश्वरवाद (भगवान केवल एक है अनेक नहीं) का प्रचार किया। ईश्वर के बारे में ब्रह्म समाज ने यह परिभाषा की है—"परमेश्वर शाश्वत, अदृश्य तथा सत्य है, वह सृष्टि का विधाता एवं पोषक है।"

ब्रह्म समाज ने मूर्ति-पूजा तथा बलि-प्रथा का, जो बंगाल में अभी तक प्रचलित है खण्डन तथा संसार के समस्त धर्मों की मौलिक एकता का प्रतिपादन किया। इस नये आन्दोलन ने भारत के उस विशाल पुजारी वर्ग की जड़ों पर कुठाराघात किया जो ईश्वर और व्यक्ति के बीच में धर्म का ठेकेदार बनकर जनता पर अत्याचार कर रहा था।

इस आन्दोलन का आधार प्राचीन उपनिषदों का हिन्दू धर्म था तथापि इस पर आधुनिक युग की पश्चिमी संस्कृति की छाप पड़ी थी।

(ख) **रामकृष्ण मिशन**—रामकृष्ण मिशन की स्थापना दक्षिणेश्वर (कलकत्ते के निकट) के परमसन्त श्री स्वामी रामकृष्ण परमहंस के विद्वान शिष्य पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी ने सन् १८९७ ई० में की थी। इस मिशन की स्थापना का उद्देश्य स्वामी रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रसार था।

पूज्य स्वामी विवेकानन्द जी ने रामकृष्ण मिशन का प्रचार भारत में ही नहीं वरन् अमेरिका' इङ्गलैंड आदि विदेशों में भी किया। यह मिशन किसी धर्म विशेष का प्रचार नहीं करता वैसे इसका दृष्टिकोण वेदान्ती है—उसमें सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है। मिशन सेवा-कार्य पर अधिक बल देता है जैसे चिकित्सालयों का खोलना, विद्यालय चलाना, अकाल, बाढ़, भूकम्प आदि प्राकृतिक संकटों में जन-साधारण की सेवा करना।

रामकृष्ण मिशन का प्रधान कार्यालय बैलूर-मठ में है। इसकी शाखायें देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में तथा विदेशों में भी हैं। मिशन ने आध्यात्मिक शिक्षा की दृष्टि से सस्ते और अनमोल साहित्य का प्रकाशन किया है।

रामकृष्ण मिशन ने धर्म, समाज व राजनीति तीनों के क्षेत्र में महान् सुधार किया है। धर्म के क्षेत्र में संकीर्ण विचार एवं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के विरुद्ध इसने मोर्चा स्थापित किया तथा एक विवेकपूर्ण एवं उदार धर्म-भावना का प्रचार किया।

समाज सुधार के क्षेत्र में रामकृष्ण मिशन ने सबसे बड़ा कार्य 'छूआछूत का बहिष्कार' किया। अन्य सामाजिक कुरीतियों जैसे बाल-विवाह तथा स्त्रियों की हीन-दशा के विरुद्ध भी उन्होंने मोर्चा लिया है।

राजनीति के क्षेत्र में स्वामी विवेकानन्द जी (मिशन के संस्थापक) प्रथम भारतीय थे जिन्होंने विदेशों में जाकर भारत की आत्मा को अभिव्यक्त किया तथा उसकी महानता का डंका बजाया। उनके इस कार्य से भारतीय-जनता की सोई हुई स्वदेश-चेतना जागृत हुई तथा हमारे अन्दर आत्म-गौरव की भावना उमड़ पड़ी।

(ग) **आर्य समाज**—भारत के एक अन्य महान सुधार आन्दोलन आर्य समाज

की स्थापना सन् १८७५ ई० में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बम्बई में की थी।

आर्य समाज वैदिक धर्म की पुनर्स्थापना का बीड़ा उठाकर चला है। उसका मत है कि ईश्वर केवल एक है, अनेक देवी-देवताओं के रूप में उसकी पूजा करना मूर्खता है। ईश्वर निराकार है मूर्ति बनाकर उसका पूजन अर्चन करना निरा ढोंग तथा पाखण्ड है। व्यक्ति को चाहिए कि वह सदाचारी बने तथा वैदिक धर्म का पालन करे।

धार्मिक-क्षेत्र में आर्य समाज ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त की स्थापना की तथा हिन्दू समाज में फैले कर्मकाण्ड और पुरोहितवाद के विरुद्ध एक प्रबल प्रचार किया। इसने हिन्दू जनता के मन में हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठा पैदा की तथा उसे दूसरे धर्मों के ग्रहण करने से बचाया। इतना ही नहीं आर्य समाज ने हिन्दू धर्म का वह द्वार दूसरे धर्मावलम्बियों के लिए खोल दिया जो एक अत्यन्त लम्बे समय से बन्द था। हिंदू समाज एक ऐसी रूढ़ि में फँस गया था कि वह अपने भीतर से जाने वालों तथा दूसरे लोगों को फिर से स्वीकार नहीं कर पाता था—आर्य समाज ने इस रूढ़ि को तोड़ा तथा शुद्धि के आन्दोलन द्वारा हिन्दू समाज को विनाश के पथ पर बढ़ने से रोक दिया। आर्य समाज ने आत्म-ज्ञान का मार्ग प्रत्येक के लिए खोल दिया तथा वेदों के अध्ययन का अधिकार स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण व शूद्र सबको प्रदान किया। इसने प्राचीन वैदिक धर्म का पुनर्जागरण किया तथा इसने यज्ञ-हवन, प्रार्थना, सत्संग आदि पर बल दिया। इसने मूर्ति-पूजा का खंडन किया तथा निराकार परमेश्वर की उपासना का विधान जनता के सामने रखा।

दूसरे प्रयत्न

हिन्दू सुधार आन्दोलन में उपरोक्त आन्दोलनों के अतिरिक्त राधास्वामी सत्संग, प्रार्थना समाज व पं० शिवनारायण अग्निहोत्री जी के देव समाज का भी प्राय: उल्लेख किया जाता है। इन आन्दोलनों का प्रभाव समूचे देश पर नहीं पड़ा है वरन् ये प्रादेशिक आन्दोलन रहे है। राधास्वामी सत्संग तो एक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा संस्था है जिसकी स्थापना सन् १८६१ ई० में श्री शिवदयाल जी ने की थी। वर्तमान समय में इसकी कार्यवाही दयाल-बाग आगरे तक ही सीमित है इस में गुरु को ईश्वर का अवतार माना गया है तथा उसकी प्रधानता है इसमें जाति भेद नहीं होता।

भारत का मुस्लिम समाज भी रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों का शिकार बन रहा था। समाज-सुधार की लहर से वह भी अछूता न रह सका। मुस्लिम सुधार आन्दोलनों में से तीन प्रमुख आन्दोलनों का वर्णन यहाँ किया जायेगा :—

१. अलीगढ़ आन्दोलन।
२. वहाबी आन्दोलन।
३. अहमदिया आन्दोलन।

१. अलीगढ़ आन्दोलन—के प्रणेता सर सैयद अहमद खाँ थे। इन्होंने अपनी

पैनी बुद्धि से भारतीय मुसलमानों की गिरावट के दो कारणों की खोज की, वे ये थे—

(अ) अंग्रेज शासक मुसलमानों को १८५७ ई० के विद्रोह के लिए उत्तरदायी मानते थे, इस कारण वे मुसलमानों से अप्रसन्न व असन्तुष्ट थे।

(आ) मुस्लिम समाज अत्यन्त रूढ़िवादी और अन्ध-विश्वासों से ग्रसित था जिसके कारण वह पश्चिमी शिक्षा और अंग्रेजी के ज्ञान की उपेक्षा कर रहा था। इससे मुसलमान न तो राजनीतिक क्षेत्र में ही आगे निकल पा रहे थे और न सरकारी पदों पर ही पहुँच पाते थे।

इन दोनों कारणों को समूल नष्ट करने के लिए उन्होंने अथक प्रयत्न किया। उन्होंने स्वयं पश्चिमी शिक्षा प्राप्त की तथा वे यूरोपियन वेषभूषा धारण करते थे। उन्होंने यूरोपियन अधिकारियों से मेल-जोल तथा सम्पर्क बढ़ाया एवं उन्हें भारतीय मुसलमानों की वफादारी का आश्वासन दिलाया।

उन्होंने १८७५ ई० में अलीगढ़ में एक 'मोहमडन-ऐंग्लो ओरियन्टल कालिज' की स्थापना की तथा 'मुस्लिम जनता की शिक्षा-दीक्षा' में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया। इस आन्दोलन को इसी कारण से अलीगढ़ आन्दोलन कहते हैं। अलीगढ़ आन्दोलन ने स्त्री-शिक्षा और पर्दे की सपाप्ति का नारा उठाया। उसने मुस्लिम संस्कृति को पश्चिमी सभ्यता के साथ समन्वय करने की प्रेरणा दी। टर्की में मुस्तफा कमाल पाशा ने जो काम किया वही काम सर सैयद अहमद खाँ ने भारत के मुसलमानों के समुत्थान के लिए किया। इनके द्वारा स्थापित एम. ए. ओ. कॉलिज ही बाद में अलीगढ़-मुस्लिम-विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ।

२. **वहाबी आन्दोलन** का सूत्रपात वास्तव में अरब में हुआ था। उसका प्रभाव भारत में भी पहुँचा तथा प्रसिद्ध मुस्लिम नेता सैयद अहमद बरेलवी ने भारत में उसका प्रचार व प्रसार किया। इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर एक ही है उसी की पूजा वांछनीय है। ईश्वर निराकार है अतः उसकी मूर्ति अथवा पीर-पैगम्बरों के रूप में पूजा करना अधार्मिकता है। इन्होंने पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा का बड़ा विरोध किया तथा इस्लाम को शुद्ध सामाजिक व धार्मिक व्यवस्था के रूप में स्थापित करना चाहा। राजनीतिक दृष्टि से वे भारत में फिर से एक मुस्लिम शासन की स्थापना करना चाहते थे।

३. **अहमदिया आन्दोलन** के प्रणेता पंजाब मे कादियान के निवासी मिर्जा गुलाम अहमद थे। इनका जन्म १८३९ ई० में हुआ था तथा मृत्यु १९०८ ई० में। वे स्वयं ईश्वर के अवतार होने का दावा करते थे तथा इस्लाम-धर्म के सुधार पर बल देते थे। उनका कहना था कि मुसलमानों को अपने धर्म का पालन नैतिक दृष्टि से करना चाहिए तथा अन्ध-विश्वास को छोड़कर उन्हें विवेक ग्रहण करना चाहिए। उनकी दृष्टि में धर्म-युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं थी, धर्म के प्रसार का एकमात्र साधन उसका पालन है। ये मुसलमानों में पुरातनवादी थे तथा पर्दे, तलाक, बहु-विवाह एवं अन्य इस्लामी प्रथाओं के हामी थे।

ये अपने को महात्मा ईसा और भगवान विष्णु का अन्तिम अवतार भी बताते थे, परन्तु इन्हें इस प्रकार से माना नहीं गया। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके अनुयायियों में फूट पड़ गई, कुछ लोग इन्हें 'नबी' मानते थे और कुछ केवल सुधारक।

समाज सुधार व धार्मिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप मुसलमानों में जागृति व नवचेतना की लहर आई, पर्दे की कड़ी आलोचना हुई तथा पश्चिमी शिक्षा का प्रचार हुआ।

सुधार आन्दोलन—(अन्य)

सुधार के कुछ अन्य आन्दोलनों का उल्लेख भी इस स्थान पर करना आवश्यक एवं उपयुक्त प्रतीत होता है। इनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—

१. थियोसॉफीकल समाज।
२. भारत सेवक समिति।
३. जन-सेवक समिति।
४. भारत सेवक समाज।
५. हरिजन एवं आदिवासी सुधार आन्दोलनः—
   (क) हरिजन सेवक संघ।
   (ख) आदिवासी संघ।
   (ग) परिगणित जाति संघ।
६. महिला सुधार आन्दोलन—
   (क) वीमेंस इण्डियन एसोसियेशन।
   (ख) नेशनल काउन्सिल ऑफ वीमेन इन इण्डिया।
   (ग) आल इण्डिया वीमेन्स कॉन्फ्रेंस।
   (घ) 'कस्तूरबा ट्रस्ट'।
७. अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा। (Indian National Congress)
८. सर्वोदय समाज।
९. ईसाई सेवा संस्थायें।

१. थियोसॉफीकल समाज

इसकी स्थापना सन् १८७५ ई० में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के न्यूयार्क नामक नगर में एक संभ्रान्त कुलीन रूसी महिला ब्लावत्सकी तथा एक अमेरिकन सेना-अधिकारी कर्नल हेनरी स्टील ऑलकॉट ने की थी। इसका उद्देश्य यह बताना है कि समूचा विश्व विकास की दैवी योजना पर आधारित है तथा मानवता उसी योजना के अनुसार प्रगतिपथ पर बढ़ रही है। विश्व का प्रत्येक धर्म तथा राष्ट्र उसी विकास-क्रम को अभिव्यक्त करता है। सभी अपने अपने विकासपथ पर अग्रसर हो रहे हैं उनमें परस्पर हितों का विरोध नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र और धर्म का विकास अपने

नेताओं और विचारकों द्वारा होता है। इस विकास अथवा प्रगति को बाहर से थोपा नहीं जा सकता।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के निमन्त्रण पर विकासवाद के ये दो महान विचारक भारत में पधारे तथा मद्रास के निकट 'अदयार' नामक स्थान पर उन्होंने "थियोसॉफीकल समाज" के केन्द्रीय कार्यालय की स्थापना की। कर्नल ऑलकॉट ने देश का भ्रमण किया तथा उन्होंने यह शिकायत की कि इस देश के भीतर ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा ईसाई-धर्म को बरबस थोपने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह विकास-क्रम के विरुद्ध है। भारत की प्रगति के लिए उसके स्वाभाविक धर्म (हिन्दू-धर्म) का विकास ही आवश्यक है। हिन्दू धर्म के विविध पहलुओं का अध्ययन करके उन्होंने उसकी प्रशंसा की।

थियोसॉफिकल समाज ने अपने साहित्य में इस बात पर बल दिया कि धर्म और विज्ञान में कोई मौलिक विरोध नहीं है। उनके बीच यदि एक समन्वय किया जाय तो मानवता दोनों का लाभ उठा सकती है।

समाज की प्रवृत्तियों को प्रतिभाशालिनी आइरिश महिला श्रीमती एनीबीसेन्ट के कार्यों से भारत में बहुत अधिक बल मिला। वे समाज की सदस्या के रूप में भारत में आईं और समाज की अध्यक्षा बन गईं। उन्होंने घोषणा की कि भारत का धर्म 'हिन्दू' है तथा राजनीतिक दृष्टि से उसके स्वामी भारतीय ही है अतः उन्हें स्वराज्य (Homerule) प्राप्त होना चाहिये। उन्होंने बनारस (काशी) में सेन्ट्रल हिंदू विद्यालय एवं सेन्ट्रल हिन्दू महाविद्यालय (कॉलिज) की स्थापना की जो आज विकसित होकर हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया है।

२. भारत सेवा समिति (Servants of India Society)

इसकी स्थापना सन् १९०४ ई० में महाराष्ट्र के परम सुधारक श्री महादेव गोविन्द रानाडे के योग्य शिष्य श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने की थी। इसका उद्देश्य भारत की सेवा करने के लिए एक संगठन एवं कार्य कर्त्ताओं को तैयार करना है। इसके सदस्य उत्साहपूर्वक समाज के विविध क्षेत्रों—शिक्षा, सुधार, प्रचार में सेवा करते हैं। आज भी श्री हृदयनाथ कुंजरु जैसे सज्जन भारत सेवक समिति की ओर से देश-सेवा में निरत हैं। समिति के अन्य सदस्य स्वर्गीय ठक्कर बापा का नाम भी देश में हरिजन और आदिवासी सेवा के लिए प्रसिद्ध है।

३. जन सेवक समिति

इसकी स्थापना पंजाब केसरी ला० लाजपतराय ने की थी। स्वर्गीय लालाजी समाज सेवा के क्षेत्र में गहरी रुचि रखते थे।

समिति ने स्त्री जाति के कल्याण तथा हरिजनोद्धार के लिए भारी प्रयत्न किया। पंजाब के क्षेत्र में सामाजिक क्रांति और जनसेवा का श्रेय आर्य समाज और जन-सेवक समिति (Servants of Peoples Society) को ही है।

४. भारत सेवक समाज

इसकी स्थापना स्वतन्त्र भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू की प्रेरणा से राष्ट्र की प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हुई।

भारत सरकार ने १५ मार्च १९५० को योजना आयोग (Planning Commission) की स्थापना के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास करते हुए यह भी उल्लेख किया था कि भारत के भावी विकास की योजनाओं की सफलता के लिए जनता के सहयोग की भारी आवश्यकता है। १६ मई १९५० को भारत के योजना मंत्री श्री गुलजारी लाल नन्दा ने इस जन-सहयोग की प्राप्ति के लिए एक गैर-सरकारी एवं अराजनीतिक सेवा-संस्था का सुझाव रखा, उन्होंने उसके पश्चात् 'भारत सेवा समाज' के नाम से ऐच्छिक रचनात्मक कार्यकर्त्ताओं के एक संगठन का ठोस प्रस्ताव रखा। इसके पश्चात् इसका नाम बदल कर 'भारत सेवक समाज' रखा गया।

भारत सेवक समाज के संविधान में उसके उद्देश्यों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

१. राष्ट्रीय स्वावलम्बन को प्रोत्साहन देने तथा देश की आर्थिक शक्ति के निर्माण एवं राष्ट्रीय समाज के दरिद्र एवं हीन वर्गों की कठिनाइयों की समाप्ति के लिए भारत के नागरिकों को ऐच्छिक सेवा का अवसर देना।

२. जनता के खाली समय, शक्ति तथा अन्य साधनों को संगठित करके सामाजिक व आर्थिक प्रगति के क्षेत्रों में प्रयोग करना।

३. निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कार्य करना :—

(क) समाज का चरित्र-निर्माण।

(ख) जनता के मस्तिष्क में सामाजिक चेतना की जागृति तथा उनमें कर्त्तव्य-भावना, एकता, सहनशीलता और सहयोग पैदा करना।

(ग) अनेक महत्वपूर्ण योजनाओं का प्रचार करना एवं उनका पालन करना।

५. हरिजन एवं आदिवासी सुधार आन्दोलन

हमारे देश में छुआछूत और आदिवासी बन्धुओं की समस्या ने किसी समय में बड़ा उग्र रूप धारण कर रखा था, उसका वर्णन हम पीछे सामाजिक जीवन के प्रसंग में कर चुके हैं। इस स्थान पर उनके सुधार से सम्बन्धित कुछ आंदोलनों का वर्णन किया गया है—

(क) हरिजन सेवक संघ—सन् १९३२ में संघ की स्थापना पूज्य महात्मा गाँधी ने हरिजनों की सेवा के निमित्त की थी। संघ के अध्यक्ष श्री घनश्यामदास बिड़ला है। इसके प्रथम महामंत्री स्व० ठक्कर बापा थे जिन्होंने अपना समूचा जीवन हरिजनोद्धार के कार्य में दे डाला, आजकल इसके मंत्री श्री वियोगी हरि हैं। ये बहुत ही निस्पृह और सेवापरायण व्यक्ति हैं। हरिजन सेवक संघ ने हरिजनों के उद्धार के लिए उद्योगशालाएँ, पाठशालाएँ, कुएँ, निवास स्थान आदि खोलने व बनवाने की

अनेक स्थानों पर व्यवस्था की है। दिल्ली में किंग्सवे कैम्प में इसी प्रकार की एक हरिजन उद्योगशाला है जिसमें हरिजनों को औद्योगिक प्रशिक्षण मिलता है।

इसके पीछे महात्मा गांधी का बड़ा हाथ था। वे अपनी प्रत्येक यात्रा में हरिजन-चन्दा इकट्ठा करते थे, स्वयं उन्होंने एक हरिजन बालिका को गोद लिया था जिसका विवाह उन्होंने एक सवर्ण हिन्दू युवक के साथ किया। यह अपने जीवन के संध्या-काल में हरिजन बस्तियों में ठहरते थे तथा हरिजन-समस्या को सुलझाने में सदा निरत रहते थे। हिन्दू समाज का यह कलंक उन्हें सदा दुख देता था।

(ख) **आदिवासी संघ**—आदिवासी संघ की स्थापना स्व० ठक्कर बापा ने भारत की आदिम जातियों—भील, कोल, सन्थाल, गोंड आदि की सेवाके लिए की थी। इस संघ ने आदिवासी बन्धुओं की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक उत्थान की शिक्षा में बड़ा कार्य किया है। ईसाई मिशनरियों द्वारा आदिवासियों में जिस प्रकार का प्रचार हो रहा था। उससे डर था कि उन पर विदेशी प्रभाव न पड़ जाए। संघ ने उस प्रभाव को दूर करने, उनके भारतीयकरण तथा नवजागरण में बड़ा योग दिया है।

(ग) **परिगणित जाति संघ**—इस संघ की स्थापना डा० अम्बेदकर ने की थी। वे इसके अध्यक्ष भी रहे। यद्यपि इसने राजनीतिक स्वरूप ले लिया है तथापि अपने प्रारम्भिक काल में यह हरिजनों की दशा सुधारने का एक प्रबल आन्दोलन था। इसने इस बात की चेष्टा की कि हरिजनों में राजनीतिक जागृति हो तथा वे परस्पर छुआछूत तथा अन्य बुराइयों जैसे मदिरापान एवं मुर्दा पशुओं का माँस खाने का परित्याग करके समुन्नत बनें। इसने हरिजनों में शिक्षा के प्रसार पर भी विशेष बल दिया।

६. महिला सुधार आन्दोलन

महिलाओं की समस्याओं का उल्लेख हमने पीछे सामाजिक जीवन के प्रसंग में किया है। यहाँ हमारा उद्देश्य उन आन्दोलनों का उल्लेख करना है जिन्होंने महिलाओं की समस्याओं को समय समय पर सुलझाने का प्रयास किया है—

(क) **भारतीय महिला मंडल** (Indian Women's Association)—मंडल की स्थापना सन् १९१७ में हुई थी। इसका उद्देश्य महिलाओं को शिक्षा और समाज के क्षेत्रों में आगे बढ़ाना है—आज भी इसकी शाखाएँ देश में महिला-वर्ग के सामाजिक और र जनीतिक समुत्थान के हेतु प्रयत्नशील है।

(ख) **भारतीय महिला राष्ट्रीय परिषद्** (National Council of Women in India)—परिषद् की स्थापना सन् १९२५ में भारतीय महिलाओं को सामाजिक समानता दिलाने तथा विदेशी महिलाओं के साथ उनका संसर्ग-सम्पर्क बढ़ाने की दृष्टि से की गई थी। इसने भारतीय नारी के जागरण में वडा काम किया है।

(ग) **अखिल भारतीय महिला सम्मेलन** (All India Women's Conference)—इस सम्मेलन की स्थापना १९२६ ई० में हुई थी। स्थापना के समय इसका नाम "शिक्षा और समाज सुधार के लिए अ० भा० म० सम्मेलन" (A. I. W. C. on Educational and Social Reforms) था। शिक्षा प्रधान रूप से इसका क्षेत्र था, किन्तु धीरे धीरे इसके कार्यों का विस्तार हुआ तथा इसने सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित न रहकर राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रवेश किया।

यह संस्था राजनीतिक दलबन्दी तथा साम्प्रदायिकता से मुक्त एवं शुद्ध रूप से राष्ट्रीय है। इसने स्त्रियों के शिक्षणात्मक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक व राजनीतिक विकास के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डाली है। इसके निर्णय प्रायः बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। यह अपने अधिवेशनों में महिला वर्ग के समुत्थान के निमित्त प्रस्ताव पास करती है तथा उनको क्रियात्मक स्वरूप देने के लिए सरकार पर भी दबाव डालती है और स्वयं भी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाती है।

(घ) **कस्तूरबा-ट्रस्ट**—राष्ट्रपिता पूज्य महात्मा गांधी की धर्मपत्नी की पुण्य स्मृति में उनके ही नाम से इस ट्रस्ट की स्थापना सन् १९४४ में हुई थी। इस ट्रस्ट के अध्यक्ष अपने जीवन काल में स्वयं पूज्य महात्मा गांधी थे। २ अक्तूबर १९४४ तक इस ट्रस्ट ने १ करोड़ से कुछ अधिक राशि संग्रह करके पूज्य गाँधी जी को उनके ७५ वें जन्म दिवस पर भेंट की थी। पूस्य गांधी जी के स्वर्गवास के उपरान्त राष्ट्रनायक सरदार वल्लभ भाई पटेल इसके अध्यक्ष बने एवं उनके जीवन काल में ट्रस्ट ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि देश भर में ग्रामीण क्षेत्रों में 'नारी एवं शिशु स्वास्थ्य केन्द्र' एवं बाल-विद्यालय खोले गये। इन्दौर के निकट स्वयं सरदार पटेल ने कस्तूरबा ग्राम का उद्घाटन किया जहाँ आजकल ट्रस्ट के केन्द्रीय कार्यालय तथा विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाएँ है जैसे—ग्राम सेविका विद्यालय और मिडवाइफरी केन्द्र, जहाँ से प्रतिवर्ष सब ग्राम सेविकाएँ प्रशिक्षण पाकर देश के देहातों में सेवा के लिए फैल जाती हैं। वास्तव में हमारे देश में सेवा की सच्ची आवश्यकता ग्रामीण क्षेत्रों में है जहाँ देश की पीड़ित जनता शिक्षित वर्ग से सेवा की आशा करती है।

(ङ) महिला वर्ग की दशा सुधारने के लिए श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और प्रो० कार्वे के प्रयत्नों का उल्लेख भी किया जा सकता है। श्री विद्यासागर महाशय के कठोर परिश्रम के परिणामस्वरूप १८५६ ई० में विधवा विवाह को वैध घोषित किया गया। वह अत्यन्त उदार और संस्कृत के महान पण्डित विद्वान् थे। प्रो० कार्वे ने स्वयं एक ब्राह्मण विधवा के साथ विवाह किया तथा १८९६ ई० में पूना में एक विधवा आश्रम तथा १९१६ ई० में भारतीय महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की। ये एक महान सामाजिक सुधारक हैं। महिला जागृति में इनका बड़ा हाथ रहा है। इन्हें भारत-रत्न की उपाधि प्रदान की गई है। इनकी आयु एक सौ वर्ष से भी अधिक है।

७. भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काँग्रेस)

काँग्रेस देश की एक महान् राजनीतिक संस्था रही है। समाज सुधार की दिशा में उसके कार्यो का बहुत महत्व है। कांग्रेस ने भारत की महिलाओं को पुरुषों के साथ समानता प्रदान की। यह काँग्रेस के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि भारत को अनेक योग्य महिलाओं की सेवाएँ प्राप्त हो सकी हैं। काँग्रेस के मंच से गाँधीजी की ललकार भारतीय ललनाओं को उनकी चहार दीवारी से निकाल कर समाज और राष्ट्र सेवा के क्षेत्र में खींच लाई उन्होंने स्वाधीनता संग्राम में पुरुषों के समान कार्य के पश्चात् भी किया तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति देश के प्रशासन में भारी योग दे रही हैं।

इसके अतिरिक्त काँग्रेस ने हरिजनोद्धार स्वदेशी प्रचार, बाल विवाह निषेध, मद्य-निषेध तथा शिक्षा-प्रचार के क्षेत्र में बड़ा काम किया। इनसे भारत के नागरिक भली भाँति परिचित हैं। राष्ट्र के नागरिकों को चाहिए कि वे १८८५ से १९४७ तक की काँग्रेस को गौरव-पूर्वक स्वाधीनता के आन्दोलन के नाम से ही नहीं एक सामाजिक क्राँति की संस्था के नाम से भी याद रखें।

८. सर्वोदय समाज

महात्मा गाँधी एक महान् युगद्दष्टा और युगसृष्टा थे। उन्होंने मनुष्य के जीवन में एक महान् क्राँति का सन्देश दिया जिसका आधार गीता का साम्य योग है। महात्मा जी के सिद्धान्तों और उनकी विचारधारा का नाम सर्वोदय है तथा उन सिद्धांतों में विश्वास रखने वाले समाज को सर्वोदय समाज कहते है।

सर्वोदय का अर्थ है सबका उदय और प्रत्येक का पूरा उदय अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के जीवन का सर्वाङ्गीण विकास। इस उद्देश्य को लेकर सर्वोदय समाज पूज्य गाँधीजी के स्वर्गवास पर महर्षि विनोवा भावे के नेतृत्व में आगे बढ़ा है। समाज की आर्थिक प्रवृत्तियों का अध्याय हम अगले अध्याय में करेंगे। यहाँ हमें केवल उसकी सामाजिक प्रवृत्तियों का ही उल्लेख करना है।

सर्वोदय समाज किसी भी प्रकार की सामाजिक विषमता में भरोसा नहीं रखता चाहे उसका आधार छुआछूत हो अथवा निर्धनता। सर्वोदय-समाज संसार में प्रचलित सब धर्मों को समान दृष्टि से देखता है। सर्वोदय के सिद्धाँत में किसी भी वर्ग के लिए घृणा का स्थान नहीं है, वह बलपूर्वक क्राँति में विश्वास नहीं रखता वरन् धीरे-धीरे हृदय परिवर्तन के आधार पर होने वाली क्राँति को ही सच्ची क्राँति मानता है।

सर्वोदय समाज का उद्देश्य एक ऐसे मानव समाज की स्थापना है जिसमें बाल विवाह, बलात् वैधव्य, छुआछूत, मद्यपान, जुआ, दारिद्र्य, बहु-विवाह, चरित्रहीनता आदि कोई भी सामाजिक अनीति तथा कुरीति न हो। इसके लिए उसने हृदय परिवर्तन का मार्ग सुझाया है।

३० जनवरी १९४८ को महात्मा गाँधी का स्वर्गवास हुआ उसके पश्चात् गाँधी जी के दर्शन में विश्वास रखने वाले लोगों का एक सम्मेलन सेवाग्राम में हुआ। वहाँ यह निश्चय किया गया कि सत्य और अहिंसा के दो जीवन-सूत्रों की व्यवहारिकता में विश्वास रखने वाले तथा उनका व्यवहार करने वाले लोगों का एक भाई-चारा स्थापित किया जाय जिसका नाम 'सर्वोदय समाज' हो। 'समाज' का सदस्य बनने से कोई अधिकार नहीं मिलते, न कोई वोट देने और प्रतिनिधि या अध्यक्ष और मन्त्री चुनने का अवसर ही मिलता है। 'समाज' की सदस्यता का अर्थ है—उसके सिद्धान्त अर्थात् 'ग्रामोद्योग प्रधान भूदान मूलक अहिंसात्मक क्रांति' में विश्वास रखना तथा उस क्रान्ति की सफलता के लिए निरन्तर प्रयास करना। महर्षि विनोबा भावे ने 'भूदान यज्ञ' का आरम्भ करके देश के सामने सशक्त प्रेममय क्रान्ति का पंथ खोल दिया है।

६. ईसाई सेवा संस्थाएँ

इस स्थान पर भारत के सामाजिक सुधार में सहयोग देने वाले क्रिश्चियन मिशनों का वर्णन भी उपयुक्त होगा। यद्यपि ईसाई सेवा संस्थाओं का प्रारम्भिक उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार होता है तथापि यह निश्चित है कि इनके भीतर महात्मा ईसा की सेवा-भावना से प्रेरित अनेक त्यागी सेवक होते हैं जो निस्पृह भाव से पीड़ित जनता के दुःख हरने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी संस्थाओं ने अधिकतर कार्य भारत के आदि निवासी बन्धुओं—भील, कोल, संथाल, गोंड आदि तथा भारत की पिछड़ी जातियाँ जैसे हरिजनों व घूमने फिरने वाले लोगों में किया है। ये संस्थाएँ मिशन, विद्यालय, चिकित्सालय, तथा अपंगु सहायता केन्द्र व कोढी घर खोलती हैं एवं सेवा के बल हृदय जीतकर धर्म परिवर्तन करती हैं फिर भी इन्होंने दोहरा कार्य किया है—(१) भारत के पिछड़े वर्गों को शिक्षा, चिकित्सा एवं धर्म की भावना दी है तथा (२) भारत के देशीय सुधारकों का ध्यान इन पिछड़े वर्गों की ओर खींचा है जिसके परिणाम-स्वरूप इन वर्गों के विकास के लिए इन दिनों गम्भीर प्रयत्न हुए।

योग्यता-प्रश्न

१. भारत के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
Give a short account of Religious and Social Reform Movements in India.

२. भारत में हरिजन-उद्धार आन्दोलन का विस्तृत वर्णन कीजिए।
Describe in detail the Harijan-uplift Movement in India.

३. 'भारत में नारी जागरण' विषय पर एक निबन्ध लिखिये।
Write an essay on 'Women's Awakening in India.'

४. निम्न के बारे में संक्षिप्त वर्णन कीजिए—

(क) ब्रह्म समाज

(ख) रामकृष्ण मिशन
(ग) सर्वोदय समाज
(घ) मुस्लिम समाज सुधार आन्दोलन

Write short notes on the following—

(a) Brahmo Samaj.
(b) Ramkrishna Mission.
(c) Sarvodaya Samaj.
(d) Muslim Social Reform Movements.

—: o :—

अध्याय १७

अर्थ व्यवस्था और पंचवर्षीय योजनाएं

"तुमको सदा यह सिखाया जाता है कि श्रम अभिशाप रूप है और शारीरिक श्रम करना दुर्भाग्य का लक्षण है। लेकिन मैं कहता हूँ कि संसार के आरम्भ-काल से ही पृथ्वी माता यह अपेक्षा करती है कि तुम श्रमजीवी जीवन व्यतीत करो और इसलिए जब तुम श्रम करते हो तब पृथ्वी माता के हृदय में घर करके बैठी हुई आशा को सफल करते हो। श्रम देवता की उपासना करना जीवन का सच्चा आनन्द भोगना है। श्रम करके जीवन का रसास्वादन करना जीवन का गूढ़तम रहस्य समझना है।

—सन्त खलील जिब्रान

भारत एक खेतिहर देश है। इस देश को प्रकृति की ओर से उपजाऊ भूमि, वर्ष भर प्रवाही नदियाँ, उपयोगी बन, अमूल्य पर्वत, समृद्ध खानें, आवश्यक पशु तथा बुद्धि और विवेक से सम्पन्न जनशक्ति प्राप्त हुई है। इतना होने पर भी भारत की अपनी आर्थिक समस्यायें हैं जिनके सम्यक् समाधान (Proper Solution) पर भारत की भावी पीढ़ियों का सुख, उनकी समृद्धि व शान्ति तथा उसकी स्वतंत्रता की रक्षा निर्भर है।

अतीत का वैभव—भारत की आधुनिक आर्थिक समस्या के अध्ययन से पूर्व यदि अतीत पर थोड़ा दृष्टिपात करलें तो अच्छा होगा। इतिहास हमें बताता है कि भूतकाल में भारत विदेशियों की दृष्टि में 'सोने की चिड़िया' था तथा यहाँ 'दूध घी की नदियाँ' बहती थीं। ये दोनों बातें भारत की आर्थिक समृद्धि का परिचय देती हैं। धीरे-धीरे भारत का सितारा अस्त होना आरम्भ हुआ और देश के शासकों के आपसी कलह तथा विदेशियों के आक्रमणों के फलस्वरूप भारत का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।

भारत की आर्थिक-व्यवस्था कृषि और उसके चारों ओर संगठित उद्योगों पर आधारित थी। कारीगर अपने घर की चौपालों में बैठ कर काम करते थे तथा बालक अपने माता-पिता के घर पर रह कर उनके उद्योग की शिक्षा अभ्यास द्वारा प्राप्त करते थे। इसे हम गृह-उद्योग व्यवस्था कहते हैं। देहात स्वयं पूर्ण इकाई थे उनमें जीवन के लिये आवश्यक अधिकाँश वस्तुओं का निर्माण वहाँ के स्थानीय कारीगर करते थे जैसे—बढ़ई, लोहार, चर्मकार, कुम्भकार, (कुम्हार), तेली, स्वर्णकार, (सुनार) आदि।

पतन—यूरोप के व्यापारियों ने जब भारत की भूमि में समुद्री मार्ग से प्रवेश किया उस समय वे यहाँ से पक्का माल जैसे—कपड़ा, लोहे का सामान, और तेल इत्यादि ले जाकर अपने देशों में बेचते थे। इस व्यापार से उन्हें बहुत अधिक लाभ होता था। धीरे-धीरे यूरोप के देशों में यन्त्रों तथा बिजली व पानी की शक्ति का आविष्कार हुआ तथा वहाँ बड़े पैमाने पर उद्योग चालू हुए। इन उद्योगों के लिए बहुत बड़ी मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता थी। विदेशी व्यापारियों ने अब भारत से कच्चा माल खरीदना शुरू कर दिया और वे उसके बदले में पक्के माल लाकर यहाँ बेचने लगे। इससे देशीय उद्योग-धन्धे को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा तथा देश के भीतर निर्धनता और बेकारी बढ़ने लगी।

धीरे-धीरे हमारा देश अंग्रेजों के शासन में आ गया तथा हम अपनी स्वतंत्रता खो बैठे। इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज लोग इंगलैड तथा यूरोप के अन्य देशों से मशीनों का बना माल लाकर हमारे देश में बेचने लगे एवं यहाँ से बड़ी मात्रा में कच्चा माल, जैसे—रूई, तिलहन आदि ले जाने लगे। भारत इस प्रकार विदेशी माल का एक बड़ा बाजार बनता चला गया और उसकी अपनी पुरानी आर्थिक व्यवस्था गिरती चली गई।

महात्मा गाँधी जब दक्षिणी अफ्रीका से लौटकर आये तो उन्होंने अनुभव किया कि हमारे देश का आर्थिक शोषण किया जा रहा है। अतः उन्होंने देश में स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का प्रचार किया। इससे पहले महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी देश को अपने स्वदेश की बनी हुई वस्तुएँ प्रयोग करने की प्रेरणा दी थी। गाँधी जी ने चर्खे और ग्रामोद्योग के उद्धार का बीड़ा उठा लिया। देश में विदेशी कपड़े का बहिष्कार किया गया तथा खादी का प्रचार हुआ। धीरे-धीरे देश में इस आर्थिक समस्या पर विचार शुरू हुआ तथा बहुत से उद्योग-धन्धों को पुनर्जीवित करने की कोशिश की गई।

भारत की आर्थिक समस्या

भारत एक महान् देश है, प्राकृतिक दृष्टि से उसमें अनेक प्रकार की भूमि, अनेक प्रकार के जलवायु, पर्वत, नदियाँ, सागर और खनिज द्रव्य पाये जाते है। अपने क्षेत्रफल की दृष्टि से वह संसार का सातवां महान् देश है तथा इसमें संसार की जनसंख्या का पाँचवें से भी अधिक भाग निवास करता है, तथापि हमारा देश आर्थिक दृष्टि से अनेकानेक समस्याओं से घिरा हुआ है। इन समस्याओं का वर्णन हम यहाँ कर रहे हैं, साथ ही हम उनके कारण जानने की चेष्टा भी करेंगे और यह देखेंगे कि उन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है तथा उसके लिए हमारी राष्ट्रीय योजनायें किस सीमा तक कार्य कर रही हैं।

समस्यायें—१. **बेकारी :** भारत के सामने सबसे बड़ी आर्थिक समस्या बेरोजगारी की है। हमारे देश के ८० प्रतिशत के लगभग लोग देहातों में खेती पर निर्भर

रहते हैं तथा उनके पास वर्ष के अधिकाँश भाग में काम नहीं होता, इसके अतिरिक्त हमारे देश में शिक्षितों की भी एक बड़ी संख्या बेकारी का शिकार है, इसका कारण यह है कि पढ़ लिख जाने के बाद लोग मजदूरी को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं तथा ऐसी नौकरियाँ करना चाहते हैं जिन में कम काम, अधिक आराम और अधिक पैसा मिलता है, उसके अवसर प्रत्येक देश में सीमित ही होते हैं अतः वे बेकार रह जाते है।

२. हमारी दूसरी समस्या दरिद्रता की है। दरिद्रता बेकारी की कोख में से ही पैदा होती है। जो लोग बेकार रहेंगे वे निश्चित रूप से अनुत्पादक उपभोक्ता होंगे, इस प्रकार देश में संपत्ति कम होगी तथा उसे भोगने वाले अधिक होने के कारण दरिद्रता उत्पन्न होगी। अभी तक अंग्रेजी दासता का प्रभाव हमारे ऊपर से कम नहीं हुआ है तथा हम अपना औद्योगिक विकास पूरी तरह से नहीं कर पाये हैं। इतना ही नहीं आज जो कुछ संपत्ति हमारे देश में है उसका वितरण भी ठीक ढंग से नहीं हुआ है और उसका परिणाम यह हुआ है कि सम्पत्ति का एक बड़ा अंश चन्द पूँजीपतियों के पास संगृहित हो गया है, व आम जनता गरीब बनी हुई है। हमारी सरकार ने तीसरी पंचवर्षीय योजना में खुले आम यह स्वीकार किया है कि आगे से हमारे यहाँ यह चेष्टा की जायेगी कि सम्पत्ति का अधिक से अधिक सम-वितरण किया जाये जिससे कि किसी को भी जीवन की सुविधाओं से वंचित न होना पड़े।

३. हमारा देश धीरे-धीरे प्रगति कर रहा है परन्तु हमारे पास अभी तक भारी उद्योगों के लिए साधनों, मशीनों, आवश्यक पूँजी और कुशल कारीगरों का अभाव है। इसके लिये तीनों योजनायें सचेष्ट रही हैं तथा तीसरी योजना मे इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि यहाँ भारी मशीनें तैयार की जायें, उसके लिये स्टील के कारखानें लगाये गये हैं तथा कुशल इंजीनियर व तकनीकज्ञ तैयार किये जा रहे हैं।

४. हमारे सामने एक समस्या व्यसनों की भी है। भारत जैसे गरीब देश के लोग यदि अपनी सम्पत्ति और शक्ति का अपव्यय तम्बाकू, शराब, पान, जुआ, मुकदमे-बाजी और सिनेमा पर कर देंगे तो वे किसी भी प्रकार अपनी भयंकर दरिद्रता से नहीं निकल सकेंगे। व्यसनों पर केवल अनमोल सम्पत्ति ही व्यय नहीं होती, उसमें हमारे देश की उपजाऊ भूमि भी घिर जाती है जिसमें हम अपने ४४ करोड़ मनुष्यों के लिए अधिक अन्न पैदा कर सकते हैं। साथ ही व्यसनों के कारण हमारा शारीरिक व नैतिक स्वास्थ्य खोखला हो जाता है, ऐसी स्थिति में यह बात चिंताजनक है कि हम अपनी महान विकास-योजनाओं को किस प्रकार पूरा कर सकेंगे। भारत के नागरिकों को व्यसनों से मुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए जिससे कि वे अपने प्यारे देश के नव-निर्माण के लिए अधिक से अधिक धन व शक्ति जुटा सकें तथा अपने आपको भारत का सच्चा नागरिक सिद्ध कर सकें। आज जबकि हमारे देश में दरिद्रता और अशिक्षा व बेकारी के विरुद्ध एक महान युद्ध छिड़ा हुआ है उस समय यदि हमारे

जवान लड़के और लड़कियाँ सिनेमाओं में अपने समय को बर्बाद करें, वहाँ गंदे चित्र देखकर अपने महान देश की संस्कृति को कलंकित करें, तथा पान व सिगरेट मुँह में दबाये आवारागर्दी करें तो हमारा प्यारा भारत किसी भी स्थिति में आगे नहीं जायेगा। हमें इन बुराइयों से मुक्त हो जाना है यह संकल्प हम करें।

५. हमारे आर्थिक विकास की दिशा निश्चित हो गई है, परन्तु वास्तव में किसी देश का निर्माण लोहे और कोयले से ही नहीं हो सकता, इनकी भारी आवश्यकता होती है परन्तु सबसे बड़ा तत्व विकास में मानव-शक्ति होती है। हमारे देश में मनुष्यों की कमी नहीं है, वरन हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि हमारी जनसंख्या बहुत तेजी के साथ बढ़ रही हैं। यह बहुत चिंताजनक बात है। हमें इस तेजी के साथ बढ़ती हुई जनसंख्या को नियंत्रित करना होगा तभी हम आर्थिक संतुलन बनाये रख सकेंगे।

इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि यदि किसी देश के नागरिक अपने स्वार्थों में ही लगे रहें तो वह देश किस प्रकार प्रगति कर सकता है। हमारे देश में अभी तक नागरिकता की उस उत्कृष्ट-चेतना का विकास पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ जो नागरिक को अपने देश के हित के लिए बलिदान हो जाने की प्रेरणा देती है। आज जरूरत इस बात की है कि हम अपने पेट से पट्टी बाँध कर अर्थात् अपनी आवश्यकताओं को कम करके तथा कष्ट सहन करके अपने देश की प्रगति के लिए दिन-रात काम में जुट जायें और इसके माथे से पिछड़ेपन व दरिद्रता के कलंक मिटा दें। हम जो कोई भी काम करें उसे पूरी शक्ति लगाकर करें तथा यह बात ध्यान में रखें कि हमारे काम के साथ हमारे प्यारे भारत का भविष्य जुड़ा हुआ है, यदि हम बेईमान और आलसी बनेंगे तो हमारा देश दरिद्र व दीन बना रहेगा। आज देशभक्ति का अर्थ है परिश्रम, ईमानदारी और सादगी।

भारत में खेती और उसके विकास के साधन

भारत की खेती बहुत अविकसित दशा में है। यद्यपि उसको सुधारने के लिए पिछली दो योजनाओं में बहुत चेष्टा की गई है तथापि उसकी दशा अभी तक संतोषजनक नहीं है। हमारा किसान अकुशल है, अशिक्षित है और वह रूढ़िवादी भी है, जिसके कारण वह आसानी से खेती के नये औजारों, नये तरीकों और खाद आदि के प्रयोग को ग्रहण नहीं कर पा रहा है, फिर भी सरकार के निरन्तर प्रचार और प्रयास से वह बदल रहा है, उसको शिक्षा भी दी जा रही है। हमारी खेती की समस्याओं में सबसे बड़ी समस्यायें ये हैं—

१. सिंचाई,
२. उन्नत औजार,
३. वैज्ञानिक रीतियाँ,
४. रासायनिक खाद,

५. उन्नत बीज,
६. भांडारीकरण के साधन (स्टोर),
७. खेती का छितरा और छोटापन, तथा
८. भूमि का असमान वितरण।

इन सब समस्याओं को हल करने की चेष्टा की जा रही है। इनमें सबसे बड़ी समस्या यह है कि किस प्रकार भूमि का असमान वितरण दूर किया जा सकता है तथा किस प्रकार किसानों के बीच सहकार और सहयोग उत्पन्न किया जा सकता है। आर्थिक न्याय की प्राप्ति के लिए भूमि का समान वितरण आवश्यक है, इसके लिये हमारे देश के एक महान तपस्वी और सामाजिक-दृष्टा आचार्य विनोबा १९५१ के अप्रैल महीने से निरन्तर देश में भ्रमण कर रहे हैं तथा लोगों को भूदान और ग्राम-दान का महत्व समझा रहे है। उन्होंने देश में इस प्रकार का वातावरण तैयार किया है कि यदि कोई साहसपूर्ण राजनीतिक दल देश में सत्ता प्राप्त कर ले तो वह भूमि को नये सिरे से बाँटने का काम हाथ में ले सकता है और उसे देश के अधिकाँश लोगों का समर्थन मिलेगा। भूमि का समान वितरण हो जाने से तथा उस पर से व्यक्तिगत स्वामित्व मिटाकर गाँव का सामूहिक स्वत्व स्थापित कर देने से आपसी द्वेष व बैर नष्ट हो जायेगा तथा किसानों को काम करने की नई प्रेरणा मिलेगी तथा वैज्ञानिक व आर्थिक ढंग की खेती सम्भव हो जायेगी। सरकार इसके लिये सहकारी खेती का कार्यक्रम अपना रही है, वह स्वेच्छा से किसानों को इस बात के लिये तैयार करती है कि वे मिलकर सहकारी खेती करें जिससे कि एक ओर तो वे अपने सम्मिलित प्रयत्नों से देश की उपज बढ़ा सकें और दूसरी ओर वे साहूकार, शहरी-आढ़ती (कमीशन ऐजेन्ट) और पूँजीपति के शोषण से बच सकें। ये सहकारी समितियाँ केवल उपज बढ़ाने पर ध्यान नहीं देंगी वरन वे ऋण, भाँडारीकरण, बिक्री और साधन जुटाने की व्यवस्था भी करेंगी।

भारत में उद्योग धन्धे

भारत में सब प्रकार के उद्योगों को बढ़ावा दिया जा रहा है। जहाँ एक ओर सरकार बड़े-बड़े और भारी उद्योगों की ओर ध्यान दे रही है वहीं वह छोटे और घरेलू व ग्रामीण उद्योग-धन्धों के प्रति भी जागरूक है। यह बात अब स्पष्ट हो गई है कि यद्यपि देश के विकास के लिए भारी उद्योगों का बहुत महत्व है तथापि देश को पूरा रोजगार देने में वे असमर्थ रहेंगे। अत: देश के कोने-कोने में प्रत्येक गाँव में ग्रामीण, घरेलू और छोटे उद्योगों के विकास पर बहुत जोर दिया जा रहा है। इसके लिए सरकार ने खादी व ग्रामोद्योग आयोग, हाथ करघा बोर्ड, हस्तोद्योग बोर्ड, लघु-उद्योग बोर्ड, क्वायर बोर्ड, तथा सिल्क बोर्ड आदि की स्थापना की है जिनके द्वारा देश में उद्योगों का जाल बिछाया जा सकेगा।

हमारे देश के उद्योगों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, एक तो राष्ट्रीय

स्वामित्व वाले उद्योग है, जिन्हें सार्वजनिक-क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) के नाम से पुकारा जाता है, दूसरे निजी-उद्योग हैं जिन्हे प्राइवेट सेक्टर कहा जाता है।

राष्ट्रीय स्वामित्व वाले उद्योगों मे निम्न प्रमुख है —

हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट फैक्टरी, बंगलौर; रासायनिक खाद फैक्टरी, सिन्दरी; चितरंजन लोको-मोटिव वर्क्स, चितरंजन; इन्टिग्रेल कोच फ़ैक्टरी, पैराम्बूर; नेशनल मैथेमेटिकल; इन्स्ट्रूमेन्ट्स फैक्टरी, कलकत्ता; पैन्सिलीन कारखाना, पिम्परी; नाहन फाउन्डरी, नाहन; हिन्दुस्तान टूल्स कारखाना, बंगलौर; हिन्दुस्तान कैबिल्स लि०, रूपनारायणपुर; हिन्दुस्तान शिपयार्ड, विशाखापत्तनम; मशीन टूल्स प्रोटोटाइप फैक्टरी, अम्बरनाथ; टेलफोन कारखाना, बंगलौर; यूरेनियम थोरियम कारखाना, माहुल टी० कारखाना, दिल्ली; न्यूमिन्ट; अलीपुर; भारत एलेक्ट्रोनिक्स; जलहाली, बंगलौर; ट्राम्बे द्वीप; डी० डी० हिन्दुस्तान स्टील लि०; दुर्गापुर, राउरकेला व; भिलाई; भारी बिजली सामान कारखाना, भोपाल इत्यादि।

अन्य उद्योग—इनके अतिरिक्त देश में अनेक दूसरे उद्योग हैं जिनका वर्णन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. **सूत उद्योगी**—भारत में सूती कपड़ा बनाने की लगभग ५०० मिलें हैं जिनमें एक अरब रुपये की पूँजी लगी हुई है, इनमें सात लाख के लगभग मजदूर काम करते हैं। ये मिलें बम्बई, अहमदाबाद, इन्दौर, कानपुर, नागपुर शोलापुर आदि कुछ नगरों में केन्द्रित हैं।

२. **सिल्क और ऊन उद्योग**—ये दोनों उद्योग हमारे देश में बहुत प्राचीन हैं, तथा हमारे देश में बहुत अच्छे प्रकार की सिल्क व ऊनी वस्त्र का उत्पादन होता है।

३. इनके अतिरिक्त हमारे यहाँ जूट, चीनी, बनस्पति-तेलों, कागज और सीमेंट के अनेक कारखाने हैं जो हमारे देश की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। जहाँ तक चीनी का प्रश्न है, भारत आज अंतर्राष्ट्रीय बाजार में चीनी निर्यात कर रहा है, हमारी चीनी अमेरिका व चीन आदि देशों के बाजारों में बिक रही है। भारत अपनी लोहे और इस्पात की आवश्यकता को भी अपने आप पूरा कर रहा है, तथा इनके उत्पादन में निरंतर वृद्धि हो रही है। पैट्रोलियम और मिट्टी के तेल के नये भंडारों की खोज हो जाने से भारत धीरे-धीरे इन क्षेत्रों में भी आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ रहा है। आज के युग में तेल और लोहा शक्ति के ये दो स्रोत माने जाते हैं, भारत इन दोनों के उत्पादन को निरंतर बढ़ाने की चेष्टा कर रहा है। कोयला भी हमारे यहां काफी मात्रा में और अच्छे प्रकार का पाया जाता है प्रतिवर्ष लगभग ४ करोड़ टन कोयला हमारी खानों से निकाला जा रहा है।

अन्य उद्योगों में तम्बाकू, चमड़ा, काँच, साइकिल, मोटर, चाय, काफी, रबर, दियासलाई, बिजली का तार, बर्तन, दरी, साबुन, प्लाइवुड, खेल के सामान आदि के उद्योगों की गणना की जा सकती है।

भारत बहुत तेजी के साथ औद्योगीकरण की दिशा में बढ़ रहा है। तीसरी

पंचवर्षीय योजना प्रकाशित कर देने के बाद हमारा योजना-आयोग आजकल एक पन्द्रह-वर्षीय योजना तैयार करने के काम में लगा हुआ है। हमारे प्रधान-मंत्री ने कहा है कि उस योजना के पूरा हो जाने के बाद देश पूरी तरह औद्योगिक-सभ्यता के अंतर्गत आ जायेगा तथा देश में से बेरोजगारी और दरिद्रता का अंत हो जायेगा। इतना ही नहीं समाजवादी-राज्य की स्थापना की प्रक्रिया भी उस समय तक पूरी हो जायेगी।

आर्थिक प्रगति की दिशा में

पिछले तीस चालीस वर्षों के समय में संसार का आर्थिक-ढाँचा दो विश्व युद्धों के द्वारा बुरी तरह से झकझोर दिया जा चुका है और अब सभी राष्ट्र दूसरे विश्व-युद्ध के पश्चात् आर्थिक-योजना पर उतर आये हैं। भारतवर्ष भी स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही अपनी आर्थिक-समस्याओं पर विचार करने के लिये बाध्य हुआ। विदेशी हुकूमत, पिछड़ेपन, और परावलम्बन ने हमें अपनी आर्थिक उन्नति के लिए मजबूर किया जिसके फलस्वरूप देश के जीवन स्तर, तथा अर्थ-प्रबन्ध को ऊँचा उठाने के लिये इस ओर कदम उठाये गये और भारत में फैली हुई भुखमरी, गरीबी, बेरोजगारी को दूर करना नव निर्वाचित सरकार का प्रमुख कार्य माना गया।

चूँकि विदेशी शासन और द्वितीय विश्व-युद्ध ने भारत को बुरी तरह से कुचल रक्खा था अतः देश के लिये आवश्यक हुआ कि सर्वांगीण विकास की ओर कदम उठाये जायें। जब देश की बागडोर हम लोगों के हाथ में आई उस समय हमारी अवस्था बड़ी चिन्ताजनक थी। कहीं महावृष्टि का प्रकोप, कही पर अनावृष्टि और दुर्भिक्ष, कहीं भूकम्प हम लोगों पर कयामत ढा रहे थे। इन समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए दिसम्बर सन् १६४८ में पं० नेहरू की अध्यक्षता में प्लानिंग कमीशन की स्थापना की गई। उस समय कमीशन को निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ा :—

(क) देश की भौतिक पूँजी व मानवीय साधनों का आंकना तथा उनकी वृद्धि के लिये सुझाव।

(ख) देश के समस्त साधनों का सम्पूर्ण-विदोहन करने के लिये किसी बड़े पैमाने पर नियोजन।

(ग) योजनाओं की अवधि, साधनों की प्राप्ति, तथा प्राथमिकताओं का चुनाव करना।

(घ) योजनाओं को सफल बनाने के लिए एक निश्चित नीति का निर्धारण।

(ङ) समय-समय पर योजनाओं की प्रगति के आधार पर लक्ष्यों का समन्वय, तथा उनमें कांट छांट करना।

कमीशन ने इन उपयुक्त विषयों पर काफी विचारविमर्श किया और सन्

१९५१ में उन्होंने अपनी रिपोर्ट 'प्रथम पंचवर्षीय योजना का प्रारूप' के नाम से प्रकाशित की।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

पहली पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य बड़े महत्वपूर्ण थे। श्री एन. एस. सुब्बाराव के मतानुसार आर्थिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य मानव समाज के आर्थिक विकास के स्तर को ऊँचा करना होता है और ऐसा करने के लिए उत्पत्ति की व्यापकता और कुशलता को बढ़ाना, आर्थिक जीवन में स्थिरता लाना तथा आय के वितरण की असमानता में कमी करना आवश्यक है। प्रत्येक नियोजन के व्यापक उद्देश्य होते हैं और उसमें उपयोग स्तर की पुर्नस्थापना करना तथा भविष्य के औद्योगिक और कृषि विकास की नीव डालना, राष्ट्रीय आय की वृद्धि करना भी सम्मिलित किये जाते है।

हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना का मूलभूत उद्देश्य अन्य राष्ट्रों की भाँति जनतन्त्र के नागरिक को अधिकार रूप में पर्याप्त भोजन, वस्त्र, तथा स्वास्थ्य प्रदान करना है। साथ ही साथ उसके लिये कम से कम-जीवन-स्तर, आश्रय, तथा मनोरंजन का समुचित प्रबन्ध करना भी उतना ही आवश्यक है। इसके अतिरिक्त शिक्षा के क्षेत्र मे सम्पूर्ण तथा समान अवसरों का प्रदान करना, तथा अन्य सुविधाओं को प्रस्तुत करना भी उद्देश्यों की श्रेणी में रक्खा गया है। बेरोजगारी से मुक्ति, बीमारी तथा वृद्धावस्था में राहत प्रदान करना भी इसके उद्देश्यों में समाविष्ट कर लिया गया है। किन्तु इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति एक छोटे से नियोजन द्वारा करना अत्यन्त कठिन प्रतीत हुआ अतः देश की योजना को खण्डों में बाँट कर शनैः शनैः इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयास हुए।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जो पहला कदम उठाया गया उसको प्रथम पंचवर्षीय योजना के नाम से पुकारा गया। इस योजना की पूर्ति हेतु यह आवश्यक समझा गया कि देश के समस्त साधनों को भली प्रकार आँका जाये, तथा कम कीमत पर वस्तुओं का उत्पादन हो और माँग तथा पूर्ति का सुन्दर समन्वय किया जावे। उत्पादन के क्षेत्रों में यह निश्चित किया गया कि किन उद्योगों को कितनी प्राथमिकता दी जाये।

जिस समय कमीशन इस योजना को अन्तिम रूप दे रहा था उस समय भारत की स्थिति बड़ी चिन्ताजनक थी। देश का विभाजन, खाद्य समस्या, बाढ़, कच्चे माल की कमीं सभी बुरी तरह मुंह बाये खड़े हुए थे, देश में अनिवार्य वस्तुओं का उत्पादन गिरावट पर था, उपभोग की वस्तुओं की बड़ी भारी कमी थी और जनसंख्या लगभग ४२ लाख प्रति वर्ष की रफ्तार से बढ़ रही थी। अतः इन सब परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुये पहली पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई। सर्व प्रथम कुल

योजना २०६९ करोड़ रुपये की प्रस्तुत की गई और आगे चल कर उसे २३५६ करोड़ रुपये तक कर दिया गया।

योजना की मुख्य मदें

(करोड़ रुपये में)

	वितरित	कुल का प्रतिशत	वास्तविक व्यय जो हुआ
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	३५४	१४.९	२९९
२. सिंचाई तथा शक्ति	६४७	२७.२	५८५
३. उद्योग तथा खनिज	१८८	७.९	१००
४. यातायात संदेशवाहन	५७१	२२.०	५३२
५. सामाजिक सेवायें	५३२	२४.४	४२३
६. विभिन्न	८६	३.६	७४
योग	२,३७८	१००.०	२०१३

इन उपर्युक्त आँकड़ों से पता चलता है कि पहली पंचवर्षीय योजना सर्वांगीण होते हुए भी कृषि-विकास, तथा सिंचाई और शक्ति पर जोर देती थी, क्योंकि इन्हीं दो मदों को अन्य मदों पर विशेष प्राथमिकता दी गई थी। इन मदों से सम्बन्धित यातायात तथा संदेशवाहन और सामाजिक सेवा में भी प्रमुख सथन दिया गया। इस अवधि में औद्योगिक प्रगति को सरकार ने निजी क्षेत्र के लिए उपयुक्त समझा और सरकारी क्षेत्र में १८८ करोड़ रुपये व्यय के लिए निश्चित किए गये।

इतनी बड़ी धन राशि का प्रबन्ध निम्नलिखित साधनों को जोड़ कर पूरा किया गया :—

			कुल का प्रतिशत
१. कर तथा रेल	७५२	करोड़ रुपये	३८
२. बाजार तथा उधार पूंजी	२०५	,,	१०
३. अल्प बचत	३५७	,,	१६
४. अन्य पूंजी (आय)	९१	,,	५
५. विदेशी सहायता	१८८	,,	१०
६. घाटे का अर्थ-प्रबन्ध	४२०	,,	२१
	२०१३		१००.०

प्रगति तथा सफलता—इस योजना का स्वागत जनता के द्वारा बडे उत्साह से किया गया और देश के भीतर एक नई चेतना तथा खनिज विकास की ओर आशा-मय भावना प्रतिलक्षित हुई। इस योजना के दो प्रमुख उद्देश्यों—(क) युद्धजनित कुव्य-वस्था तथा देश विभाजन से होने वाली हानि को दूर करना, (ख) एक ऐसी सर्वांगीण अर्थव्यवस्था का प्रबन्ध करना, जिससे राष्ट्रीय आय और जीवन स्तर में वृद्धि हो, को

योजना के प्रारम्भ में कोई आशातीत सफलता न मिली किन्तु अन्तिम काल में अधिकांश लक्ष्यों तक पहुँचने में सफलता मिली और किन्हीं क्षेत्रों में तो अंक लक्ष्य से भी ऊपर निकल गये।

कृषि उत्पादन के क्षेत्र में १९५६ में पर्याप्त सफलता मिली। इस अवधि में ३० लाख टन से खाद्यानों में वृद्धि हुई। कपास, जूट, तिलहन के उत्पादन में वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन में ४०% की वृद्धि हुई। चीनी, साइकिलें, सिलाई की मशीनों में हम लोग अपने लक्ष्यों से भी ऊपर चले गये। सीमेंट का उत्पादन २०७ लाख टन बढ़ा और रासायनिक पदार्थों में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। योजना के प्रारम्भ काल में देश में केवल २·३ मिलियन किलोवाट बिजली पैदा होती थी जो आगे चलकर ३·४ मिलियन किलोवाट तक पहुँची कुल मिलाकर १५८७ रेल इंजिन, ४६१४३ डिब्बे, तथा ६१,२५४ यात्री-डिब्बे बनाये गए। ३८० मील लम्बी रेल की नई लाइन बिछाई गई।

प्राइमरी स्कूलों की संख्या १८·७ लाख से बढ़ कर २४·८ लाख तक पहुँच गई। टेकनीकल शिक्षा के क्षेत्र में २७०० से बढ़ कर ४००० इन्जिनियरों ने शिक्षा प्राप्त की। राष्ट्रीय आय में १७·५% की वृद्धि का अनुमान लगाया गया। यातायात संदेश वाहन में १८·२% तथा १८·६% वृद्धि हुई। औसत आय प्रति व्यक्ति १०·५% बढ़ी।

इस अवधि के समाप्त होने पर एक उसी प्रकार की दूसरी पंचवर्षीय योजना का श्रीगणेश किया गया। चूँकि यह योजना पहली वाली योजना का विस्तार है अतः इस योजना का आकार तथा लक्ष्यों में बड़ा होना उपयुक्त ही है। इस योजना का प्रारूप डा० महलानोंविस द्वारा प्रस्तुत किया गया था और विभिन्न कमेटियों तथा अर्थशास्त्रियों के विचार विमर्श के बाद इसका प्रकाशन १९५६ में हुआ जिसे देश की लोक सभा ने स्वीकृति प्रदान की तथा योजना को प्रारम्भ करने का आदेश दिया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

इस योजना का उद्देश्य ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण, देश की औद्योगिक प्रगति के लिए नींव रखना, देश की निर्धन तथा बेरोजगार जनता के लिए समुचित अवसरों का खोलना तथा देश में समाजवादी ढंग की अर्थव्यवस्था की स्थापना करना है। इसके अतिरिक्त सामाजिक लाभ की कल्पना, राष्ट्रीय आय में अनुपातिक वृद्धि तथा आय और धन में समानता का लाभ भी इसके उद्देश्यों से सम्बन्धित कर दिये गये।

इस योजना में इस बात पर भी विशेष ध्यान दिया गया है कि हमारा त्राण द्रुत गति से होने वाले औद्योगिक विकास में ही निहित है, जिसके लिये भारी मशीनरी के कारखानों की स्थापना करना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है।

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह दूसरी पंचवर्षीय योजना १ अप्रैल

१९५६ को प्रारम्भ की गई और निम्नलिखित लक्ष्यों तक पहुँचने के लिये प्रयत्न किये गये।

(१) देश की जनता के जीवन स्तर में वृद्धि और राष्ट्रीय आय में २५% की वृद्धि।

(२) लोहा, इस्पात, कोयला, सीमेंट, भारी मशीनरी वाले उद्योग, खाद तथा रसायनिक कारखानों की स्थापना तथा लघु उद्योगों को प्रोत्साहन।

(३) १०० लाख व्यक्तियों के लिये रोजगार का प्रबन्ध।

(४) धन का अधिक समान वितरण

व्यय की मुख्य मदें (सरकारी क्षेत्र)

(करोड़ रुपये में)

	अनुमानित व्यय	संशोधित व्यय	(४६०० के भीतर)
१. कृषि एवं सामुदायिक विकास	५६८	५६८	५१०
२. सिंचाई एवं शक्ति	९१३	८६०	९२०
३. ग्रामोद्योग	२००	२००	१६०
४. उद्योग एवं खनिज	६९०	८८०	७९०
५. यातायात संदेशवाहन	१३८५	१३४५	१३४०
६. सामाजिक सेवायें	९४५	८६३	८१०
७. विभिन्न	९९	८४	७०
	४८००	४८००	४६००

निजी क्षेत्र में

(करोड़ रुपये में)

१. व्यवस्थित उद्योग और खनिज	५७५
२. बागात, बिजली और यातायात	१२५
३. निर्माण	१०००
४. कृषि, गाँव, लघु उद्योग	३००
५. अन्य	४००
	कुल २४०० करोड़ रुपये

सरकारी क्षेत्र में योजना की पूर्ति के साधन

(करोड़ रुपये में)

१. मौजूदा आय का आधिक्य	८००
२. जनता से कर्ज	१२००
३. रेल तथा अन्य फण्ड	४००
४. विदेशी सहायता	८००
५. घाटे की अर्थ-व्यवस्था	१२००
६. कमी	४००
	४८००

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सफलतायें

द्वितीय योजना में भारी उद्योगों पर बल दिया गया था। इस दिशा में इन पाँच वर्षों के भीतर देश ने भारी प्रगति की है। इस काल में स्टील के तीन बड़े कारखाने क्रमशः भिलाई, रूरकेला और दुर्गापुर में निर्माण किये गये हैं तथा उनमें उत्पादन आरम्भ हो गया है। इससे हमारी भारी यंत्र बनाने की समस्या बहुत सीमा तक हल हो गई है। इसी काल में रासायनिक खाद के दो नये कारखाने खोले गये है। एक भारी सफलता यह हुई है कि लिगनाइट कोयले की खानों व तेल के नये खंभात क्षेत्र की खोज की गई है तथा उन क्षेत्रों में उत्पादन चालू हो गया है, इससे हमारी शक्ति की समस्या हल होगी। इस काल में हमने चीनी और सीमेंट में बाहर से होने वाला आयात ही बन्द नहीं किया है वरन् हम इस स्थिति में आ गये हैं कि हम इन पदार्थों को विदेशों में निर्यात करके विदेशी मुद्रा कमा सकें।

द्वितीय योजना काल में प्रति व्यक्ति औसत आय में १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इतना ही नहीं कुल एक करोड़ अतिरिक्त लोगों को नये रोजगार भी मिले हैं जिनमें से ८० लाख रोजगार खेती के अतिरिक्त धंधों में प्राप्त हुए हैं। खेती के क्षेत्र में उपज में आशातीत वृद्धि हुई है जो १९५१ की अपेक्षा ड्योढ़ी के लगभग है।

देश के भीतर लगभग ३१०० विकास खंडों के अन्तर्गत लगभग ४ लाख गाँव आ गये हैं जिनमें लगभग २० करोड़ भारतीय निवास करते हैं। सहकारी-समितियों की संख्या भी १ लाख ५ हजार से बढ़कर १ लाख ८५ हजार हो गई है। इनकी सदस्य संख्या १ करोड़ २० लाख के लगभग है। इस काल में ग्राम पंचायतों की संख्या ८३००० से बढ़कर १ लाख ७८ हजार हो गई है। सिंचाई का क्षेत्र ७ करोड़ एकड़ हो गया है तथा २ करोड़ २० लाख एकड़ बंजर भूमि को खेती के योग्य बना लिया गया है।

जहाँ तक दूसरे उद्योगों का प्रश्न है उनमें भी आशा के अनुरूप वृद्धि हुई है। पिछले १० वर्षों में हमारे स्टील का उत्पादन १० लाख टन से बढ़कर ४५ लाख टन हो गया है। सूती कपड़े का उत्पादन ३ अरब ७२ करोड़ गज से बढ़कर ५ अरब गज हो

गया है तथा चीनी का उत्पादन दो गुने से भी अधिक हुआ है। जहाँ हम १० साल पहले १०१००० बाइसिकलें बनाते थे वहाँ १९६१ में हमारे देश के भीतर १०५०००० साइकिलें बन रही हैं। मोटर-गाड़ियों की संख्या १६५०० से बढ़कर ५३५०० हो गई है।

१९५१ में हमारे देश में कुल ८२०० रेलवे इन्जिन थे जबकि १९६१ में उनकी संख्या १० हजार हो गई है। इसी प्रकार पक्की सड़कें ९७५०० मील से बढ़कर १९६१ में १,४४,००० मील लम्बी हो गई हैं। दस वर्षों में डाकघरों व तारघरों की संख्या भी दो गुनी हो गई है तथा टेलीफोन तो तीन गुने हो गये हैं। १९५१ में हमारे देश में कुल साढ़े पाँच लाख रेडियो सैट थे जबकि १९६१ में उनकी संख्या १९ लाख के लगभग हो गई है।

इसी प्रकार सब क्षेत्रों मे देश ने प्रगति की है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय १ खरब ४५ अरब रुपये वार्षिक हो गई है। अगले पाँच वर्षो के बाद यह १ खरब ९० अरब रुपये हो जायेगी। प्रति व्यक्ति औसत आमदनी १९६१ में ३३० वार्षिक है।

यदि हमारे प्रयत्न अधिक ईमानदारी के साथ चले तो तृतीय योजना की पूर्ति तक हम एक सशक्त राष्ट्र का रूप ग्रहण कर लेंगे।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

भारतीय योजना आयोग ने ८ अगस्त १९६१ को संसद में भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना का अन्तिम प्रारूप रखा। योजना ७७० पृष्ठों का एक विशाल आलेख है उस में निम्न उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है—

१. प्रतिवर्ष राष्ट्रीय आय में पाँच प्रतिशत की वृद्धि के लिये व्यवस्था करना।

२. खाद्यान्नों के उत्पादन में आत्म निर्भरता प्राप्त करना तथा उद्योग व निर्यात की आवश्यकताओं को पूरा करना।

३. स्टील रसायनिक उद्योग, ईंधन व बिजली सरीखे मूल उद्योगों का विस्तार करना तथा यंत्र बनाने के उद्योगों की स्थापना करना, जिससे कि आने वाले दस वर्षों या इसके निकटतम काल के भीतर देश के निजी साधनों के आधार पर आगे होने वाले औद्योगीकरण की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके।

४. देश के भीतर उपलब्ध मानवीय श्रम की शक्ति का पूरी मात्रा में उपयोग करना तथा रोजगार की सम्भावनाओं में पर्याप्त विस्तार करना।

५. क्रमशः सबके लिये अवसर की अधिकाधिक समानता की स्थापना करना, आय व सम्पत्ति की असमानताओं को कम करना तथा आर्थिक साधनों का अधिक सम-वितरण।

इन लक्ष्यों की सिद्धि के लिये यह आवश्यक माना गया है कि राज्य के भीतर विभिन्न क्षेत्रों में एक न्यूनतम विकास हो। इस विकास के लिये न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर भौतिक विकास का कार्यक्रम योजना द्वारा निर्धारित किया गया है।

लक्ष्यों की समीक्षा—योजना ने अपने प्रयोजनों को बहुत अधिक स्पष्ट रूप

में घोषित किया है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। योजना ने यह निश्चय किया है कि भारत के नागरिकों को जीवन के विकास और उसके लिये आवश्यक साधनों को प्राप्त करने के अधिकाधिक समान अवसर प्राप्त होने चाहिय। इस प्रकार हमारी योजना समाजवाद की स्थापना की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

यहाँ यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए कि किसी भी देश के योजना-बद्ध विकास के लिये यह आवश्यक होता है कि उस देश की समूची जनता अपनी सारी शक्ति लगाकर योजना को निश्चित काल के भीतर पूरा करे। जहाँ तक जनता के सक्रिय सहयोग का सवाल है उसके लिये यह आवश्यक होता है कि जनता के साधारण से साधारण व्यक्ति को यह विश्वास होना चाहिए कि योजना की सफलता का अर्थ उसके जीवन के लिये आवश्यक सामग्री प्राप्त होना, उसके बच्चों के लिये शिक्षा और रोजगार के अधिक अवसर उपलब्ध होना, तथा देश की रक्षा-व्यवस्था का अधिक दृढ़ होना है। योजना ने इन लक्ष्यों की ओर ध्यान दिया है तथा उसने आर्थिक समानता और धन के समवितरण को अपना लक्ष्य बनाया है। इसे हम योजना के निर्माताओं की दूरदर्शिता मान सकते हैं।

योजना का स्वरूप—योजना में बताया गया है कि अगले पाँच वर्षों में कुल १ खरब और १६ अरब रुपया व्यय किया जायेगा, जिसमें से ७५ अरब रुपया सरकार के द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय किया जायेगा और ४१ अरब रुपया जनता और पूँजीपतियों द्वारा निजी क्षेत्र में व्यय किया जायेगा।

सरकार पाँच वर्षों में ७५ अरब रुपये को इस प्रकार व्यय करेगी :—

(रुपया करोड़ों के अंकों में प्रदर्शित किया गया है)

व्यय की मद	राज्यों में व्यय	संघ-शासित प्रदेशों में व्यय	संघ-सरकार द्वारा व्यय	प्रयोग
१. खेती व सामुदायिक विकास	९१९	२४	१२५	१०६८
२. सिंचाई	६३०	२	१८	६५०
३. बिजली-शक्ति	८८०	२३	१०९	१०१२
४. ग्रामीण व लघु उद्योग	१३७	४	१२३	२६४
५. संगठित उद्योग व खनिज	७०	अत्यल्प	१४५०	१५२०
६. यातायात व संचार	२२६	३५	१२२५	१४८६
७. सामाजिक सेवायें	८६३	८७	३५०	१३००
८. अनुसंधान	...	...	२००	२००
योग	३७२५	१७५	३६००	७५००

एक बात बहुत ध्यान देने योग्य है कि तीसरी योजना में यह ध्यान रखा गया है कि अधिक से अधिक धन लागत के रूप में व्यय हो तथा प्रबन्ध पर कम से कम व्यय किया जाये। ७५०० करोड़ रुपये में से केवल १२०० करोड़ रुपया प्रबन्ध व सहायतानुदान आदि पर व्यय किया जायेगा तथा शेष ६३०० का विनियोग पूँजी या लागत के रूप में किया जायेगा।

सरकारी क्षेत्र में तीसरी योजना की राशि प्रथम और द्वितीय योजनाओं पर व्यय होने वाली राशियों के योग से भी अधिक है।

इस योजना काल में यह आशा रखी गई है कि योजना की पूर्ति के वर्ष अर्थात् १९६६ में खाद्यान्नों का उत्पादन १०० करोड़ टन हो जायेगा जबकि वर्तमान समय में वह केवल ७६ करोड़ टन है। इसी प्रकार तिलहन में ३८ प्रतिशत, गन्ने में २५ प्रतिशत, कपास में ३७·२ प्रतिशत, जूट में ५५%, नारियल में १७·२,%काजू में १०५·५ प्रतिशत, चाय में २४·१ प्रतिशत, काफी में ६७·७ प्रतिशत तथा रबड़ के उत्पादन में ७०·५ प्रतिशत की वृद्धि होगी।

अनाज के संग्रह के लिए लगभग २५ करोड़ रुपये गोदाम बनाने पर व्यय किये जायेंगे, जिसके परिणाम-स्वरूप वर्तमान समय में होने वाली बर्बादी रुक जायेगी और अनाज में हम आत्म निर्भरता की मर्यादा को पार करके निर्यात करने के योग्य बन जायेंगे। इस काल में चार बड़ी सिंचाई योजनायें आरम्भ की जायेंगी जिन पर लगभग ५९० करोड़ रुपया व्यय होगा और जो २५६ लाख एकड़ के अतिरिक्त क्षेत्र में सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध करा देंगी। लगभग १७७ करोड़ रुपया सरकार छोटी सिंचाई योजनाओं पर व्यय करेगी। यह भी आशा की जाती है कि स्थानीय प्रयत्नों से भी सिंचाई के क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि होगी।

यातायात के क्षेत्र में तीसरी योजना काल में महान् प्रगति की आशा रखी गई है। चित्तरंजन के लोकोमोटिव कारखाने को बिजली के रेलवे ऐंजिन बनाने के कारखाने में परिवर्तित किया जा रहा है, इसके अतिरिक्त १२ करोड़ रुपया डिजेल-ऐंजिन बनाने पर व्यय किया जायेगा। १९६६ तक १२०० मील लम्बी नई लाइनें बिछाने का संकल्प किया गया है। सड़कों के विस्तार की योजना भी बनाई गई है और आशा की जाती है कि १९६६ तक व्यावसायिक-वाहनों की संख्या २ लाख से बढ़कर ३ लाख ६५ हजार हो जायेगी। नदियों को यातायात के लिए प्रयोग करने की योजना है तथा समुद्री मार्गों के विकास और यातायात के लिए ५५ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। इस काल में १३·५ करोड़ रुपये के नये हवाई जहाज बनाये व खरीदे जायेंगे तथा १ करोड़ रुपया हवाई सुविधाओं व मार्गों के विकास पर व्यय होगा।

समाचार व सन्देश भेजने के साधनों के विकास पर लगभग ७७ करोड़ ५० लाख रुपया व्यय होगा, दो लाख नये टेलीफोन लगेंगे और १७ हजार नये डाकघर खुलेंगे। इसके अतिरिक्त ऋतु-विज्ञान शालाओं पर ३ करोड़ रुपया व्यय होगा तथा अनुमान किया जाता है कि तीसरी योजना पूरी होने तक ५५ मीडियम वेव व दो शार्ट वेव

ट्रान्समीटर लगाये जायेंगे, तथा ३२००० नये रेडियो सैट सामुदायिक विकास के सिल सिले में लगाये जायेंगे।

उद्योग— सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में मिलाकर ३० अरब रुपया उद्योगों व खनिजों पर व्यय होगा। इसमें यंत्र बनाने व उत्पादन में सहायता देने वाले सामान को बनाने वाले उद्योगों पर अधिक बल दिया जायेगा। इनमें स्टील सर्वप्रमुख है।

कपड़े का लक्ष्यांँक १९६६ तक में ९ अरब ३० करोड़ गज माना गया है जिसमें से ३ अरब ५० करोड़ गज का उत्पादन खादी व हाथकरघे के द्वारा होगा। कागज का उत्पादन तीसरी योजना काल में दोगुना हो जायेगा और १९६६ में हम ८ लाख २० हजार टन कागज का उत्पादन करेंगे। चीनी के उत्पादन के क्षेत्र में ३५ लाख टन वार्षिक के हिसाब से अतिरिक्त उत्पादन की व्यवस्था की जायेगी।

शिक्षा—तीसरी योजना काल में शिक्षा पर सरकारी और दूसरे स्रोतों से कुल ५ अरब रुपया व्यय होगा। इस काल में २ करोड़ अधिक विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करके तैयार होंगे। इस काल में ३२७० नये हायर सेकेन्ड्री स्कूल व ३=१ नये मल्टीपरपज स्कूल खुलेंगे,। ५७७६० स्कूलों को बुनियादी स्कूलों में परिवर्तित किया जायेगा तथा शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या १४२४ हो जायेगी जिनमें प्रतिवर्ष २ लाख शिक्षकों को प्रशिक्षण मिलेगा। इस समय वर्तमान ४६ विश्वविद्यालयों को दृढ़ बनाया जायेगा और ६ नये विश्वविद्यालय खोले जायेंगे तथा प्रतिवर्ष लगभग ८० कालेज खोले जायेंगे। विज्ञान में ७ हजार विद्यार्थियों को स्नातकोत्तर शिक्षण दिया जायेगा व १००० विद्यार्थी विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य करेंगे। महिलाओं की शिक्षा पर १ अरब ७५ करोड़ रुपया व्यय होगा जिनमें से ११४ करोड़ रुपया प्राइमरी और मिडिल स्तर की शिक्षा के लिए होगा। छात्रवृत्तियों की राशि १८ करोड़ से बढ़कर ३७ करोड़ हो जायेगी, जिसमें से ६ करोड़ विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये, ८ करोड़ इंजीनियरिंग व तकनीकी विद्यार्थियों के लिए व ११ करोड़ पिछड़े वर्गों के बच्चों के लिए होगा।

रोजगार की सम्भावनाएँ—भारत की आबादी तेजी के साथ बढ़ रही है और किसी भी योजना के लिए यह एक भारी चुनौती है कि वह इस बढ़ती हुई आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करे तथा उसके लिए रोजगार का प्रबंध करे। तीसरी योजना ने अनुमान लगाया है कि उसके पूरा होने तक भारत में १ करोड़ ४० लाख नये रोज-गार पैदा होंगे जिनमें से साढ़े तीन लाख खेती के क्षेत्र में और शेष अन्य क्षेत्रों में होंगे।

राष्ट्रीय-आय में वृद्धि—पिछली दो योजनाओं के परिणाम-स्वरूप हमारी राष्ट्रीय आय में ४२ अरब ६० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। तीसरी योजना हमारी आय में अकेले ही ४५ अरब रुपये की वृद्धि करेगी। १९६६ में हमारी राष्ट्रीय आय १ खरब और ९० अरब रुपये हो जायेगी। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि इस

समय हमारी आबादी ४३ करोड़ ८० लाख है और उस समय वह ४९ करोड़ २० लाख के लगभग होगी।

प्रति व्यक्ति औसत आमदनी जो इस समय ३३० रुपया है। १९६६ में ३८५ रुपये हो जायेगी।

विदेशी मुद्रा और विदेशी सहायता—कुल योजना के लिए हमें कम से कम ५७ अरब ५० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी जिसमें से हम ३१ अरब ५० करोड़ विदेशी निर्यात से कमा लेंगे। शेष २६ अरब रुपये की विदेशी सहायता की आवश्यकता हमें आने वाले पाँच वर्षों में रहेगी, हमें आशा है कि संसार के समृद्ध देश हमें यह सहायता प्रदान करेंगे, इसका एक बड़ा अंश संयुक्त राज्य अमेरिका से मिलने की सम्भावना है। इस राशि में से ३ अरब ६५ करोड़ विदेशी मुद्रा हमें द्वितीय योजना से बचने के कारण मिल गई है और १० अरब ८९ करोड़ रुपया एड-इंडिया क्लब के द्वारा प्राप्त होने का आश्वासन मिल गया है। योजना का शेष व्यय हम अपने देश से प्राप्त करेंगे जिसके लिए लगभग १७ अरब १० करोड़ रुपये के नये कर लगाये जायेंगे।

योजना और हम

योजना की सफलता भारत के लिए जीवन और मरण का प्रश्न है अत: हममें से प्रत्येक नागरिक का धर्म है कि वह योजना को सफल बनाने के लिये ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करे और अधिक से अधिक परिश्रम व कम से कम व्यय का प्रण करे।

योग्यता प्रश्न

१. भारत की आर्थिक समस्याओं का वर्णन कीजिए और उनका हल बताइये।
What are the economic problems of India and how would you solve them ?

२. भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना और उससे होने वाली प्रगति का वर्णन कीजिए।
Give an account of the First Five-Year Plan and describe the progress attained by India through it.

३. द्वितीय पंचवर्षीय योजना' और उसकी सफलता का वर्णन कीजिए।
Describe the Second Five-Year Plan and Give an account of its success.

४. भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना का वर्णन कीजिए।
Give an account of the Third Five-Year Plan of India.

अध्याय १८

भारत में शिक्षा

"ज्ञान तो पूरा और निश्चित होना चाहिए, संशय युक्त नहीं होना चाहिए। वास्तव में जो विद्या होती है उसे मनुष्य भूलता नहीं, जिसे भूलता है वह विद्या नहीं है।"
—महर्षि विनोबा

शिक्षित नागरिक देश की सबसे बड़ी सम्पत्ति हैं। शिक्षा मनुष्य की सोई हुई शक्तियों को जाग्रत करके उसे परिपूर्ण मानव बनाती है। आज हम औद्योगिक युग में जी रहे हैं। हमारा सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन अत्यन्त जटिल तथा विकसित हो गया है, इसे समझने के लिए तथा इसमें भाग लेने के लिए यह आवश्यक है कि हम में से प्रत्येक मनुष्य भली प्रकार शिक्षा प्राप्त करें।

हमारे देश में ही नहीं अपितु प्रायः समस्त संसार ने जनतन्त्र की स्थापना की है। जनतंत्र का अर्थ है जनता का शासन। शिक्षित और बुद्धिमान जनता जनतंत्र की सफलता का मूल आधार है। आर्थिक दृष्टि से भी शिक्षा बहुत महत्वपूर्ण है। जब तक मनुष्य भली प्रकार शिक्षित न हो तब तक वह किसी भी धन्धे में सफल नहीं हो सकता।

शिक्षा का अर्थ केवल पढ़ना लिखना नहीं है। मनुष्य जब कर्म व ज्ञान की कुशलता प्राप्त कर लेता है तब हम उसे शिक्षित कहते हैं। शिक्षा की एक कसौटी यह भी है कि वह मनुष्यों को सहनशील, क्षमाशील, उदार और नम्र बनाती है। कहते हैं—विद्या ददाति विनयं। विद्या विनय (नम्रता) प्रदान करती है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में जिस प्रकार की शिक्षा प्रचलित है उसके द्वारा न तो हम नम्रता ही सीख रहे हैं, न हमारे भीतर मनुष्य के प्रति प्रेम ही पैदा हो रहा है। हम अधिकाधिक स्वार्थी बनते जा रहे हैं। शिक्षा-पद्धति में बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा है। सम्भव है भविष्य में हमारे देशवासी आदर्श-शिक्षा प्राप्त कर सकें।

प्रारम्भिक शिक्षा ((Primary Education)—६ से ११ वर्ष तक के बच्चों को प्रारम्भिक विद्यालयों में अक्षर ज्ञान से लेकर भाषा एवं गणित, इतिहास तथा भूगोल का सामान्य ज्ञान दिया जाता है। आजकल इन विद्यालयों को बेसिक स्कूल तथा बुनियादी पाठशाला कहा जाता है क्योंकि यह महात्मा गांधी द्वारा रक्खी गई बुनियादी शिक्षा-पद्धति की अपूर्ण, असम्बद्ध एवं अनमने-पन से की गई नकल

पर चलने वाले विद्यालय हैं। बुनियादी शिक्षा के बारे में हम इस अध्याय के अंत में वर्णन करेंगे।

भारत में १९५८-५९ में ऐसे २,९९,२२० सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त विद्यालय थे।

माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education)—माध्यमिक शिक्षा के दो स्तर हैं—(१) पूर्व माध्यमिक और (२) उत्तर माध्यमिक। पूर्व माध्यमिक शिक्षा मैट्रिक्युलेशन-परीक्षा तक की शिक्षा है—इसके दो भाग हैं (क) जूनियर हाई स्कूल व (ख) हाई स्कूल। अर्थात् कक्षा ८ तक मिडिल विद्यालयों में व कक्षा १० तक हाई स्कूलों में। उत्तर माध्यमिक इण्टरमीडियेट शिक्षा का ही दूसरा नाम है। इसके बाद विश्व-विद्यालय की शिक्षा का आरम्भ होता है। भारत में ५३,३०२ मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालय १९५८-५९ में थे। कई राज्यों में हाई स्कूल में एक वर्ष और जोड़कर हायर सैकेन्ड्री तक की व्यवस्था की गई है।

विश्वविद्यालय शिक्षा (University Education)—भारत में १९६० में ४३ विश्वविद्यालय हैं—आगरा, अलीगढ़, इलाहाबाद, बनारस, संस्कृत वि० वि० वाराणसी, लखनऊ, गोरखपुर, रुड़की, दिल्ली, पंजाब, पटना, राँची, बिहार, कलकत्ता, विश्व-भारती, गोहाटी, उत्कल, नागपुर, सागर, आन्ध्र, अन्नामलाई, वेंकेटेश्वर, बड़ौदा, पूना, गुजरात, बम्बई, कर्नाटक, मद्रास, मैसूर, उस्मानिया (हैदराबाद), जबलपुर, जादवपुर, जम्मू व काश्मीर, केरल, महिला वि० वि० बम्बई, राजस्थान, कुरुक्षेत्र, विक्रम, वल्लभनगर। भागलपुर,बर्दवान, संगीत वि० वि० खैरागढ़, औरंबाद, इनकेअतिरिक्त कुछ अन्य विश्वविद्यालय खोलने की योजना भी है, जिनमेंजोधपुर व पंजाबी विश्वविद्यालय भी हैं।

ये विश्वविद्यालय तीन प्रकार के है—

शैक्षिणिक विश्वविद्यालय (Teaching or Residential) (२) परीक्षण-प्रधान विश्वविद्यालय (Examining or Affiliating Universities) तथा (३) शैक्षणिक व परीक्षण विश्वविद्यालय।

शैक्षणिक विश्वविद्यालय—ऐसे विश्वविद्यालय होते है जिनमें प्रत्यक्ष शिक्षा दी जाती है जैसे इलाहाबाद विश्वविद्यालय। इन्हें आवासात्मक अथवा रेजीडेन्शियल का विशेषण दिया जाता है, क्योंकि इनमें विद्यार्थी रहकर पढ़ते हैं।

इसके विपरीत परीक्षण प्रधान विश्वविद्यालयों में प्रत्यक्ष शिक्षा नहीं दी जाती है वरन् वे केवल एक प्रकार के नियामक मंडल (Control Board) जैसे होते हैं जो पढ़ाई का पाठ्यक्रम निर्धारित करते तथा विद्यार्थियों की परीक्षा लेते हैं उनकी ओर से प्रत्यक्ष कार्य उनसे सम्बन्धित (Affiliated) विविध विद्यालय करते है, जैसे—आगरा विश्वविद्यालय।

तीसरी कोटि में वह विश्वविद्यालय आते हैं जो स्वयं प्रत्यक्ष शिक्षण का कार्य तो करते ही हैं अनेक सम्बन्धित विद्यालयों में निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर परीक्षाओं का संचालन भी करते हैं:—जैसे लखनऊ विश्वविद्यालय।

विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम को सामान्यतया इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है—कला, विज्ञान, वाणिज्य तथा प्रौद्योगिक शिक्षण। यह शिक्षा तीन स्तरों पर होती है (१) डिग्री स्तर—बी० ए०, बी० कॉम, बी० एससी०, (२) पोस्ट ग्रेजुएट स्तर—एम० ए०, एम० कॉम, एम० एससी०, तथा (३) डाक्ट्रेट—पीएच० डी० डी० लिट०, डी० एससी०।

प्राद्योगिक शिक्षण में वकालत (एलएल० बी०, एलएल० एम०, एल एल० डी०), डाक्टरी (एल० एम० पी०, एल० एस० एम० एफ०, एम० बी०, एम० बी० बी० एस० इत्यादि) इंजीनियरिंग (बी० ई०, एम० ई०, ओवरसियर, सी० ई० आदि) इत्यादि विषयों की शिक्षा होती है। यह धन्धों की शिक्षा है।

इसके अतिरिक्त देश में प्रौढ़ शिक्षा तथा अपंगों की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। प्रौढ़ शिक्षा के लिए दृश्य-श्रव्य शिक्षा (Audo-visual) का विकास किया जा रहा है, प्रौढ़ों को भाषणों और मेजिक-लैन्टर्न द्वारा तस्वीरों के प्रदर्शन से शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा है। लगभग ५१,००० विशेष प्रकार के विद्यालय आज चल रहे हैं।

धन्धों की शिक्षा के लिए पचास और गूंगे-बहरे बच्चों के लिए लगभग ४२ विद्यालय हैं। मानसिक दृष्टि से अविकसित बच्चों के लिए भी पश्चिमी बंगाल और बम्बई में दो विद्यालय चलते है।

साहित्य और कला—स्वाधीनता के उपरान्त साहित्य और कला के विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। संघ सरकार ने तीन संस्थाओं का निर्माण किया है—(१) — साहित्य-अकादमी, (२) संगीत नाटक अकादमी, (३) ललित कला अकादमी।

इस विषय में निम्न प्रगति हुई है—

(१) जयपुर भवन, नई दिल्ली में राष्ट्रीय कला-भवन की स्थापना।

(२) विविध भारतीय भाषाओं के विद्वानों को सरकारी आर्थिक सहायता का आश्वासन।

(३) फिल्म-पारितोषिकों का आरम्भ।

(४) प्रादेशिक नाटकों की प्रतियोगिता। आशा है कि ये अकादमी इस दिशा में काफी उन्नति कर सकेंगी।

इसके अतिरिक्त हमारे देश में विश्वविख्यात एवरेस्ट-विजेता श्री तेनसिंह की अध्यक्षता में दार्जिलिंग पर एक पर्वतारोहण-संस्था (Mountaineering Training Institute) खोली गई है। देश में खेल-कूद के शिक्षण की समुचित व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है।

विज्ञानशालायें—संघ सरकार तथा अन्य संस्थाओं ने वैज्ञानिक-अनुसंधान और लोक-शिक्षण की दृष्टि से अनेक गवेषणा केन्द्र तथा प्रयोगशालायें स्थापित की हैं, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—जूलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (कलकत्ता), रमन रिसर्च इन्स्टीट्यूट (बैंगलौर), फिजिकल रिसर्च लैब्रोरेटरी (अहमदाबाद), नेशनल

फिजिकल लेबोरेटरी (दिल्ली), नेशनल केमिकल लेबोरेटरी (पूना), मलेरिया इन्स्टीट्यूट आफइण्डिया (दिल्ली), जूट एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट (बारकपुर), इण्डियन लाख रिसर्च इन्स्टीट्यूट (रांची), इण्डियन इन्स्टीट्यूट फार मेडिकल रिसर्च (कलकत्ता), इण्डियन सेन्ट्रल काटन कमेटी टेकनालाजिकल लेबोरेटरी (बम्बई), इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ शुगर टेकनालॉजी (कानपुर), इण्डियन इन्स्टीट्यूट आफ साइन्स (बंगलौर), इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट (बैंगलौर), इण्डियन कैनसर रिसर्च सेंटर (बम्बई), हारकोर्ट बटलर टेकनालाजीकल इन्स्टीट्यूट (कानपुर), गवर्नमेंट टैक्सटाइल इन्स्टीट्यूट (कानपुर), फोरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट (देहरादून), सेंन्ट्रल लाइव स्टॉक रिसर्च एण्ड ब्रीडिंग स्टेशन (नादिया), सेंट्रल राइस रिसर्च इन्स्टीट्यूट (कटक), सेंट्रल बिल्डिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट (रुड़की) ।

शिक्षा का माध्यम

भारतीय संविधान में हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया है। परन्तु माध्यमिक शिक्षा तक शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषा को माना गया है और हिंदी को एक गौण विषय रखा है। उच्च शिक्षा में आज कुछ विश्वविद्यालयों को छोड़कर अधिकाँश अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देते हैं। १९६५ में हिन्दी मुख्यतः इस पद को प्राप्त कर लेने वाली है। तब प्रारम्भिक और माध्यम शिक्षा प्रादेशिक भाषा में तथा उच्च शिक्षा हिन्दी चलेगी।

आधुनिक प्रयोग

आधुनिक शिक्षा में सुधार करने की दृष्टि से कुछ नूतन प्रयोग किये गये हैं उनका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ किया जायगा—बाल शिक्षा की दृष्टि से—मांटेसरी पद्धति व किंडर गार्टन प्रणाली; सम्पूर्ण थिक्षा की दृष्टि से—बुनियादी शिक्षा प्रणाली।

मांटेसरी पद्धति—इसमें बच्चे के मनोविज्ञान का अध्ययन करके उनको पदार्थ पाठ द्वारा शिक्षा दी जाती है। उस पर शिक्षा का दबाव नहीं डाला जाता, खिलौनों और अन्य पदार्थ साधनों के द्वारा समूचा शिक्षण होता है। इसमें बच्चे को डांटना या ताड़ना, पीटना वर्जित है। उससे अपनी रुचि और शक्ति के प्रदर्शन का पूरा अधिकार रहता है। यह पद्धति बहुत अधिक खर्चीली है तथा बच्चों में एक प्रकार की नवाबी पैदा कर देती है जो आगे उनके शिक्षण और विकास में बाधक होती है।

किंडर गार्टन—इस प्रणाली में लकड़ी के अक्षरों के टुकड़ों को मिलाने और जोड़ने की क्रिया द्वारा सहज ही खेल खेल में बच्चों को शिक्षा दी जाती है। यह पद्धति भारत में अधिक प्रचलित नहीं हो पाई है। इसमें संशोधन करके दिल्ली में नये प्रकार के हैप्पी-स्कूल चलाये जाते है।

शांति निकेतन शिक्षा पद्धति-- गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक विद्वान् साहित्यक थे। उन्हें पुरानी शिक्षा पद्धति से गहरी चिढ़ थी। उन्होंने विश्वभारती नामक विश्वविद्यालय की स्थापना की। विश्वभारती आदि संस्थायें जिस आश्रम की अभिन्न

अंग हैं उसे शान्ति निकेतन कहते हैं। स्वयं डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने जीवन काल में एक नई शिक्षा पद्धति की नींव डाली। आधुनिक काल में इसे नई पद्धति ही माना जायेगा परन्तु वास्तव में वह प्राचीन आर्य आश्रमीय-पद्धति का ही नवीन-संस्करण है। शान्ति निकेतन में विद्यार्थी और शिक्षक खुले वृक्षों के नीचे प्रशान्त भाव से समूची शिक्षा का अर्जन करते हैं। एक अनुपम शान्ति वहाँ रहती है। विद्यार्थियों के जीवन में गुरु के प्रति निष्ठा है तथा एक सांस्कृतिक व कलात्मक आधार इस पद्धति को मिला है। समूचा वातावरण संगीतमय है। स्वयं गुरुदेव एक निपुण कलाकार थे। शांति निकेतन में समूची शिक्षा को कला का आधार दिया गया है वहाँ उद्योग को भी शिक्षा का अंग माना गया है।

इसी प्रसंग में गुरुकुल विश्व विद्यालय (कांगड़ी) हरिद्वार का उल्लेख भी आवश्यक है। आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इस विश्वविद्यालय की नींव रखी थी। बहुत वर्षों तक यह प्राचीन आर्य पद्धति से चलता रहा। इसने राष्ट्र को अनेक विद्वान राष्ट्रकर्मी प्रदान किये।

बुनियादी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा की कल्पना पूज्य बापू (महात्मा गांधी) के मन की सूझ है। बापू एक महात्मा, धर्मज्ञ राजनीतिज्ञ तथा अर्थशास्त्री ही न थे वे एक कुशल शिक्षक और बालकों के उत्कट हितैषी भी थे। उन्होंने अपने एवं अन्य साथियों के बालकों को लेकर फिनिक्स-आश्रम—दक्षिणी अफ्रीका, सत्याग्रह आश्रम साबरमती और सेवा-ग्राम आश्रम में अनेकानेक प्रयोग किये। बुनियादी शिक्षा का मूलमन्त्र इन्हीं प्रयोगों से निष्पन्न हुआ है। इस शिक्षा पद्धति के दूसरे महान पोषक श्री आचार्य विनोबा भावे है। विनोबाजी ने भी महिलाश्रम, नालवाड़ी, गोपुरी, सेवा-ग्राम और परमधाम आश्रम में इस शिक्षा-प्रणाली पर अनेकानेक प्रयोग किये हैं।

बुनियादी शिक्षा का अर्थ है जीवन-शिक्षण यानी जीवन की शिक्षा। वह शिक्षा जिसका प्रत्यक्ष-जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध हो। इस शिक्षा का मूल आधार है शरीर के विकास के साथ-साथ बुद्धि का विकास। आधुनिक शिक्षा बुद्धि विलास है, बुद्धि-विकास नहीं। बुद्धि का विकास यानी आत्मा, बुद्धि और शरीर तीनों का विकास। नई तालीम में बुद्धि और हाथ के बीच अभिन्न नाता माना गया है। स्वयं करके सीखना, उद्योग द्वारा शिक्षण, उद्योग द्वारा बौद्धिक विकास यह इसका मुख्य सिद्धान्त है। नई तालीम को कुछ लोग केवल उद्योग की शिक्षा मानते हैं और समझते हैं कि इसमें पुस्तक का और ज्ञान का स्थान नहीं है। यह एक भ्रमपूर्ण धारणा है। नई तालीम में ज्ञान और कर्म के मध्य समवाय की स्थापना की गई है और यह इस सहज सम्बन्ध को जोड़ने वाली शक्ति है। नई तालीम तो भारत की आध्यात्मिक-परम्परा का निचोड़ है। ज्ञान और कर्म का भक्तिपूर्ण या निष्ठा-सम्पन्न योग ही नई तालीम है। जो ज्ञान कर्म में न उतरे वह ज्ञान किस काम का और कर्म ज्ञानमय न हो वह

कर्म अकुशल माना जायेगा। भक्ति भाव पूर्वक कर्ममय ज्ञान और ज्ञानमय कर्म को नई तालीम की आधारशिला कह सकते हैं। पूज्य विनोबाजी के शब्दों में—

"नई तालीम में जीवन की सब बुनियादी चीजों का पूरा ज्ञान होना चाहिये। लम्बा चौड़ा इतिहास और निकम्मे राजाओं की नामावली याद रखने की कोई जरूरत नहीं है। उससे तो विद्यार्थियों के सिर पर नाहक बोझ पड़ता है। लेकिन जीवन के जो बुनियादी विचार हैं, जिनसे हमारा जीवन विकसित होता है उनका ज्ञान जरूरी है। तत्व-ज्ञान, धर्म-विचार, नीति-विचार इन सब की जानकारी जरूरी हैं। समाज-शास्त्र मानव समाज का पूरा इतिहास आदि की जानकारी आवश्यक है। हमारे समाज की और दूसरे भी समाज की विशेषताएँ क्या हैं, इसका ज्ञान उन्हें होना चाहिए। विज्ञान के मूलभूत विचार लड़कों को मालूम होने चाहियें। आरोग्य शास्त्र, आहार शास्त्र, स्वच्छता, रसोई शास्त्र आदि का उत्तम ज्ञान होना चाहिये। इस तरह नई तालीम में ज्ञान की कोई कमी नहीं होनी चाहिये। भाषा का भी उत्तम ज्ञान होना चाहिये। अपने विचार ठीक ढंग से प्रकाशित करने की कला मालूम होनी चाहिये। अक्षर-सुन्दर होना चाहिये, साहित्य का ज्ञान होना चाहिये। इस तरह हमारी तालीम में ज्ञान की कमी नहीं, लेकिन निकम्मा ज्ञान नहीं होगा। आजकल के यूनीवर्सिटीज में विद्यार्थियों के सिर पर नाहक निकम्मे ज्ञान का बोझ डालते हैं और कहते हैं कि ३३ प्रतिशत नम्बर मिले तो पास होंगे। इसका मतलब है कि ६७% भूलने की गुँजाइश रक्खी गई है। वास्तविक ज्ञान में तो १०० प्रतिशत याद रखना चाहिए। जो रसोइया ८० प्रतिशत अच्छी रोटी बना सकता है उसको कौन नौकरी देगा? उसी तरह ज्ञान में कच्चापन नहीं होना चाहिये। ज्ञान या तो है या नहीं है, सोलह आना है या बिलकुल नहीं। क्या यह हो सकता है कि कोई मनुष्य ८० प्रतिशत जिन्दा है और २० प्रतिशत मरा है। अगर वह जिन्दा है तो पूरा जिन्दा है और मरा है तो पूरा मरा है। फी सदी वाली बात यहाँ नहीं चलती है। उसी तरह ज्ञान में भी वह बात नहीं चलती है। ज्ञान तो पूरा और निश्चित होना चाहिये, संशय-युक्त नहीं होना चाहिये। लेकिन हमारे विश्वविद्यालयों ने ६७ प्रतिशत भूलने की गुञ्जाइश रखी है। क्योंकि वे भी जानते है कि यहाँ निकम्मा ज्ञान सिखाया जाता है। नई तालीम में इस तरह भूलने की गुँजाइश नहीं होगी। जितना भी सिखाया जायेगा, उतना सब याद रखने लायक होगा और विद्यार्थी सब याद रखेगा क्योंकि वह ज्ञान जीवन में काम आयेगा। वास्तव में जो विद्या होती है उसे मनुष्य भूलता नहीं और जिसे भूलता है वह विद्या नहीं है। इस तरह नई तालीम में हम ऐसी विद्या सिखायेंगे जो भूली नहीं जायेगी। नई तालीम पाकर तो लोग महाजनी होंगे।"

योग्यता प्रश्न

१. भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर एक निबन्ध लिखिये।
   Write an essay on Indian Educational System.

२. निम्न पर संक्षिप्त व्याख्या लिखिये :—

(क) मॉंटेसरी-शिक्षण पद्धति;

(ख) शांतिनिकेतन शिक्षण प्रणाली;

(ग) बुनियादी शिक्षण पद्धति।

Write short notes on the following experiments in the field of education :—

(a) Montessori System;

(b) Shanti Niketan System;

(c) Basic Education.

—:o:—

अध्याय १९

राष्ट्रीय चेतना का जन्म

'सारे भारत में, कैलाश से कन्या कुमारी तक, एक भारतीय।'
'मेरा बल,—मेरा देश, उसका वातावरण, उसकी सँस्कृति है।'

—महर्षि विनोबा

एक ओर भारत में ब्रिटिश-शासन अपनी नींव पक्की कर रहा था दूसरी ओर राष्ट्र के भीतर राजनीतिक-चेतना का जन्म और विकास हो रहा था। यद्यपि भारत को सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक सदा ही एक राष्ट्र माना गया परन्तु उस समय राष्ट्र शब्द एक साँस्कृतिक एकता का द्योतक मात्र था। राजनीतिक क्षेत्र में अनेक राज्य थे और प्रजा अपने अपने नरेशों के प्रति राज्यनिष्ठा रखती थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के पूर्व आधुनिक अर्थों में राष्ट्रीयता का विकास नहीं हुआ था परन्तु ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद पहले धीरे-धीरे और बाद में बहुत तेजी से राष्ट्र के भीतर राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ और समूचे भारत को एक राजनीतिक इकाई मानने की भावना जाग्रत हुई। राष्ट्रीयता केवल एक साँस्कृतिक एकता की ही सूचक न रहकर राजनीतिक एकता और एक नागरिकता तथा भारत राष्ट्र के प्रति राष्ट्र-भक्ति अथवा राज्य-भक्ति के रूप में परिणत होने लगी।

यहाँ हम संक्षेप में उन तत्वों का विश्लेषण करेंगे जो राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव और उसके पोषण में सहायक सिद्ध हुए है—

१. १८५७ का स्वतंत्रता सग्राम
२. धार्मिक पुनर्संस्करण
३. देश का एकीकरण।
४. पाश्चात्य शिक्षा व विदेशगमन
५. यातायात की सुविधा
६. समाचारपत्रों का प्रसार
७. आर्थिक दुर्दशा
८. नौकरियों में पक्षपात
९. लिटन की दमन नीति
१०. इलबर्ट-बिल आन्दोलन
११. अन्य देशों की क्रान्तियाँ

(१) **१८५७ की सशस्त्र क्रान्ति**—१८५७ की सशस्त्र क्रान्ति में एक बड़ा चमत्कार यह हुआ कि देश की अनेकानेक शक्तियाँ एक साथ संगठित हुई तथा उन्होंने विदेशी शासन के जुए को अपने कन्धे से उतारने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाई। इस आन्दोलन से सिद्ध होता है की पराधीनता की प्रतीति १८५७ में ही भारत के प्रबुद्ध-लोगों को हो गई थी तथा अंग्रेज जाति के प्रति एक प्रकार की घृणा अथवा तिरस्कार की भावना लोगों के मन में थी। १८५७ के इस सशस्त्र विद्रोह की असफलता ने राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव में बड़ा योग दिया। अंग्रेजों के जुल्म और उनकी निर्दयता लोगों के मन पर अंकित हो गई जिसके कारण उनके प्रति घृणा का भाव और भी तीव्र हो गया परन्तु दमन के चक्र से जनता अत्यन्त भयभीत हो गई जिसके कारण ब्रिटिश विरोधी भावना दबी हुई सी प्रतीत होने लगी। वास्तव में यह एक ऐसी आग थी जो राख के ढेर में दबी हुई थी, अवसर पाने पर यह फिर अधिक संगठित रूप में प्रकट हुई।

भारतीय राष्ट्रीयता के राजनीतिक स्वरूप का उदय और विकास विदेशी शासकों के प्रति विरोध की भावना से हुआ है ऐसा माना जा सकता है। अंग्रेजी विदेशी थे और वे सारे देश पर राज्य करते थे अतः सारा देश अंग्रेजों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिये एक मञ्च अथवा मोर्चे पर सङ्गठित हुआ। यही से राजनीतिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ।

(२) **धार्मिक पुनर्संस्करण**—भारत का धार्मिक व सांस्कृतिक पुनर्संस्करण १८२८ से शुरू होता है जबकि भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत तथा नवीन-युग के युग-पुरुष वन्दनीय राजा राममोहन राय ने बंगाल में ब्रह्मसमाज की नींव डाली। भारतीय जनता प्राचीन धर्मग्रन्थों को विसार कर अज्ञान और अन्धविश्वास में डूबी हुई थी। राजा राममोहन राय ने उसका मार्ग दर्शन किया तथा भारतीयों को यह बताया कि वे क्या हैं, उनकी संस्कृति क्या है तथा उन्हें किस प्रकार अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करना चाहिये इससे भारतीय लोक-मानव में स्वाभिमान का उदय हुआ तथा उन्हें ब्रिटिश सरकार का दबाव एवं ईसाई धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव अखरने लगा।

इसी समय गुजरात की पुण्यभूमि में महर्षि दयानन्द का जन्म हुआ तथा उन्होंने प्राचीन वैदिक धर्म की पताका उन्नत की। उन्होंने खुल्लमखुल्ला ईसाई-धर्म का विरोध किया तथा 'भारत भारतियों के लिये' नारा लगाया। स्वामी जी ने दो अमोघ मंत्र दिये जिन्होंने समूचे भावी राष्ट्रीय-जीवन का मार्ग दर्शन किया। वे मंत्र हैं—'स्वदेशी और स्वराज्य' उन्होंने भारतीय वस्तुओं के प्रयोग और स्वराज्य की आवश्यकता पर जोर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी-शासन आर्यसमाज की गतिविधि पर कड़ी दृष्टि रखने लगा।

दक्षिणी भारत में थियासाफिकल सोसायटी के अभ्युदय ने भारतीयों के मन में स्वाभिमान जगाया। मेडम ब्लावट्स्की, कर्नल आलकाट तथा श्रीमति ऐनीबीसेन्ट ने

हिन्दू धर्म की सर्वत्र सराहना की तथा सिद्ध किया कि वह संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इससे भारत की जनता में नया जागरण हुआ और उसे अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होने लगा। बाद में चल कर श्रीमती ऐनीबीसेन्ट ने 'स्वराज्य आन्दोलन' चलाया एवं कांग्रेस के मञ्च से स्वतन्त्रता का नारा ऊँचा किया। जिस प्रकार आर्य-समाज द्वारा स्थापित गुरुकुल-विश्वविद्यालय कांगड़ी राष्ट्रीयता का प्रधान केन्द्र बना उसी प्रकार श्रीमती ऐनीबीसेन्ट ने भी सेन्ट्रल हिन्दू कालिज बनारस तथा मद्रास के निकट अदयार में थियॉसॉफीकल-संस्था की स्थापना की एवं उन्हें राष्ट्रीय-संस्थान बनाया।

बंगाल में इसी समय परमहंस श्रीरामकृष्ण देव ने नव-जागरण का संदेश दिया और इस महान् गुरु का और भी महान् शिष्य स्वामी विवेकानन्द के नाम से जगत में प्रसिद्ध हुआ। स्वामी जी ने गुरु की स्मृति में रामकृष्ण मिशन की नींव डाली और अमेरिका आदि विदेशों में जाकर वेदान्त का प्रचार किया तथा भारत की महत्ता का सिक्का लोगों के मन पर बैठाया। इन्होंने 'उठो, जागो और महान् बनो', का संदेश भारतीय जनता को दिया। भारत सचमुच अपने इस दिव्य-पुत्र का ऋणी है। स्वामी जी प्रथम भारतीय थे जिनके द्वारा विश्व ने भारत की प्रतिभा का प्रथम दर्शन किया। उन्होंने भारत को पराधीनता की बेड़ी काटकर आध्यात्मिक-दिग्विजय के लिए एक सशक्त और प्रभावशाली आह्वान दिया।

इस प्रकार भारत का धार्मिक नव-संस्करण राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना के प्रादुर्भाव के लिये बहुत अंशों में उत्तरदायी है। पाठकों को याद रखना चाहिए कि स्वतंत्रता संग्राम के दो अमर सेनानी लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी धर्म भावना से ही राजनीति के मैदान में उतरे थे। गाँधी जी ने धर्म और राजनीति का अभिन्न संयोग प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध करके ही बता दिया। उन्होंने स्वराज्य को स्वधर्म कहा तथा पराधीनता को अधर्म घोषित करके देश की जनता को स्वतन्त्रता की बलिदेवी पर प्राण न्योछावर करने के लिये तैयार किया।

(३) **देश का एकीकरण**—अंग्रेजों ने भारत में एक सुदृढ़ एवं अत्यधिक केन्द्रित शासन की स्थापना की। यद्यपि देश को अनेक प्रान्तों में विभाजित किया गया था तथापि ये प्रान्त हर मामले में केन्द्र के अधीन रहते थे। इससे सारा देश एक इकाई बन गया। सरकार समूचे देश के लिए नीति बनाती थी तथा सारे देश में एक संगठित अखिल भारतीय सिविल सर्विस के लोग शासन के महत्वपूर्ण पदों पर काम करते थे। इस प्रकार सारे देश का अंग्रेजी शासन के अधीन एकीकरण हुआ जिससे जनता में भी एकता और समान हित (Common Interest) की भावना उदय हुई। सरकार की किसी विषय में जो नीति पंजाब के लिए होती वही मद्रास के लिये भी होती थी, इससे पंजाब और मद्रास के यानी देश के सुदूर प्रदेशों के लोगों में सहज ही यह विचार जाग्रत हुआ कि उनका भाग्य परस्पर जुड़ा हुआ है तथा उन सबका हित एक ही है। इसका यह अर्थ नहीं कि देश में प्रान्तीयता नष्ट हो गई। वह नष्ट तो नहीं हुई परन्तु

लोग उसके परे एक राष्ट्रीय-दृष्टिकोण से भी सोचने के लिये विवश हो गये क्योंकि सरकार समूचे देश की दृष्टि से सोचती थी। भारतीय राज्यों (Indian States) में एकता की यह दृष्टि पैदा नहीं हो सकी क्योंकि उनकी जनता तब तक भिन्न राजाओं के राज्य में रह रही थी।

(४) **पश्चिमी शिक्षा और विदेश गमन**—अंग्रेजों ने इस देश में अपनी शिक्षा-प्रणाली लागू की। इसके परिणाम यह हुए—(अ) विविध प्रान्तों के लोग जो एक दूसरे की भाषा नहीं समझते थे अब अधिक निकट आ गये क्योंकि उन्हे अंग्रेजी के रूप में एक ऐसी भाषा मिल गई है जिसने अन्तर्प्रान्तीय भापा का काम किया अंग्रेजी द्वारा एक दूसरे के विचारों को समझना सुगम हो गया। (आ) अंग्रेजी शिक्षा द्वारा भारतीय-विद्यार्थियों को तत्कालीन अंग्रेज व यूरोपियन लेखकों दार्शनिकों तथा कवियों का साहित्य पढ़ने का अवसर मिला। यह समूचा साहित्य स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र के विचारों से ओत प्रोत है ही, इसने उनके मस्तिष्क में इन सिद्धान्तों का बीज बोने का महत्वपूर्ण काम किया। उन्हें लगने लगा कि स्वतन्त्रता एक परम आवश्यक चीज है तथा प्रत्येक देश में उसका अपना शासन ही होना चाहिए जिससे कि उसका सम्यक् विकास हो सके। (इ) भारतीय विद्यार्थी ब्रिटिश शासन प्रणाली के सम्पर्क में आये और उन्होंने देखा कि वहाँ एक ऐसी शासन पद्धति है जिसमें जनता को अपने प्रतिनिधि चुनने एवं शासन में भाग लेने का अधिकार है। इससे उनके मन में यह भावना जाग्रत हुई कि उन्हें भी भारतवर्ष के शासन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। (ई) शिक्षित लोगों की संख्या ज्यों ज्यों बढ़ने लगी त्यों-त्यों उनके लिए नौकरी-प्राप्त करना कठिन होता गया इसका परिणाम यह हुआ कि उनके मन में ब्रिटिश सरकार के प्रति रोष पैदा हुआ कि वह भारतीयों को नौकरी न देकर इंगलैंड से लोगों को ऊँचे वेतन पर बुलाती है।

(क) इसके अतिरिक्त भारत से अनेक विद्यार्थी उच्च अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैंड और यूरोप में जाने लगे। वहाँ उन्होंने देखा कि जनता स्वतंत्रता और स्वराज्य का उपभोग कर रही है, दमन नहीं है तथा जनता मुक्त भाव से सरकार की आलोचना कर सकती है। उस मुक्त-वातावरण का उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ता था। (ख) साथ ही उन्हें यह भी पता चला कि स्वतंत्र राष्ट्रों के नागरिकों का कैसा सम्मान होता है। जब उन्हें विदेशों में परतंत्र राष्ट्र का नागरिक या दास कहा जाता तो उनके आत्म-सम्मान को गहरा धक्का लगता था। उन्होंने वहाँ देखा कि विदेशी लोग उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे अत: उनके मन में अपने देश की स्वाधीनता की चाह सहज ही जाग्रत हुई (ग) उधर विदेशों से जब वह भारत लौटते तो उन्हें यहाँ दमन, शोषण और असमानता का वातावरण मिलता जिससे उन के मन पर एक गहरी प्रतिक्रिया होती और राष्ट्रीय स्वाभिमान का संस्कार जगता।

इस प्रकार यद्यपि एक ओर पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय नैतिकता व संस्कृति को गहरा धक्का पहुँचाया, तथापि दूसरी ओर वह राष्ट्रीयता के विकास में बहुत सीमा

तक पोषक भी रही । इसके दोनों पहलू हैं—अंग्रेजी शिक्षा से कुछ लोगों में अंग्रेजों की मानसिक गुलामी पैदा हुई जिससे राष्ट्रीयता के बिकास में बहुत बाधा पड़ी तथा उसी शिक्षा ने कुछ लोगों को स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष की प्रेरणा भी दी ।

(५) **यातायात की सुविधा**—अंग्रेजी शासन के केन्द्रीयकरण का एक और परिणाम हुआ वह है यातायात की सुविधा । सारे देश पर नियन्त्रण रखने के लिये अंग्रेजों को देश भर में डाक-तार रेलवे और कच्ची-पक्की सड़कों का जाल बिछाना पड़ा जिससे उनकी सेनायें और पुलिस देश के भीतरी भागों में पहुँचकर शासन का रोब दाब कर सकें तथा उनके व्यापारी देश के सभी बाजारों से अपना व्यापार-सम्बन्ध जोड़ सकें ।

इसका परिणाम यह हुआ कि देश में एक भाग से दूसरे भाग तक आवागमन और सम्पर्क बढ़ा तथा एक ओर तो 'भारत एक है' यह भावना दृढ़तर होती गई दूसरी ओर समूचे देश का संगठन और सम्पर्क सुलभ हो गया । उसी का परिणाम था कि बंगाल के नेता दक्षिण तक और दक्षिण के नेता पंजाब तक अपना संदेश पहुँचा सकते थे । १८५७ के प्रयास की असफलता का मुख्य कारण यातायात और परिवहन के साधनों का अभाव भी था । जिसके कारण संगठन तेजी से न हो सका था अब वह कमी दूर हो गई तथा राष्ट्रीयता के प्रसार के लिए एक और मार्ग खुल गया ।

(६) **समाचारपत्रों का प्रसार**—भारत में प्रेस की सुविधा के पहुँचते ही तेजी से भारतीय भाषाओं व अंग्रेजी के पत्रों की संख्या बढ़ती चली गई । सरकारी पक्ष के पत्र सरकार की नीतियों का समर्थन और राष्ट्रीयता का खण्डन करते तथा जनता के पत्र सरकारी नीतियों व कार्यों की आलोचना तथा राष्ट्रवाद का पोषण करते थे। इससे जनता को दोनों पक्षों का विचार ज्ञात होता था । इस प्रकार ये पत्र राष्ट्रीयता के विकास में बहुत सहायक हुए, इनसे लोक शिक्षण हुआ तथा राज-नीतिक चेतना की अभिवृद्धि हुई । आखिर सरकार की कोप दृष्टि इनके ऊपर पड़ी और अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये । इन प्रतिबन्धों से भी राष्ट्रीयता के विकास में सहायता ही मिली क्योंकि यह जनता को अपनी आजादी में अनुचित हस्तक्षेप लगा और उसके मन में ब्रिटिश शासन के प्रति असन्तोष और भी अधिक गहरा होता गया ।

(७) **आर्थिक दुर्दशा**—अंग्रेज तो हिन्दुस्तान में व्यापार करने आये थे । उनका मूल उद्देश्य व्यापारिक लाभ था । राज-सत्ता का उपयोग उन्होंने भारत का शोषण करने के लिए किया । अंग्रेजों के भारत आने से पूर्व यहाँ का उद्योग ठीक ढंग से चलता था तथा कोई आर्थिक तंगी न थी । अँग्रेजों ने यहाँ आकर भारतीय कारीगरों पर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया उनसे तैयार माल जबरदस्ती कम दाम पर लेते और उसे अपने देश में ले जाकर खूब मुनाफा कमाते । औद्योगिक क्रांति से पूर्व तो यह स्थिति रही इससे कारीगर आतंकित हो गये तथा उद्योगों में उनकी दिलचस्पी

न रही। जुलाहों ने अपने करघे उखाड़ दिए और दूसरे धन्धे वालों को भी इसी प्रकार अपना काम बन्द करना पड़ा।

औद्योगिक क्रांति के बाद तो भारत की आर्थिक स्थिति और भी बिगड़ती चली गई। विदेशों से बना पक्का माल यहाँ के बाजारों में आने लगा। इससे देशीय कारीगरों के उद्योगों को दोहरा धक्का लगा। एक ओर तो मिलों का बना माल अपेक्षाकृत सस्ता और अधिक आकर्षित होने से देशीय उद्योग-धन्धों में बने माल की खपत घटती चली गई, दूसरी ओर कच्चे माल का बड़े पैमाने पर निर्यात होने के कारण भारतीय कारीगरों को कच्चा माल मिलने में कठिनाई होने लगी और जो मिलता भी तो इतने मंहगे दामों पर कि उसको लेकर रूपान्तरित करना आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं रहता था। इस प्रकार भारतीय उद्योग धन्धे धीरे-धीरे नष्ट होने लगे एवं सिवाय खेती, सरकारी नौकरी और व्यापार के देश मे कोई उद्योग न बचा। सरकारी नौकरियों में तो थोड़े पढ़े लिखे लोग लिए जाते थे वह भी तब जब कि उस के लिए उपयुक्त अंग्रेज नहीं मिल पाते थे। व्यापार थोड़े से पैसे वाले लोगों के हाथों में था अतः थोड़े से लोग ही उसमें लगे हुए थे। देश की अधिकांश जनता खेती पर निर्भर रहने लगी। इस प्रकार भूमि पर अधिक दबाव बढ़ जाने से खेती की दशा भी गिरती गई। सिंचाई की व्यवस्था न होने से तमाम खेती अनिश्चित थी ही जो कुछ उपज होती भी वह बहुत कम दामों में बाजारों में बिक पाती। परिणाम यह हुआ कि आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन में भारत की भयंकर दुर्दशा हुई। लार्ड कार्नवालिस ने भूमि का स्थायी प्रबन्ध (परमानेंट सैटलमेंट) करके किसानों को जमीदारों जागीर-दारों और ताल्लुकेदारों की दासता में डाल दिया। इस कुप्रथा ने भारत के आर्थिक शोषण की दृष्टि से भयंकर काम किया।

इन सबका सहज परिणाम यह हुआ कि देश के अनेक भागों में अकाल और महामारी का प्रकोप हुआ तथा देश की जनता यह समझने लगी कि उसकी इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार पर है। देश के मध्यम वर्ग के लोगों को छोड़कर समूची जनता अंग्रेजी राज्य से असन्तुष्ट रहने लगी। यही कारण था कि कांग्रेस को अपने आन्दोलनों में देश की बहुतांश जनता का सक्रिय सहयोग और सहानुभूति प्राप्त हो सकी।

(८) **नौकरियों में पक्षपात**—१८३३ ई० के अधिनियममें यह स्पष्ट निर्देश दिया गया था कि भविष्य में सरकारी नौकरियों में केवल योग्यता की कसौटी रहेगी तथा प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह भारतीय हो अथवा अंग्रेज आवश्यक योग्यता रखने पर किसी भी पद पर नियुक्त किया जा सकेगा। परन्तु यह आश्वासन १८५३ ई० तक २० वर्षों में एक बार भी पूरा नहीं किया गया। १८५३ ई० में चार्टर अधिनियम के पुनर्नवीकरण के अवसर पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास तीनों क्षेत्रों के लोगों ने बड़ी संख्या में हस्ताक्षर करके ब्रिटिश संसद के पास एक विरोध-पत्र भेजा जिसमें कम्पनी की पक्ष-पातपूर्ण नीति पर घोर असन्तोष प्रगट किया गया था तथा ब्रिटिश संसद से प्रार्थना की

गई थी कि वह कम्पनी के अधिकारपत्र का पुनर्नवीकरण (Renewal) न करे यह लोगों की राजनीतिक चेतना और प्रशासन में भाग लेने की उत्कट अभिलाषा की प्रथम अभिव्यक्ति थी ।

सन् १८५८ में महारानी विक्टोरिया ने भारत के शासन की बागडोर सम्भालते समय पुनः वही घोषणा की और आश्वासन दिलाया कि भारतीय जनता और ब्रिटिश जनता दोनों उन्हें समान रूप से प्रिय हैं एवं दोनों को भारतीय प्रशासकीय पदों पर योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ मिलेंगी । यह घोषणा भी ब्रिटिश शासन की एक महान् भूल थी क्योंकि उसे कभी पूरा नहीं किया गया जिसका परिणाम हुआ शिक्षित भारतीयों के मन में गहरे असन्तोष का जन्म । यद्यपि सिविल सर्विस का द्वार सबके लिए खोल दिया गया था और उसके लिए खुली प्रतिद्वन्द्विता (Competition) होती थी तथापि उसमें भारतीयों को प्रवेश नहीं मिल पाता था । सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा अरविन्द घोष जैसे प्रतिभा-सम्पन्न नवयुवकों को सिविल सर्विस में न लेकर अंग्रेजी सरकार ने अपने पाँवों में स्वयं कुल्हाड़ी मार ली ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि ये ही लोग आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीयता के अग्रदूत बने ।

(९) **लिटन की दमन नीति**—भारत के एक गवर्नर-जनरल लार्ड लिटन का शासनकाल अनेक ऐसी घटनाओं से परिपूर्ण था जिन्होंने भारतीय लोक-मानस में उत्तेजनात्मक प्रतिक्रिया पैदा की ।

(क) **१८७७ में दिल्ली का शाही दरबार**—लार्ड लिटनने यह दरबार एक ऐसे समय पर आयोजित किया जबकि देश के अनेक भाग अकाल की भीषण आपत्ति में ग्रसित थे। इससे भारतीय-मानव पर एक गहरी प्रतिक्रिया हुई । इस दरबार से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे प्रतिभावान लोगों को ऐसा लगा कि जिस प्रकार भारतीय नरेशों और ब्रिटिश सरकार के पोषक व्यक्तियों को दरबार के अवसर पर संगठित किया था, उसी प्रकार भारत की जनता को भी संगठित करके ब्रिटिश शासन का विरोध किया जा सकता है।

(ख) **१८७८ का वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट**—१७९९ ई० में सर चार्ल्स मेटकाफ ने भारतीय भाषाओं के समाचारपत्रों पर से प्रतिबन्ध हटाया । उस समय से उनकी प्रगति आरम्भ हुई और १८७७ में इन भाषाओं के कुल ६४४ समाचारपत्र ब्रिटिश भारत में छप रहे थे । भारतीय जनता में समाचार-पत्र पढ़ने व सुनने का शौक बहुत तेजी से बढ़ रहा था । इसी समय लार्ड लिटन की सरकार ने जब यह देखा कि ये समाचारपत्र सरकार की आलोचना भी करते हैं तो १३ मार्च १८७८ को समाचार-पत्रों की आलोचनात्मक प्रवृत्तियों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक विधि बनाने की अनुमति 'सेक्रेटरी ऑफ स्टेट' से मांगी गई। अगले दिन ही वह स्वीकृति मिलने पर तुरन्त 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' पास कर दिया गया । इस अधिनियम का देश भर में कड़ा विरोध किया गया । बंगाल में विशेषतः इसका अधिक विरोध हुआ क्योंकि इसका प्रभाव वहाँ के उग्र समाचारपत्रों पर अधिक पड़ा । कलकत्ते में विरोध प्रदर्शन के लिए एक विशाल सभा की गई जिसमें मध्यम वर्ग के लोगों की सामूहिक जन-शक्ति का विराट दर्शन

हुआ। यह विरोध चार वर्ष तक चला और अन्ततः लार्ड रिपन ने उस अधिनियम को वापिस लिया।

(ग) **१८७८ का शस्त्र-अधिनियम** (Arms Act)—इस अधिनियम के द्वारा सरकार से पूर्व अनुमति (Licence) लिए बिना हथियार रखना तथा हथियारों का व्यापार करना अवैधानिक घोषित कर दिया गया। यूरोपियन लोगों, आंग्ल-भारतीय ईसाइयों व कुछ सरकारी अधिकारियों पर यह नियम लागू नहीं किया गया। इससे धार्मिक और जातिगत पक्षपात का आक्षेप सरकार पर लगाया गया एवं जनता इस अधिनियम से अत्यन्त असन्तुष्ट रही।

(घ) **काबुल पर आक्रमण और द्वितीय अफगान युद्ध**—इस युद्ध में धन और जन की भारी बर्बादी हुई। भारतीय जनता इस भयंकर बर्बादी और मूर्खतापूर्ण प्रयोग से बहुत नाराज हुई तथा उसके मन में ब्रिटिश सरकार के प्रति विद्रोह की भावना प्रबल होने लगी।

(च) **कपास आयात-कर का हटाया जाना**—लंकाशायर के मिल के मालिकों को प्रसन्न करने के लिए कपास पर से आयातकर उठा लिया गया। इससे कपास के उगाने वालों तथा व्यापारियों में बहुत असन्तोष पैदा हुआ।

इस प्रकार लार्ड लिटन के शासन काल में राजनीतिक जागृति के लिये पर्याप्त अवसर भारतीय जनता को मिले।

(१०) **इलबर्ट बिल आन्दोलन**—सन् १८८३ तक भारतीय न्यायाधीशों के सामने यूरोपियन लोगों के मुकद्दमों की सुनवाई नहीं होती थी। ऐसे मामलों की सुनवाई यूरोपियन न्यायाधीशों के न्यायालयों में ही होती थी चाहे वह पद की दृष्टि से भारतीय न्यायाधीशों से नीचे स्तर पर ही क्यों न हो। इससे भारतीय न्यायाधीशों के आत्मसम्मान को ठेस पहुँची और एक भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य ने सरकार के सामने एक आवेदन पत्र देकर इस अन्याय-युक्त प्रतिबन्ध को हटाने की प्रार्थना की। लार्ड रिपन की कार्यकारिणी-परिषद के विधि सदस्य सर कर्टनी इल्बर्ट ने १८८३ ई० में विधान परिषद के सामने भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन नागरिकों के मुकद्दमे सुनने का अधिकार देने के लिए एक विधेयक पेश किया। परन्तु यूरोपियन सरकारी व गैर-सरकारी लोगों ने तुरन्त इसका विरोध करने के लिए एक संगठन बनाया और डेढ़ लाख रुपये की राशि भी इकट्ठी कर ली।

यह विरोध इतना सफल रहा कि सरकार को विधेयक वापिस लेना पड़ा। इससे भारतीय जनता ने समझ लिया कि—

(१) अंग्रेजी शासन से न्याय की अपेक्षा करना मूर्खता है। जहाँ इतना गहरा जातिवाद हो वहाँ न्याय की बात ही नहीं उठती।

(२) आज के युग में संगठन की शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है। जिस आंदोलन के पीछे जनता का संगठित बल है वह अवश्य सफल होगा। अतः प्रादेशिक संगठनों

से परे एक राष्ट्रीय संगठन का निर्माण होना चाहिए जो सारे राष्ट्र का नेतृत्व कर सके।

यह भावना ही आगे चलकर सन् १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) की स्थापना में परिणित हुई।

(११) **अन्य देशों की क्रान्तियाँ**—१९वीं शताब्दी के अन्तिम ५० वर्ष इंगलैंड और यूरोप के इतिहास में अपना अनुपम महत्व रखते हैं। इस काल में यूरोप के भीतर ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुई जिनका भारत के राष्ट्रीय जीवन और विचारधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा।

इस काल में ब्रिटेन ने सुधार अधिनियमों द्वारा अपने शासन को अधिक लोकतन्त्रात्मक स्वरूप प्रदान किया, फ्रांस में तीसरे गणतन्त्र की स्थापना हुई तथा इटली व जर्मनी आदि यूरोप के देशों में शासन को जनतन्त्र के आधार पर संगठित किया गया। इन घटनाओं ने भारत के शिक्षित लोगों के हृदय में स्वतन्त्रता और जनतन्त्र की स्थापना की आकांक्षा पैदा कर दी और वे आजादी का अर्थ समझकर उसे प्राप्त करने का मार्ग ढूंढने लगे।

योग्यता-प्रश्न

१. भारत में राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव में सहायक तत्वों की विवेचना कीजिए।
   Discuss the elements which led to the National-wakening in India.

२. राष्ट्रीय आन्दोलन पर धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन के प्रभाव का वर्णन कीजिए।
   Give an account of the influence of Religious and Social Reform Movements on the National Movement in India.

—:o:—

अध्याय २०

राष्ट्रीय आन्दोलन

"धर्महीन राजनीति को एक फांसी ही समझिए। वह आत्मा का नाश कर देती है।"

"उस देशभक्ति का त्याग करना चाहिए जो दूसरे राष्ट्रों को आफत में डाल कर, बड़प्पन पाना चाहती हो।"
—महात्मा गाँधी

स्वतंत्रता के लिए भारत के सर्वप्रथम संघर्ष अर्थात् १८५७ की क्रांति का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। यहाँ इस प्रसंग में १८८० से १९४७ ई० के बीच में होने वाले संघर्ष का वर्णन किया जायगा। एक बात भली-भाँति स्मरण रखनी चाहिए कि हमारे अध्ययन का प्रमुख विषय स्वतंत्रता-संघर्ष का समूचा इतिहास नहीं है, वरन् हमें प्रमुखतः अपना ध्यान भारत के 'स्वाधीनता-संग्राम' की प्रकृति और उसकी विशेषताओं पर केन्द्रित करना है। इस सिलसिले में आने वाली घटनाओं का उल्लेख भी यथास्थान किया जायगा।

इस दृष्टि से वर्तमान विषय का अध्ययन हम निम्न खण्डों में करेंगे:—

१. अहिंसात्मक असहयोग—१८८५ से १९४७ ई० तक।
२. उग्रवादी-क्रांतिकारी आंदोलन।
३. ब्रिटिश नीति।
४. साम्प्रदायिकता।
५. स्वतंत्रता और उसके पश्चात्।

अहिंसात्मक असहयोग

सबसे पहले हम कांग्रेस के जन्म और इतिहास का एक संक्षिप्त अध्ययन करेंगे। उसका मुख्य कारण यह है कि भारतीय स्वाधीनता की कहानी वास्तव में कांग्रेस के कार्यों की ही कथा है। भारत की राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय-जागृति की अभिव्यक्ति (Manifestation) सर्वप्रथम अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में हुई। देश में उसके विकास और पोषण तथा मार्ग-दर्शन के लिए भी कांग्रेस ही उत्तरदायी है। स्पष्ट शब्दों में हमको यह स्वीकार करना होगा कि सन् १८८५ से १९४७ की कांग्रेस भारत के राष्ट्रीय जीवन की सफलताओं के लिए अकेली ही उत्तरदायी है।

प्राय: लोग श्री ए. ओ. ह्यूम को राष्ट्रीय कांग्रेस का पिता (Father) मानते हैं परन्तु हमारा इस धारणा से मतभेद है। हमारी दृष्टि में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को राष्ट्रीय काँग्रेस का पिता मानना चाहिये। श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य बनाकर १८७१ ई० में सहायक मजिस्ट्रेट के पद पर नियुक्त किये गये तथा लगभग दो वर्षों के पश्चात् ही मामूली दोष आरोपित करके हटा दिए गए। इससे देश भर में, विशेषत: बंगाल में, क्षोभ का वातावरण पैदा हुआ। इस घटना का एक बड़ा परिणाम यह हुआ कि युवक सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला भड़क उठी तथा उन्होंने अंग्रेजी राज्य की नींव पर आघात करने के लिये हर सम्भव प्रयत्न शुरू किया। ऐसी ही एक दूसरी घटना ने अरविंद घोष नामक युवक को क्रान्ति के पथ पर अग्रसर किया जो बाद में हिंसक क्रान्तिकारी से युग के महानतम् योगी के पद पर आरूढ़ हुए।

श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के मन में यह बात बैठ गई कि उनके साथ जो दुर्व्य-वहार किया गया था उसका कारण उनका भारतीय होना था। अत: उन्होंने संकल्प किया कि वे भारत की भावी पीढ़ियों को इस प्रकार के अपमान से बचाने के लिए भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करेंगे। इस विचार को लेकर यह इंगलैंड में बैरिस्टरी की परीक्षा देने गये और वहाँ से लौटते ही उन्होंने सन् १८७६ में 'इण्डियन ऐसोसियेशन' नामक संस्था की संस्थापना की। यही पौधा आगे बढ़कर भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के रूप में विकसित हुआ।

इसी समय सिविल सर्विस के लिए आयु की अन्तिम सीमा २१ से घटाकर १९ वर्ष कर दी गई। यह स्पष्ट था कि ऐसा इसलिए किया गया था जिससे कि भारतीय नवयुवक उसकी प्रतियोगिता (Competitions) में भाग ही न ले सकें। 'इण्डियन ऐसोसियेशन' ने इस प्रश्न को ही लेकर एक आन्दोलन खड़ा कर दिया और २४ मार्च १८७७ को कलकत्ते में एक विराट सभा संगठित करके सरकार के इस निर्णय पर गहरा क्षोभ प्रकट किया। इसी सभा में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को यह काम सौंपा गया कि वह देश भर में घूम घूम कर इण्डियन एसोसियेशन की शाखाएँ स्थापित करें और सरकार को पक्षपातपूर्ण नीति के विरुद्ध लोकमत संगठित करें। परिणामस्वरूप वह पंजाब और उत्तर प्रदेश के अनेक नगरों में गये तथा उन्होंने इन स्थानों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण दिये और भारतीय लोकमत संगठित करने की चेष्टा की।

१८८३ ई० में इण्डियन एसोसियेशन की ओर से कलकत्ते में एक 'राष्ट्रीय-सम्मेलन' बुलाया गया जिसमें श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने राष्ट्र को संगठित होने का आह्वान दिया। १८८४ ई० में मद्रास में एक 'प्रादेशिक सम्मेलन' हुआ और १८८५ ई० में 'बम्बई प्रदेश सम्मेलन' का आयोजन हुआ, जिसमें सर्वश्री दिनशा वाचा, तेलंग, बदरुद्दीन तैयब जी और फिरोजशाह मेहता सरीखे लोकनायक प्रथम बार एक मंच पर एकत्रित हुए।

इसी बीच भारतीय लोक सेवा के एक निवृत्त अधिकारी (Retired officer)

श्री ऐलेन ऑक्टेवियन ह्यू म ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को भारत की मानसिक, सामाजिक व राजनीतिक उन्नति के लिये एक खुले पत्र द्वारा प्रेरित किया इन सब प्रयत्नों के परिणामस्वरूप १८८४ ई० के अन्त में एक भारतीय राष्ट्रीय संघ (Indian National Union) की स्थापना हुई तथा उसने क्रिसमस-सप्ताह में पूना के भीतर देश भर के विचारकों और कार्यकर्त्ताओं का एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन के संयोजन और संचालन का काम श्री ह्यू म को सौंपा गया। सम्मेलन की कार्यवाही पूना में हैजा फैलने के कारण २७ दिसम्बर १८८५ को बम्बई में शुरू हुई। इस सम्मेलन का नाम था 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress)। इस प्रकार २८ दिसम्बर, १८८५ को उस महान् राष्ट्रीय संस्था की नींव पड़ी जिसके कुशल नेतृत्व में पीड़ित और शोषित भारत ने सन् १९४७ में आजादी का दिन देखा।

अपनी स्थापना के समय कांग्रेस का लक्ष्य भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करना नहीं था। परन्तु इतना सत्य है कि कांग्रेस ने पहले ही दिन से एक ओर तो तत्कालीन भारतीय-राजनीतिक चेतना और आकांक्षा को प्रतिबिम्बित एवं उसका प्रतिनिधित्व किया तथा दूसरी ओर उसने उत्तरोत्तर भारत की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं के विकसित होने में योग दिया। कांग्रेस एक-एक कदम बढ़ती गई और एक दिन उसने राष्ट्र के लिए उसका अभीष्ट प्राप्त कर लिया। कांग्रेस के १८८५ से १९४७ तक के ६२ वर्षों के इतिहास का अध्ययन हम निम्न भागों में करेंगे।

(१) जन्म से सूरत अधिवेशन (१८८५ से १९०७)।
(२) सूरत से लखनऊ अधिवेशन (१९०७ से १९१६)।
(३) लखनऊ से कलकत्ता अधिवेशन (१९१६ से १९२०)।
(४) कलकत्ता से लाहौर अधिवेशन(१९२० से १९३०)।
(५) लाहौर से बम्बई अधिवेशन (१९३० से १९४२)।
(६) संघर्ष से स्वाधीनता (१९४२ से १९४७)।

जन्म से सूरत अधिवेशन

कांग्रेस के जन्म की कथा का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। कांग्रेस की एक विशेषता प्रारम्भ से रही कि इसका स्वरूप राष्ट्रीय रहा। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि सभी विविध धर्मों के लोगों ने योगदान दिया।

प्रारम्भ में कांग्रेस छोटे-छोटे सुधारों के लिए सरकार से आवेदन करती थी। उसका राजनीतिक उद्देश्य विधान सभाओं का विस्तार और उनकी पुनर्रचना तक ही सीमित था। इस काल में कांग्रेस के नेताओं को अंग्रेजी शासकों की नीयत और न्याय-बुद्धि में पूरा भरोसा था तथा वे भारत और इंगलैंड के बीच सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। कलकत्ता और मद्रास अधिवेशनों पर वहाँ के गवर्नरों ने

उसके प्रतिनिधियों को विशिष्ट अतिथि मानकर दावतें दीं। इससे यह स्पष्ट होता है कांग्रेस और सरकार के सम्बन्ध उस समय बहुत अच्छे थे।

कांग्रेस में उग्रदल—यद्यपि आरम्भ के नेताओं में से अधिकाँश सांविधानिक कार्यवाही और अंग्रेजों की सद्‌भावना में विश्वास रखते थे, तथापि लोकमान्य बाल-गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और श्री विपिनचन्द्रपाल ये तीन नेता उस नीति में विश्वास नहीं करते थे अतः इन्होंने उग्रवादी दल की कांग्रेस के भीतर स्थापना की। शेष लोग उदारवादी कहलाने लगे।

उग्रदल का कांग्रेस त्याग—१९०७ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन सूरतमें बुलाया गया। वहाँ नम्रदलीय गोखले और उग्रदलीय तिलक के अनुयायियों ने एक दूसरे के प्रति अशिष्ट और अशोभनीय व्यवहार किया तथा अधिवेशन की कार्यवाही न हो सकी। नम्रदल वालों ने कुछ समय के उपरान्त इलाहाबाद में एक सम्मेलन बुलाया और कांग्रेस के लिए एक संविधान बनाया। इस प्रकार सूरत कांग्रेस अधिवेशन में उग्रदल के लोग कांग्रेस से अलग हो गए।

सूरत से लखनऊ अधिवेशन

सूरत से लखनऊ अधिवेशन के बीच कांग्रेस के इतिहास में कोई विशेष घटना नहीं हुई। वह काउन्सिल में सुधारों के लिये, नौकरियों में भारतीयों के जाने आदि के लिये प्रस्ताव पास करती रही परन्तु सरकार ने उन सबकी तरफ कोई ध्यान नहीं दिया। इधर देश के भीतर एक विचित्र उथल-पुथल मची हुई थी। सरकार ने उग्रवादी नेताओं श्री अजीतसिंह व लाला लाजपत राय को १९०७ ई० में बिना मुकदमा चलाए मांडले जेल में बन्द कर दिया। उधर लोकमान्य तिलक को 'केसरी' में कुछ लेख लिखने के लिए ६ वर्ष के लिए कारावास का दण्ड दिया गया तथा बंगाल के अनेक नेताओं का निर्वासन किया गया। बंगाल में समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता पर हमला हुआ, अनेक पत्रों के सम्पादक पकड़े गये और दण्डित किये गये। इन सबके परिणामस्वरूप बंगाल में क्राँतिकारी-आन्दोलन का जन्म हुआ, अनेक सरकारी पदा-धिकारियों की हत्यायें की गईं। इस पर सरकारी दमन चक्र तेजी से चला और देश में हिंसा और दमन की ज्वाला भड़क उठी। सन् १९११ में ब्रिटिश सम्राट भारत आये और उन्होंने दिल्ली दरबार के समय बंगाल के विभाजन का अन्त करने की घोषणा की।

लखनऊ से कलकत्ता अधिवेशन

उग्रवादी दल पुनः कांग्रेस में—१९१६ ई० में कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। यह अधिवेशन बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। श्रीमती एनीबेसेन्ट के प्रयत्नों के फलस्वरूप उग्रवादी दल फिर से कांग्रेस में शामिल हुआ। लोकमान्य तिलक मांडले जेल में ६ वर्ष काटकर लौटे थे, उनके प्रति लोगों ने अनन्य सम्मान का प्रदर्शन किया। १९१६ ई० के अधिवेशन में उनका दल कांग्रेस पर हावी था। स्वयं

तिलक ने 'स्वराज्य' सम्बन्धी प्रस्ताव कांग्रेस में पेश किया जिसे भारी बहुमत में स्वीकार किया गया।

कांग्रेस-लीग संधि—इसी समय एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना यह हुई कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच एक समझौता हुआ तथा कांग्रेस ने राष्ट्रीय एकता के लोकतंत्र एवं राष्ट्रीयता के विरोधी सिद्धांतों को लीग के सहयोग की बलिवेदी पर होमना स्वीकार कर लिया। यह एक बड़ी भारी भूल थी जिसका दुष्परिणाम कांग्रेस और देश ने आखिर तक भोगा व अभी भी भोग रहा है। इसका वर्णन आगे यथास्थान किया जायगा।

उत्तरदायी शासन की मांग—लखनऊ अधिवेशन से कांग्रेस के भीतर एक नई चेतना का प्रादुर्भाव हुआ तथा इसमें सरकार से पहली बार यह माँग की गई कि वह एक निश्चित समय के भीतर देश में उत्तरदायी शासन की स्थापना करे।

नम्रवादियों का कांग्रेस-त्याग—लखनऊ काँग्रेस में स्थापित हुई एकता अधिक टिकाऊ न हो सकी। जुलाई १९१८ में माँटेग्यू-चेम्सफोर्ड की सुधार-योजना प्रकाशित हुई। बस यहीं से फिर नरम और गरम दल वालों के बीच खाई-चौड़ी होनी आरम्भ हो गई। गरम दल वाले इस योजना से असन्तुष्ट थे। तिलक ने उसे 'असन्तोषजनक एवं निराशाजनक' बताया। श्रीमती बेसेन्ट ने उसके बारे में कहा कि यह 'अंग्रेजों की ओर से दिये जाने तथा भारतवासियों द्वारा स्वीकार किये जाने लायक नहीं है।' परन्तु सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नरम दल वाले नेता अंग्रेजों की सद्भावना में विश्वास रखते थे अतः उन्होंने उस योजना को 'प्रगति की ओर एक कदम' मानकर उसकी सफलता में सहयोग देने का निर्णय किया। वे काँग्रेस से बाहर आ गये और उन्होंने उदारवादी दल का संगठन किया।

उदारवादियों को काँग्रेस में बनाये रखने की इच्छा से तिलक और बेसेन्ट ने अपनी भाषा को नरम कर लिया तथा अगस्त १९१८ ई० के विशेष-बम्बई अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया जिसकी भाषा अधिक उग्र नहीं थी। परन्तु उदारवादियों ने उसकी कोई पर्वाह न की, वे काँग्रेस के अधिवेशन में शामिल भी नहीं हुये तथा उसी वर्ष नवम्बर में बम्बई में उन्होंने अपनी बैठक की तथा उसमें मांट-फोर्ड सुधारों को प्रगतिसूचक कहकर उनका स्वागत किया।

इस प्रकार काँग्रेस गरम दल वालों के हाथ में आ गई तथा दिल्ली अधिवेशन में उन्होंने एक प्रस्ताव द्वारा अमेरिकन सीनेट की वैदेशिक सम्बन्ध-समिति से यह प्रार्थना की कि वह लीग ऑफ नेशन्स (राष्ट्रसंघ) के विधान में ऐसा संशोधन करावें जिसके द्वारा उसके घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक राष्ट्र के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वह अपने अधीन प्रदेशों में जनतन्त्रात्मक संस्थाओं की स्थापना करे। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा कहा गया कि 'राष्ट्र संघ द्वारा घोषित राष्ट्रों के आत्म निर्णय का सिद्धान्त भारत के लिये भी लागू किया जाये तथा शान्तिपरिषद् में भारत का प्रतिनिधित्व उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा हो।' दिल्ली काँग्रेस

ने तिलक, गांधी जी और सैयद हसन इमाम को अपनी ओर से (यदि बुलाया जाये तो) शांति परिषद में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिये नियुक्त किया।

महात्मा गांधी—महात्मा गाँधी सन् १६१४ ई० में दक्षिणी अफ्रीका से भारत लौटे और उन्होंने युद्ध में ब्रिटेन की पूरी सहायता के लिये भारत को प्रेरित किया। सन् १६१६ की अमृतसर काँग्रेस के अवसर पर महात्मा जी के प्रभाव से ही गरम दल-प्रधान कांग्रेस ने माँट-फोर्ड सुधारों की सफलता के लिये काम करना स्वीकार किया। इस समय तक महात्मा जी ब्रिटिश अधिकारियों की नीयत पर विश्वास रखते थे परन्तु अगले कुछ ही महीनों में कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने महात्मा गांधी को असहयोगी बना दिया और उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने चाटुकारी की नीति का परित्याग करके नई सीधी-कार्यवाही की और ब्रिटिश-विरोध-नीति का अनुसरण आरम्भ किया।

रौलट-एक्ट—कांग्रेस को क्रान्ति की ओर मोड़ने वाली नई घटनाओं में पहली घटना रौलट-एक्ट है। युद्ध काल में भारत सुरक्षा अधिनियम के द्वारा भारत की विद्रोहात्मक कार्यवाहियों का दमन किया गया था। ब्रिटिश अधिकारी चाहते थे कि युद्ध के बाद भी कोई ऐसा ही कानून हो जिसके द्वारा दमन चक्र चलाया जा सके। इसके लिये जस्टिस रौलेट की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की गई जिसने अपनी सिफारिश दो विधेयकों 'अनारकिकल व रेव्हेल्यूशनरी क्राइम्स एक्ट—१६१६' के रूप में पेश की। महात्मा गांधी द्वारा सत्याग्रह की धमकी तथा केन्द्रीय सभा के भारतीय सदस्यों के विरोध के बावजूद भी ये विधेयक पास कर दिये गये।

महात्मा गांधी के हृदय को इससे भारी चोट लगी और उन्होंने देशव्यापी हड़ताल द्वारा इन 'काले-कानूनों' का विरोध करने का विचार देश के सामने रखा। पहले ३० मार्च १६१६ ई० का दिन हड़ताल, उपवास व प्रार्थना के लिये निश्चित किया गया परन्तु बाद में उसे बदल कर ६ अप्रैल किया गया। दिल्ली में ३० मार्च को ही हड़ताल की गई। वहाँ रेलवे सीमा के भीतर एक दुकान बन्द कराने की चेष्टा करते हुए हड़तालियों व पुलिस में संघर्ष हुआ, परिणामस्वरूप ८ व्यक्ति मारे गये। गाँधी जी को इस दुर्घटना की सूचना दी गई और वे ७ अप्रैल को दिल्ली के लिये चल पड़े। ८ ता० को सवेरे ही गाड़ी पलवल स्टेशन पर पहुंची और गाँधी जी को बन्दी बना लिया गया। पुलिस उन्हें बम्बई वापिस ले गई। गाँधी जी की गिरफ्तारी ने सारे देश में विद्रोह की आग भड़का दी। पंजाब में ३० मार्च और ६ अप्रैल की हड़तालें सफलता से हुईं परन्तु गाँधी जी की गिरफ्तारी तथा डा० सत्यपाल व डा० किचलू के देश निकाले ने अमृतसर के लोगों के मन में गहरी उत्तेजना पैदा कर दी। जलूस, जल्सों और मारकाट का दौरदौरा अमृतसर में शुरू हो गया।

जलियां वाला बाग काण्ड—१२ अप्रैल को जलियाँ वाले बाग में एक विराट सभा का आयोजन किया गया था। पंजाब का गवर्नर माइकेल ओ० डायर सेना की एक टुकड़ी वहाँ लेकर पहुंच गया तथा उसने निहत्थी जनता पर बिना किसी सूचना के गोली बरसानी शुरू कर दी। इस भीषण हत्याकांड से भारत का कोना-

कोना काँप उठा और महात्मा गाँधी जैसा विश्वासी आदमी भी अंग्रेजों पर अविश्वास करने के लिये मजबूर हो गया। भारत के अमर शहीदों के रक्त से सींची गई जलियाँ वाले बाग की लाल भूमि आज भी डायर की नृशंसता की साक्षी दे रही है।

यद्यपि डायर के विरुद्ध ब्रिटिश संसद ने मुकदमे का नाटक किया तथापि उसे मुक्त कर दिया गया और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने उसका स्वागत उसे 'भारत में ब्रिटिश शासन का रक्षक' कहकर किया। परन्तु यह मानना एक गहरी भूल थी। डायर के कारनामे ने भारत को यह पाठ पढ़ा दिया कि आजादी की लड़ाई के लिये उसे ऐसे कोटि-कोटि बलिदानों की तैयारी रखनी चाहिये।

खिलाफत का प्रश्न—युद्ध काल में मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की थी कि टर्की से थ्रेस और एशिया माइनर के प्रदेश छीने नहीं जायेंगे। परन्तु युद्ध में विजय के पश्चात् ब्रिटेन अपने इस वायदे को भूल गया तथा थ्रेस भेंट में यूनान को दे दिया गया व एशिया माइनर फ्रांस व ब्रिटेन के अधीन कर लिया गया। इस प्रकार संसार के मुसलमानों के एकमात्र धार्मिक नेता टर्की के खलीफा (सुल्तान) से उसका राज्य छीन लिया गया। इस घटना ने मुसलमानों को अप्रसन्न कर दिया। उनके मन मे अंग्रेजों के प्रति कोई विश्वास नहीं रहा। महात्मा गाँधी ने खिलाफत के इस प्रश्न पर मुसलमानों के विचार का समर्थन किया। उनके मार्ग-दर्शन में मौ० मोहम्मदअली और मौ० शौकतअली ने अंग्रेजों के साथ असहयोग की नीति का समर्थन किया। इन दिनों हिंदू-मुस्लिम एकता का ज्वार सा आ गया था। श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानंद जैसे कट्टर आर्य-समाजी और शुद्धि आन्दोलन वाले हिन्दू भी उन दिनों दिल्ली की जामा मस्जिद में मुसलमानों को प्रेरित करते थे।

असहयोग का आरम्भ—महात्मा गांधी का प्रभाव धीरे-धीरे भारत की राजनीति पर बढ़ता जा रहा था। १६२० ई० में ला० लाजपतराय की अध्यक्षता में काँग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में सितम्बर के महीने में हुआ। महात्मा जी ने काँग्रेस में यह प्रस्ताव रखा कि जब तक पंजाब में हुये अत्याचारों के लिए सरकार को खेद नहीं होता तथा खिलाफत के प्रश्न को हल नही किया जाता तब तक देश को अंग्रेजों के साथ असहयोग करना चाहिये। देशबन्धु चितरजन दास, श्रीमती बेसेन्ट तथा मालवीय जी जैसे विख्यात नेताओं के प्रबल विरोध के बावजूद भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

कलकत्ता काँग्रेस के इस प्रस्ताव में यह स्पष्ट कहा गया था कि उपरोक्त दोनों घटनाओं का इलाज यही है कि भारत को स्वराज्य दिया जाय। स्वराज्य की स्थापना तक काँग्रेस ने ब्रिटिश शासन के साथ उत्तरोत्तर अहिंसात्मक असहयोग का मार्ग अपनाया। इस अवसर पर अहिंसात्मक असहयोग का कार्य-क्रम निर्धारित किया गया।

कलकत्ता से लाहौर अधिवेशन

दिसम्बर १६२० ई० में नागपुर में अखिल भारतीय काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। इस अवसर पर कलकत्ता काँग्रेस के उपरोक्त प्रस्ताव चर्चा के लिए रखे गये तथा भारी बहुमत से स्वीकार किये गये।

स्वराज्य का लक्ष्य—इसके अतिरिक्त नागपुर अधिवेशन में काँग्रेस संविधान में दो मौलिक परिवर्तन किये गये। उस समय तक कांग्रेस का लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासन (Self-Government) प्राप्त करना था। परन्तु गर्म दल वाले इसका घोर विरोध करते थे। अतः गांधी जी ने काँग्रेस का उद्देश्य स्वराज्य घोषित करने की सिफारिश की। उसके दोनों अर्थ लगाये जा सकते थे। साम्राज्य के भीतर स्वराज्य या साम्राज्य के बन्धन से पूर्णतया मुक्त स्वराज्य। गाँधी जी ने कहा कि यदि सम्भव हो तो हम साम्राज्य के भीतर स्वराज्य चाहेंगे परन्तु यदि आवश्यक हुआ तो हमें उसके बाहर जाने में भी कोई आपत्ति न होगी।

अहिंसा का साधन—काँग्रेस ने इस समय तक अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वैधानिक (Constitutional) साधनों का सहारा लेने का निश्चय रखा था। परन्तु नागपुर अधिवेशन में यह घोषणा की गई कि कांग्रेस स्वराज्य की प्राप्ति के लिए हर प्रकार के शान्तिपूर्ण व उचित साधनों का प्रयोग करेगी। यह परिवर्तन नई परिस्थितियों में आवश्यक हो गया था। असहयोग आन्दोलन निश्चय ही अवैधानिक स्वरूप लेने जा रहा था परन्तु वह शान्तिपूर्ण तथा उचित था।

असहयोग आन्दोलन १६२१—महात्मा गांधी ने असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात स्वयं अपने सरकारी सम्मान चिह्न (Medals) सरकार को लौटा [कर किया। समूचे देश में असहयोग की बाढ़ आ गई। अनेक लब्धप्रतिष्ठ वकील-बैरिस्टरों ने अपना पेशा छोड़ दिया। इनमें से कई आगे चलकर राष्ट्र के नेता बने जैसे—श्री चितरंजन दास, पं० मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, लाला लाजपतराय, विट्ठलभाई पटेल, उनके अनुज बल्लभभाई पटेल, सी० राजगोपालाचार्य, डा० अन्सारी, मौ० आजाद, डा० राजेन्द्रप्रसाद आदि। सैकड़ों विद्यार्थियों ने स्कूल कालिज छोड़ा। बिहार, काशी, गुजरात, अलीगढ़ आदि में राष्ट्रीय विद्यापीठ खोले गये। नये विधान मंडलों का पूर्ण बहिष्कार किया गया। कोई भी कांग्रेसी उम्मीदवार इनके लिये नहीं खड़ा किया गया। जनता ने भी वोट देने में काफी उदासीनता बरती। स्वदेशी वस्तुओं का बड़े जोरों से प्रचार हुआ। विदेशी कपड़े की बड़े पैमाने पर होली जलाई गई तथा खद्दर राष्ट्रीय पोशाक बन गया।

इसी समय प्रिन्स ऑफ वेल्स भारत के दौरे पर आये। वह आये तभी बम्बई में एक भयंकर दङ्गा हो गया। कांग्रेस ने उनके दौरे का बहिष्कार किया। वह जहाँ कहीं जाते बाजारों में हड़ताल की जाती। देश के सभी गणमान्य नेता (महात्मा जी के अतिरिक्त) गिरफ्तार कर लिये गये। प्रिन्स आफ वेल्स के कलकत्ता पहुँचने के

समय गवर्नर-जनरल लार्ड रीडिंग ने समझौता करना चाहा परन्तु सी० ग्रार० दास तथा महात्मा गांधी ने मौ० मोहम्मद ग्रली व शौकत ग्रली की रिहाई की शर्त रखी। सरकार को यह बात स्वीकार नहीं हुई ग्रतः समझौते का प्रयत्न ग्रसफल हो गया।

ग्रान्दोलन रोका गया—इस प्रसंग में यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि ग्रसहयोग की नीति ग्रपनाने के कारण श्रीमती ऐनीबेसेन्ट, श्री मुहम्मद ग्रली जिन्ना ग्रौर श्री विपिनचन्द्र पाल ने कांग्रेस को छोड़ दिया था। दूसरी ग्रोर महात्मा गांधी ग्रहिंसा ग्रौर ग्रनुशासन के पालन पर बहुत जोर दे रहे थे। १ फरवरी १९२२ ई० को उन्होंने वायसराय को यह सूचना दी कि वे एक सप्ताह बाद गुजरात के वारदोली ताल्लुके में करबन्दी ग्रान्दोलन सरकार के विरुद्ध शुरू करने वाले हैं। परन्तु इसी बीच ४ फरवरी को प्रसिद्ध 'चोराचोरी काण्ड' हो गया। चोराचोरी नामक स्थान पर कुछ कांग्रेस के लोगों ने पुलिस थाने को जला डाला व सिपाहियों को मार डाला। उधर मलाबार में मोपलों का विद्रोह हुग्रा व बम्बई में प्रिन्स ग्राफ वेल्स के ग्रागमन के समय दङ्गा हुग्रा। इन सबसे महात्मा जी को लगा कि देश ग्रभी ग्रहिंसात्मक ग्रसहयोग के लिए तैयार नही है ग्रौर उन्होंने तुरन्त कांग्रेस की कार्य-समिति की बैठक बुला कर ग्रान्दोलन बन्द करने की घोषणा कर दी। इससे कांग्रेस के कार्यकर्त्ताग्रों को बड़ा धक्का लगा परन्तु गांधी जी ग्रपनी बात पर डटे रहे। उन्होंने देश के सामने रचनात्मक कार्य की एक योजना रखी ग्रौर कताई, बुनाई, ग्रस्पृश्यता निवारण, हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया।

सरकार ने इस ग्रवसर का लाभ उठाया ग्रौर उन्हें गिरफ्तार करके मार्च १९२२ ई० में ६ वर्ष के लिये कारागृह में डाल दिया।

स्वराज्य पार्टी—महात्मा जी की गिरफ्तारी के बाद देश में निराशा ग्रौर उत्साहहीनता फैलती जा रही थी। काँग्रेस के भीतर इस समय काउन्सिल प्रवेश के प्रश्न को लेकर दो दल हो गये—परिवर्तनवादी (Changers) तथा ग्रपरिवर्तनवादी (No-changers)। पहले दल का नेतृत्व देशबन्धु चितरंजन दास ग्रौर पण्डित मोतीलाल नेहरू कर रहे थे तथा दूसरे का सी० राजगोपालाचारी। परिवर्तनवादियों का कहना था कि कलकत्ता ग्रधिवेशन में किया गया विधान मण्डलों के बहिष्कार का निर्णय सफल सिद्ध नहीं हुग्रा था क्योंकि नरम दल के लोग चुने जाकर उनमें घुस गये थे तथा वे सरकार का साथ दे रहे थे। ग्रतः उनकी इच्छा थी कि काँग्रेस ग्रपनी नीति बदलकर विधानमण्डल-प्रवेश कार्यक्रम स्वीकार करे। ग्रपरिवर्तनवादी जो महात्मा गाँधी के ग्रनुयायी थे, इसके विरुद्ध थे। वे काउन्सिल प्रवेश को ग्रसहयोग की नीति के लिये घातक मानते थे। उनका विश्वास था कि महात्मा जी द्वारा दिये गये रचनात्मक कार्यक्रम से देश ग्रधिक व्यापक ग्रसहयोग के लिए तैयार हो सकता है।

दोनों दलों में कोई समझौता नहीं हो सका तथा परिवर्तनवादी लोग काँग्रेस की ग्रवहेलना करके 'स्वराज्य पार्टी' नामक संगठन खड़ा कर उसके भीतर संगठित होने लगे। देशबन्धु दास ग्रौर पण्डित मोतीलाल नेहरू ने इलाहाबाद में प्रथम स्वराज्य

पार्टी का अधिवेशन बुलाया तथा मार्च १९२३ ई० में उसका संविधान व कार्यक्रम निर्धारित किया गया। स्वराज्य पार्टी ने निश्चिन्त होकर अपनी समूची शक्ति चुनावों पर लगा दी और उन्होंने मध्यप्रदेश व बंगाल में पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया, अन्य प्रान्तों में यद्यपि वे बहुमत में नहीं थे तब भी सब दलों में उनका दल सर्वाधिक सशक्त था। केन्द्रीय विधान सभा में उन्हें निर्वाचित स्थानों में से ४५ प्राप्त हुए थे।

रचनात्मक कार्य की ओर—महात्मा गांधी पूना जेल में बीमार पड़ गये। देश में और विधान सभा में भी उनकी मुक्ति की माँग की गई परन्तु तत्कालीन वाइसराय लार्ड रीडिंग ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। बाद में उन्हें अस्पताल में ले जाया गया जहाँ उनका अपेन्डिसाइटिस का आपरेशन (शल्य क्रिया) हुआ। इसके बाद वह ५ फरवरी १९२४ ई० को मुक्त कर दिये गए। उनकी रिहाई के बाद पण्डित मोतीलाल नेहरू महात्मा जी से जुहु में मिले और उनसे स्वराज्य पार्टी के लिये समर्थन चाहा। महात्मा जी अपनी नीति पर अटल थे। उन्होंने कहा कि वह स्वयं और काँग्रेस तो रचनात्मक काम में लगेंगे परन्तु स्वराज्य पार्टी अपनी इच्छा के अनुसार देश की राजनीतिक कार्यवाही का भार सम्भाल सकती है।

महात्मा जी ने देश के सामने दो बड़े काम रक्खे एक खादी का और दूसरा हिन्दू-मुस्लिम एकता का। खादी के लिए उन्होंने पूरी शक्ति लगा दी। उधर १९२३ व २४ ई० में अनेक हिन्दू-मुस्लिम दंगों ने महात्मा जी को गहरी वेदना पहुँचाई और उन्होंने सितम्बर १९२४ ई० में दिल्ली में 'एकता सम्मेलन' आयोजित किया जिसमें अनेक धर्मो के नेता एकत्रित हुए। इसी समय महात्मा जी ने धार्मिक दंगाइयों के लिये प्रायश्चित करने की दृष्टि से तीन सप्ताह का अनशन (Fast) किया। 'एकता-सम्मेलन' ने साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के लिए एक प्रस्ताव पास किया परन्तु उससे कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। साम्प्रदायिक स्थिति बिगड़ती ही चली गई। उधर टर्की में मुस्तफा कमालपाशा द्वारा सुधारों की झाड़ू से खलीफा को साफ कर दिया गया। इससे भारत में खिलाफत का प्रश्न ही समाप्त हो गया और अब मुसलमान काँग्रेस की ओर से हटकर मुस्लिम संगठनों की ओर मुड़ने लगे। मुस्लिम संस्थाओं में इस समय मुस्लिम लीग ने मुसलमानों को विशेषतः आकर्षित किया परन्तु दुर्भाग्य से उसका नेतृत्व प्रतिक्रियावादी तथा अंग्रेज-भक्त लोगों के हाथों में था। इससे साम्प्रदायिक तनाव सदा बढ़ता ही गया।

संघर्ष के चिन्ह : साइमन कमीशन—१९१९ ई० के भारत शासन अधिनियम के अनुसार भारत की राजनीतिक जागृति और स्थिति का अध्ययन करने तथा उसके आधार पर भारत को उपनिवेश पद की ओर ले जाने के हेतु अगले कदम का सुझाव देने के लिए १९२१ ई० के सुधारों के लागू होने के उपरान्त प्रति १० वर्ष पर एक आयोग (Commission) की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी। लार्ड इरविन ने इस आयोग की नियुक्ति १९३१ ई० के स्थान पर १९२७ ई० में ही कर दी। इसमें कोई हर्ज नहीं दिखाई देता था। परन्तु इस आयोग की संघटना इस प्रकार की गई थी कि उससे भारतीय

लोकमत ब्रिटिश नीति के विरुद्ध उबल पड़ा। आयोग के सभी सदस्य अंग्रेज थे, एक भी भारतीय को उसमें स्थान नहीं दिया गया था। इस आयोग का प्रमुख लार्ड साइमन था, उसी के नाम पर इसको साइमन कमीशन कहा गया।

कांग्रेस साइमन कमीशन का विरोध करेगी यह तो निश्चित ही था परन्तु कमीशन की संघटना में भारतीय प्रतिभा का इतना गहरा तिरस्कार एवं अपने देश के संविधान निर्माण के काम में भारतीयों के अधिकार का इतना तीव्र अस्वीकार निहित था कि उसने उदारवादी नेताओं को भी अपनी नाराजगी प्रकट करने के लिए विवश कर दिया। अंग्रेज सरकार को इससे बहुत धक्का लगा परन्तु वह कमीशन में हेर-फेर करने को तैयार नहीं थी।

परिणामस्वरूप कमीशन देश में, जहाँ-जहाँ गया, वहां उसका बहिष्कार किया गया तथा 'साइमन वापिस जाओ' के नारे लगाये गये। लाहौर में लाला लाजपतराय एक बहिष्कार जलूस का नेतृत्व कर रहे थे, उन्हें एक अंग्रेज अफसर ने अपनी बन्दूक के पिछले हिस्से से सीने पर भारी चोट दी जिसके फलस्वरूप भारत का यह रत्न पंजाब-केसरी कुछ ही दिनों बाद अस्पताल में स्वतंत्रता की बलिवेदी पर शहीद हो गया। जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं को भी नहीं बख्शा गया और उनकी सड़कों पर पिटाई की गई।

अनुकूल स्थिति—इसी समय दो महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं। एक ओर तो भारतीय नवयुवक वर्ग अंग्रेजों की अधीनता समाप्त करके पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य कांग्रेस के सामने रखना चाहता था। दूसरी ओर मई १६२६ ई० के ब्रिटिश चुनावों के परिणामस्वरूप श्रमिक दल (Labour Party) ने मन्त्रिमन्डल बनाया।

मजदूरों की सरकार बनते ही तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड इरविन को इङ्गलेंड बुलाया गया। वहाँ वे जून से अक्तूबर तक रहे तथा भारत लौटने पर उन्होंने ३१ अक्तूबर १६२६ को एक घोषणा की जिसका सार इस प्रकार है—

'ब्रिटिश शासन की ओर से मुझे यह घोषणा करने का अधिकार दिया गया है कि उसकी दृष्टि में १६१७ ई० की घोषणा में यह तत्व निहित है कि भारत की सांविधानिक प्रगति का लक्ष्य औपनिवेशिक पद (Dominion Status) की प्राप्ति है।'

साथ ही यह भी घोषणा की गई कि शीघ्र ही सरकार एक गोलमेज परिषद् बुलायेगी जो साइमन रिपोर्ट पर विचार करके अन्तिम प्रस्ताव तैयार करेगी जिन्हें ब्रिटिश संसद के सामने निर्णय के लिये रखा जा सके।

इस घोषणा के बाद एक दिन के भीतर देश के विभिन्न नेता जिनमें महात्मा गाँधी व काँग्रेस के अन्य नेता भी थे, दिल्ली में इकट्ठे हुए और उन्होंने सरकार को इस घोषणा पर बधाई दी एवं अपनी ओर से सहयोग का आश्वासन देकर सरकार से माँग की कि वह शीघ्र ही देश में सद्भावना के निर्माण के लिये राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दे तथा राउन्ड टेबल कॉन्फ्रेंस (गोलमेज परिषद्) शीघ्र ही बुलाये।

गाँधी-इरविन भेंट—लाहौर कांग्रेस में जाने से पूर्व महात्मा गांधी व पंडित

मोतीलाल जी तथा वाइसराय के बीच एक भेंट का आयोजन किया गया। गाँधीजी व पण्डितजी ने वाइसराय को यह बात समझाने की कोशिश की कि उन्हें सद्भावना के निर्माण के लिए राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर देना चाहिये तथा यह आश्वासन देना चाहिए कि गोलमेज परिषद् भारत के लिए औपनिवेशिक-संविधान की रचना के उद्देश्य से बुलाई जा रही है। परन्तु लार्ड इरविन उन्हें कोई आश्वासन नहीं दे सके तथा महात्मा गाँधी खाली हाथों लाहौर कांग्रेस को लौटे। उनके मन में यह भावना दृढ़ हो गई कि वर्तमान परिस्थितियों में उपनिवेश पद की प्राप्ति इस प्रकार समझौते द्वारा होनी सम्भव नहीं है।

लाहौर अधिवेशन—महात्माजी एक तरफ ब्रिटेन की मजदूर सरकार की लाचारी और दूसरी ओर देश में उठते हुए स्वतन्त्रता के ज्वार को देख रहे थे। उन्हें लगा कि यदि उन्होंने देश का मार्ग-दर्शन न किया तो वह हिंसा के मार्ग पर जा सकता है अतः कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में उन्होंने 'पूर्ण-स्वाधीनता का लक्ष्य निर्धारित करने में पूरी अनुकूलता दिखाई।

लाहौर काँग्रेस ने 'स्वराज्य' शब्द की परिभाषा में कहा कि इसका अर्थ 'पूर्ण-स्वाधीनता' है तथा समस्त काँग्रेस-जनों से यह अपेक्षा की कि वे पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सदा क्रियाशील रहेंगे। काँग्रेस ने आल इण्डिया काँग्रेस कमेटी को सत्याग्रह शुरू करने का अधिकार दे दिया।

काँग्रेस-अध्यक्ष श्री जवाहरलाल नेहरू ने ३१ दिसम्बर १९२९ की अर्ध-रात्रि में रावी नदी के तट पर पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की पताका आह्लादित मन से फहराई और यह निश्चय किया गया कि सारे देश में २६ जनवरी को 'स्वाधीनता दिवस' मनाया जाये तथा काँग्रेस द्वारा निर्धारित स्वतन्त्रता का प्रतिज्ञापत्र पढ़ा जाये व प्रतिज्ञा ली जाये। इस प्रकार लाहौर अधिवेशन से संघर्ष का एक दूसरा दौर शुरू होता है।

लाहौर से बम्बई अधिवेशन

(संघर्ष का प्रमुख काल)

लाहौर कांग्रेस ने भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास में एक नये युग का सूत्र-पात किया। यहाँ से संघर्ष और अंग्रेजों के अत्याचार व दमनपूर्ण शासन की वह लम्बी कहानी शुरू होती है जिसका प्रत्येक भारतीय को अभिमान होना चाहिये। इन बारह वर्षों में (१९३० से १९४२ ई०) का इतिहास इतना रोमांचकारी और भावना-पूर्ण है कि उसका वर्णन सकना बहुत कठिन हो जाता है।

असहयोग का आह्वान—काँग्रेस ने अपने सभी सदस्यों और सहायकों व मित्रों को सरकार के साथ असहयोग करने का आह्वान किया। विधानमन्डलों आदि का त्याग करके सारी शक्ति अहिंसात्मक-असहयोग-आन्दोलन पर लगाने का निश्चय हुआ।

महात्मा गाँधी के हाथों में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन (Civil Disobedience Movement) चलाने की पूरी शक्ति सौंप दी तथा गाँधी जी ने देश के सामने अहिंसा का मार्ग रखा। उन्होंने देश से अपील की कि अपने समूचे संघर्ष में हमें अहिंसा का अनुसरण करना चाहिये। फिर भी उन्होंने अपने साप्ताहिक पत्र यंग इण्डिया से स्पष्ट कर दिया कि इस बार चोरी-चोरा जैसी घटनाओं के कारण सत्याग्रह बन्द नहीं किया जा सकेगा तथा अन्तिम सत्याग्रही के जीवित रहने तक सत्याग्रह चलता रहेगा।

नमक सत्याग्रह—सत्याग्रह के नीतिशास्त्र के अनुसार भारत के तपोनिष्ठ सेनापति महात्मा गाँधी ने ११ मार्च १९३० को अपने अंग्रेज मित्र रेजीनाल्ड रेनॉल्ड्स के द्वारा एक पत्र लार्ड इरविन के पास भिजवा दिया जिसमें वाइसराय को सूचना दी गई थी कि यदि पत्र में उठाये गये मुद्दों पर अभीष्ट कार्यवाही सरकार की ओर से नहीं की गई तो महात्मा गांधी अपने साबरमती आश्रम के सहयोगियों सहित नमक कानून तोड़ कर सत्याग्रह शुरू कर देंगे। लार्ड इरविन ने इस पत्र पर कोई ध्यान नहीं दिया।

१२ मार्च १९३० को महात्मा जी अपने ७९ साथियों सहित साबरमती आश्रम से दाँडी की ओर चले। यह दांडी-अभियान भारत के इतिहास में अपना अद्भुत महत्व रखता है। संसार में सबसे बड़े और सत्तासम्पन्न साम्राज्य को यह एक ऋषि की अहिंसात्मक चुनौती थी, जिसका प्रभाव उस दिन कोई नही आंक सका था। एक अंग्रेज पत्रकार ब्रेसफोल्ड ने दांड़ी अभियान को क्रांति की प्रारम्भिक अवस्था कहकर उसका मजाक उड़ाया और उसने इस विचार को मूर्खतापूर्ण बताया कि 'समुद्र के पानी को कढ़ाई में उबालने से ब्रिटिश सम्राट पदच्युत हो जायगा'।

परन्तु गांधी जी निश्चित भाव से अपने अभियान पर पांव बढ़ाते रहे और आखिर जलियांवाला बाग हत्या कांड के स्मृति दिवस पर जिसे की राष्ट्रीय सप्ताह का प्रथम दिवस माना जाता है, महात्मा जी ने ६ अप्रैल को समुद्र का पानी उबाल कर अंग्रेजी शासन के प्रति सविनय अवज्ञा का प्रदर्शन किया। यह तो एक संकेत था, तरुण भारत इस संकेत की प्रतीक्षा में ही था। जहाँ नमक कानून तोड़ा जा सकता था वहाँ उसे खुले आम नमक बनाकर भंग किया गया और जहाँ खारा पानी नहीं मिल सकता था वहाँ दूसरे महत्वपूर्ण कानून तोड़े गये। अंग्रेजी माल का बहिष्कार और शराब की दुकानों पर धरना देना, जलूस निकालना तथा अंग्रेज सरकार के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता के उद्घोष उन्नत करना; यह एक सर्व-सामान्य कार्यक्रम बन गया। विद्यार्थी अपनी शिक्षा और वकील डाक्टर अपने-अपने पेशे छोड़कर आन्दोलन में कूदे। सरकारी नौकरों ने नौकरी छोड़ी और महात्मा की पुकार पर कुलीन परिवारों की सम्भ्रांत पर्दानशीन महिलायें घर की चाहर दीवारी और पर्दे की जेल तोड़ कर देश की आजादी की खातिर बाहर आयीं। एक ओर यह स्वतन्त्रता का नशा दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार के जुल्म और दमन का दौर। इलाहाबाद की सड़कों पर

अपने जवाहरलाल की वीरप्रसू माँ वन्दनीया स्वरूपरानी नेहरू का अंग्रेजी घोड़ों की टापों के नीचे कुचला जाना किस भारतीय के भीतर आजादी पर मर मिटने का संकल्प पैदा नहीं करेगा। हर जगह गिरफ्तारी, लाठी चार्ज, गोली चलाना, और पुलिस की घुड़दौड़ की आवाज सुनाई देती थी। यह समूचा दमन आजादी की आग में घी का काम कर रहा था। ज्यों-ज्यों दमन होता त्यों-त्यों भारत की तड़प बढ़ती और एक और कड़ा जवाब आन्दोलन की ओर से मिलता। लार्ड इरविन बहुत परेशान हुआ, सरकार भी तंग और दंग हो गई। नये अध्यादेश (Ordinances) बनाकर सरकार चलाई जा रही थी और कानूनों की खुलेआम हत्या हो रही थी।

पंडित जवाहरलाल नेहरू की गिरफ्तारी हुई और स्वतंत्रता की क्रान्ति का चमत्कार हुआ, बेटे ने बाप को अपना उत्तराधिकारी राष्ट्र-नायक घोषित किया। पंडित मोतीलाल नेहरू ने अपनी गिरफ्तारी पर डोर सरदार पटेल के हाथों में दी और यह क्रम तब तक चलता रहा जब तक वीरप्रसू भारत माता की कोख के हीरे आन्दोलन को नसीब होते रहे।

प्रथम गोलमेज परिषद्—इधर आन्दोलन अपने वेग में था उधर ब्रिटिश सरकार गोलमेज परिषद् की तैयारी कर रही थी। कांग्रेस के लिये कोई प्रश्न ही नहीं था कि वह भी इस परिषद् में भाग ले। व्यक्तिगत तौर पर अंग्रेज व भारतीय राजनीतिज्ञों ने जेल में महात्मा गाँधी और नेहरू पिता-पुत्र से भेंट करके कोई हल ढूंढना चाहा परन्तु वह सम्भव नहीं था क्योंकि गाँधी जी आत्म-निर्णय का अधिकार चाहते थे, सरकार उसके लिए अभी तैयार नहीं थी। आखिर देश में दमन और आन्दोलन चलता रहा तथा इंगलैंड में १२ नवम्बर १९३० से १९ जनवरी १९३१ तक गोलमेज परिषद् चलती रही।

गोलमेज परिषद् की समाप्ति पर उसमें हुए निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये असहयोगियों से भी सहयोग की मांग की गई। सरकार ने अपना रुख बदला, कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया तथा महात्माजी व कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों को जेल से छोड़ दिया गया। यह दिन था २६ जनवरी १९३१, ठीक वही दिन जब एक वर्ष पूर्व देश ने स्वतंत्र होने की पुनीत सौगन्ध ली थी।

'गाँधी-इरविन संधि'—इधर महात्मा जी और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य जेल से छोड़े गये उधर फरवरी के प्रथम सप्ताह में भारतीय प्रतिनिधि लंदन गोलमेज परिषद् से लौटे और संधि चर्चा आरम्भ हुई। भारत के दो प्रसिद्ध बैरिस्टर सर तेजबहादुर सप्रू और श्री एम० आर० जयकर महात्मा जी से मिले, बाद में श्री श्रीनिवास शास्त्री भी इनके साथ में हो गये। इन तीनों ने महात्माजी को विश्वास दिलाया कि ब्रिटिश सरकार भारत को आत्म-निर्णय का अधिकार सचमुच ही देना चाहती है। इस पर कांग्रेस ने महात्मा जी को अपनी ओर से पूरे अधिकार सौंप दिये ताकि वह लार्ड इरविन से कांग्रेस प्रतिनिधि की हैसियत से बात कर सकें। गाँधी-इरविन

चर्चा आरम्भ हुई तथा ५ मार्च १९३१ को प्रसिद्ध "गांधी-इरविन संधि" पर दोनों पक्षों के हस्ताक्षर हो गये ।

सन्धि की शर्तों के अनुसार गांधी जी ने काँग्रेस की ओर से सविनय-अवज्ञा आन्दोलन वापिस ले लिया, तथा गोलमेज परिषद् में भाग लेने की तैयारी प्रगट की । वाइसराय ने सरकार की ओर से तमाम सत्याग्रहियों को छोड़ने व उनकी अपहृत सम्पत्ति लौटाने का आश्वासन दिया तथा, समुद्र-तटवर्ती लोगों को बिना कर दिये नमक बनाने या इकट्ठा करने और मदिरा, अफीम व विदेशी वस्त्र की दूकानों पर शांतिपूर्ण पिकेटिंग करने की अनुमति दी ।

द्वितीय गोलमेज परिषद्—लार्ड इरविन के उत्तराधिकारी लार्ड विलिंगटन की नीति काँग्रेस के अनुकूल नहीं थी अतः दोनों ओर से संधि भंग के आरोप लगाये जाने आरम्भ हो गए । स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि गाँधी जी ने द्वितीय गोलमेज में भाग लेने के लिए लंदन जाने से इन्कार कर दिया । इस पर वाइसराय ने शिमला में गाँधी जी से भेंट की जिसके परिणामस्वरूप गाँधी जी (काँग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि) गोलमेज परिषद् में जाने के लिए तैयार हो गये । वाइसराय ने पंडित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीमती सरोजनी नायडू को भी आमंत्रित किया ।

उधर गोलमेज परिषद् के लिये भारत के सम्प्रदायवादी नेताओं को बुलाया गया था । निरंतर यह प्रयत्न किया गया कि काँग्रेस को नीचा दिखाया जाय । गाँधी जी परिषद् की बैठक शुरू होने के ५ दिन बाद १२ सितम्बर १९३१ को लन्दन पहुँचे, वास्तव में ब्रिटिश सरकार में रूढ़िवादी दल की प्रधानता के कारण परिषद् में मैत्री का वातावरण नहीं पैदा हो सका । यद्यपि परिषद् का उद्देश्य भारत के वैधानिक प्रश्न को सुलझाना था तथापि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने साम्प्रदायिक प्रश्न खड़ा करके मामले को उलझा दिया ।

फिर से सत्याग्रह—गाँधी जी ने २८ दिसम्बर को भारत लौटने पर देखा कि बंगाल मार्शल लॉ (फौजी शासन) के नीचे कराह रहा है, सीमाप्रान्त में लालकुर्ती दल को कुचला जा रहा है । उनके नेता सीमान्त गाँधी खान अब्दुल गफ्फार खाँ और उनके भाई डा० खाँ साहब को जेल में डाल दिया गया है तथा उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रान्त) में लगान-बन्दी आन्दोलन प्रांतीय काँग्रेस की ओर से चल रहा है । इतना ही नहीं पण्डित जवाहरलाल नेहरू और श्री शेरवानी गाँधी जी से मिलने के लिए बम्बई जाते समय रास्ते में ही बन्दी बना लिए गए । इससे गाँधी जी का हृदय विंध गया और उन्होंने वाइसराय को एक लम्बा तार दिया जिसमें इन अत्याचारों का उल्लेख करके उनका रुख पूछा, कि वे मैत्री चाहते है या नहीं । वाइसराय ने रूखा सा उत्तर दिया कि वे सरकार द्वारा उठाए गये किसी भी कदम को वापिस लेने के लिए तैयार नहीं हैं ।

काँग्रेस वर्किंग कमेटी (कार्यकारिणी समिति) ने इस उत्तर के आधार पर एक प्रस्ताव पास किया कि यदि सरकार अपना रुख बदलने को तैयार हो तो कांग्रेस

उसके साथ सहयोग करने को तैयार है अन्यथा उसे सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करना पड़ सकता है। सरकार ने सोचा कि इतना अवसर ही न दिया जाए कि काँग्रेस कुछ संगठन कर सके अतः तुरन्त गांधी जी से लेकर साधारण काँग्रेस कार्यकर्त्ताओं तक सभी काँग्रेस वालों को गिरफ्तार कर लिया गया।

आंदोलन ने गति ली और पहले चार महीने में लगभग ८०,००० गिरफ्तारियाँ हुईं जिनमें ६ हजार के लगभग महिलाएँ थीं। जेलों में स्थान नहीं मिलता था। उधर कड़े अध्यादेश (Ordinances) जारी किए गये थे। दमन का कुचक्र तेजी से घूमने लगा। लार्ड विलिंगटन का यह दावा कि वह छः सप्ताह के भीतर आंदोलन को कुचल देगा, झूठा सिद्ध हुआ। १९३२ का काँग्रेस अधिवेशन सरकार की पूरी सतर्कता के बावजूद भी दिल्ली में घण्टाघर के नीचे सम्पन्न हुआ। उसके बाद फिर तेजी से गिरफ्तारियों की बाढ़ आई। अगला अधिवेशन कलकत्ते में ऐसे ही हुआ। उस समय तक पिछले पन्द्रह महीनों में सवा लाख व्यक्ति जेलों में जा चुके थे फिर भी सत्याग्रहियों की कमी नहीं थी।

इस बीच १७ अगस्त १९३२ को ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने 'साम्प्रदायिक-निर्णय' (Communal Award) की घोषणा की जिसमें सबसे भयंकर विश्वासघात यह था कि हरिजनों को हिन्दुओं से अलग करने के लिए उनके लिए पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन (Separate Electorates) की व्यवस्था की गई थी।

उपवास और पुनः सन्धि—गाँधी जी ने सर सेम्युअल होर को एक पत्र लिख कर अपना विरोध प्रगट किया और घोषणा कर दी कि यदि हरिजनों को हिन्दुओं से इस प्रकार अलग किया गया तो वह जान की बाजी लगा देंगे। सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और गाँधी जी ने आमरण उपवास (अनशन) की घोषणा कर दी। २० सितम्बर १९३२ को उपवास आरम्भ हो गया। उधर सारा देश अन्धकार और निराशा में डूब गया। चारों ओर से गाँधी जी को उपवास तोड़ने के लिए निवेदन हुआ परन्तु गाँधी जी अविचल रहे, उपवास को तोड़ने के लिए सरकार की यह घोषणा आवश्यक थी कि वह हरिजनों को पृथक निर्वाचन द्वारा हिन्दुओं से अलग नहीं करेगी।

पण्डित मदनमोहन मालवीय ने बम्बई में एक सभा बुलाई और उसके परिणामस्वरूप पूना में यह निर्णय हुआ कि हरिजनों के लिये ७१ के स्थान पर १४८ स्थान सुरक्षित रक्खे जाएं परन्तु चुनाव सभी हिंदुओं का संयुक्त (Joint) हो। सरकार ने भी इसे स्वीकार कर लिया और गांधी जी का उपवास टूट गया।

आन्दोलन मन्द गति से चल रहा था। इसी बीच यरवदा जेल से अचानक गाँधी जी ने आत्म-शुद्धि और हरिजन-उद्धार के लिये २१ दिन का उपवास करने के निर्णय की घोषणा की। ८ मई १९३३ को उपवास आरम्भ हुआ और सरकार ने उन्हें उसी दिन जेल से छोड़ दिया। जेल से छूटते ही उन्होंने काँग्रेस अध्यक्ष को

६ सप्ताह के लिए आँदोलन बंद करने को कहा तथा सरकार से अपील की कि वह राजनीतिक बंदियों को छोड़ दे तथा अपने आर्डिनेन्स वापिस ले ले। सरकार चुप थी छः सप्ताह और आंदोलन बंद रहा। सरकार बिना शर्त आंदोलन की वापसी चाहती थी। गाँधी जी ने आदेश दिया कि सामूहिक सत्याग्रह बंद करके व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू किया जाये और स्वयं साबरमती आश्रम भंग करके गुजरात के खेड़ा जिले में सत्याग्रह किया। अब व्यक्तिगत सत्याग्रह की बाढ आई। गांधी जी को एक वर्ष की सजा हुई। यरवदा जेल में उन्होंने 'हरिजन' पत्र निकालने की सरकार से इजाजत चाही वह न मिलने पर उपवास का निर्णय किया। उस पर सरकार ने उन्हे फिर जेल से छोड़ दिया। इस बार अपनी एक साल की अवधि पूरी होने तक गांधी जी हरिजनोत्थान के लिये देश में घूमे और उसी सिलसिले में भूचाल से पीड़ित बिहार की सेवा के लिये भी आ पहुँचे। कुछ समय बाद उन्होंने व्यक्तिगत-सत्याग्रह बंद करने के लिए भी कह दिया और इस प्रकार आन्दोलन बिना किसी शर्त के बंद कर दिया गया। यह काँग्रेस की करारी हार थी परन्तु इससे उसमें त्याग के तेज का बल उदय हुआ तथा देश में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। सरकार विजयी होते हुये भी समझ गई कि काँग्रेस को कुचलना सम्भव नहीं था।

मई १९३४ के पटना अधिवेशन में कांग्रेस ने विधान-मंडल-प्रवेश का कार्यक्रम स्वीकृत किया।

फिर से गोलमेज परिषद्—कांग्रेस जिस समय लोहे के सींखचों के पीछे बंद थी उसी समय सन् १९३२ में १७ नवम्बर से २४ दिसम्बर तक तृतीय-गोलमेज परिषद् की बैठक लंदन में हुई। इसमें काँग्रेस के प्रतिनिधि शामिल नहीं थे किंतु भारत से सरकार के अत्यन्त विश्वास-पात्र लोगों को ले जाया गया था। इंग्लैंड में ब्रिटिश लेबर पार्टी (श्रम दल) ने परिषद् की चर्चा में भाग लेने से इंकार कर दिया क्योंकि वह रूढ़िवादी दल (Conservative Party) की नीति से असन्तुष्ट था।

चर्चा के मुद्दों के आधार पर श्वेत पत्र (White Paper) सरकार की ओर से प्रकाशित किया गया जिस पर संयुक्त संसदीय समिति (Joint Parliamentary Committee) ने डेढ़ वर्ष तक काट-छाँट की उसके बाद संसद ने उसमें काँट-छांट करके १९३५ के 'भारत शासन अधिनियम' (Government of India Act of 1935) के रूप में पारित किया।

कांग्रेस ने अपने फैजपुर अधिवेशन में इस अधिनियम (Act) की कड़ी आलोचना की। सरकार ने इस अधिनियम के उस भाग को लागू करने का निश्चय कर लिया जिसका सम्बन्ध गवर्नरों के प्रांतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना से था। इसके लिए साधारण चुनावों की व्यवस्था आरम्भ हो गई। काँग्रेस ने इन चुनावों में भाग लेने का निर्णय किया। चुनावों में काँग्रेस को अप्रत्याशित सफलता मिली। उसे संयुक्त प्रात (उत्तर प्रदेश), उत्कल, मध्य-प्राँत (मध्य प्रदेश), मद्रास, बिहार और बम्बई में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। आसाम, बंगाल और सीमाप्रांत में वह

विधान मंडल में सबसे बड़ा दल था परंतु उसे वहाँ बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था। पंजाब और सिंध में उसे अधिक स्थान नहीं मिले थे। अन्य कोई राजनीतिक दल इतना संगठित और प्रमुख नहीं था। काँग्रेस ने विधान मंडलों में जाते ही अपने को सुदृढ़ अनुशासन और शिस्त में बाँध लिया। काँग्रेस हाई कमांड के हरेक आदेश का पालन प्रत्येक विधायक (Member of a Legislative Body) के लिये अनिवार्य था। हाई कमाण्ड की बागडोर भारत के लौह पुरुष सरदार पटेल, पंडित नेहरू और गांधी जी जैसे राष्ट्र नायकों के हाथों में थी।

काँग्रेस की शर्त—कांग्रेस बहुमत वाले प्रांतों में गवर्नरों ने कांग्रेसी नेताओं को मंत्रिमंडल निर्माण करने के लिए निमंत्रित किया परन्तु वे इस शर्त पर मंत्रि-मंडल बनाने को तैयार थे कि गवर्नर उन्हें अपनी शक्तियाँ प्रयोग न करने का आश्वासन दें। इस शर्त से एक संघर्ष खड़ा हो गया। गवर्नर संविधान में संशोधन के बिना अपनी विशेष-शक्तियां छोड़ने को तैयार नहीं थे, दूसरी ओर गांधी जी का कहना था कि ब्रिटिश सांविधानिक परम्परा के अनुरूप प्रान्तों के वैधानिक प्रमुखों अर्थात् गवर्नरों को अपने अधिकार प्रयोग में न लाने की परम्परा डालनी चाहिये।

पंजाब, बंगाल, सिंध और सीमा प्रांत में बहुमत दलों ने इस प्रकार की कोई शर्त नहीं लगाई, अतः फलस्वरूप वहाँ १ अप्रैल १९३७ को मंत्रिमंडलों का निर्माण हो गया। कांग्रेस बहुमत वाले प्रान्तों में भी अन्तरिम मंत्रिमंडल गवर्नरों द्वारा निर्माण कर दिये गये।

सरकार की स्वीकृति—इसी बीच २१ जून को तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड लिनलिथगो ने एक घोषणा की जिससे कांग्रेस वर्किंग कमेटी को एक मौका मिल गया और उसने कांग्रेसी बहुमत वाले प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों के निर्माण की अनुमति प्रदान कर दी।

काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल—इस प्रकार जुलाई १९३७ में छः काँग्रेस बहुमत प्रान्तों में अन्तरिम मंत्रिमण्डल भंग करके काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों की स्थापना की गई। कुछ समय बाद सीमाप्रान्त में भी काँग्रेस का मंत्रिमंडल बन गया। काँग्रेसी-मण्डलों के निर्माण से देश में एक आत्म-विश्वास पैदा हुआ अंग्रेजों को एक करारा प्रत्युत्तर मिला कि काँग्रेस केवल अड़ंगा लगाना ही नहीं जानती है वरन् वह सक्रिय रूप से देश का प्रशासन चलाने में भी कुशल है।

युद्ध का प्रश्न और कांग्रेस द्वारा पदत्याग—काँग्रेस आरम्भ से ही नाजीवाद (Nazism) तथा फासीवाद (Fascism) के विरुद्ध थी, फिर भी उसने स्पष्ट घोषणा की थी कि भारत को संसार के किसी युद्ध में शामिल नहीं करना चाहिये। इधर यूरोप पर युद्ध के बादल मँडरा रहे थे। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की स्पष्ट घोषणा के बावजूद भी अगस्त १९३९ में मिश्र, अदन और सिंगापुर के लिए भारतीय सैनिक-दस्ते रवाना कर दिये। साथ ही प्रान्तीय विधान मण्डलों से बिना पूछे ही १९३५ के भारत शासन अधिनियम में इस प्रकार के संशोधन कर दिए गये जिससे कि युद्ध की

अवस्था में शासन की समूची सत्ता केन्द्रीय शासन के हाथों में केन्द्रित हो सके। इस नीति के विरोध में कांग्रेस ने अपने सदस्यों को केन्द्रीत विधान-सभा के अगले सत्र (Session) में अनुपस्थित रहने का आदेश दिया। साथ ही अगस्त में यह प्रस्ताव भी पारित किया कि यदि सरकार भारत में लोकतंत्र की स्थापना नहीं करना चाहती तो भारत युद्ध में कोई सहायता नही देगा। भारत सरकार के किसी भविष्य-सम्बन्धी वायदे पर भरोसा नहीं करेगा। सरकार को चाहिए कि वह तुरन्त भारत में राष्ट्रीय केन्द्रीय शासन की स्थापना करे।

परन्तु ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के प्रस्ताव पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस हाई कमाण्ड के आदेश पर आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये और गवर्नरों ने उन्हें तुरन्त स्वीकार करके १९३५ के भारत शासन अधिनियम की धारा ९३ के अन्तर्गत सलाहकार मण्डल बना कर स्वयं शासन करना शुरू कर दिया।

अगस्त घोषणा—तत्कालीन वाइसराय ने ८ अगस्त १९४० को एक वक्तव्य प्रकाशित किया और घोषित किया कि ब्रिटिश सरकार युद्ध की समाप्ति पर यथाशीघ्र भारत में औपनिवेशिक स्वशासन की स्थापना करने को उत्सुक है तथा युद्धोपरांत वह भारतीय राष्ट्रीय जीवन के प्रमुख अंगों के प्रतिनिधियों को लेकर एक संविधान निर्मातृ परिषद् की स्थापना करेगी जो भारत की भावी शासन-व्यवस्था की रूप रेखा निर्धारित करेगी।

पुनः संघर्ष के पथ पर—महात्मा गाँधी ब्रिटिश सरकार की अगस्त घोषणा से बहुत खिन्न हुए तथा उन्होंने कांग्रेस को 'व्यक्तिगत-सत्याग्रह' के लिए तैयार किया। सत्याग्रहियों को भाषण देने की स्वतंत्रता का उपयोग करने और युद्ध विरोधी प्रचार का आदेश कांग्रेस ने दिया। प्रथम सत्याग्रही महर्षि विनोबा भावे थे। सरकार ने उन्हें और उनके बाद लगभग ३० हजार सत्याग्रहियों को जेल में ठूँस दिया।

अचानक सरकार ने १९४१ के अन्त में समस्त सत्याग्रहियों को जेल-मुक्त (release) कर दिया। उधर जापान ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया तथा वह तेजी से भारत की सीमा की ओर बढ़ रहा था—इस कारण देश में एक भय तथा आशंका की स्थिति पैदा हो जाने से दिसम्बर १९४१ में सत्याग्रह को बंद कर दिया गया।

क्रिप्स योजना (Cripps Mission)—ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने ११ मार्च १९४२ को घोषणा की कि संसद-सदस्य सर स्टेफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश सरकार का प्रस्ताव लेकर भारत जायेंगे। श्री क्रिप्स २२ मार्च को दिल्ली पहुँच गये तथा वाइसराय व भारतीय नेताओं से चर्चा शुरू की, यह चर्चा अन्त में असफल रही।

'भारत छोड़ो' प्रस्ताव—इसी बीच महात्मा जी ने अपने लेखों द्वारा लोकमत को संगठित करना शुरू किया। ७ व ८ अगस्त १९४२ को बम्बई में कांग्रेस की बैठक हुई तथा महात्मा जी ने 'करो या मरो' की पुकार के साथ 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पेश

किया जो सर्व सम्मति से स्वीकार कर लिया गया। गांधी जी चाहते थे कि यह प्रस्ताव वाइसराय को भेजकर उसे समय दिया जाय, चर्चाएँ हों तथा यदि सरकार अपना रुख न बदले तो संघर्ष छेड़ा जाय। लेकिन सरकार उत्तेजित हो गई और उसने ९ अगस्त को सवेरे ही समूचे देश में महात्मा गाँधी से लेकर प्रत्येक प्रभावशाली कांग्रेस-जन को एक साथ देश के भिन्न भागों में नजरबंद कर दिया।

इससे देश में क्रोध और उत्तेजना की लहर फैल गई। 'करो या मरो' का मंत्र देश के बाल, वृद्ध-युवा, मजदूर-किसान, नाई-धोबी, वकील-डाक्टर सभी की नसों में ताजा खून भरने लगा तथा देश के इस छोर से उस छोर तक एक ही आवाज सुनाई देती थी—'अंगरेजो भारत छोड़ो'। सरकार का दमन-चक्र तेजी से चला। बलिया की हवाई बमबारी और आष्टी-चिमूर के हत्या-कांड को कौन भूल सकता है? लाखों देशभक्त गोलियों के सामने लोट-पोट हो गये, कितने ही जेलों में ठूँस दिये गए। सरकार ने अनेक प्रकार से दमन व अत्याचार किया।

सरकार ने एक श्वेत पत्र प्रकाशित करके महात्मा गाँधी और काँग्रेस कार्य-समिति पर हिंसात्मक षड्यंत्र का दोषारोपण किया। गांधी जी ने सरकार से कहा कि यदि वह उन्हे अकेले को हिंसा के लिए उत्तरदायी मानती है तो उसे उनके सामने प्रमाण देना चाहिये और यदि वह कांग्रेस की ओर से गांधी जी को प्रतिनिधि मानती है तो उन्हें कार्य-समिति के लोगों के बीच में रखे। परन्तु सरकार के कान पर जूँ तक न रेंगी और उसने उन्हें अपनी सफाई पेश करने का कोई अवसर नहीं दिया।

संकट की वह घड़ियां—महात्मा जी सरकार की इस मक्कारीपूर्ण चुप्पी पर खीझ गए और उन्होंने ईश्वर के सामने अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये १९ फरवरी १९४३ से २१ दिन का अनशन आरम्भ कर दिया। सरकार इस समाचार को छुपा न सकी। देश सन्न रह गया। दुर्बल शरीर तिस पर भी ७३ वर्ष की आयु। राष्ट्र अधीर हो गया। उधर वाइसराय के कार्यकारिणी-परिषद् के सदस्य (Executive Councillors) श्री होमीमोदी, एम० एस० अणे और नलिनी रंजन सरकार ने सरकार से असहयोग करके अपने पद का त्याग कर दिया। ईश्वर की कृपा और भारत के सौभाग्य से संकट की घड़ियां निकल गईं, गांधी जी ने उपवास शान्ति से पूरा कर लिया।

गाँधी जी छूटे—अप्रैल १९४४ में गाँधी जी के स्वास्थ्य की स्थिति बहुत खराब हो गई, उनकी दशा गम्भीर हो गई। इस अवसर का लाभ उठाकर वाइसराय ने उन्हें मई में छोड़ दिया।

संघर्ष से स्वाधीनता

महात्मा जी ने जेल से छूटने के पश्चात् भरसक इस बात का प्रयत्न किया कि तत्कालीन गतिरोध (Deadlock) का कोई हल निकल आये, परन्तु लार्ड वेवल का रुख कड़ा रहा और वह 'भारत छोड़ो-आन्दोलन' के वापिस लेने पर जोर

देते रहे। अकेले गांधी जी तो आन्दोलन वापिस ले नहीं सकते थे. इस प्रश्न पर विचार करने के लिए जब उन्होंने अहमदनगर किले में नजर-बन्द कांग्रेस कार्य-समिति से भेंट करनी चाही तो उन्हें इसकी अनुमति प्रदान नही की गई।

शिमला सम्मेलन—लार्ड वेवल ने भारत आने पर मई १९४४ मे गांधी जी को जेल से छोड़ दिया था, इससे भारतीय प्रश्न का हल नहीं हुआ। ब्रिटिश सरकार इस प्रश्न को चुनाव से पहले हल करना चाहती थी क्योंकि ब्रिटेन का लोकमत भारत के पक्ष में बन रहा था। अतः श्री चर्चिल ने लार्ड वेवल को चर्चा के लिए लन्दन बुलाया। वहां से लौटने पर १४ जून १९४५ को लार्ड वेवल ने भारतीय रेडियो से तथा भारत मन्त्री श्री एमरी ने ब्रिटिश लोक-सभा में एक साथ एक भाषण में भारतीय प्रश्न हल करने के बारे में सरकार द्वारा बनाई गई योजना लोगों के सामने रखी।

इस योजना पर विचार करने के लिए १६ जून १९४५ को कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों को जेल से मुक्त कर दिया गया। २५ जून को शिमला-सम्मेलन बुलाया गया जिसमें सरकारी प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कांग्रेस, मुस्लिम लीग, सिक्खों व परिगणित जातियों के प्रतिनिधि तथा विधान सभा के योरोपियन सदस्य इकट्ठे हुए, परन्तु वहां भी मुस्लिम लीग यह दावा करती रही कि वही मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि है। कांग्रेस को यह मान्य नहीं हुआ, वह भारत के राष्ट्रीय मुसलमानों को नहीं भुला सकती थी। बस, इसी प्रश्न पर शिमला सम्मेलन असफलता में अन्त हो गया।

चर्चिल की हार व भारत में चुनाव—१९४५ के ब्रिटिश-चुनावों में चर्चिल और उनके रूढ़िवादी दल की हार हो गई, वे बहुमत प्राप्त न कर सके। परिणाम-स्वरूप श्री एटली ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री बने और लार्ड पेथिक लारेन्स भारत-मन्त्री बने। श्रम दल (Labour Party) की सरकार बनने पर तुरन्त भारत और ब्रिटेन में यह घोषणा की गई कि भारतीय विधान मण्डलों के लिए निर्वाचन किये जायेंगे, तथा भारत में एक सर्वप्रिय संविधान निर्मातृ परिषद् (Constituent Assembly) का संगठन किया जायगा जो भारत के लिए संविधान तैयार करने का काम करेगी। काँग्रेस ने चुनाव में भाग लेने का निर्णय किया तथा उसने अपने घोषणा पत्र में यह बात ज़ाहिर की कि कांग्रेस अभी तक ८ अगस्त १९४२ के 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पर अटल है तथा उसी उद्देश्य की परिपूर्ति के निमित्त वह चुनाव लड़ना चाहती है।

कांग्रेस को चुनावों में भारी विजय प्राप्त हुई। उसे एक करोड़ नब्बे लाख मत प्राप्त हुए, जिससे स्पष्ट था कि मतदाताओं का बहुमत 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव का अनुमोदन कर रहा था, तथापि उसे मुसलमानों का विश्वास प्राप्त न हो सका। कुल ५ लाख मुस्लिम-मत उसे मिले जबकि मुस्लिम लीग को १५ लाख अर्थात् मुस्लिम मतों का तीन चौथाई बहुमत प्राप्त हुआ था। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान और मुसलमानों

की एकमात्र प्रतिनिधि होने की मांग को इससे बल मिला। इस प्रकार इन चुनावों से दो निष्कर्ष निकले—

(१) भारत की जनता स्वाधीनता चाहती, है तथा

(२) भारत के मुसलमान पाकिस्तान चाहते हैं।

चुनाव के परिणामस्वरूप बंगाल और सिन्ध में मुस्लिम लीग का मन्त्रिमंडल बना, पंजाब में यूनियनिस्ट दल का, शेष प्रान्तों में कांग्रेस का।

केबिनेट मिशन (मन्त्री शिष्टमण्डल)

ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री ऐटली ने घोषणा की कि ब्रिटिश-मन्त्रिमंडल के तीन सदस्यों—श्री पेथिक लारेंस, श्री अलेक्जेण्डर और श्री क्रिप्स का एक शिष्टमण्डल भारतीय समस्या के समाधान के लिये भारत भेजा जायेगा। यहां हम इस मन्त्रिशिष्टमण्डल की योजना का उल्लेख नहीं करेंगे, इतना कह देना पर्याप्त होगा कि देश के राजनीतिक दलों के रुख में शुरू में परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु बाद में जब कांग्रेस ने यह देख लिया कि मुस्लिम लीग इस बार भी रोड़ा अटकाना ही चाहती है तो उसने पाकिस्तान की मांग को मंजूर कर लिया।

अन्तरिम सरकार की स्थापना—२ सितम्बर १९४६ को भारत में प्रथम बार केन्द्र में एक अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई परन्तु इसमें केवल कांग्रेस के सदस्य थे मुस्लिम लीग ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया था। मुस्लिम लीग ने इसके विरुद्ध सीधी कार्यवाही शुरू की जिसके परिणामस्वरूप देश भर में साम्प्रदायिक दंगे और भयंकर रक्तपात हुआ। २६ अक्तूबर को मुस्लिम लीग के पाँच प्रतिनिधि भी अन्तरिम सरकार में शामिल हो गये लेकिन उनका उद्देश्य शासन के मार्ग में रोड़े अटकाना था।

संविधान सभा—मन्त्रिशिष्ट-मण्डल योजना के आधार पर एक संविधान सभा का निर्माण हुआ तथा ९ दिसम्बर १९४६ को दिल्ली में उसकी बैठक आरम्भ हुई उसमें लीग के प्रतिनिधियों ने कोई भाग नहीं लिया परन्तु अपना काम करती रही। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अपने उद्घाटन भाषण में घोषणा की कि यह सभा पूर्णत: स्वतंत्र और सर्वसत्ता-सम्पन्न होगी तथा इसका बनाया हुआ संविधान देश पर लागू किया जायेगा।

भारत छोड़ने का निश्चय—ब्रिटिश सरकार की नीति तेजी से बदल रही थी, भारत के वाइसराय लार्ड वेवल को वापिस बुलाकर उदारमना लार्ड माउण्टबेटन को उनके स्थान पर भारत भेजा गया। ३ जून को लार्ड माउण्टबेटन ने घोषणा की कि मुस्लिम प्रान्तों और जिलों को आत्म-निर्णय का अधिकार होगा तथा देश को शीघ्र ही स्वतंत्रता दी जायेगी। कांग्रेस ने अन्ततोगत्वा घुटने टेक दिये और देश के विभाजन को दुखी मन से स्वीकार कर लिया। गाँधी जी को इससे बहुत ठेस पहुँची

परन्तु वे लाचार थे, मुसलमानों को वह किसी तरह तैयार न कर सके कि देश बँटने से बच सकता।

१५ **अगस्त** १९४७—आखिर ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वाधीनता अधिनियम पारित कर दिया तथा १४ अगस्त को रात के शून्य घण्टे पर भारत व पाकिस्तान नामक दो भागों में प्राचीन भूखण्ड भारतवर्ष को विभक्त करके इन्हें स्वतंत्र कर दिया। १५ अगस्त भारत के इतिहास में सदा अमर रहेगा। परन्तु इस दिन देश खुशी न मना सका, पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं पर घोर अत्याचार हो रहा था। महात्मा गाँधी इस दिन अकेले नोआखाली के तंग रास्तों पर नंगे पाँव शांति का संदेश सुना रहे थे, वे लालकिले पर तिरंगे राष्ट्रध्वज का फहराना अपनी आंखों से न देख सके। वह दिन हमारी स्वतंत्रता का प्रथम दिन था।

उग्रवादी क्रांतिकारी आन्दोलन

यद्यपि भारत की जनता परम्परा से शांति और अहिंसा-प्रिय रही है, तथापि ब्रिटिश सरकार की दमन तथा अत्याचारों की बर्बर नीति ने भारत के कुछ तरुण देश-भक्तों के हृदय में प्रतिहिंसा और सशस्त्र क्रांति की ज्वाला भड़का दी।

जन्म—उग्रवादिता का जन्म लोकमान्य तिलक और राष्ट्र केसरी लाला लाजपतराय के हाथों हुआ। पूज्य तिलक महाराज ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी कि 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर ही रहूँगा।' इन दो राष्ट्र पुरुषों को पुराने नेताओं की राजनीतिक-भिखमंगेपन की नीति में विश्वास नहीं था। वे चाहते थे कि भारत और काँग्रेस अंग्रेजी शासन पर से अपना विश्वास हटा लें। एवं अपने स्वयं के बल पर स्वतंत्रता प्राप्त करें। श्रद्धेय लालाजी ने साफ घोषणा की कि 'भारतीयों को अब अपने राजनीतिक भिखारीपन से संतुष्ट नहीं रहना चाहिये तथा अंग्रेजी सरकार की कृपा-दृष्टि प्राप्त करने का लोभ नहीं करना चाहिये। यदि उन्हें सचमुच अपने राष्ट्र-हित की चिंता है तो उन्हें उसके लिए स्वयं प्रयत्न करना होगा।'

इतना होने पर भी श्री लोकमान्य तिलक और पूज्य लाला जी ने खुले आम हिंसा का प्रसार नहीं किया तथा उन्होंने जनता को सशस्त्र-क्रांति के लिए नहीं उकसाया। भारत में उग्रवादी-क्रांतिकारी आन्दोलन का व्यवस्थित प्रारम्भ बंग विभाजन (Partition of Bengal) के समय हुआ। सरकार की निर्दय दमन-नीति ने प्रतिहिंसा के बीज का पोषण किया और रवीन्द्रकुमार घोष (श्री अरविन्द महर्षि के भाई) तथा श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द के भाई) के नेतृत्व में हिंसात्मक कार्यवाहियों का सरकार के विरुद्ध संगठन आरम्भ हुआ।

उनका ऋण—इस आन्दोलन का विस्तृत इतिहास देना सम्भव नहीं है। इसका उद्देश्य भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराना ही था, परन्तु इसके अनुयायियों को शस्त्र पर भरोसा था और उन्होंने जैसा इतिहास में देखा था वैसा ही सोचा कि शस्त्र के बल पर अंग्रेजों से राज्य छीन लिया जाये। इसके नेताओं के कुछ नाम इस प्रकार हैं—

श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा, चपेकर बन्धु, श्री विनायक दामोदर सावरकर, श्री रास बिहारी घोष, सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, श्री रामप्रसाद बिस्मिल, श्री हरदयाल, श्री सुभाषचन्द्र बोस, राजा महेन्द्रप्रताप । इनके अतिरिक्त अनेक वीरों ने अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध हिंसा की वेदी पर अपने प्राणों की बलि दी है। हमारा मस्तक उनके सामने झुकता है, उनकी देश-भक्ति की उत्कट भावना का सम्मान हमें करना ही चाहिए । हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि उग्रवादी क्रांतिकारियों की कार्यवाहियों और उनके बलिदानों से देश के भीतर शौर्य तथा तेजस्विता का उदय हुआ । भारत माता के उन सपूतों को हमारा शतशः प्रणाम है जिन्होंने उसकी खातिर अपने जीवन को होम दिया ।

ब्रिटिश नीति

बम्बई के गवर्नर श्री लार्ड एलफिंसटन ने १४ मई १८५९ को कहा था कि 'प्राचीन रोमन नीति भेद-भाव पैदा करके शासन की थी, वही हमारी भी होनी चाहिए ।' यह सुझाव अंग्रेजी शासकों के सम्मुख रखा गया और उन्होंने इसी मौलिक आधार पर अपनी प्रशासकीय नीतियों (Administrative Policies) का निर्माण किया । भारत तो एक बहुत विशाल देश है, कुछ लोग इसे उप-महाद्वीप (Sub-continent) भी कहते हैं यहाँ एक आंतरिक एकता तथा एक-सूत्रता के बावजूद भी विविधता का प्राधान्य है । विविध भाषायें, अनेक धर्म, पृथक भौगोलिक स्थितियाँ, भिन्न रीति-रिवाज, विविध प्रकार की वेश-भूषा इस देश में पाई जाती हैं । अंग्रेजों ने भारत की इस विविधता और विभिन्नता का दुरुपयोग देश के लोगों के बीच भेद-भाव की नीति को दृढ़ करके अपने शासन को पक्की नींव पर जमाने के लिए किया। उन्होंने जाति भेद, भाषा भेद तथा धर्म भेद को खूब बढ़ावा दिया । जाति और भाषा के भेद तो अंग्रेजी भाषा के प्रसार और राष्ट्रीयता के विकास के साथ कम होते चले गये परन्तु धर्म-भेद को यहाँ के धर्म प्राण लोगों ने स्वीकार कर लिया । यहीं से भारत में साम्प्रदायिकता के इतिहास के काले पन्ने खुलते हैं। भारत के दो बड़े धर्मों हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच भेद-भाव की खाई चौड़ी होती चली गई और आखिर एक दिन दो राष्ट्रों के सिद्धान्त (Two Nation Theory) को स्वीकार करके हिन्दुस्तान को भारत और पाकिस्तान में खण्डित कर दिया गया । अंग्रेजों ने भारत के लोगों में फैले हुए भेद-भाव की भावनाओं को भड़काकर उनको दुर्बल बनाया । शासन करने के लिए यह आवश्यक है कि शासित दुर्बल ही बना रहे इस प्रकार अंग्रेजों की भारत में राज्यनीति का मूल सूत्र 'बाँटो और राज्य करो' था ।

स्वतंत्रता

१५ अगस्त १९४७ को भारत ने अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाई परन्तु अपना राष्ट्रीय संविधान तैयार न होने के कारण २६ जनवरी १९५० तक भारत ब्रिटिश-उपनिवेश रहा तथा उसकी राज-सत्ता ब्रिटेन के राजमुकुट में सन्निहित रही; पहले की

ही भाँति गवर्नर-जनरल देश के शासन का प्रमुख एवं ब्रिटिश सम्राट का प्रतिनिधि बनकर रहा। स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर-जनरल लार्ड माउन्टबेटन थे उनके पश्चात् प्रथम और अन्तिम भारतीय गवर्नर-जनरल भारतीय राजनीति के भीष्म श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी बने।

२६ जनवरी १६५० को संविधान निर्मातृ परिषद् (Constituent Assembly of India) द्वारा निर्मित संविधान को देश में लागू किया गया एवं यह घोषणा की गई की भारत में एक सर्वप्रभुता-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य संघ की स्थापना की गई है। नये संविधान के अन्तर्गत देशरत्न डा० राजेन्द्र प्रसाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति चुने गये, सौभाग्य से वही राष्ट्रीय संविधान निर्मातृ परिषद् के अध्यक्ष भी थे अतएव अपनी संरक्षता में बने संविधान को व्यवहृत करने का भार भी उन पर पड़े यह राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ हित में ही था।

योग्यता-प्रश्न

१. भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर महात्मा गांधी के प्रभाव का वर्णन कीजिये।
Give an account of the influence of Mahatma Gandhi upon the Indian National Movement.

२. भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना किस प्रकार हुई ? विस्तार से लिखिये।
How was Indian National Congress established ? Write in detail.

३. क्या काँग्रेस आरम्भ से ही भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता चाहती थी ? पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य कब और किस प्रकार घोषित किया गया ?
Did Congress aim at achievement of Complete Independence for India from the very beginning of its life ? When and how was the aim of Complete Independence declared ?

४. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
Describe in brief the important events of Indian National Movement.

५. निम्न पर संक्षिप्त व्याख्या लिखिये:—
(क) साइमन कमीशन
(ख) जलियाँ वाला बाग का काण्ड
(ग) स्वराज्य पार्टी
(घ) कैबिनेट मिशन
Write short notes on the following:—
(a) Simon Commission.
(b) Jalianwala Bagh Tragedy.
(c) Swarajya Party.
(d) Cabinet Mission.

अध्याय २१

भारत का आधुनिक सांविधानिक विकास

(सन् १७७३ ई० से १९४७ ई० तक)

"किसी देश का संविधान सर्वदा एक प्रगतिशील क्रम है। यह विकसित तथा विस्तृत होने वाली सजीव वस्तु है, निष्प्राण एवम् गतिशून्य नहीं। यह सदा भूतकाल से वर्तमान में तथा वर्तमान से भविष्यत में कुछ न कुछ अभिवृद्धि करता है। अत: अपने नवीन संविधान के समुचित ज्ञान के लिए हमें अपने बौद्धिक क्षितिज को विस्तृत करके उन पूर्वगामी शासन पद्धतियों का अध्ययन करना होगा जिन्होंने उसके विकास में योग दिया है।
--प्रोफेसर जे० पी० सूद

भारत का वर्तमान संविधान पूर्णतया निर्मित है, उसकी रचना भारतीय संविधान निर्मातृ परिषद् ने की है तथा उसे एक निश्चित तिथि अर्थात् २६ जनवरी १९५० को देश में लागू किया गया है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि भारत के सांविधानिक विकास की चर्चा किस आधार पर की जा सकती है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि हमारे स्वतन्त्र-संविधान की रचना एक आलेख (Document) के रूप में एक निश्चित समय व स्थान पर निश्चित व्यक्तियों और प्रभावों द्वारा हुई है, परन्तु जैसा कि आगे के विवरण से स्पष्ट होगा उसकी आत्मा का क्रमगत विकास भारत की ब्रिटिश शासनकालीन वैधानिक परम्परा के अन्तर्गत हुआ है। सावधानी से देखने पर पता लगता है कि ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल से १९५० तक भारतीय संविधान एक निश्चित दिशा में विकसित हुआ है। यह दिशा है भारतीय जनता के हाथों में स्वायत्त सत्ता का हस्तान्तरण एवं राज्य का संघीय स्वरूप। संविधानिक विकास की इस परम्परा का उल्लेख यहाँ इसी दृष्टि से करने की चेष्टा की गई है।

इस विकास का अध्ययन हम दो खण्डों में करेंगे। इसका प्रथम खण्ड 'भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन', एवं द्वितीय खण्ड, भारत में 'ब्रिटिश संसद का शासन' है। इन दो खण्डों का विभाजक वर्ष १८५८ है जबकि ब्रिटिश संसद ने भारत के शासन की बागडोर अपने हाथों में सम्भाली एवं महारानी विक्टोरिया ने भारतीय जनसाधारण को ब्रिटिश जनता की भाँति अपनी प्रिय प्रजा कह कर सम्बोधित किया। यह स्मरण रखना चाहिए कि कम्पनी के शासन काल में कम्पनी के निरंकुश

शासन को नियंत्रित करने का कार्य ब्रिटिश संसद करती थी तथा सीधे ब्रिटिश-संसद के शासन में उसके निरंकुश शासन पर लगाम लगाने का कार्य भारत के राष्ट्रीय आंदोलन ने किया, उसने उसे स्वतन्त्रता की दिशा में वाध्य करके अंत में उसकी सत्ता को ठीक ९० वर्षों के पश्चात् समाप्त कर दिया।

१. भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन

सन् १६०० ई० के अन्तिम दिन, ब्रिटेन की साम्राज्ञी महारानी एलिजाबेथ से आज्ञा प्राप्त करके इङ्गलैंड के कुछ व्यापारियों ने पूर्वी जगत के साथ व्यापार करने का संकल्प किया। इसी सिलसिले में वह भारत आ पहुँचे और यहाँ रहते हुए मुगल साम्राज्य की जड़ें उखाड़ कर तथा अनेक राजाओं, नवाबों तथा फ्रेंच, पुर्तगाली आदि यूरोपियन शक्तियों के साथ युद्ध, सन्धि एवं कूटनीतिक चाल चलकर भारत में अपने व्यापारिक शासन की नींव डाली। जैसा कि व्यापारिक शासन शब्द से स्पष्ट है, कम्पनी के शासन का उद्देश्य भारत से अधिकाधिक सम्पत्ति बटोरना था। इसका सहज परिणाम यह हुआ कि कम्पनी के कर्मचारी अपने निजी स्वार्थों में फँस गये और सम्पत्ति के प्रभाव में भ्रष्ट हो गये तथा अपने लिये धन बटोरने लगे। इससे कम्पनी को आर्थिक हानि होने लगी। कम्पनी का बहुत सा धन युद्धों में भी व्यय हो गया। इस प्रकार कम्पनी अर्थ संकट में फँस गई। दूसरी ओर ब्रिटेन के कुछ राजनीतिज्ञ इस बात की आलोचना करने लगे कि एक व्यक्तिगत व्यापारिक संस्था दूसरे देश पर राजनीतिक प्रभुता प्राप्त करे, उनकी इच्छा थी कि कम्पनी के अधिकृत क्षेत्रों पर ब्रिटिश संसद अपनी प्रभुता स्थापित करे। ब्रिटेन के उदार-दलीय राजनीतिक क्षेत्रों में कम्पनी द्वारा भारतीय ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक शोषण (Economic exploitation loot and plunder) पर भी असंतोष बढ़ रहा था।

इस बीच कम्पनी ने अपनी आर्थिक तंगी से थककर ब्रिटिश संसद से ऋण की माँग की। संसद को उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया और उसने इस शर्त पर ऋण देना स्वीकार कर लिया कि कम्पनी उसे अपने अधिकृत प्रदेशों के शासन पर नियंत्रण के कुछ अधिकार दे। कम्पनी ने यह बात मान ली और यहां से संसद-नियन्त्रित कम्पनी शासन का भारत में सूत्रपात हुआ और यहीं से भारत की सांविधानिक परम्परा का उदय भी हुआ।

१७७३—रेग्यूलेटिंग ऐक्ट

यह अधिनियम भारतीय सांविधानिक परम्परा में प्रथम संसदीय अधिनियम था जिसके द्वारा ब्रिटिश संसद ने कम्पनी के भारत में शासन करने के अधिकार को स्वीकार किया तथा उसके ऊपर प्रभुत्व की स्थापना की।

इस अधिनियम ने भारत में—(क) एकात्मक शासन की नींव डाली। इसके पहले बम्बई, बंगाल और मद्रास के गवर्नर अपने अपने प्रदेशों के स्वतन्त्र शासक थे।

इसके द्वारा बंगाल के गवर्नर को भारत का गवर्नर-जनरल बनाया गया तथा उसकी काउन्सिल (परामर्शदातृ परिषद्) को मान्यता दी गई। अन्य गवर्नर उसके अधीन रखे गये। गवर्नर-जनरल को उनकी अवधि से पूर्व सम्राट की आज्ञा बिना नहीं हटाया जा सकता था। (ख) गवर्नर-जनरल पर यह प्रतिबन्ध लगाया गया कि वह कम्पनी के आदेशों का पालन करे तथा हर समय उसे उसके हितों से सम्बन्धित विषयों पर सूचना दे। यह नियम भी एक परम्परा बन गया और भविष्य के सभी गवर्नर-जनरल ब्रिटिश शासन के अधीन रहकर काम करना अपना धर्म मानने लगे। (ग) इसके द्वारा फोर्ट विलियम में एक सर्वोच्च-न्यायालय की स्थापना की गई। न्यायालयों की स्वतन्त्रता की परम्परा का विकास यहाँ से आरम्भ हुआ। इस सर्वोच्च-न्यायालय के निर्णय पर पुनर्विचार (Appeal) का अधिकार गवर्नर-जनरल को न हो कर "सपरिषद्-सम्राट" (The King-in-Council) को था। इससे न्यायपालिका की निष्पक्षता की नींव पड़ी।

वास्तव में संसद भारत में निरंकुश शासन की स्थापना नहीं करना चाहती थी अतः उसने गवर्नर-जनरल के लिये यह अनिवार्य कर दिया कि वह अपने समस्त निर्णय अपनी परिषद् के बहुमत से करे। दूसरी ओर सर्वोच्च-न्यायालय को उसने बहुत अधिक शक्ति प्रदान कर दी। सपरिषद्-गवर्नर-जनरल द्वारा पारित अधिनियम अथवा अध्यादेश (Acts and Ordinances) तब तक वैधानिक स्वरूप नहीं धारण करते थे जब तक कि सर्वोच्च-न्यायालय उन्हें मान्य न करे।

इस प्रकार रेग्यूलेटिंग एक्ट भारत में वैधानिक शासन की नींव का पहला पत्थर कहा जा सकता है।

१७८१—संशोधन अधिनियम

इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल व उसकी परिषद् को सर्वोच्च-न्यायालय की अधीनता से मुक्त किया गया। हिन्दु व मुस्लिम धर्मों के प्रचलित कानूनों को उनके लिए न्याय का आधार मान लिया गया तथा कुछ मामलों में सपरिषद्-गवर्नर-जनरल को अपील सुनने का अधिकार दिया गया जिसकी अन्तिम अपील सपरिषद्-सम्राट के सामने हो सकती थी।

१७८४—पिट्स इन्डिया ऐक्ट

इस अधिनियम का उद्देश्य भारतीय शासन पर नियन्त्रण करने की सत्ता को 'नियामक मन्डल' (Board of Directors) से लेकर 'नियन्त्रक मण्डल' (Board of Controllers) बनाकर उसके हाथों में सौंपना था। यह 'नियंत्रक मंडल' एक प्रकार से ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का एक पूरक अंग था जिसमें व्यावहारिक रूप से उसका अध्यक्ष ही निर्णय करता था। यह अध्यक्ष ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य होता था। इसी पद के विकास के परिणामस्वरूप बाद में भारत मन्त्री के पद की स्थापना की गई। इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल को प्रादेशिक गवर्नरों पर अधिक

अधिकार दिये गये तथा परिषद् के सदस्यों की संख्या तीन कर दी गई। गवर्नर-जनरल को परिषद् में निर्णायक मत (Casting Vote) देने का अधिकार दिया गया। केन्द्रीय परिषद् की भाँति प्रांतों में भी परिषदों की स्थापना की गई।

१७८६ का अधिनियम

रेग्यूलेटिंग एक्ट (१७७३) के द्वारा गवर्नर-जनरल को बाध्य कर दिया गया था कि उसे अपनी परिषद् के बहुमत निर्णय को स्वीकार करना ही पड़ेगा। १७८६ ई० के अधिनियम द्वारा उस धारा को रद्द कर दिया गया और गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह अपने उत्तरदायित्व पर परिषद् के परामर्श को ठुकरा कर स्वेच्छापूर्वक निर्णय कर सकता है।

१७९३—चार्टर ऐक्ट

ब्रिटिश संसद ने प्रति बीस वर्ष पश्चात् कम्पनी को भारत में शासन करने का अधिकार देना तय किया था। इस निर्णय के अनुसार १७७३ के बाद १७९३ में पुनः चार्टर ऐक्ट नाम से एक अधिनियम पारित किया गया। यह बहुत लम्बा था परन्तु सांविधानिक दृष्टि से इसका बहुत महत्व नहीं है।

१८१३—चार्टर ऐक्ट

पिछले अधिनियम की भांति इसका भी सांविधानिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। इसने भारत पर ब्रिटिश सम्राट की प्रभुता की घोषणा की, चाय के व्यापार पर से ईस्ट इन्डिया कम्पनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया तथा कम्पनी को आदेश दिया गया कि वह प्रतिवर्ष भारतीय जनता की शिक्षा पर १ लाख रुपया खर्च करे।

१८३३—चार्टर ऐक्ट

यह अधिनियम सांविधानिक दृष्टि से निम्न महत्व रखता है—

(क) इसने कम्पनी को व्यापार करने की मनाही कर दी तथा उस पर ब्रिटिश संसद की ओर से अगले बीस वर्ष तक भारत पर शासन करने का काम सौंपा। उसके बदले में उसे अधिकृत क्षेत्रों व राजस्व (Revenue) पर अधिकार दिया गया।

(ख) इसने बम्बई, बंगाल और मद्रास प्रदेशों के गवर्नरों से विधि निर्माण सम्बन्धी अधिकार छीन कर गवर्नर-जनरल को दे दिये तथा उसकी परिषद् में एक चौथे सदस्य विधि-सदस्य की वृद्धि की गई तथा लार्ड मैकाले की अध्यक्षता में एक विधि आयोग की स्थापना की गई जिसे भारत में सब प्रकार की विधियों को संहिता-बद्ध (Codify) करने का कार्य सौंपा गया।

(ग) इसने घोषणा की कि भारतीय नागरिकों को भी आवश्यक योग्यता प्रदर्शित करने पर कम्पनी के अधीन प्रत्येक स्थान पर नियुक्त होने का अधिकार

होगा। सेवाओं में धर्म, जाति, वर्ण, जन्म, नस्ल आदि का भेद-भाव नहीं किया जायेगा। यहाँ यह उल्लेख कर देना ठीक होगा कि इस धारा का कभी पालन नहीं किया गया, इसका उल्लंघन ही सदा हुआ।

इस प्रकार अन्य अधिनियमों की अपेक्षा इसका महत्व थोड़ा सा अधिक माना जा सकता है क्योंकि इसने कागज पर ही सही भारतीयों के समान अधिकार की घोषणा की।

१८५३—चार्टर ऐक्ट

पिछले चार्टर ऐक्ट ने भारतीय लोक-मानस में शासकीय-सेवाओं में प्रविष्ट होने की नवीन आकाँक्षाएं तथा आशाएँ जागृत कर दी थीं परन्तु उन पर शीघ्र ही तुषारापात हो गया व किसी भी भारतीय को उच्च-सेवाओं में कोई स्थान नहीं दिया गया। इससे १८५३ का चार्टर अधिनियम पारित करते समय भारतीय जनता ने संयुक्त हस्ताक्षरों से इस बात का विरोध किया कि कम्पनी को पुनः भारत पर शासन करने की अनुमति दी जाए।

(क) इस बार संसद ने कम्पनी को अगले बीस वर्ष के लिए शासन का अधिकार नहीं सौंपा वरन यह उल्लेख कर दिया कि जब तक ब्रिटिश संसद मना न करे तब तक कम्पनी भारत पर शासन कर सकती थी।

(ख) इस अधिनियम ने गवर्नर-जनरल को जो १७७३ से अब तक बंगाल का गवर्नर भी था बंगाल के लिए नियंत्रक-मंडल की अनुमति द्वारा एक पृथक गवर्नर या लेफ्टीनेन्ट-गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार दे दिया।

(ग) गवर्नर-जनरल की परिषद् में छः विधायी सदस्य (Legislative Members) बढ़ाकर शासन के कार्यपालिका एवं विधायी कृत्यों के मध्य भेद की स्थापना की गई। यह इस अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण धारा है।

१८५४ का अधिनियम

इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर-जनरल को चीफ-कमिश्नर के प्रान्तों का निर्माण करके उनका प्रशासन सम्भालने का अधिकार दिया गया।

१७७३ से १८५४ तक पारित सभी अधिनियमों के पीछे कम्पनी के शासन पर नियंत्रण करने की नीयत और दृष्टि रही। अभी तक भारतीय लोकसभा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया था तथा जनता के हाथों में सत्ता तो क्या साधारण से अधिकार देने की बात भी नहीं उठी थी।

१८५७ के स्वाधीनता संग्राम के पश्चात्

अंग्रेजों ने जिसे विद्रोह (गदर, Mutiny) की संज्ञा दी वह घटना ब्रिटिश संसद के भारत पर सीधे शासन का उपयुक्त अवसर सिद्ध हुई। संसद ने देखा कि कम्पनी भारतीय जनता का विश्वास नहीं प्राप्त कर सकी तथा उस पर अपना आतंक भी नहीं जमा सकी। अतः भारत की स्वाधीनता के इस प्रथम आधुनिक संग्राम में

भारतीय-पक्ष को परास्त करके ब्रिटिश सत्ता इस देश के भीतर अपने शासन की जड़ें गहरी बिछाने के काम में जुट गई परन्तु सफलता पाकर भी वह असफल रही तथा अन्ततः ९० वर्षों बाद अपने को समेटकर यहाँ से कूँच कर गई। इसका इतिहास पीछे 'स्वाधीनता का संघर्ष' नामक अध्याय में पाठकों ने पढ़ा होगा। यहाँ तो हम केवल उन प्रयत्नों का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा देश में अनायास ही सांविधानिक प्रगति की यात्रा परिपूर्ण हुई है।

२. भारत में ब्रिटिश संसद का शासन

भारत में ब्रिटिश संसद का सीधा शासन १८५८ से आरम्भ होकर १९४७ में समाप्त होता है। १८५७ ई० में होने वाले स्वातन्त्र्य समर ने ब्रिटिश संसद की आँखें खोल दीं और यह आवश्यकता सिद्ध कर दी कि यदि अंग्रेज भारत पर शासन करना चाहते हैं तो उन्हें (क) संगठित शक्ति का निर्माण करना होगा, (ख) भारत की भोल. जनता के मानस में राज-निष्ठा का बीज बोना होगा, तथा (ग) भारतीय जनता के विविध वर्गों में समुपस्थित द्वेष की भावना को पोषित करके अनुकूल वर्गों का समर्थन व पक्ष अपने लिए प्राप्त करना होगा। इस सबके लिए कम्पनी का शासन समर्थ नहीं था अतः १८५८ में ब्रिटेन की संसद ने भारतीय शासन की बागडोर भारतीय सुशासन अधिनियम पारित करके अपने हाथों में सम्भाल ली तथा महारानी विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोषित करके भारतीय लोक-मानस में राजनिष्ठा को अंकुरित करने का प्रयास किया। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है इस अवधि में होने वाले सांविधानिक परिवर्तन, सुधार, संशोधन और विकास राष्ट्रीय-चेतना की सक्रिय अभिव्यक्ति से प्रभावित रहे हैं। एक ओर ब्रिटिश संसद भारत में एक सुदृढ़ शासन की स्थापना करना चाहती थी दूसरी ओर अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रही थी। इस प्रकार आजादी और गुलामी के दो विरोधी दबावों के बीच से होकर १८५८ से १९४७ तक की सांविधानिक विधियों (Constitutional laws) का निर्माण हुआ। परिणामतः वे स्वाभाविक रूप से प्रगति की ओर बढ़ती चली गईं और अन्त में १९४७ में भारत को उपनिवेश पद की प्राप्ति हो ही गई।

१८५८—भारत सुशासन अधिनियम

इस अधिनियम के द्वारा भारतीय शासन-सत्ता का हस्तांतरण कम्पनी के हाथों से ब्रिटिश संसद के हाथों में हुआ। इसने भारतीय शासन व्यवस्था में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया। अधिकांश परिवर्तन लन्दन में स्थित भारतीय शासन-नियंत्रण व्यवस्था में किये गये—जैसे, भारत मंत्री के पद की स्थापना, भारत-परिषद (Council of India) का निर्माण आदि।

१८५८—नवम्बर घोषणा

सम्राज्ञी विक्टोरिया ने १ नवम्बर १८५८ को एक घोषणा की जिसमें कहा

गया कि—(क) भारतीय शासन का उत्तरदायित्व सम्राज्ञी ने सम्हाल लिया है, (ख) ब्रिटिश सरकार देशीय नरेशों को विश्वास दिलाती है कि वह अपनी सीमाओं का विस्तार नहीं चाहती तथा (ग) वह कम्पनी के साथ हुई उनकी संधियों को मान्यता देगी, (घ) सम्राज्ञी धार्मिक-सहिष्णुता के सिद्धांत पर स्थिर रहेंगी, (ङ) वह भारतीय नरेशों की प्रतिष्ठा की रक्षा अपनी प्रतिष्ठा के समान करेंगी एवं (च) भारतीय नागरिक आवश्यक योग्यता की पूर्ति करने पर लोक-सेवाओं के भीतर अंग्रेजों के समान ही प्रवेश पा सकेंगे।

१८६१—इंडियन काउन्सिल्स ऐक्ट

भारतीय परिषद् अधिनियम (Indian Councils Act) ने प्रथम बार भारतीय-शासन में प्रतिनिधि-संस्थाओं का बीज बोया। इस अधिनियम के अनुसार—

(क) गवर्नर-जनरल को यह शक्ति दी गई कि वह अपनी परिषद् में विधि के निर्माण के लिए कम से कम छः तथा अधिक से अधिक बारह सदस्यों की वृद्धि करें। इन मनोनीत-सदस्यों में कम से कम आधे सदस्य सार्वजनिक व्यक्ति (Non-officials) होने आवश्यक थे। इनका कार्यकाल दो वर्ष का रखा गया। वास्तव में प्रथम बार भारतीय-व्यक्तियों को विधि-निर्माण के काम में भाग लेने का अवसर दिया जा रहा था। यद्यपि उनको निर्वाचित नहीं किया जाता था तथापि वाइसराय उनको छाँटते समय निश्चय ही भारतीय लोकमत के प्रतिनिधि नेताओं को चुन सकता था। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और सरकारों के आधार-स्तम्भ जमींदार और दीवान, नवाब आदि ही परिषद् में लिये जाते रहे जिसके कारण इस परिवर्तन का कोई महत्व नहीं दिखाई पड़ा। फिर भी सैद्धान्तिक रूप से भारतीय नेताओं का विधि निर्माण के काम में भाग लेने का अधिकार इस अधिनियम द्वारा स्थापित हुआ इसमें कोई संदेह नहीं है। इस विकसित परिषद् से प्रश्न पूछने तथा नीति-सम्बंधी प्रश्नों की चर्चा करने का अधिकार छीन कर इसे महत्वहीन बना दिया गया।

(ख) दूसरा सांविधानिक परिवर्तन इस अधिनियम ने यह किया कि इसने प्रान्तों को विधि-निर्माण का अधिकार फिर से प्रदान कर दिया जो उनसे १८३३ में छीन लिया गया था। परन्तु प्रान्तों में बनी विधियों पर गवर्नर-जनरल की स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया। प्रान्तों में भी गवर्नरों की परिषद् का विकास किया गया और उनमें चार से आठ तक सदस्य नियुक्त करने की अनुमति दी गई।

इस प्रकार इस अधिनियम द्वारा विधायी-सत्ता के हस्तान्तरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। इसमें केन्द्रीय परिषद् के भीतर एक पाँचवें सदस्य वित्त-सदस्य (Finance Member) की नियुक्ति का उल्लेख भी किया गया। इसके द्वारा गवर्नर-जनरल को नये प्रान्त बनाने तथा अपनी परिषद् के कार्य संचालन, आवश्यक नियम व अधिनियम बनाने की शक्ति भी प्रदान की गई।

भारतीय सांविधानिक विकास में एक नई शक्ति जो राज्य के अध्यक्ष को ही

प्राप्त हो रही है, गवर्नर-जनरल को प्रदान की गई। यह आवश्यकता पड़ने पर अध्यादेश (Ordinances) जारी कर सकता था जो कि विधायिका (Legislature) या क्राउन द्वारा रद्द न किये जाने पर छः मास तक लागू रह सकते थे।

१८६१ में ही ब्रिटिश संसद ने एक अधिनियम द्वारा कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में तीन उच्च-न्यायालयों (High Courts) की स्थापना करके कम्पनी द्वारा स्थापित सर्वोच्च-न्यायालय सदर दिवानी और फौजदारी अदालतों का अंत कर दिया।

१८९२—भारतीय विधान परिषद् अधिनियम

इस अधिनियम ने (क) एक ओर तो परिषद् के सदस्यों (Councillors) की संख्या बढ़ाकर कम से कम दस और अधिक से अधिक सोलह कर दी। (ख) दूसरी ओर सदस्यों की नियुक्ति के लिए परोक्ष निर्वाचन पद्धति की नींव डाली। कुछ सदस्यों को कलकत्ता व्यापार-परिषद् (Calcutta Chamber of Commerce) की सिफारिश पर परिषद् में लिया जाना था और कुछ को विविध प्रान्तीय परिषदों के गैर-सरकारी (सार्वजनिक) सदस्यों की सिफारिश पर। (ग) नियुक्त सदस्यों में से कम से कम दस सदस्य सार्वजनिक (गैर-सरकारी) हों यह आवश्यक माना गया। (घ) सदस्यों को आर्थिक-प्रस्तावों (बजट) पर विवाद करने का अधिकार दिया गया यद्यपि उन्हें उस पर मतदान (Voting) का अधिकार अभी नहीं मिला। (च) परिषदों के सदस्यों को यह भी अधिकार दिया गया कि वे (पूरक प्रश्न पूछे बिना) सामान्य लोक हित के विषयों पर प्रश्न पूछ सकें।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि इस अधिनियम द्वारा देश ने अपने सांविधानिक विकास की एक मंजिल को तय किया अर्थात् सैद्धान्तिक रूप से यह बात स्वीकार करली गई कि भारत में एक ऐसी विधान सभा हो जिसमें भारतीय प्रतिनिधि हों तथा जिसे भारतीय शासन के आर्थिक प्रस्तावों, विधानों एवं प्रशासन के मामलों में दिलचस्पी रखने का हक हो।

इस अधिनियम द्वारा देश की विधान परिषदों की सदस्य संख्या बढ़ा दी गई थी। वाइसराय की परिषद् में सदस्यों की अन्तिम सीमा ६० निर्धारित करदी गई थी। प्रान्तों में भी परिषदों (Councillors) की संख्या में इसी अनुपात में वृद्धि की गई थी तथा वाइसराय की विधान परिषद् को छोड़कर अन्य विधान परिषदों में सार्वजनिक सदस्यों का बहुमत रक्खा गया था परन्तु ये सब सदस्य जनता के प्रतिनिधि नहीं होते थे।

सार्वजनिक सदस्यों की नियुक्ति के पुराने आधार को जिसका वर्णन पीछे कर चुके हैं, बदलकर उनके प्रत्यक्ष-निर्वाचन की व्यवस्था की गई परन्तु मताधिकार धनी और जागीरदार तथा अन्य सरकार-परस्त (शासन-भक्त) लोगों तक ही सीमित था एवं साम्प्रदायिक आधारों पर पृथक निर्वाचन (Separate Election) व सुरक्षित

स्थानों (Reserved seats) के उपबन्धों (Provisions) द्वारा उसके समूचे महत्व को नष्ट कर दिया गया।

विधान परिषदों के क्षेत्र में भी पर्याप्त अभिवृद्धि की गई। उन्हें सरकार के आर्थिक-प्रस्तावों (Budget) पर वाद-विवाद करने, उस पर संशोधन पेश करने तथा उनकी कुछ मदों (Items) पर मतदान करने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सार्वजनिक विषयों पर प्रश्न पूछने व मतदान करने का अधिकार भी उन्हें मिला। पूरक प्रश्न भी पूछे जा सकते थे। इतना सब कुछ होते हुए भी विधान परिषदों के निर्णय अन्तिम तथा वाइसराय पर बाध्यकारक (Binding) नहीं माने गये थे वरन् वाइसराय को यह अधिकार दे दिया कि वह विधान-परिषदों के किसी भी प्रस्ताव, संशोधन या निर्णय को ठुकराकर अपने उत्तरदायित्व पर विधियों का निर्माण एवं सरकार के आर्थिक प्रस्तावों को कार्यान्वित कर सकता था।

वाइसराय को बम्बई व मद्रास की विधान परिषदों में चार सदस्य बढ़ाने तथा बंगाल के अतिरिक्त किसी भी लेफ्टीनेंट-गवर्नर को परिषद् की स्थापना का आदेश देने का अधिकार दिया गया। उसके निर्णय को संसद का कोई भी सदन अस्वीकार कर सकता था।

इस अधिनियम का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसने देश में प्रथम बार पृथक-निर्वाचन की नींव डाली जिसका परिणाम अन्ततः भारत का विभाजन तथा पाकिस्तान का निर्माण हुआ। इसने सदा के लिए हिन्दू मुसलमानों में विरोध एवं पृथकता की दुर्भावना के बीज बो दिए।

१६१६ भारत शासन अधिनियम

भारत शासन अधिनियम की प्रत्येक धारा का वर्णन यहां हमें नहीं करना है वरन् हम यहाँ उसकी केवल उन प्रमुखताओं की ओर पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं जिनके कारण हम उसे उत्तरदायी शासन का आरम्भ मानते हैं। हमें तो यह देखना है कि किस प्रकार उसकी धाराओं ने सांविधानिक विकास अर्थात् शासन की वर्तमान संस्थाओं के क्रमिक विकास (Gradual Development) में मदद की है।

(१) अधिनियम की प्रस्तावना में कहा गया था कि ब्रिटिश शासन की इच्छा है कि भारतीयों को उनकी शासन-व्यवस्था में अधिक से अधिक भाग लेने का अवसर मिले। यह बात १८३३ से निरन्तर कही गई थी। विशेष बात जिसका उल्लेख इस प्रस्तावना में था, यह थी कि देश में धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन की स्थापना की जायेगी। श्री मार्ले ने अपने सुधार संसद के सामने पेश करते हुए भारत के लिए उत्तरदायी शासन की कल्पना का भी विरोध किया था। परन्तु इस अधिनियम ने उसकी स्थापना को भारतीय संविधान का उद्देश्य बताया। यद्यपि उसमें कहीं स्वशासन शब्द का प्रयोग नहीं किया गया था तथापि उत्तरदायी-शासन तथा शासन में भारतीय जनता के भाग लेने से सही भावार्थ लिया जा सकता था।

(२) इसने केन्द्रीय विधान परिषद् के स्वरूप को बदल दिया, उसे विधान-मन्डल की सत्ता दी गई तथा उसमें दो सदन स्थापित किए गए—विधान-सभा तथा राज्य परिषद्।

विधान सभा में सदस्यों की संख्या १४० निर्धारित की गई जिनमें कम से कम ५/७ सदस्य निर्वाचित होने आवश्यक थे। राज्य परिषद् की सदस्य संख्या अधिकतम ६० निर्धारित की गई तथा उसमें भी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखा गया।

विधान मण्डल का अध्यक्ष अब पहले की भाँति गवर्नर-जरनल नहीं होता था, न वह उसका सदस्य ही होता था, तथापि वह विधि निर्माण में अब भी सबसे प्रमुख व्यक्ति था, क्योंकि उसे विधान-मण्डल के कामों पर निषेधाधिकार (Veto Power) था।

विधान मण्डल के विचार-विवाद तथा प्रस्ताव आदि का क्षेत्र और भी विस्तृत कर दिया गया था परन्तु कार्यकारणी उसके प्रति उत्तरदायी नहीं होती थी वरन् वह उस पर प्रभाव और दबाव डाल सकती थी।

विधान मण्डल के दोनों सदनों को कुछ समय बाद अपने अध्यक्ष (Speaker) स्वयं नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। यह विधान भारतीय शासन-व्यवस्था को संसदात्मक शासन की दिशा में ले जा रहा था।

मताधिकार (Franchise) धनी व्यक्तियों तक ही सीमित रक्खा गया था तथा वह स्त्रियों को प्राप्त नहीं था।

दोनों सदनों को समान या समवर्ती अधिकार दिये गये तथा दोनों सदनों द्वारा विचार कर लिए जाने के बाद ही कोई विधेयक वाइसराय को भेजा जाता था।

आय-व्ययक व अन्य आर्थिक प्रस्ताव (Budget) दोनों सदनों के सामने एक साथ ही पेश करने की व्यवस्था की गई थी किन्तु उस पर मतदान का अधिकार केवल विधान-सभा(Lower House) को ही दिया गया था क्योंकि वह राज्य परिषद् (Upper House) की अपेक्षा अधिक लोक-प्रतिनिधि होती थी।

विधान मण्डल को कार्यपालिका पर किसी प्रकार की नियन्त्रक-सत्ता प्राप्त नहीं थी, उसके कोई निर्णय कार्यपालिका पर बन्धनकारक नहीं माने गये थे। कार्यपालिका उनको न मानने के लिए स्वतन्त्र रखी गई थी।

(३) प्रान्तीय शासन के क्षेत्र में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई थी। उनमें भी विधान परिषदों की शक्तियों और आकार में वृद्धि की गई। प्रान्तीय विषयों को दो भागों में बाँटा गया—(क) सुरक्षित (Reserved) तथा (ख) हस्तांतरित (Transferred)। सुरक्षित विषयों का सम्बन्ध गवर्नर से था और हस्तांतरित विषयों का प्रशासन मन्त्रिमण्डल (Ministry) के हाथों में रखा गया जो कि अपनी विधान परिषद् के समक्ष उत्तरदायी (Responsible) होती थी।

इस अधिनियम द्वारा लन्दन में भारत सरकार के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन किया गया, उसका उल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

१९१९ के अधिनियम की मुख्य विशेषता यह है कि उसने प्रान्तों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना की। हम देखेंगे कि १९३५ में हम इससे कुछ आगे बढ़े तथा १९४७ में अपने लक्ष्य पर पहुँच गये।

१९३५—भारत शासन अधिनियम

१९३५ के संविधान का भारतीय सांविधानिक-परम्परा में एक महत्वपूर्ण स्थान है इसने प्रान्तीय स्वायत्त-शासन, केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी शासन एवं संघ-वाद के सिद्धान्त की नींव डाली।

(१) प्रान्तों में गवर्नर के अधीन पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई तथा सभी प्रांतीय विषय मन्त्रि मण्डल के आधीन रखे गये। इस प्रकार प्रांतीय स्वायत्त-(शासन की नींव डाली गई।

(२) केन्द्र में द्विविध शासन (Dyarchy) की नींव डाली गई। कुछ विषय हस्तांतरित विषय) मन्त्रियों (Popular ministers) के अधीन रखे गए तथा शेष गवर्नर-जनरल के अधीन।

(३) केन्द्र को एक संघ का स्वरूप देने की योजना रखी गई जिसमें ब्रिटिश-भारत के प्रांत एवं भारतीय भारत के राज्य सम्मिलित होते।

(४) एक संघीय न्यायालय की स्थापना का उल्लेख किया गया। इसकी स्थापना १ अक्तूबर १९३७ को कर दी गई।

यद्यपि प्रांतीय स्वायत्त शासन तथा संघ न्यायालय की स्थापना के अतिरिक्त इसकी अन्य कोई धारा व्यवहार में नहीं आई तथापि इसने सैद्धान्तिक दृष्टि से निश्चित रूप से भारतीय सांविधानिक विकास में एक बड़ी मंजिल तय कर दी।

१९४७—भारतीय स्वाधीनता अधिनियम

भारतीय राष्ट्रीय जागरण और आन्दोलनों तथा विश्व की परिस्थितियों से बाध्य होकर आखिर अंग्रेजी सत्ता ने भारत की देवभूमि पर से अपना झण्डा (Union Jack) हटाना स्वीकार कर लिया और ब्रिटिश संसद ने १९४७ में 'भारत स्वाधीनता अधिनियम' पारित किया, जिसके विशेष लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) १५ अगस्त को सीमा आयोग की सिफारिशों के अनुसार भारत और पाकिस्तान का विभाजन।

(२) १५ अगस्त को भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा तथा उस दिन से ब्रिटिश संसद का भारतीय शासन के बारे में कोई उत्तरदायित्व न रहना।

(३) गणराज्य की घोषणा किए जाने तक भारत और पाकिस्तान का उप-निवेश पद अर्थात् ब्रिटिश सम्राट द्वारा अधिकृत गवर्नर-जनरल के अधीन शासन व्यवस्था का संचालन।

(४) नया संविधान लागू होने तक १९३५ के संविधान का चालू रहना तथा उसमें ऐसे परिवर्तनों का होना जो गवर्नर-जनरल उचित समझे।

(५) नयी शासन व्यवस्था चालू होने तक संविधान निर्मातृ परिषद् केहाथों में देश की विधायी सत्ता (Legislative authority) का रहना तथा उसका विधायिका की हैसियत में भी काम करना।

(६) संविधान निर्मातृ परिषद् (Constituent Assembly) की सर्वोच्चता अर्थात् उसके बनाए संविधान की सर्वोच्चता की स्थापना।

(७) भारतीय राज्यों पर से ब्रिटेन की सर्वोपरि सत्ता (Paramountcy) तथा संधियों का अन्त तथा देशी राज्यों के राजाओं को स्वतन्त्रता की प्राप्ति।

इस अधिनियम द्वारा, भारत १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्र हो गया।

भारत के सांविधानिक विकास की यह नदी नये संविधान रूपी महासागर में विलीन हो गई। नये संविधान के अध्ययन से हमारे विद्वान पाठक यह अनुमान लगा सकेंगे कि उसमें स्थापित की गई राजनीतिक एवं प्रशासकीय संस्थायें (Administrative Institutions) भारत के लिए सर्वथा नई न होकर विकसित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके स्वरूप, स्थान, अर्थ तथा भाव में मौलिक अन्तर हुआ है। यह अन्तर उतना ही महान है जितना कि दासता और स्वतन्त्रता में होता है। शत्रु की जो तलवार हमें दास बनाये रखने में काम आती थी, वही तलवार हमारे हाथ में आने पर हमारी स्वतन्त्रता की प्रहरी बनती है।

योग्यता-प्रश्न

१. १८५८ तक के भारत के संविधान के विकास का वर्णन कीजिए।
Describe the constitutional development of India upto 1858.

२. १८६१, १८९२ व १९०९ भारतीय विधान परिषद् अधिनियमों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
Give a short account of the Indian Councils Acts of 1861, 1892 and 1909.

३. १९१९ तथा १९३५ के भारत शासन अधिनियमों की संक्षेप में आलोचना कीजिए।
Criticise in brief the Government of India Acts of 1919 and 1935.

४. '१९४७ के भारत स्वाधीनता अधिनियम' की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
Describe the salient features of the Independence of India Act of 1947.

—:o:—

अध्याय २२

हमारा संविधान : एक परिचय

संविधान के भीतर उन नियमों का संग्रह रहता है जिनके अनुसार देश के शासन की व्यवस्था का संगठन, संचालन और नियमन होता है। नागरिकों की इच्छा से ही यह नियम बनते हैं तथा उन्हीं की इच्छा से उनमें समय-समय पर परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होता है।

पिछले अध्याय में हमने भारतीय संविधान के विकास की चर्चा की है तथा यह बताया है कि भारतीय संविधान बहुत विकसित है तथा उसके पीछे एक चेतन-विकास की परम्परा है। यहाँ इतना जान लेना चाहिए कि जिस प्रकार १९४७ तक भारतीय संविधान का निर्माण होता रहा, १९५० के भारतीय संविधान का निर्माण उससे भिन्न प्रकार हुआ। १९४७ तक भारत ब्रिटेन के अधीन था अतः उसका संविधान उस समय तक ब्रिटिश संसद द्वारा निश्चित और निर्धारित होता था, परन्तु १९५० का संविधान स्वतन्त्र भारत पर लागू होना था, उसका निर्माण ब्रिटिश संसद द्वारा न होकर भिन्न प्रकार से हुआ।

कैबिनट मिशन योजना के फलस्वरूप राष्ट्र ने एक संविधान परिषद् का निर्माण किया जिसमें राष्ट्र के परखे हुए तथा विद्वान नेताओं व प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसकी प्रथम बैठक ९ दिसम्बर १९४६ को अस्थायी अध्यक्ष डा० सच्चिदानंद सिन्हा की अध्यक्षता में हुई जिसमें स्थायी अध्यक्ष पद के लिए डा० राजेन्द्रप्रसाद का नाम चुना गया।

२२ जनवरी १९४७ को परिषद् ने उद्देश्यों का प्रस्ताव पारित किया और संविधान का ढाँचा तैयार करने के लिए विविध समितियाँ नियुक्त कीं। उन समितियों की सिफारिशों के आधार पर डाक्टर अम्बेदकर की अध्यक्षता में २९ अगस्त को एक प्रारूप समिति (Drafting Committee) नियुक्त की गई। अपनी रचना के समय संविधान परिषद् सर्वप्रभुता सम्पन्न नहीं थी परन्तु बाद में १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने उसे प्रभुता प्रदान कर दी थी।

२६ नवम्बर १९४९ को भारतीय संविधान परिषद् ने संविधान को पारित कर दिया तथा उस पर परिषद् के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने हस्ताक्षर कर दिये।

संविधान के निर्माण पर भारतीय सांविधानिक परम्परा का पूरा-पूरा प्रभाव है। देश की शासन-व्यवस्था धीरे-धीरे जिस दिशा में बढ़ रही थी नये संविधान ने उसे उसी दशा में एक परिपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। इसी आधार पर हम कहते हैं कि हमारा संविधान विकसित है। उसकी जड़ें अतीत में है। यद्यपि हमारी संविधान परिषद् ने उसका कलेवर एक निश्चित अवधि के भीतर निर्धारित किया है।

इस संविधान के निर्माण में निर्माताओं ने संसार के प्रायः सभी प्रगतिशील देशों के संविधानों का अध्ययन करके उनके गुणों का सार ग्रहण करने की चेष्टा की है।

प्रमुख विशेषताएँ

भारतीय संविधान के स्वरूप की मुख्य विशेषताओं का वर्णन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) लोकतन्त्रात्मक (Democratic)
(२) गणतन्त्रात्मक (Republican)
(३) निर्मित्त परन्तु विकसित (Make still a growth)
(४) मूलतः लिखित (Basically written)
(५) दुष्परिवर्तनीय (Rigid)
(६) संघात्मक स्वरूप (Federal)
(७) संसदात्मक शासन (Parliamentary)
(८) मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)
(९) लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना (Establishment of Welfare State)
(१०) धर्म निरपेक्ष राज्य की कल्पना (Idea of Secular State)
(११) ग्राम पंचायतें (Village Panchayats)
(१२) स्वतंत्र न्यायपालिका (Independent Judiciary)

(१) लोकतंत्रात्मक

हमारे संविधान की शक्ति का आधार लोक प्रभुता (Popular Sovereignty) है। उसमें कहा गया है 'हम भारत के निवासी···अपनी इस संविधान सभा में···एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत (Adopt), अधिनियमित (Enact) तथा आत्मार्पित (Give to ourselves) करते हैं।'

इससे स्पष्ट है कि यह संविधान हम भारत के लोगों ने स्वयं अपनी इच्छा से बनाया तथा स्वयं स्वीकार करके अपने ऊपर लागू किया है। संविधान के निर्माण का समूचा उत्तरदायित्व इस प्रकार भारत के लोगों पर है तथा यह उसकी स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है। वे जब कभी उचित समझेंगे इसे उस प्रकार बदल अथवा रद्द कर सकते हैं जैसे कि उन्होंने संविधान में लिख रखा है।

भारतीय संविधान ने सर्वोच्च प्रभुता न राष्ट्रपति को दी है और न संसद को ही। उसने प्रभुता भारतीय जनता में निहित की है। इस प्रकार यह संविधान लोक-प्रभुता का प्रहरी और लोकसत्ता-मूलक है। इसकी यह विशेषता भारतीय जनता और राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की लोकतन्त्रात्मक आकांक्षा की अभिव्यक्ति है। इस नाते हमारा संविधान हमारे लिये अधिनायक वाद (Dictatorship) और आंतकवाद के विरुद्ध हमारी स्वतन्त्रता और प्रभुता-मूलक अधिकार का सजग प्रहरी है। हजारों वर्षों से असंगठित, पीड़ित और शोषित भारत के कोटि कोटि नर नारियों को प्रथम बार इस संविधान ने दासता की असम्मान-जनक बेड़ियों से मुक्त करके उनके सर पर राज-प्रभुता का उज्ज्वल मुकुट पहनाया और उसके मस्तक पर भारतीय राष्ट्रीयता के स्वामित्व का अभिषेक मौलिक अधिकारों के कुंकुम से किया है।

नये संविधान ने भारत में एक सबल और सुनिश्चित लोकतन्त्र की नींव डाली है। इसने भारत की जनता को, भारतीय राज्य की सर्वोपरि सत्ता (Paramount Sovereignty) प्रदान की है अर्थात् शासन की अन्तिम सत्ता जनता के हाथों में रखी गई है।

(२) गणतन्त्रात्मक चरित्र

जनतन्त्र की चरम-सीमा उसका गणतन्त्रात्मक चरित्र है। हमारे संविधान ने भारत के नागरिकों को ब्रिटेन के नागरिकों से भी अधिक व्यापक रूप से पद पाने का राजनीतिक अधिकार दिया है। ब्रिटेन भी एक प्रजातन्त्रीय देश है, परन्तु वहाँ राजा राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता है। भारत में कोई राजा नहीं है। प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि यदि वह राष्ट्रपति बनने की योग्यता रखता है तो उस पद के लिए खड़ा हो सके। भारत का राष्ट्रपति-पद राष्ट्र के सभी नागरिकों के लिए सभी समान रूप से खुला है। भारत का राष्ट्रपति देश का नागरिक होता है। इस नाते हम कह सकते हैं कि हमारे संविधान ने देश में एक गणतन्त्रात्मक जनतन्त्र की स्थापना की है।

(३) निर्मित परन्तु विकसित

गत अध्याय में हमने भारतीय संविधान के क्रमागत विकास का अध्ययन किया हैं। उससे हमें ज्ञात होता है अंग्रेजी शासन-काल में निश्चित रूप से हमारे देश में प्रतिनिधि-मूलक संस्थाओं, उत्तरदायी शासन और संघवाद के सिद्धान्त और व्यवहार का विकास हुआ है। अतः हम नये संविधान को उस समूचे विकास की परिणति (Climax) मानते हैं। यद्यपि निस्सन्देह यह संविधान एक संविधान सभा द्वारा एक निश्चित अवधि के भीतर बनाया गया है तथापि हम कह सकते हैं कि भारत के संविधान-निर्माताओं की बुद्धि पर भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व की समस्त सांविधानिक-पृष्ठ-भूमि ने बहुत प्रभाव डाला है। उस सबके प्रकाश में इसे अधिक से अधिक लोकतन्त्रीय एवं परिपूर्ण बनाने की चेष्टा की गई है। यह विकसित है और

निर्मित भी। इसका निर्माण विकास की एक शृंखला के साथ अभिन्न रूप से सम्बन्धित है। इतना ही नहीं यह विकासशील भी है। भविष्य में इसका अधिक विकास हो सकेगा ऐसी सम्भावनाएँ इसमें छिपी हुई है।

(४) मूलतः लिखित

हमारा संविधान मूलतः लिखित है। निर्माताओं ने इसके भीतर शासन-व्यवस्था के उस प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दिया है जो उन्हें दूर दूर तक भी सूझता गया। अभी हमारे संविधान के भीतर परम्पराओं (रीति-रिवाजों) का काफी विकास नहीं हुआ है। वैसा होने पर इसके अलिखित स्वरूप का विकास होगा।

हमारा सविधान आकार की दृष्टि से संसार में सबसे अधिक बड़ा संविधान है। निर्माण के समय उसके भीतर ३९५ अनुच्छेद (Articles) थे, जो २२ खण्डों में विभक्त है। इसके अन्त में ९ अनुसूचियाँ (Schedules) भी जोड़ी गई हैं। इसके बनने में अनुमानतः लगभग ८ लाख रुपया व्यय हुआ था। वह एक विशाल लेख है तथा यह संघ और राज्य दोनों का संविधान है। १७ अगस्त १९६१ तक इसमें दस संशोधन हुए हैं तथा जम्मू और काश्मीर राज्य से सम्बन्धित दो सांविधानिक आदेश दिए हैं।

संशोधनों के परिणामस्वरूप संविधान के १९ अनुच्छेद रद्द कर दिये गये हैं।

(५) दुष्परिवर्तनीय

भारत का संविधान दुष्परिवर्तनीय (Rigid) है। किसी संविधान की नम्यता या लचीलापन इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें संशोधन करने की सारी शक्ति संसद के पास है या नहीं। भारत के संविधान में संशोधन करने की शक्ति पूरी तरह संसद के पास नहीं है; अतः वह दुष्परिवर्तनीय ही माना जाएगा, परन्तु वास्तव में संशोधन की प्रक्रिया इतनी कठिन नहीं है जितनी कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका में। वह उतनी सरल भी नहीं है जितनी कि ब्रिटेन की संशोधन-पद्धति। ब्रिटेन में संविधान के संशोधन की समूची शक्ति संसद के पास है, भारत में ऐसा नहीं है। भारतीय-पद्धति का वर्णन आगे किया जायगा। भारत में संशोधन की प्रक्रिया साधारण विधि-निर्माण की प्रक्रिया से कहीं कहीं भिन्न है तथा संसद को संविधान में सुधार-परिवर्तन इत्यादि करने की शक्ति पूरी तरह प्राप्त नहीं है।

(६) संघात्मक स्वरूप

भारतीय संविधान में कहीं भी भारत के लिए संघ शब्द (Federation) का प्रयोग नहीं किया गया है। उसे यूनियन (संयुक्त-देश) के नाम से पुकारा गया है, तथापि उसकी शासन व्यवस्था संघीय-पद्धति पर आधारित है।

(क) संविधान के संघात्मक होने के प्रमुख लक्षण

(क) संविधान ने देश के भीतर शासन की एक दोहरी-व्यवस्था स्थापित

की है—संघ-शासन एवं राज्य शासन। प्रत्येक राज्य में संघ शासन की ही भांति राज्य में नाममात्र का अध्यक्ष राज्यपाल होता है, अपनी पृथक विधायिका और कार्य-पालिका (Legislature and Executive) होती हैं। ये राज्य शासन की स्वतन्त्र इकाइयां (Units) हैं।

(ख) शासन के विषयों को तीन सूचियों में विभाजित किया गया है—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। राज्य सूची के विषयों पर सामान्यतः राज्य के विधान मण्डल की सत्ता सर्वोच्च होती है। उसे उन विषयों पर किसी से कोई अनुमति नहीं लेनी पड़ती। वह समवर्ती-सूची के विषयों में भी किसी विषय पर तब तक विधि बना सकती है जब तक संघ-संसद उस विषय पर कोई विधि (Law) न बना दे।

(ग) राज्यों और संघ के मध्य संघर्षों का निपटारा करने के लिए सर्वोच्च-न्यायालय की स्थापना भी संघीय-व्यवस्था की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। भारतीय संविधान ने इस प्रकार के एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की है।

हमारे संविधान ने देश में एक संघीय-व्यवस्था की नींव डाली है, तथापि वह संघ अपूर्ण है।

(ख) अपूर्ण-संघ के प्रधान लक्षण

(क) **संघ शासन का अधिक शक्तिशाली होना**—संविधान ने संघशासन (केन्द्रीय सरकार) को संसार के अन्य किसी भी संघ की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बनाया है। उसे शासन की सभी महत्वपूर्ण शक्तियाँ दी गई हैं। शक्तियों के वितरण की योजना में भी उसका पलड़ा भारी है।

(ख) **इकहरी नागरिकता**—संविधान ने देश में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की है। संघ तथा राज्य की नागरिकता के अधिकार नागरिक को पृथक-पृथक नहीं मिलते हैं। यहाँ संघ का नागरिक और राज्य का नागरिक एक ही है वह भारतीय नागरिक होता है। संघ और राज्य की नागरिकता में कोई अन्तर नहीं रखा गया है।

(ग) **इकहरी न्यायपालिका**—केवल नागरिकता ही नहीं भारत की न्याय-व्यवस्था भी इकहरी है। भारत की सारी न्याय-व्यवस्था सर्वोच्च-न्यायालय से लेकर साधारण न्यायालयों तक एक पूर्ण इकाई है। भारत में राज्यों और संघ के पृथक न्यायालयों की स्थापना नहीं की गई है। यद्यपि यहाँ राज्यों में उच्च न्यायालय होते हैं परन्तु वे राज्य शासन का अङ्ग नहीं हैं। उनकी समूची व्यवस्था सर्वोच्च न्यायालय के अन्तर्गत होती है।

(घ) **राज्यों को संविधायी सत्ता नहीं**—हमारा संविधान संघ और राज्य दोनों की शासन व्यवस्था का ब्यौरा रखता है। उसमें राज्यों को अलग से अपना संविधान बनाने की सत्ता नहीं दी गई है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के संघ में राज्यों

को यह सत्ता प्राप्त है। राज्यों को अपना संविधान बनाने की शक्ति न प्राप्त होने से उनकी स्थिति निर्बल हो गई है।

(च) **राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकार**—संविधान ने राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की है कि वह अपनी एक घोषणा मात्र से आपातकाल (Emergency) की घोषणा कर सकता है। ऐसी स्थिति में राज्यों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। देश एक एकात्मक शासन के अन्तर्गत आ जाता है एवं संसद को यह अधिकार मिल जाता है कि वह राज्य-सूची के विषयों पर भी विधि-निर्माण कर सके। इस स्थिति में तो स्पष्ट ही एकात्मक शासन (Unitary Govt.) का प्रत्यक्ष निर्माण हो सकता है।

(प) **निर्वाचन आयोग और नियन्त्रक महालेखा परीक्षक**—भारतीय संविधान की एकात्मक प्रवृत्ति का एक अन्य सबल प्रमाण यह है कि इसने देश भर में होने वाले चुनावों का संगठन, नियमन, नियंत्रण और संचालन करने के लिये एक ही निर्वाचन आयोग (Election Commission) की स्थापना की है। इसी प्रकार एक नियन्त्रक महालेखा परीक्षक (Auditor & Controller General) के पद की स्थापना की है जो सभी राज्यों व संघ शासनों के हिसाब किताब की जाँच पड़ताल के लिए उत्तरदायी होता है।

(फ) वास्तविक संघ में संघ शासन के निर्माण से पूर्व सर्वोच्च-प्रभुता-सम्पन्न राज्यों का होना आवश्यक है जो स्वतन्त्र रूप से यह निर्णय करें कि उन्हें एक संघ में संगठित होना है। भारत में ऐसा कुछ नहीं है। यहाँ संघ और राज्यों का निर्माण एक ही समय एक ही संविधान के अन्तर्गत हुआ है। एक संविधान निर्मातृ परिषद् ने बैठकर दोनों का निर्माण किया है। संघ में सम्मिलित राज्यों के विधान मण्डलों से कभी यह नहीं पूछा गया कि संघ की शक्ति इत्यादि के बारे में उन्हें क्या कहना है।

(७) संसदात्मक शासन

नये संविधान के अन्तर्गत हमारे देश में एक संसदात्मक-शासन की स्थापना की गई है। हमारे देश में संसद के सदस्यों में से ही मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता है। संसद के बहुमत का समर्थन प्राप्त किये बिना कोई विधि (Law) नहीं बन सकती तथा कोई आर्थिक प्रस्ताव (Budget) स्वीकृत नहीं हो सकता, तथा मन्त्रिमण्डल संसद के प्रति अपने सभी कामों के लिए उत्तरदायी होता है अर्थात् संसद का बहुमत उसे हटा सकता है।

हमारे सविधान ने संसद को राज्य की प्रभुता (Sovereignty) प्रदान नहीं की है, उसका प्रमाण य है कि वह साधारणतया संघ-सूची और समवर्ती सूची के विषयों पर ही विधि निर्माण कर सकती है, राज्य सूची के विषयों पर नहीं। साथ ही साथ उसे संविधान में संशोधन करने की पूरी शक्ति नहीं है। दूसरी ओर अनेक विषय ऐसे हैं जिनमें संसद द्वारा अधिनियमित विधियों पर सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक

समीक्षा (Judicial Review) का अधिकार प्राप्त है, अर्थात् संसद द्वारा बनाई गई कोई विधि (Law) यदि सर्वोच्च न्यायालय की दृष्टि में संविधान की मूल विधि के विरुद्ध हो तो सर्वोच्च न्यायालय उसे रद्द कर सकता है।

(८) मौलिक अधिकार

संविधान की प्रस्तावना में व्यक्ति की गरिमा का उल्लेख किया गया है। जन-तन्त्र का मूल-आधार व्यक्ति है। उसके विकास के लिए अनुकूल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दशाओं की आवश्यकता होती है। विकास के लिए आवश्यक जीवन की बुनियादी दशाओं को मौलिक अधिकार कहते हैं। हमारे संविधान ने इन मौलिक अधिकारों की योजना अलग से की है। भारतीय संविधान की विशेषता यह नहीं है कि उसने नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान किये हैं, वैसी व्यवस्था तो संसार के कई अन्य संविधानों ने भी की है। उसकी विशेषता यह है कि उसने उन मौलिक अधि-कारों में सांविधानिक उपचारों का अधिकार (Right to Constitutional Remedies) भी सम्मिलित किया है। इसका अर्थ यह है कि यदि इन मौलिक अधिकारों के उपभोग में कभी भी किसी की ओर से बाधा डाली जाती है तो व्यक्ति सर्वोच्च-न्यायालय से अपने अधिकारों को वापिस दिलाने की माँग कर सकता है। इन अधिकारों का अपहरण केवल एक ही दशा में किया जा सकता है जबकि राष्ट्र-पति राष्ट्रीय-संकट के समय में आपद्-कालीन घोषणा करदें और इन अधिकारों को निलम्बित (Suspend) कर दें।

(९) लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना

हमारे संविधान ने केवल एक कानूनी राज्य की स्थापना नहीं की है। उस की यह इच्छा नहीं है कि भारत की जनता के सिर पर एक ऐसा राज्य थोप दिया जाए जो भारत के लोगों पर कठोर शासन करता रहे। उसने सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र की आत्मा का सत्कार किया है तथा निश्चय किया है कि भारत का राज्य भारत कीज नता की सेवा करेगा। वह उसके कल्याण के लिए विविध प्रकार की योजनाओं का निर्माण और संचालन करेगा तथा भारत की जनता के नैतिक, मानसिक, बौद्धिक ब शारीरिक (भौतिक) विकास के लिए प्रयत्नशील रहेगा। इस दृष्टि से राज्य का मार्गदर्शन करने के लिए उसने चौथे खंड में 'नीति निर्देशक तत्वों' का उल्लेख किया है।

(१०) धर्मनिरपेक्ष राज्य की कल्पना

हमारे सविधान ने देश में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की है। इसका अर्थ यह है कि—१. राज्य की ओर से किसी धर्म-विशेष के पालन या प्रचार में किसी प्रकार की कोई सहायता नहीं दी जायगी और न बाधा ही डाली जायगी, २. किसी व्यक्ति को किसी धर्म-विशेष का अनुयायी होने के कारण न तो कोई सुविधा ही दी

जांयगी और न उसे किसी अधिकार से वंचित ही किया जाएगा, ३ प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार रहेगा कि वह अपने विश्वास के आधार पर किसी भी धर्म का अनुकरण कर सके, ४. किसी भी व्यक्ति या समुदाय को यह अधिकार नही होगा कि वह राज्य के भीतर किसी भी प्रचलित धर्म की निन्दा कर सके अथवा बल-पूर्वक धर्म-परिवर्तन का प्रयास करे। धर्म निरपेक्ष राज्य का अभिप्राय यह नहीं है कि ऐसे राज्य के कार्य धार्मिक नियमों के विपरीत अर्थात् अधर्ममय होंगे। इसका केवल यही अर्थ है कि राज्य एक राजनीतिक समुदाय है। उसे पूर्ण रूप से धार्मिक निष्पक्षता निभानी चाहिए तभी वह अपने समस्त विभिन्न धर्मावलम्बी लोगों के राजनीतिक हितों का प्रतिनिधित्व तथा प्रतिपादन कर सकेगा।

(११) ग्राम पंचायतें

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की चालीसवीं धारा में राज्य से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अपेक्षा की गई है वह अपेक्षा यह है कि राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करेगा तथा उन्हें ऐसी शक्तियाँ प्रदान करेगा जिससे कि वे स्वायत्त-शासन की प्रारम्भिक इकाइयों के रूप में कार्य कर सकें। यद्यपि यह धारा ग्राम-राज्य की स्थापना की ओर कोई इशारा नहीं करती है फिर भी इससे ऐसा पता चलता है कि संविधान-निर्माताओं की इच्छा यह थी कि देश की शासन-शक्ति को इस सीमा तक विकेन्द्रित (Decentralise) किया जाय कि उसमे देश के गाँव केवल हिस्सा ही न ले सके वरन उन्हें स्वशासन की अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त हो सके।

(१२) स्वतन्त्र न्यायपालिका

(Independent Judiciary)

शासन को निरंकुश होने से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि शासन की पूरी सत्ता किसी एक व्यक्ति या समुदाय के हाथों में न दी जाय। भारतीय संविधान में कार्यपालिका शक्ति मंत्रिपरिषद् को दी है परन्तु क्योंकि मंत्रिपरिषद् संसद में बहुमत रखती है अतः वह विधि निर्माण में भी पूरा हाथ रखती है। इस प्रकार कार्य-पालिका व विधायिका शक्तियाँ मंत्रिपरिषद् के हाथ में इकट्ठी हो गई है। यदि न्याय की शक्ति भी मंत्रिपरिषद् को ही दी जाती तो मंत्रिपरिषद् निरंकुश हो जाती और मनमानी कर सकती थी। हमारे संविधान निर्माताओं ने बडी बुद्धिमानी पूर्वक न्यायपालिका को मंत्रिपरिषद् के नियंत्रण और हस्तक्षेप से मुक्त रखा है। तथा एक स्वतंत्र न्यायपालिका का निर्माण किया है जिसको यह शक्ति प्राप्त है कि वह मंत्रिपरिषद् अथवा संसद के किसी निर्णय को असांविधानिक घोषित करके रद्द कर दे तथा लागू होने से रोक दे।

सर्वोच्च-न्यायालय देश के संविधान का प्रहरी तथा रक्षक है। वह नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करता है तथा राष्ट्रपति के क्षमा आदि के सीमित

अधिकारों को छोड़कर सर्वोच्च-न्यायालय के फैसलों को कोई शक्ति रद्द नहीं कर सकती तथा उनके प्रकाशन में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती।

अपने संविधान की उपरोक्त विशेषताओं के अतिरिक्त हम कुछ अन्य प्रमुख बातों का उल्लेख भी कर सकते हैं।

१ हमारे संविधान ने देश के भीतर से पृथक निर्वाचन प्रणाली को समूल नष्ट कर दिया है तथा उसके स्थान पर संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली की स्थापना की है। इससे आशा की जा सकती है कि देश के विविध सम्प्रदाय परस्पर अधिक निकट आकर विद्वेष की भावना को नष्ट कर सकेंगे।

२. संविधान ने छुआछूत को अवैधानिक घोषित किया है तथा स्पष्ट उल्लेख किया है कि जो लोग देश के भीतर किसी भी प्रकार से सार्वजनिक स्थानों पर छुआछूत का प्रदर्शन करेंगे उन्हें दण्ड दिया जायेगा।

भारत ने यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था कि भाषा के आधार पर राज्यों का संगठन किया जाना चाहिए अतः राज्य-पुनर्गठन-आयोजन की नियुक्ति की गई और उसकी सिफारिशों के आधार पर भारतीय संसद ने १६ अक्तूबर १६५८ को संविधान मे सातवाँ सशोधन पारित करके संघ के भू-क्षेत्र-और राज्यों का पुनर्विभाजन किया तथा १७ अगस्त १६६१ को दसवें सांविधानिक संशोधन द्वारा दादरा और नगर हवेली को भारत में संघ शासित प्रदेश बना दिया गया है।

राज्य

१. आन्ध्र प्रदेश, २. आसाम, ३. बिहार, ४. बम्बई, ५. केरल, ६. मध्यप्रदेश, ७. मद्रास, ८. मैसूर, ९. उड़ीसा, १०. पंजाब, ११. राजस्थान, १२. उत्तर प्रदेश, १३. पश्चिमी बंगाल. १४. जम्मू तथा काश्मीर।

सघ-शासित प्रदेश

१. दिल्ली, २. हिमाचल प्रदेश, (बिलासपुर सहित) ३. मणिपुर, ४. त्रिपुरा, ५. अन्डमान और निकोबार द्वीप समूह, ६. लख दीप, मिनीकॉय और अमिन दीप, ७. दादरा और नगर हवेली।

इस प्रश्न में यह उल्लेखनीय है कि संसद ने गुजरात और महाराष्ट्र को बम्बई प्रदेश के अन्तर्गत रखा है। इस प्रकार बम्बई एक द्विभाषी राज्य है। इसके निर्माण के समय महाराष्ट्र और गुजरात दोनों के लोगों ने काफी विरोध किया तथा विरोध अभी भी जारी है सम्भव है निकट भविष्य में ये दो राज्य अलग हो जावें।

संशोधन की पद्धति

भारत का संविधान सुपरिवर्तनीय है। हमारे राष्ट्रनायक जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"हम यद्यपि यह चाहते है कि हम इस संविधान को जितना अधिक सुदृढ़ और स्थायी बना सकें बनायें परन्तु संविधान कभी स्थायी होता नही है। हम इस संविधान को इतना दुष्परिवर्तनीय नहीं बना सकते थे, कि वह परिवर्तनशील

परिस्थितियों के अनुकूल मोड़ा न जा सके। आज जब कि जगत संकट में है तथा हम संक्रान्ति के अत्यन्त तीव्रकाल में से होकर गुजर रहे हैं, ऐसे समय में हम जो करेंगे सम्भव है वह भविष्य पर पूर्णतया लागू न हो पावे।"

हमारे संविधान में उसके संशोधन के तीन मार्ग रखे गये है। संविधान की धाराओ को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक श्रेणी की धाराओं का संशोधन भिन्न मार्ग से होता है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें, याद रखना परमावश्यक है।

१. राज्यों को अपने सम्बन्धित संविधान में संशोधन करने की शक्ति नही दी गई है।

२. संविधान के संशोधन सम्बन्धी प्रस्ताव केवल संसद की ओर से आ सकते हैं, राज्यों या नागरिकों को इस सम्बन्ध में कोई अधिकार नही दिया गया है।

३. संविधान की सभी धाराओं का संशोधन एक ही पद्धति से नही होता, वरन् जैसा पीछे कह चुके हैं उन्हें तीन श्रेणियों में बांटकर अलग अलग रीतियो से संशोधन किया जाता है।

(क) संविधान की कुछ धाराओं के द्वारा संसद को यह अधिकार दिया है कि वह साधारण विधि-निर्माण की भाँति ही, अर्थात् केवल साधारण बहुमत द्वारा संविधान के कुछ भागो का संशोधन कर सकती है, उदाहरणार्थ—किसी राज्य के क्षेत्र घटाने बढ़ाने, नाम बदलने अथवा नया राज्य बनाने का काम संसद साधारण रीति से कर सकती है इसी प्रकार संसद साधारण विधि द्वारा किसी राज्य में विधान परिषद् (Legislative Council) का निर्माण कर सकती है व अनुसूचित क्षेत्रों तथा अनुसूचित जातियों सम्बन्धी अनुसूची मे संशोधन कर सकती है।

(ख) संविधान का अनुच्छेद ३६८ संसद को यह अधिकार देता है कि यदि संसद के दोनों सदन संविधान में संशोधन करने के लिए किसी प्रस्ताव को उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई व सदन की कुल सदस्य-संख्या के बहुमत से स्वीकार करले तथा उस पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे दें तो संविधान का संशोधन हो सकेगा। परन्तु आगे उसमे कहा गया है कि—

(ग) यदि वह प्रस्ताव निम्न अशों मे किसी अंश से सम्बन्धित होगा तो संसद के दोनों सदनों की उपरोक्त प्रकार से पृथक पृथक सहमति के पश्चात् राष्ट्रपति के पास भेजे जाने से पहले उस प्रस्ताव पर कम से कम आधे राज्यों के विधान मंडलों की सहमति प्राप्त हो जानी चाहिए। ऐसे अंश ये हैं—

(i) राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया।

(ii) राष्ट्रपति के निर्वाचन में राज्यों के मतों की समरूपता।

(iii) संघ की कार्यपालिका शक्ति का क्षेत्राधिकार।

(iv) राज्यों की कार्यपालिका शक्ति का क्षेत्राधिकार।

(v) संघीय प्रदेशों के लिए उच्च न्यायालयों सम्बन्धी अनुच्छेद ४१२ ।

(vi) संविधान के खंड ११ के प्रथम अध्याय में वर्णित संघ व राज्यों के विधायी सम्बन्धों के अनुच्छेद २४५ से २५५ तक ।

(vii) संघ सूची, राज्य सूची व समवर्ती सूची के विषय जिनका वर्णन सातवीं अनुसूची में किया गया है ।

(viii) खंड ५ के अध्याय ४ में वर्णित संघीय-न्यायपालिका सम्बन्धी अनुच्छेद १३४ से १४७ तक ।

(ix) खंड ६ अध्याय ५ में वर्णित राज्यों के उच्च न्यायालयों सम्बन्धी अनुच्छेद २१४ से २३१ तक ।

(x) संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व ।

(xi) स्वयं अनुच्छेद ३६८ जिसमें संशोधन की इस प्रक्रिया का वर्णन है ।

योग्यता-प्रश्न

१. भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएं क्या हैं ?
What are the salient features of the Indian Constitution ?

२ 'भारत एक अपूर्ण संघ है ।' समझाइए ।
India is an imperfect federation. Explain.

३. भारत के संविधान का संशोधन किस प्रकार हो सकता है ?
What is the process of amendment of the Constitution of India ?

४. क्या भारतीय संविधान लोकतंत्रात्मक है ?
Is the Indian Constitution democratic ?

—: ० :—

अध्याय २३

भारतीय नागरिकता और मौलिक अधिकार

"मेरी एक ही आकांक्षा है कि मेरी प्रजा मेरी शक्ति में भाग ले"

—सम्राट अशोक

"राज्य की प्रभुता में भाग लेना प्रजा का मौलिक अधिकार है, वही नागरिकता की आत्मा भी है।"

भारतीय संविधान ने यद्यपि यह तो निर्धारित किया है कि इस देश में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था होगी तथापि नागरिकता की कोई शर्तें उसमें नहीं बताई गई है। उसमें यह नहीं लिखा गया है कि भारतीय नागरिकता के अधिकार किस प्रकार प्राप्त होंगे। संविधान ने नागरिकता सम्बन्धी सभी कानून बनाने का अधिकार संघ-संसद को सौंपा है। संविधान में केवल इस बात का उल्लेख किया गया है कि उसके लागू होने के समय किस-किस प्रकार के लोगों को भारतीय नागरिकता दी जानी थी। वे इस प्रकार हैं—

१. प्रत्येक व्यक्ति जो संविधान के लागू होने के समय भारत के राज्यक्षेत्र में निवास करता है, यदि वह निम्न शर्तों में से एक भी पूरी करता है तो भारत का नागरिक बन जाता है :—

(अ) जिसका जन्म भारत के राज्यक्षेत्र में हुआ या जिसके जनकों (Parents) में से कोई भारत राज्यक्षेत्र में जन्मा था।

(ब) जो उस समय से ठीक पहले कम से कम पाँच वर्ष तक भारत-राज्य के क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहा हो।

२. वे विस्थापित व्यक्ति भी भारत के नागरिक समझे गये जो पाकिस्तान से भारत में आ गये हैं, यदि वे स्वयं या उनके जनकों अथवा महाजनकों (Grand-parents) में से कोई अविभाज्य भारत में जन्मा था और वे नीचे लिखी शर्तो में से कोई भी एक पूरी करते थे :—

(अ) जो व्यक्ति पाकिस्तान छोड़कर १६ जुलाई १६४८ से पूर्व भारत में आकर रहने लगे।

(ब) वे व्यक्ति जो १६ जुलाई १६४८ के बाद भारत मे आये और जिन्होंने भारत सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारियों के दफ्तर में आवेदन-पत्र देकर अपने नाम

रजिस्टर में लिखा लिए। ऐसे आवेदन-पत्र कम से कम ६ माह तक भारत में स्थायी रूप से निवास करने के बाद ही लिए जा सकते थे।

३. वे मुसलमान भी जो १ मार्च १९४७ के बाद डर के कारण भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गये थे, परन्तु जिन्हे बाद में भारत सरकार ने स्थायी आज्ञापत्र (Permanent permit) देकर भारत लौट आने तथा बसने की सुविधा प्रदान की है, भारत के ही नागरिक बन गये है।

४. जो व्यक्ति विदेशों में रहते हैं, परन्तु जिनका अपना जन्म, या जिनके माता-पिता या दादा-दादी में से किसी का जन्म अविभाजित भारत में हुआ था, वे भी भारत के नागरिक बन सकते हैं, यदि उन्होंने विदेशों में स्थित भारतीय राजदूत या राजनीतिक प्रतिनिधि के दफ्तर में आवेदन-पत्र देकर अपना नाम रजिस्टर में लिखा लिया हो।

यदि किसी व्यक्ति ने स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर ली हो तो वह भारत का नागरिक नहीं समझा जायेगा।

मतदान का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद ३२५ में कहा गया है कि किसी राज्य के विधान मण्डल के किसी सदन या प्रत्येक सदन के लिए निर्वाचन के हेतु प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक साधारण निर्वाचक नामावली (General Electoral Roll) तैयार की जायेगी। किसी व्यक्ति को धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या उनमें से किसी के आधार पर ऐसी नामावली में शामिल होने से रोका नहीं जा सकता। वह इन आधारों पर किसी विशेष निर्वाचक-नामावली में सम्मिलित किये जाने का दावा भी नहीं करेगा।

अनुच्छेद ३२६ वर्णन करता है कि प्रत्येक राज्य की विधान सभा तथा लोक-सभा के निर्वाचन वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) के आधार पर किये जायेंगे। भारत का प्रत्येक नागरिक जिसकी आयु २१ वर्ष से कम नहीं है तथा जो भारत का निवासी, स्वस्थ मन और बुद्धि वाला व सदाचारी है, एवं जो कभी अराज-नीतिक कारणों से दण्डित नहीं हुआ है ऐसे निर्वाचनों में मतदाता सूची के भीतर अपना नाम सम्मिलित करा सकेगा।

इस प्रकार हमारे संविधान ने पृथक निर्वाचन प्रणाली तथा सीमित मतदान प्रथा का अन्त कर दिया है। इतना ही नही इसने स्त्रियों को भी पुरुषों के बराबर ही मतदान का अधिकार दिया है।

मौलिक अधिकार

हमारे संविधान के खण्ड ३ में हमें निम्नलिखित मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं :—

१. समानता का अधिकार
२. स्वतन्त्रता का अधिकार
३. शोषण के विरुद्ध अधिकार
४. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार
५. सांस्कृतिक व शैक्षणिक अधिकार
६. सम्पत्ति का अधिकार
७. सांविधानिक उपचारों का अधिकार

१. समानता का अधिकार

संविधान में कहा गया है कि राज्य सब व्यक्तियों को विधि (Law) के सामने समान महत्व देगा और विधि (Law) का समान रक्षण प्राप्त करायेगा। समानता का यह अधिकार केवल नागरिकों तक ही सीमित नहीं है वरन् अनागरिकों को भी प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त यह कहा गया है कि राज्य धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग, अथवा जन्म स्थान के आधार पर किसी नागरिक के विरुद्ध भेद-भाव का व्यवहार नहीं करेगा, तथा उसको सार्वजनिक व सरकारी अथवा अर्द्ध-सरकारी स्थानों जैसे अल्पाहार गृहों (Restaurants), दूकानों, भोजनालयों, कुओं, घाटों, सिनेमागृहों आदि में जाने से कोई नहीं रोक सकेगा।

समस्त नागरिकों को अवसर की समानता मिलेगी। राज्य में सरकारी पद पाने की समानता पर विशेष बल दिया गया है। इसमें धर्म आदि का भेद-भाव नहीं किया जाएगा।

छुआछूत को अवैधानिक घोषित किया गया है तथा किसी को अछूत मानने वाले लोग दण्ड के भागी होंगे। छुआछूत के कारण यदि किसी व्यक्ति पर कोई प्रतिबन्ध लगाये जायेंगे तो वे दण्डनीय होगे।

समानता की स्थापना के लिये अनुच्छेद १८ यह घोषित करता है कि राज्य सैनिक एवं योग्यता के आधार पर दी जाने वाली उपाधियों के अतिरिक्त और कोई उपाधि नही देगा। इतना ही नही राज्य का कोई भी नागरिक किसी विदेशी-उपाधि को स्वीकार नही कर सकेगा। वे अनागरिक भी जो भारत-सरकार के अन्तर्गत कोई पद ग्रहण किये हुए है राष्ट्रपति की अनुमति के विना कोई विदेशी-उपाधि स्वीकार नहीं कर सकेगे।

देश के भीतर फैली हुई सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानता को दूर करने की बहुत भारी आवश्यकता थी, समानता के इस मौलिक अधिकार ने यह काम किया है। छुआछूत को मिटाकर हमारे संविधान ने राष्ट्रीय विकास के मार्ग में से एक बहुत बड़े रोड़े को दूर किया है।

२. स्वतन्त्रता का अधिकार

देश के समस्त नागरिकों को निम्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं का अधिकार प्रदान किया गया—

(क) भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता,

(ख) निःशस्त्र व शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता,

(ग) संघ तथा समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता,

(घ) भारत-राज्य-क्षेत्र में मुक्त रूप से आने जाने की स्वतन्त्रता,

(च) भारत-राज्य-क्षेत्र के किसी भी भाग में निवास करने तथा बस जाने की स्वतन्त्रता,

(छ) सम्पत्ति प्राप्त करने और बेचने, तथा

(ज) किसी पेशे को अपनाने अथवा कोई धन्धा, व्यापार या काम चलाने की स्वतन्त्रता।

ये जो सात प्रकार की स्वतन्त्रताएं संविधान में गिनाई हैं, ये वास्तव में किसी जनतन्त्र के सफल संचालन की अनिवार्य-दशाएं हैं। जनतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उस देश के नागरिकों को अपने विचार बोलकर, लिखकर अथवा चित्रण करके प्रगट करने की छूट हो। शान्तिपूर्वक सभा करने का अधिकार तो जनतन्त्र में लोकमत के निर्माण तथा जनता के राजनीतिक शिक्षण व नेतृत्व के निर्माण का अमूल्य साधन है।

मनुष्य का जीवन समाज के भीतर एकाकी नहीं चल सकता, उसके लिए संघ चाहियें। एक ही विचार, पेशे, धर्म अथवा हितों के लोग एक साथ मिल कर काम करें यह अभीष्ट है। इससे सामूहिक-चिन्तन, सामाजिक नैतिकता एवं व्यापक सहयोग का उदय होता है। संविधान ने संघ-समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता इसी उद्देश्य से प्रदान की है।

देश की एकता का प्रमुख प्रमाण यह है कि प्रत्येक नागरिक को देश के प्रत्येक कोने में जाने, रहने और बसने की छूट है। वास्तव में यह स्वतन्त्रता तो यदि मौलिक अधिकारों के प्रसंग में न भी दी जाती तो भी भारत के नागरिकों को मिल ही जाती क्योंकि भारत में एक नागरिकता रखी गई है। प्रत्येक नागरिक भारत का नागरिक है अतः उसका निवास देश में माना गया है न कि किसी विशेष राज्य या जिले में। इस प्रकार यह सर्वथा उचित ही है कि प्रत्येक भारतीय नागरिक देश में कहीं भी प्रवास व निवास कर सके एवं स्थायी आवास का निर्माण कर सके।

सम्पत्ति व्यक्ति के जीवन में एक आवश्यक वस्तु है। मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक है कि उसका शरीर कायम ही नहीं वरन् स्वस्थ एवं प्रसन्न रहे। इसके लिए कुछ भौतिक-पदार्थ आवश्यक हैं। ये पदार्थ ही सम्पत्ति हैं। यह सम्पत्ति व्यक्ति के जीवन के विकास में एक प्रमुख-साधन के रूप में गिनी जा सकती

है। प्रत्येक भारतीय नागरिक को सम्पत्ति का उत्पादन करने, रखने और (अपनी वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु की अधिक आवश्यकता होने पर) बेचने का अधिकार मिला है।

संविधान के खण्ड ३ के २१वे अनुच्छेद में व्यक्ति को जीने और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। उसमे लिख दिया गया है कि यदि कानून की दृष्टि में यह आवश्यक हो अर्थात् यदि न्यायालय यह आवश्यक समझे कि व्यक्ति या व्यक्तियों को मृत्यु-दण्ड अथवा कारावास दिया जाय तो उसमें संविधान कोई बाधा नहीं डालेगा।

३. शोषण के विरुद्ध अधिकार

संविधान में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति से बेगार या अन्य विवश-श्रम नहीं लिया जा सकता, इसके लिये दण्ड की व्यवस्था रहेगी। परन्तु राज्य सार्वजनिक कामों के लिये अनिवार्य भर्ती का नियम बना सकता है। संविधान इस बात पर प्रतिबन्ध लगाता है कि किसी भी १४ वर्ष से कम आयु वाले बालक को उद्योगशालाओं, खानों तथा अन्य संकट-सम्भावना धन्धों में काम पर नहीं लगाया जा सकता।

४. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार

धर्म व्यक्ति का निजी दृष्टिकोण है जिससे वह इस भौतिक जगत तथा उससे परे आध्यात्मिक जगत से अपने सम्बन्ध स्थिर करता है। वैसे जगत में अनेक धर्म प्रचलित हैं, जो मनुष्य को अपना दृष्टि-कोण बनाने में प्रभावित करते हैं। धर्म इस प्रकार एक व्यक्तिगत विषय है अतः व्यक्ति को सविधान ने यह अधिकार दिया है कि वह सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता, स्वास्थ्य तथा अन्य मौलिक अधिकारों को आघात पहुं-चाये बिना अपनी निष्ठा के अनुसार किसी भी धर्म का प्रतिपादन, पालन एवं प्रचार कर सकता है।

प्रत्येक धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक समुदाय को यह अधिकार दिया गया है कि (१) धार्मिक व धर्मार्थ संस्थाओं का निर्माण कर सके, (२) धर्म के मामलों में अपनी व्यवस्था स्वयं कर सके, (३) चल व अचल सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त कर सके तथा विधिवत् ऐसी सम्पत्ति का प्रशासन कर सके।

किसी धर्म विशेष के अनुयायियों पर कोई ऐसा कर (Tax) नहीं लगाया जा सकता जिसे कि किसी विशेष धर्म के विकास में व्यय किया जाय।

राज्य के कोष से सहायता प्राप्त करने वाली संस्थाओं में किसी धर्म-विशेष की शिक्षा नहीं दी जायेगी।

ये सभी धाराएं यह स्पष्ट करती हैं कि राज्य किसी व्यक्ति के धर्म में बाधा नहीं डालना चाहता, न किसी दूसरे व्यक्ति या समुदाय के किसी ऐसे कार्य को सहन करना चाहता है जिससे किसी धर्म की प्रतिष्ठा को हानि पहुँचती है। राज्य ने स्वयं किसी प्रचलित धर्म को नहीं अपनाया है, सभी धर्मों को समान स्थान दिया है। इसी

से हम भारत को 'एक धर्मनिरपेक्ष राज्य' (Secular State) कहते है । धर्म के मामले में भारतीय संविधान की इच्छा है कि राज्य कोई दखल न दे तथा स्वयं किसी धर्म के प्रचार का साधन न बने ।

५. सांस्कृतिक व शैक्षणिक अधिकार

हमारे संविधान ने सांस्कृतिक व शैक्षणिक मूल-अधिकार के अन्तर्गत निम्न बातें कही हैं—

अनुच्छेद २९—भारतीय राज्य-क्षेत्र के किसी भी भाग में रहने वाले नागरिकों के किसी समुदाय को अपनी पृथक भाषा, लिपि अथवा संस्कृति की रक्षा का अधिकार होगा ।

पूर्ण या आंशिक रूप से राज्य-कोष से सहायता पाने वाली शैक्षणिक संस्थाओं में धर्म, प्रजाति, जाति, भाषा के आधारों पर किसी नागरिक को प्रवेश पाने से नहीं रोका जा सकेगा ।

अनुच्छेद ३०—धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यकों को अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और उनके प्रशासन का अधिकार होगा ।

राज्य अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने में कोई भेद-भाव नहीं करेगा ।

यह अधिकार व्यक्ति को नहीं, सांस्कृतिक समूहों को दिया गया है । इस अधिकार में यह कहीं नहीं कहा गया कि भारत के प्रत्येक नागरिक को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होगा तथा उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर सकने में उसका अपनी मूर्खता के अलावा कोई बाधा उसे नहीं रोक सकेगी । आज देश में व्यापक गरीबी के कारण शिक्षा चन्द दौलतमन्द लोगों को ही मिल पाती है । भारत के नागरिकों को यह अधिकार नहीं मिला कि उनकी गरीबी उन्हें शिक्षा प्राप्त करने से न रोक सके अर्थात् हमारे संविधान ने निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था नही की है ।

६. सम्पत्ति का अधिकार

स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत संविधान ने व्यक्ति को सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने व बेचने की स्वतन्त्रता दी है । इसके भी आगे अनुच्छेद ३१ में कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति विधि की सत्ता (Authority of Law) के बिना नही छीनी जा सकेगी । राज्य जो ऐसी विधियाँ बनायेगा जिनके द्वारा वह व्यक्ति अथवा समूह की सम्पत्ति सार्वजनिक-हित की दृष्टि से लेना चाहता है, उनमें उसे ऐसी सम्पत्ति का मुआवजा (प्रतिधन Compensation) निश्चित करना होगा अथवा प्रतिधन निश्चित करने का सिद्धान्त निर्धारित करना होगा ।

राज्य बिना मुआवजे के किसी की सम्पत्ति नहीं छीन सकता परन्तु वह क्या

मुआवजा (प्रतिधन) निश्चित करेगा, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। न्यायालयों को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नही है।

७. सांविधानिक उपचारों का अधिकार

यदि नागरिक के मौलिक अधिकारों का अपहरण होता है तो वह उसकी शिकायत सर्वोच्च न्यायालय में कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह (राष्ट्रपति द्वारा आपातकालीन घोषणा करके अधिकार निलम्बित कर दिये जाने की स्थिति के अतिरिक्त सभी स्थितियों में) नागरिक को उसके मौलिक अधिकार वापिस दिलाये।

संविधान में खण्ड ३ के अनुच्छेद ३२ की धारा मे सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि वह नागरिकों के मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिये आदेश या आज्ञा अथवा लेख (Writs) जारी कर सके। यहाँ 'लेख' की व्याख्या करना आवश्यक होगा।

लेख एक प्रकार के तत्कालीन आदेश होते है जिनका उद्देश्य तुरन्त अथवा ीघ्र कार्यवाही करना या रोकना होता है। लेख कई प्रकार के होते हैं; यथा,

बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख (Writ of Habeaus Corpus)—इस ादेश का अर्थ है 'बन्दी को न्यायालय के सामने प्रत्यक्ष उपस्थित करने का आदेश'। ंविधान ने सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयों को यह अधिकार दिया है कि वे न्दी प्रत्यक्षीकरण लेख जारी कर सके, अर्थात् बन्दी को अपने सामने उपस्थित ररने का आदेश दे सकें, उसके बन्दी बनाये जाने के कारणों की जाँच तथा विधि के ानुसार उसे मुक्त या दण्डित करें। ऐसे मामलों मे न्यायालय का निर्णय सर्वोच्च ोता है।

यदि कोई बन्दी कारागृह में से न्यायालय से यह प्रार्थना करना चाहता है कि सके मामले में बन्दी प्रत्यक्षीकरण लेख जारी किया जाये तो उसे उसकी सुविधा दी ाती है। कारागृह के व्यवस्थापक उसे रोक नहीं सकते क्योंकि उसे रोकना न्यायालय ो मान-हानि करना होता है।

परमादेश (Writ of Mandamus)—परमादेश वह आदेश है जो ग्रायालय की ओर से किसी व्यक्ति या संस्था के नाम जारी किया जाता है समें उस व्यक्ति को यह आज्ञा दी जाती है कि अपने अमुक कर्त्तव्य की पूर्ति करे जो ह उसे वैधानिक दृष्टि से पूरा करना चाहिये। जैसे कि यदि किसी नगरपालिका के ुनाव समय पर नहीं होते हैं, तो उसे चुनाव करने की आज्ञा दी जा सकती है।

प्रतिषेध का लेख (Writ of Prohibition)—यह परमादेश का बिल्कुल ल्टा काम करता है। यह लेख प्राकृतिक-न्याय के नियमों का उल्लंघन करने पर नम्न-न्यायालयों के नाम प्रायः उच्च न्यायालय द्वारा जारी किया जाता है। इसके ारा किसी न्यायालय को ऐसे मामले-मुकदमे सुनने से रोका जा सकता है जो उसके

क्षेत्राधिकार से बाहर हों। प्रतिषेध का लेख कभी कभी न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य सार्वजनिक-निगमों (Public Bodies) जैसे जिला निगम (District Board) नगरपालिका आदि के नाम भी उन परिस्थितियों में जारी किया जा सकता है जब कि वह न्यायिक अथवा अर्द्ध-न्यायिक निर्णय करते हैं। उदाहरण के लिये यदि वह किसी मामले में दो पक्षों में से केवल एक पक्ष के बयानों के आधार पर ही निर्णय कर देते हैं तथा दूसरे पक्ष को अपने तर्क उपस्थित करने का अवसर ही नहीं देते तो उनके विरुद्ध प्राकृतिक-न्याय का उल्लंघन करने के कारण प्रतिषेध का लेख जारी किया जा सकता है अर्थात् उनकी कार्यवाही रोकी जा सकती है।

उत्प्रेषण लेख (Writ of Certiorari)—प्रायः प्रतिषेध का लेख व उत्प्रेषण लेख एक साथ जारी किये जाते हैं। जब निम्न-न्यायालय (Inferior Courts) ऐसे मुकदमों की सुनवाई करने लगते हैं जो कि उनके क्षेत्राधिकार से परे होते हैं तो उन मुकदमों को उच्चतर न्यायालयों (Higher Courts) में भेजने के लिये उत्प्रेषण लेख जारी किये जाते हैं। अर्द्ध-न्यायिक (Quasi-Judicial) निर्णयों के मामलों में ये लेख सार्वजनिक निगमों जैसे जिला निगम, नगरपालिका आदि के विरुद्ध भी जारी किये जा सकते हैं।

पदमुक्ति का लेख—(Writ of quo-warranto)—यह लेख किसी व्यक्ति द्वारा किसी सार्वजनिक पद के अवैधानिक रूप से धारण करने अथवा हड़प लेने की स्थिति में उसके विरुद्ध जारी किये जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति, जिसकी आयु ६५ वर्ष है किसी पद पर नियुक्त किया जाता है परन्तु उस पद की निवृत्ति आयु (Age of retirement) ६० वर्ष है तो उस क्षेत्र का उच्च न्यायालय उस व्यक्ति के विरुद्ध पद-मुक्ति का लेख जारी करके उस पद को रिक्त (Vacant) घोषित कर सकता है।

ये समस्त लेख वास्तव में शक्ति के दुरुपयोग पर प्रतिबन्ध लगाने की दृष्टि से सर्वोच्च-न्यायालय को दिये गये है।

मौलिक अधिकारों का निलम्बन

(Suspension of fundamental Rights)

भारतीय संविधान ने ऐसी व्यवस्था की है कि जब राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा करके समस्त अथवा कुछ मौलिक अधिकारों को कुछ समय के लिए छीन ले। तब नागरिकों को यह अधिकार नहीं होगा कि वे सर्वोच्च-न्यायालय से अपने अधिकारों की पुनः प्राप्ति की प्रार्थना कर सकें। राष्ट्रपति आरम्भ में मौलिक अधिकारों को केवल दो मास के लिए निलम्बित (Suspend) कर सकता है परन्तु यदि संसद एक दीर्घकालीन आपातकाल की घोषणा कर दे तो उस समय में ये अधिकार निलम्बित रहते हैं तथा उस समय के समाप्त होते ही वे नागरिकों को बिना राष्ट्रपति की घोषणा के ही प्राप्त हो जाते हैं।

योग्यता-प्रश्न

१. भारतीय संविधान ने नागरिकता किन लोगों को दी है ? हमारे देश में मताधिकार किस प्रकार प्राप्त होता है ?

Who shall be the citizen of India according to the Constitution of India ? How is the right to Vote granted in our country ?

२. भारतीय संविधान में किन मौलिक अधिकारों का वर्णन किया गया है ? विस्तार से वर्णन कीजिए।

What fundamental rights have been granted by the Constitution of India ? Discuss in detail.

३. सांविधानिक उपचारों के अधिकार से आप क्या समझते हैं ? विविध प्रकार के लेखों का वर्णन कीजिए।

What do you understand by the "Right to Constitutional Remedies" ? Describe the different types of writs which are issued by the Supreme Court of India.

—: o :—

अध्याय २४

राज्य के नीति निर्देशक तत्व

(Directive Principles of State Policy)

"....राज्य के नीति निर्देशक तत्व राज्य के लिए एक प्रकार से इस बात के स्थायी सचेतक हैं कि उसे अपनी नीतियाँ इस प्रकार निर्धारित एवं लागू करनी चाहिए जिससे कि उन तत्वों मे निहित उच्च आदर्शो की पूर्ति हो सके । यदि विधायिका तथा कार्यपालिका उनकी अवहेलना करेंगी तो उन्हें न्यायालय के समक्ष तो नहीं किन्तु जनता-जनार्दन के समक्ष अवश्य उत्तरदायी होना ही पड़ेगा ।"

—प्रो० सूद

भारतीय संविधान ने नागरिकों के लिए जिन अधिकारों की कल्पना की है उन्हें उसने दो भागों में विभाजित किया है । पहिले भाग मे वे अधिकार रक्खे गये है जिनकी पूर्ति राज्य सविधान लागू होने के समय से ही कर सकता था । उन्हे सविधान ने मौलिक अधिकारों के नाम से पुकारा है, इनका वर्णन हम पीछे कर चुके है । इन अधिकारों की प्राप्ति नागरिक अपहरण की स्थिति मे कानून के जोर से अर्थात् सर्वोच्च-न्यायालय के द्वारा कर सकता है । दूसरे भाग मे सविधान ने व्यक्तियों के लिए उन अधिकारों की कल्पना की है जो उन्हें मिलने तो अवश्य चाहिये थे, परन्तु सविधान लागू होने के समय १९५० में अपनी हजारों वर्ष की पुरानी दासता के बाद संविधान निर्माताओं ने भारतवर्ष को उस स्थिति में नही पाया कि वे व्यक्तियों को उन अधिकारों का आश्वासन दे सकते तथा उन्हें मौलिक अधिकार घोषित करके नागरिकों को उनकी प्राप्ति न्याय द्वारा सुलभ कर सकते । अतः उन्होंने इस बात में बुद्धिमानी समझी कि संविधान के भीतर इन अधिकारों को मौलिक अधिकारों के अध्याय में न लिखकर उसके पश्चात् तुरन्त अगले खण्ड में उन्हें लिख दे तथा राज्य के लिये यद्यपि वैधानिक तो नहीं तथापि एक नैतिक आदेश जारी कर दे कि वह अपनी नीतियाँ निर्धारित करते समय नागरिकों को उन अधिकारों की प्राप्ति कराने का प्रयास करे ।

राज्य के नीति निर्देशक तत्वों से हम यही समझते हैं कि संविधान निर्माताओं ने संविधान के खण्ड ४ में कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये हैं तथा राज्य से यह अपेक्षा की है कि वह अपनी नीतियां निर्धारित करते समय उन सिद्धान्तों का ध्यान रक्खे । इन तत्वों की तुलना उस निर्देशन-पत्र (Instrument of Instruction)

से की जा सकती है जो कि ब्रिटिश सम्राट, भारत के गवर्नर जनरल और गवर्नरों को उनकी नियुक्ति के समय उनकी शक्ति के उपयोग के सम्बन्ध में दिया करते थे। इस खण्ड के अनुच्छेद ३७ में यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि इस खण्ड के उपबन्धों को न्यायालयों की सहायता से लागू नहीं किया जा सकता तथापि यह तत्व "देश के शासन में मूल-भूत होंगे तथा राज्य का यह कर्त्तव्य होगा कि वह विधियों के निर्माण में इन तत्त्वों का समावेश करे।"

अनुच्छेद ३८ बहुत महत्वपूर्ण है। उसमे कहा गया है कि भारत का राज्य एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने के लिये चेष्टा करेगा जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर आधारित हो। इस खण्ड के अन्य प्रायः सभी अनुच्छेद इस अनुच्छेद की व्याख्या करने के लिए ही रक्खे गए है। वे यह जाहिर करते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय से सविधान-निर्माताओं का क्या अभिप्राय है। उनमें बताया गया है कि राज्य सभी नागरिकों को जीविकोपार्जन (Livelihood) के पर्याप्त साधनों की प्राप्ति कराने; राष्ट्र के भौतिक-साधनों के स्वामित्व और नियन्त्रण को समान रूप से बांटने; सम्पत्ति के हानिकारक केन्द्रीयकरण को रोकने; स्त्री-पुरुषों के बीच समान काम के लिये समान वेतन स्थिर करने; पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को उनकी आयु की दृष्टि से अनुपयुक्त धन्धों में काम करने से बचाकर उनकी शक्ति और स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने; बच्चों और नवयुवकों को शोषण तथा नैतिक व भौतिक हानि से बचाने; जहाँ तक हो सके बेकारी, बीमारी, बुढ़ापा आदि सकटों में नागरिकों की रक्षा, काम तथा अन्य सहायता का प्रबन्ध करने की चेष्टा करेगा।

राज्य से यह भी अपेक्षा की गई है कि वह श्रमिको के लिये काम की स्वस्थ दशाओं का निर्माण करे एवं उनके लिये एक अच्छा जीवन-स्तर प्राप्त करावे। इसमें ग्रामीण उद्योग-धन्धों के प्रोत्साहन, राष्ट्र के निर्बल नागरिकों के आर्थिक व शैक्षणिक संरक्षण, गाय तथा अन्य दुधारू पशुओं की हत्या रोकने, नशीली वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाने, आदि को भी राज्य कर्त्तव्यों की श्रेणी में गिना गया है।

अनुच्छेद ४० हमारी दृष्टि में बहुत महत्वपूर्ण है। इससे जाहिर होता है कि यद्यपि हमारे संविधान निर्माता संविधान का निर्माण करते समय महात्मा गांधी की ग्राम-राज्य की कल्पना को साकार नहीं कर सके तथापि उनके मन में यह इच्छा थी कि वे इस देश में राज्यसत्ता का विकेन्द्रीयकरण करके भारतीय ग्रामों की पंचायतों के हाथ में शासन की सत्ता पहुँचाकर "पंच परमेश्वर" के सिद्धान्त और "ग्राम सत्ता" की स्थापना कर सके। इस अनुच्छेद में स्पष्ट कहा गया है कि—

१. राज्य देश भर के गांवों में पचायतों का निर्माण करे।

२. राज्य उन पंचायतों को ऐसी शक्तियां प्रदान करे कि वे स्वराज्य की इकाइयों के रूप में काम कर सकें।

इस अनुच्छेद पर गहरा मनन करने से ऐसा लगता है जैसे कि इसके भीतर

संविधान निर्माताओं ने स्वयं संविधान के लक्ष्य की घोषणा की है अर्थात् उन्होंने यह अपेक्षा की है कि संविधान देश को एक सबल केन्द्र वाले संघ से चल कर अन्ततः ग्राम-राज्य तक पहुँचा देगा। इसमें गांवों को स्वराज्य की बुनियादी इकाई बनाने पर जोर दिया गया है अर्थात् संविधान भारत को एक ग्राम-प्रधान देश बनाने की कल्पना करता है। ग्रामोद्योगों की विकास-सम्बन्धी धारा भी इसी विचार का समर्थन करती है।

अनुच्छेद ४५ निर्देश करता है कि संविधान लागू होने के दस वर्षों के भीतर राज्य राष्ट्र के १४ वर्ष तक की आयु वाले समस्त बालकों की निःशुल्क-अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करने की चेष्टा करेगा। इसी प्रकार अन्य धारायें देश के भीतर लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना की ओर निर्देश करती हैं। यहाँ दो अन्य प्रमुख अनुच्छेदों का उल्लेख और करना ठीक होगा।

अनुच्छेद ५० राज्य से अपेक्षा करता है कि लोक-सेवाओं के क्षेत्र में कार्य-पालिका को न्याय-पालिका से पृथक सङ्गठित करे। संविधान की यह धारा इस बात की ओर इशारा करती है कि हमारे संविधान निर्माता नागरिकों के हितों की रक्षा को कितना महत्वपूर्ण समझते थे। चूकि हमारे मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली के फलस्वरूप देश की कार्यपालिका के हाथ में कार्यपालिका सत्ता के अतिरिक्त प्रायः सम्पूर्ण विधायी सत्ता भी आ गई है, अतः यदि उसके हाथ में न्याय की शक्ति भी दे दी जाय तो उसके सर्वथा निरंकुश होने का भय उत्पन्न हो जाता है। अतः न्यायपालिका-शक्ति को, जहाँ तक सम्भव हो सके, कार्यपालिका के हाथों में नहीं रखना चाहिये।

दूसरा महत्वपूर्ण अनुच्छेद ५१ है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति के बारे में राज्य का कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है। उसमें कहा गया है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देन का प्रयत्न करेगा, उसकी यह चेष्टा होगी कि संसार के राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हों तथा उनके मध्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवम् सन्धि-समझौतों के प्रति निष्ठा भावना उत्पन्न हो। इस अनुच्छेद के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को पंच-समझौते के द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया जाय।

इन नीति-निर्देशक तत्वो ने संविधान में एक प्रमुख स्थान ग्रहण किया है। ऐसा लगता है कि अत्यन्त क्रान्तिकारी राजनीतिक दल भी यदि सत्तारूढ होगा तो वह भी संविधान को उठा कर फेके बिना इन तत्वों की अवहेलना नही कर सकेगा क्योंकि ये तत्व संविधान के समूचे ढांचे में अभिन्न रूप से गुंथे हुए हैं। यही इनका महत्व है।

लोक–कल्याणकारी राज्य की कल्पना

राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का सूक्ष्म अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है कि संविधान का लक्ष्य भारत में एक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की स्थापना करना है जो नागरिकों के समस्त हितों का प्रतिनिधित्व, रक्षण और पालन

कर सके।

इसी खंड के आधार पर वर्तमान भारत सरकार ने शासन का लक्ष्य एक लोक-कल्याणकारी राज्य घोषित किया है तथा वह सामाजिक सुरक्षा, बीमा, बाल व महिला उत्थान, चिकित्सा व स्वास्थ्य, शिक्षा व मनोरंजन आदि की ओर ध्यान दे रही है। संघ और राज्य सरकारों ने अपने यहाँ समाज कल्याण बोर्डों की स्थापना की है जिनके खर्च के लिए अलग राशि की व्यवस्था की गई है तथा जो देश मे व्यापक पैमाने पर काम कर रहे है। इसी दृष्टि से सरकार उत्पादन के विविध क्षेत्रो में अपना हस्तक्षेप कर रही है तथा आर्थिक शोषण के निराकरण की दिशा मे बढ़ रही है।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य की नीति के मुख्य निर्देशक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। संविधान में उनका क्या महत्त्व है?

   Describe the important Directive Principles of State Policy. What is their position in the Constitution of India?

२. संविधान में दिए गए नीति निर्देशक तत्वों का उल्लेख कीजिए। इनका क्या महत्व है? पिछले वर्षों में इन तत्वों की कहा तक पूर्ति हुई है?

   Give an account of the Directive Principles of State Policy as stated in the Constitution of India. What is their importance and how far they have been adhered to uptill now?

—:o:—

अध्याय २५

राष्ट्रपति

"राष्ट्रपति राज्य का अध्यक्ष है, कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, राष्ट्र पर शासन नहीं करता। वह राष्ट्र का प्रतीक है, प्रशासन में उसका स्थान एक औपचारिक मुद्रा जैसा है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय घोषित होते हैं।"

—डा० अम्बेदकर

(अध्यक्ष, भारतीय संविधान प्रारूप समिति)

संविधान ने भारत को एक संसदात्मक गणराज्य बनाया है। गणराज्य में राजा तो होता नहीं, उसके स्थान पर एक ऐसा अध्यक्ष होता है जिसका निर्वाचन जनता स्वयं या अपने प्रतिनिधियों द्वारा करती है। उसे सविधान ने राष्ट्रपति या प्रेजीडेन्ट कहा है। वह राष्ट्र का सांविधानिक-प्रमुख (Constitutional Head) होता है। उसकी तुलना सत्ता की दृष्टि से हम अमरीकी-राष्ट्रपति से नहीं कर सकते। उसका पद बहुत कुछ ब्रिटेन के राजा जैसा है।

योग्यता और व्यक्तित्व—राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के भीतर निम्न योग्यताएँ होनी आवश्यक हैं—

१. वह भारत का नागरिक होना चाहिए ;

२. उसकी आयु ३५ वर्ष से अधिक होनी चाहिये ;

३. वह व्यक्ति लोक सभा की सदस्यता के लिए चुने जाने की योग्यता रखता हो ; तथा

४. वह संघ या राज्य शासन तथा उनके नीचे किसी संस्था में वैतनिक पद पर अपने नाम निर्देशन (Nomination) के समय काम न करता हो।

यदि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने के समय भारतीय संसद अथवा किसी राज्य विधान मंडल के किसी सदन का सदस्य है तो राष्ट्रपति पद ग्रहण करने की तिथि से वह उस सदन का सदस्य नहीं रहेगा तथा राष्ट्रपति पद के अतिरिक्त और कोई ऐसा पद ग्रहण नहीं कर सकेगा जिससे उसे किसी प्रकार का आर्थिक लाभ होता हो।

राष्ट्रपति समूचे राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भावनाओं का प्रतीक होता है। अतः उसके भीतर इतनी बुद्धि होनी चाहिए कि वह राष्ट्र की

आकांक्षाओं को समझ सके तथा सांस्कृतिक परम्पराओं, रीतियों एवं परिपाटियों का सम्यक रूप से पालन कर सके। उसका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होना चाहिये कि वह समस्त राष्ट्र के नागरिकों, राजनीतिक नेताओं एवं कर्मचारियो का विश्वास व सम्मान पा सके। राष्ट्रपति का पद एक निर्दलीय-पद है, उस पर बैठने वाले व्यक्ति को निर्दलीय (Non-party man) होना चाहिए। उसे न तो किसी राजनीतिक दल का सदस्य होना चाहिये न किसी दल के दलीय-कार्यक्रमों में कोई दिलचस्पी लेनी चाहिए। उसके भीतर यह गुण होना चाहिये कि वह सभी राजनीतिक दलो के साथ निष्पक्षता का व्यवहार कर सके तथा उनका विश्वास प्राप्त कर सके। उसके सामने सदा राष्ट्रीय हित का दृष्टिकोण ही रहना चाहिये।

राष्ट्रपति अपने कार्य-काल में कोई दूसरा पद ग्रहण नहीं कर सकता।

राष्ट्रपति का निर्वाचन—(अ) संसद के दोनों सदनो के निर्वाचित सदस्यों, तथा (आ) राज्यों की विधान सभाओं (Legislative Assemblies) के निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्मित एक निर्वाचक-मंडल (Electoral College) राष्ट्रपति का निर्वाचन करेगा।

मतदान के लिये संविधान ने एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक-प्रतिनिधित्व पद्धति की व्यवस्था की है। मतदान गुप्तशलाका पद्धति द्वारा होगा।

एक ओर संसद के दोनो सदनों के निर्वाचित सदस्यों तथा दूसरी ओर राज्यों की विधान-सभाओ के निर्वाचित सदस्यों को राष्ट्रपति के निर्वाचन मे बराबर मत देने का अधिकार दिया गया है, अर्थात् राज्यो के निर्वाचकों के कुल मतों की संख्या संसदीय-निर्वाचकों के कुल मतों की संख्या के बराबर होगी।

राज्यों का आकार-प्रकार भिन्न होने से यह तय करने का काम बहुत कठिन हो गया है कि प्रत्येक राज्य के निर्वाचकों को कितने मत देने का अधिकार हो? उसका हल यह निकाला गया है कि—

किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की

$$\text{संख्या} = \frac{\text{उस राज्य की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या} \times 1000}$$

एवं संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या

$$= \frac{\text{कुल राज्यों की विधान सभाओं के कुल निर्वाचित सदस्यों के मतों की संख्या}}{\text{संसद के कुल निर्वाचित सदस्यों की संख्या}}$$

राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत (Votes) निश्चित करने की जो पद्धति अपनाई गई है उससे दो बातें सिद्ध होती है—एक तो यह कि संघ संसद और राज्यों को राष्ट्रपति के निर्वाचन में बराबर की शक्ति दी गई है। इसका कारण यह है कि राष्ट्रपति केवल संघ का ही प्रमुख अधिकारी नही है वरन् वह समूचे राष्ट्र का अध्यक्ष

है। अनेक अवसरों पर राष्ट्रपति को राज्यों के शासन की बागडोर अपने हाथ में लेनी पड़ सकती है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ऐसा व्यक्ति होना ही चाहिये जिसे राज्यों के निर्वाचित प्रतिनिधियों का विश्वास प्राप्त हो। दूसरी बात यह है कि सभी राज्यों को अपनी-अपनी जनसंख्या के हिसाब से राष्ट्रपति के निर्वाचन में आनुपातिक समानता दी गई है इससे हम कह सकते है कि सारे देश की जनता के प्रतिनिधि राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

वेतन और कार्य-काल—संविधान में कहा गया है कि राष्ट्रपति को दस हजार रुपया प्रति मास वेतन तथा अन्य वे सब भत्ते जो पहले गवर्नर जनरल को मिलते थे, मिलेंगे। इसके अतिरिक्त उसे निवास के लिए राष्ट्रपति-भवन निःशुल्क दिया जायगा। उसके वेतन और भत्तों का निर्णय समय-समय पर संसद करेगी। वेतन और भत्तों में कोई परिवर्तन किसी राष्ट्रपति के कार्यकाल में नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति पद से निवृत्त होने के पश्चात् उसे पन्द्रह हजार रुपए प्रतिवर्ष निवृत्ति वेतन (पेन्शन) मिलेगा।

राष्ट्रपति का कार्य-काल पाच वर्ष होता है। इस बीच में यदि वह स्वयं चाहे तो अपने पद से त्याग-पत्र दे सकता है अथवा ससद महाभियोग चलाकर भी उसे हटा सकती है। राष्ट्रपति को जब त्याग-पत्र देना होता है तो वह अपना त्याग-पत्र उप-राष्ट्रपति को देता है। महाभियोग के बारे में आगे अलग से लिखा गया है।

राष्ट्रपति के स्वय पद त्याग देने या उसे पद से हटाए जाने अथवा उसकी मृत्यु हो जाने पर उपराष्ट्रपति उसका काम सम्हाल लेता है। परन्तु वह स्थायी राष्ट्र-पति नहीं बन सकता। राष्ट्रपति का पद रिक्त होने की तारीख से छः महीने के भीतर नए राष्ट्रपति का निर्वाचन होना आवश्यक है। इस प्रकार चुना गया राष्ट्रपति पूरे पांच वर्षों तक अपने पद पर रहेगा। कोई राष्ट्रपति जितनी बार चाहे उतनी बार अपने पद के लिये चुनाव में खड़ा हो सकता है। संविधान ने उसके लगातार चुने जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है।

पद-ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति को शपथ लेनी होती है कि वह अपने पद से सम्बन्धित कार्यों का ईमानदारी से पालन करेगा तथा सविधान एवं विधि (Law) का पालन एवं रक्षा भी करेगा। साथ ही उसे प्रतिज्ञा करनी होती है कि वह भारत की जनता की सेवा और उसका कल्याण करेगा।

विमुक्तियां (Privileges)—राष्ट्रपति का पद भारत का सबसे अधिक सम्मानित पद है। ब्रिटेन के राजा और अमेरिका के राष्ट्रपति की भाँति हमारे राष्ट्रपति को भी कुछ विमुक्तियां प्रदान की गई हैं। उसे बन्दी नहीं बनाया जा सकता तथा कारावास में भी नहीं डाला जा सकता। उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई दण्ड कार्यवाही नहीं की जा सकती। उसके विरुद्ध कोई दीवानी कार्यवाही करने के लिए उसे दो मास पूर्व सूचना देनी चाहिए। राष्ट्रपति अपने पद से सम्बन्धित किसी भी काम के लिए किसी न्यायालय के सम्मुख उत्तरदायी नहीं होता।

महाभियोग—संविधान में कहा गया है कि संविधान का उल्लंघन करने पर राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग चलाया जा सकता है। जब महाभियोग चलाना हो तो संसद का कोई एक सदन दोष आरोपित करेगा। दोष आरोपित करने का तरीका यह है कि संसद के उस सदन के कम से कम चौथाई सदस्य अपने हस्ताक्षर करके दोषारोपण के प्रस्ताव की सदन को कम से कम चौदह दिन पूर्व लिखित सूचना दे तथा वह प्रस्ताव उस सदन की कुल सदस्य संख्या के दो-तिहाई भाग द्वारा पारित किया जाये।

जब संसद का एक सदन इस प्रकार दोषारोपण कर चुकेगा तब दूसरा सदन उस दोषारोपण का अनुसंधान करेगा। यदि अनुसन्धान के फलस्वरूप अनुसन्धान करने वाले सदन के कम से कम दो-तिहाई सदस्य इस परिणाम पर पहुँच जावें कि वास्तव में राष्ट्रपति ने संविधान का अतिक्रमण किया है तो वह सदन दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति को हटाने के लिए प्रस्ताव पारित करेगा तथा राष्ट्रपति ऐसे प्रस्ताव पास होने की तिथि से ही अपना पद छोड़ देगा। महाभियोग की कार्यवाही के दौरान में राष्ट्रपति को अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए सदन के समक्ष तर्क देने का अधिकार है।

राष्ट्रपति के कृत्य और शक्तियाँ (Functions and powers of the President)—कृत्यों और शक्तियों में एक अभिन्न सम्बन्ध है। किसी पदाधिकारी को कोई शक्ति किसी कृत्य को पूरा करने के लिए ही दी जाती है। भारत के राष्ट्रपति के कृत्यों और उसकी शक्तियों का अध्ययन करने से पूर्व हमें यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि उसके प्रायः सभी कृत्य (Functions) और शक्तियाँ औपचारिक (Formal) है। वह संघ शासन में एक ऐसा कठपुतली अध्यक्ष है जिसकी अपनी कोई इच्छा ही नही होती और जो अपनी शक्तियों का प्रयोग अपनी इच्छा और बुद्धि से करने की कोई शक्ति नहीं रखता। उन शक्तियों का प्रयोग वह स्वयं नही करता बल्कि उसके द्वारा कराया जाता है।

राष्ट्पति की शक्तियां निम्न वर्गो मे बाँटी जा सकती हैः—

(क) सामान्य शक्तियाँ (General Powers)
(ख) नियुक्ति की शक्तियाँ (The Powers of Appointment)
(ग) वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers)
(घ) आपातकालीन शक्तियाँ (Emergency Powers)
(ङ) अल्पकालीन शक्तियाँ (Temporary Powers)

(क) सामान्य शक्तियाँ—संघ शासन का प्रत्येक आदेश राष्ट्रपति के नाम से घोषित किया जाता है। संघ शासन को ठीक ढंग से चलाने के लिए नियम व उपनियम बनाने की शक्ति संविधान ने राष्ट्रपति को दी है। राष्ट्रपति राष्ट्र की सुरक्षा सेनाओं का सर्वोच्च नायक होता है। केन्द्र द्वारा शासित होने वाले प्रदेशों के शासन के बारे में भी राष्ट्रपति ही उत्तरदायी होता है। उसे ही यह अधिकार दिया गया है कि वह न्यायालय से दण्ड प्राप्त व्यक्तियों को क्षमा एवं अन्य प्रकार की छूट दे सकता है।

राष्ट्रपति संसद को आहूत (Summon), स्थगित (Adjourn), सत्रावसान (Prorogue) तथा विघटित (Dissolve) कर सकता है। उसे यह भी अधिकार दिया गया है कि वह धन-विधेयकों के अतिरिक्त ऐसे सभी विधेयकों को पुनर्विचार के लिए ससद को लौटा सकता है जिन्हें संसद के दोनों सदन पारित करके उसकी स्वीकृति के लिए भेजें। परन्तु यदि वे विधेयक उसे उसी स्थिति मे संसद द्वारा लौटा दिये जायें तो उसे उन पर हस्ताक्षर करके उन्हें प्रचलित करना ही होगा। संघीय कार्यपालिका का अध्यक्ष होने के नाते राष्ट्रपति समस्त संघीय विधियों को प्रचलित (Enforce) करता है। उसे यह अधिकार है कि वह संसद के सामने विचाराधीन विधेयकों पर अपना मत एक सन्देश के रूप में भेजे। संघ-संसद की बैठकों के अवकाश काल (Recess) में राष्ट्रपति किसी विषय पर अध्यादेश (Ordinance) जारी कर सकता है परन्तु ऐसे अध्यादेश संसद का सत्र (Session) आरम्भ होने के छः सप्ताह के भीतर संसद में अनिवार्य रूप से पेश कर दिये जाने चाहियें तथा संसद को अधिकार होगा कि वह अध्यादेश के ऊपर या तो विधि का निर्माण कर दे या उस अध्यादेश को रद्द कर दे। संसद के सत्र-काल में राष्ट्रपति कोई अध्यादेश जारी नहीं कर सकता। राष्ट्रपति संसद के किसी भी सदन या दोनों सदनों की संयुक्त बैठक के सामने भाषण कर सकता है। संसद का सत्र आरंभ होने के समय उसे संसद के सामने भाषण देना ही होता है, यह उसका एक प्रमुख कर्त्तव्य है।

कुछ विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति से ही संसद के समक्ष विचारार्थ रखे जा सकते हैं, जैसे धन-विधेयक (Money Bills) तथा राज्यों के सीमा परिवर्तन सम्बन्धी विधेयक। राज्यों के विधान मण्डलों द्वारा पारित अनेक प्रकार के विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजे जाते हैं और स्वीकृति मिलने पर ही अधिनियम (Acts) बनते हैं। इसका अर्थ यही है कि राज्यों के विधान मण्डलो की कार्यवाही को संविधान ने कुछ महत्वपूर्ण विषयों में संघ-शासन के अन्तर्गत रखा है। राष्ट्रपति ऐसे मामलों में व्यक्तिगत निर्णय प्रयोग नही कर सकता, उसे मंत्रिपरिषद का निर्णय स्वीकार करना होता है।

राष्ट्रपति औपचारिक अवसरों जैसे राष्ट्रीय उत्सव आदि पर राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है तथा विदेशी राजदूतों के प्रमाणपत्रों का निरीक्षण एवं उनका स्वागत करता है।

राष्ट्रपति का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार यह है कि प्रधान मन्त्री उसे शासन-सम्बन्धी समस्त जानकारी दे। उसे अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल को किसी विषय पर निर्णय लेते समय परामर्श, प्रोत्साहन और चेतावनी दे सके।

(ख) **नियुक्ति की शक्तियाँ**—राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह राष्ट्र के सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियाँ करे तथा अनेक आयोगों व मण्डलों का सङ्गठन करे। इनमें निम्न प्रमुख हैं:—

राज्यों के राज्यपाल व मुख्य आयुक्त सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश

संघीय लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष व सदस्य, भारत का महा-न्यायवादी (Attorney General), संघ का महा नियंत्रक तथा लेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India), प्रधान मन्त्री तथा उसकी सलाह पर मन्त्रि-मण्डलके सदस्य ; राज्य सभा के १२ मनोनीत सदस्य तथा लोकसभा में आवश्यकता पड़ने पर आंग्ल भारतीय-जाति (Anglo-Indians) के दो प्रतिनिधि, निर्वाचन आयोग, वित्त आयोग, राष्ट्रभाषा आयोग, राज्य-पुनर्गठन-आयोग, अन्तर्राज्य परिषद् (Inter-State Council), अनुसूचित जातियों और वर्गों का विशेष अधिकारी आदि।

नियुक्तियों के अतिरिक्त राष्ट्रपति को यह अधिकार भी है कि वह कुछ संघ अधिकारियों को नियमानुसार कुछ दशाओं में पद-च्युत कर सके जैसे सर्वोच्च-न्यायालय व उच्च न्यायालयों के मुख्य व अन्य न्यायाधीश, लोकसेवा-आयोग (Public Service Commission) के सदस्य व अध्यक्ष आदि।

(ग) **वित्तीय शक्तियाँ** – राष्ट्रपति की वित्तीय शक्तियाँ यह प्रगट करती हैं कि संविधान ने संसद को वित्तीय-विधेयक राष्ट्रपति अर्थात् कार्यपालिका के प्रमुख अधिकारी की अनुमति के बिना पेश करने की शक्ति नहीं प्रदान की है। राष्ट्रपति को यह कर्त्तव्य सौंपा गया है कि वह प्रति वर्ष संघ का बजट तैयार कराये तथा उसे संसद के सदनों के सम्मुख पेश कराये। कोई भी वित्तीय विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना संसद में पेश नहीं किया जा सकता। राष्ट्रपति भारत के आपातकोश (Contingency Fund) का नियंत्रण करता है। वह अप्रत्याशित खर्चों (Unforeseen Expenditure) के लिये उसमें से रकम दे सकता है हालांकि बाद में उसे ऐसे खर्चों की अनुमति संसद से लेनी होती है।

राष्ट्रपति को यह शक्ति दी गई है कि वह संघ और राज्यों के बीच आय-कर से प्राप्त होने वाली राशि का वितरण करे तथा आसाम, बिहार, बंगाल और उड़ीसा को जूट से प्राप्त होने वाले निर्यात-कर के बदले में आर्थिक अनुदान दे। वह एक वित्त-आयोग की नियुक्ति भी करेगा जोकि संघ और राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों के बारे में राष्ट्रपति को परामर्श देगा।

राष्ट्रपति उन राजाओं के प्रिवी-पर्स में दी जाने वाली राशि का भी निर्णय करता है जो संघ में सम्मिलित हुये हैं।

(घ) **आपातकालीन शक्तियाँ**—राष्ट्रपति की शक्तियों मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उसकी आपातकालीन शक्तियाँ है। इन शक्तियों के द्वारा राष्ट्रपति शासन का स्वरूप ही बदल सकता है। राष्ट्रपति निम्न परिस्थितियों मे आपातकाल (Emergency) की घोषणा कर सकता है:—

(१) युद्ध-आक्रमण अथवा आन्तरिक उपद्रव (Civil Disturbance) की आशंका या घटना पर।

(२) किसी राज्य या राज्यो में सांविधानिक-तन्त्र की असफलता पर।

(३) राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था बिगड़ने अथवा उसकी आशंका पर।

आपातकाल को राष्ट्रपति-शासन भी कहा जाता है।

(ङ) **अल्पकालीन शक्तियाँ**—राष्ट्रपति को संविधान ने कुछ शक्तियाँ इस प्रकार की दी है जिनका प्रयोग अल्पकालीन है अर्थात् एक निर्धारित समय के पश्चात् राष्ट्रपति की ये शक्तियाँ समाप्त हो जाती हैं।

राष्ट्रपति की शक्तियों का मूल्यांकन

राष्ट्रपति का पद राष्ट्रीय गौरव एवं शोभा का पद है। उसे अपनी प्रत्येक शक्ति के प्रयोग में अपने मन्त्रि-परिषद् के निर्णय को मानना पड़ता है। यों तो राष्ट्रपति अपने प्रधानमन्त्री को नियुक्त करता है, परन्तु वास्तव में वह उसे चुनता नहीं है। प्रधानमन्त्री कौन व्यक्ति बनेगा, यह संसद में दलीय स्थिति से जाहिर होता है। राष्ट्रपति किसी ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री नहीं बना सकता जिसे संसद में बहुमत प्राप्त न हो। इस प्रकार उसकी यह शक्ति नाममात्र की ही है। अन्य नियुक्तियों के बारे में भी अनेक मर्यादायें हैं। उनके मामले में उसे मन्त्रिपरिषद् का अन्तिम निर्णय मानना ही पड़ता है।

राष्ट्रपति के हर काम पर संसद का प्रतिबन्ध लगाया गया है। संसद के भीतर बहुमत दल का शासन होता है। मन्त्रिपरिषद् बहुमत दल के नेताओं में से बनती है—प्रधानमन्त्री बहुमत दल का प्रधान नेता है। अतः राष्ट्रपति कभी भी यह साहस नहीं कर सकता कि वह प्रधानमन्त्री को अप्रसन्न कर दे क्योंकि उस स्थिति में संसद उसके विरुद्ध हो जायेगी तथा उसके कार्यों को रद्द कर देगी। राष्ट्रपति यदि तब भी मनमानी करे तो संसद उस पर संविधान के अतिक्रमण (Violation) का आरोप लगाकर उस पर महाभियोग चला सकती है तथा उसे अलग कर सकती है।

राष्ट्रपति संसद को विघटित (Dissolve) कर सकता है। राष्ट्रपति इस शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा से नहीं कर सकेगा। यदि प्रधानमन्त्री उसे यह सलाह नहीं देता कि संसद को भंग कर दिया जाय तो वह वैसा नहीं कर सकेगा। किन्तु फिर भी यदि वह संसद की अवधि पूर्ण होने से पूर्व ऐसा करता है तो उसे इसका कारण देना होगा। संसद तब तक विघटित नही की जा सकती जब तक कि राष्ट्रपति यह न समझता हो कि उसके भीतर स्पष्ट बहुमत (Clear Majority) के अभाव मे विधि-निर्माण का काम ठीक से नहीं हो पाता।

प्रधानमन्त्री यदि संसद को विघटित करवाना चाहे तो वह राष्ट्रपति से कहेगा, परन्तु यदि राष्ट्रपति उसे विघटित न करना चाहे तो प्रधानमन्त्री त्यागपत्र दे सकता है। सांविधानिक शासन चलाने के लिये राष्ट्रपति को संसद के प्रति उत्तरदायी अर्थात् संसद के बहुमत का विश्वास प्राप्त करने वाली मन्त्रिपरिषद् बनानी पड़ेगी। अतः प्रधानमन्त्री के साथ बहुमत होने के कारण राष्ट्रपति के लिये यह सम्भव नहीं होगा। अतः उसे संसद का विघटन करना ही पड़ेगा।

राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की प्रायः बहुत कटु आलोचना सुनी जाती है। वास्तव मे इस सबके भीतर एक बात बहुत ध्यान से समझने की है। वह यह है कि राष्ट्रपति कभी भी इतना मूर्ख नहीं होगा कि वह अपने प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा के बिना आपातकाल की घोषणा करदे। क्योंकि यदि वह वैसा करेगा तो संसद से उसे समर्थन नहीं मिलेगा—वह अत्यन्त अपमान की स्थिति होगी क्योंकि उस स्थिति में आपातकाल २ मास बाद समाप्त हो जायेगा। कोई भी बुद्धिमान राष्ट्रपति इतना अपमान उठाने की मूर्खता नहीं करेगा। उस पर भी महाभियोग की शक्ति ससद के हाथ में बनी रहती है, इससे राष्ट्रपति अधिनायक (Dictator) नहीं बन सकता।

राष्ट्रपति अपने मन्त्रिपरिषद की इच्छा के विपरीत कुछ नहीं कर सकेगा। यदि वह वैसा करेगा तो मन्त्रिपरिषद् के सदस्य त्यागपत्र देकर बैठ सकते हैं। वैसी स्थिति में एक सांविधानिक संकट (Constitutional Crisis) पैदा हो जायगा और राष्ट्रपति उसके लिए उत्तरदायी होगा, और उसे महाभियोग के रूप में दण्ड भुगतना पड़ेगा।

राष्ट्रपति पद की उपयोगिता

राष्ट्रपति एक शक्तिहीन पंचवर्षीय सम्राट् है। जब वह न कुछ कर सकता है और न शासन के लिए उत्तरदायी ही है तब फिर उसे क्यों रखा जाये तथा उस पर एक लम्बी राशि वेतन और भत्तों के रूप में क्यों व्यय की जाए? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

(१) हमारे संविधान ने एक संसदात्मक शासन व्यवस्था की नींव डाली है। इसमें राज्य की सच्ची शक्ति संसद के हाथों में रहती है जिसका प्रयोग उसकी ओर से मन्त्रिपरिषद् करती है, परन्तु मन्त्रिपरिषद स्थायी नहीं होती। उसका जीवन संसद के विश्वास पर निर्भर रहता है। एक मन्त्रिपरिषद् के हटने और दूसरे मन्त्रिपरिषद् के बनने में जो खाली समय जाता है यदि राष्ट्रपति न हो तो उस बीच में शासन कौन चलावे, यह प्रश्न उठता है। शासन तो एक निरन्तर चौबीस घटे चलने वाला क्रम है। कोई नहीं जानता कि मन्त्रिपरिषद् कब संसद का विश्वास खो बैठे और अपना पद छोड़ कर मन्त्री-गण चल दे। ऐसे समय में राष्ट्रपति ही शासन चलाता है। नये ससद के बनने के पश्चात् नयी मन्त्रिपरिषद् बनने में भी समय लगता है।

(२) राज्य का कोई अध्यक्ष होना चाहिये। यदि हम प्रधानमन्त्री को ही अध्यक्ष भी बना दें तो वह ठीक नही होगा। उसका कारण यह है कि एक तो उसका कार्यकाल निश्चित नहीं है, दूसरे वह एक दलीय-व्यक्ति (Partyman) है। राष्ट्र की अन्तिम-सत्ता एक निर्दलीय-व्यक्ति के हाथों मे रखना अधिक सुरक्षित है।

(३) शासन का एक मुखिया होना चाहिये। राष्ट्रपति वह मुखिया है जिसके नाम में राष्ट्र की राजसत्ता अभिव्यक्त होती है। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राष्ट्र का

प्रतिनिधि होता है। समस्त सन्धियाँ व घोषणाये राष्ट्रपति के हस्ताक्षर व इसके नाम से होती है। वह राष्ट्र की गरिमा का प्रतीक है।

(४) जनता को सत्ता का प्रतीक चाहिये जिसके प्रति वह अपनी निष्ठा प्रगट कर सके। राष्ट्रपति राष्ट्रीय-सत्ता का ऐसा प्रतीक है। वह देश की एकता को बनाये रखने वाला सूत्र है, हालांकि वह इस दृष्टि से उतना सबल-सूत्र नहीं है जितना कि एक वंशगत राजा होता है। राष्ट्रीय महत्त्व के अवसरों पर जनता उसका सम्मान करके राष्ट्रीय-प्रभुता के प्रति अपनी श्रद्धा का प्रदर्शन करती है। उसके हटा देने से शासन-व्यवस्था बिना सिर के शरीर के समान हो जायेगी। वह मन्त्रिपरिषद् का अभिन्न मित्र, पथ-प्रदर्शक एवं सचेतक है। वह प्रायः राष्ट्र का अनुभवी नेता होता है जिसको सक्रिय राजनीति से उपरति (वैराग्य) हो जाती है, उसके दीर्घ अनुभव और सेवा का लाभ राष्ट्र को इस प्रकार मिल जाता है।

उप-राष्ट्रपति

हमारे संविधान में लिखा है कि देश में राष्ट्रपति के साथ ही एक उप-राष्ट्रपति भी होगा। उसका निर्वाचन संसद के दोनों सदन संयुक्त अधिवेशन में आनुपातिक-प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional Representation) के आधार पर एकल संक्रमणीय मत द्वारा करेंगे। मतदान गुप्त (गूढ शलाका—Secret Ballot द्वारा) होगा। उपराष्ट्रपति पद के लिये अभ्यर्थियों (Candidates) मे निम्न योग्यताएँ होनी चाहियेः—

(क) भारत का नागरिक हो।

(ख) ३५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो;

(ग) राज्य-सभा के लिये सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता (Eligibility) रखता हो; तथा

(घ) संघ या राज्य शासन में लाभ का पद (Office of Profit) धारण न किये हो।

उपराष्ट्रपति निर्वाचन के पश्चात् संघ संसद या राज्य-विधान मण्डलों के किसी सदन का सदस्य नहीं रह सकेगा तथा अन्य कोई भी पद धारण नही करेगा।

उसका कार्य-काल पाच वर्ष होता है परन्तु इस बीच में वह स्वय अपने हस्ताक्षर से अपना त्याग-पत्र राष्ट्रपनि को देकर अपने कार्यभार से मुक्त हो सकता है, अथवा यदि राज्य-सभा बहुमत से उसके विरुद्ध अक्षमता (Incapabili y) या अविश्वास (No confidence) का प्रस्ताव पास करे एवं लोकसभा उस प्रस्ताव पर अपनी सहमति (Concurrence) प्रदान करदे तो उसे पदच्युत (Dismiss) किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार उसे पदच्युत करने के लिए यह आवश्यक है कि इस मन्तव्य की सूचना १४ दिन पूर्व दे दी जाय।

उपराष्ट्रपति अपनी अवधि पूरी होने पर तब तक पद-धारण किये रहेगा जब

तक कि उस पद के लिये नव-निर्वाचित व्यक्ति पद-ग्रहण के लिये उपस्थित न हो जाए। नये निर्वाचन इसकी अवधि पूर्ण होने से पूर्व ही समाप्त कर लिये जायेंगे। त्याग-पत्र देने, हटाये जाने या मृत्यु के कारण यदि बीच में ही निर्वाचन करके नया उपराष्ट्रपति नियुक्त किया जायगा तो वह भी अपने निर्वाचन की तिथि से पाँच वर्ष तक पद धारण करने का अधिकारी होगा। पद ग्रहण करने से पूर्व उपराष्ट्रपति वफादारी की शपथ लेता है।

कार्य—राष्ट्रपति की मृत्यु, पद-त्याग, पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से उसके पद में हुई रिक्तता (Vacancy) की स्थिति में उपराष्ट्रपति उस समय तक राष्ट्रपति के पद पर कार्य करेगा जब तक कि नया राष्ट्रपति अपने पद को ग्रहण न कर ले।

अनुपस्थिति, बीमारी अथवा अन्य कारणों से जब भी राष्ट्रपति अपने कृत्यों (Functions) को पूरा करने में असमर्थ होता है तब उपराष्ट्रपति उसके कृत्यों को तब तक पूरा करता है जब तक कि राष्ट्रपति अपने कार्यों को फिर से न सम्हाल ले।

राष्ट्रपति के स्थान पर कार्य करने की अवधि में उसे राष्ट्रपति को प्राप्त सब शक्तियां और विमुक्तियां (Privileges) प्राप्त होंगी तथा राष्ट्रपति को प्राप्त होने वाला वेतन और भत्ता एवं विशेषाधिकार उसे मिलेंगे।

उपराष्ट्रपति राज्यसभा (Council of States) का पदेन-अध्यक्ष (Ex-officio Chairman) होता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरीका का उप-राष्ट्रपति भी इसी प्रकार सिनेट का पदेन-सभापति होता है।

हमारे वर्तमान राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन एवं उपराष्ट्रपति डा० ज़ाकिर हुसैन है।

योग्यता-प्रश्न

१. भारत का राष्ट्रपति होने के लिए क्या क्या योग्यताएँ आवश्यक हैं ? क्या राष्ट्रपति देश का वास्तविक शासक है ?
What are the qualifications prescribed by the Constitution for election to the office of the President of India ? Is he the real ruler of the land ?

२. भारतीय राष्ट्रपति की शक्तियों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।
Give a critical account of the powers of the President of India.

३. उपराष्ट्रपति के पद की योग्यताओं और शक्तियों का विस्तृत विवरण दीजिए।
Describe in detail the qualifications required for election to the office of the Vice-President of India and its powers.

—: o :—

अध्याय २६

संघीय मंत्रिपरिषद्

(Council of Ministers)

मंत्री तु नीति कुशलः पण्डितो धर्म तत्ववित् ।
सामदानश्च भेदश्च दण्डः केषु कदा कथं ॥६४॥
कर्तव्यः किं फलं बहुमध्यं तथाल्पकम् ।
एतत्संचित्य निश्चित्य मंत्री सर्वं निवेदयेत ॥६५॥

—शुक्रनीतिसार अध्याय २

मंत्री को नीति में कुशल, पंडित और धर्म का तत्व जानने वाला होना चाहिए। उसे सदा यह निश्चित करके बताना चाहिए कि साम-दाम-दण्ड-भेद का प्रयोग कब व किसके साथ करना चाहिए और कर्त्तव्य क्या है तथा उसके सामान्य, कम से कम और अधिक से अधिक क्या परिणाम हो सकते है ?

संविधान के अनुच्छेद ७४ में लिखा गया है कि राष्ट्रपति को उसके कृत्यों की पूर्ति में सहायता और परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी। इसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होगा। अनुच्छेद ७५ के अनुसार राष्ट्रपति पहिले प्रधानमन्त्री को नियुक्त करेगे फिर उसके परामर्श से मन्त्रिपरिषद् के अन्य मंत्रियों को नियुक्त करेगे। मन्त्री होने के लिये यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति या तो नियुक्ति के समय ही संसद के किसी सदन का सदस्य हो अथवा नियुक्ति के पश्चात् छः मास के भीतर वह ऐसी सदस्यता प्राप्त करले। यदि इस अवधि में वह संसद के किसी सदन का सदस्य नहीं बन सका हो तो उसे मन्त्रि-पद छोड़ना होगा।

संविधान में यह भी लिखा है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य तब तक अपने पद पर रह सकेंगे जब तक कि राष्ट्रपति उनसे प्रसन्न रहता है। अनुच्छेद ७७ के अनुसार प्रधानमन्त्री का यह कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्रपति को मन्त्रिपरिषद के निर्णयों, संघ शासन के समाचारों तथा विधि निर्माण के प्रस्तावों के बारे में सूचित करे तथा राष्ट्र-पति के आदेश पर ऐसे मामलो को मन्त्रिपरिषद के विचारार्थ उसके सम्मुख रक्खे जिनमें निर्णय किसी मन्त्री द्वारा लिया गया है परन्तु उस पर मन्त्रिपरिषद् ने कोई विचार नहीं किया है।

संविधान की इन धाराओं का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि सारे मन्त्री और प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति के सेवक है तथा उनका अस्तित्व राष्ट्रपति की इच्छा पर

निर्भर करता है। परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। हमारे संविधान की एक विचित्रता यह है कि उसके शब्दों और अभिप्राय में बहुत बड़ा अन्तर है। यह अन्तर कभी-कभी विरोधाभास सा भी लगने लगता है। मन्त्रिपरिषद के बारे में ऐसा ही विरोधाभास होता है। एक ओर संविधान ने मन्त्रिपरिषद् को राष्ट्रपति पर आश्रित रक्खा है दूसरी ओर संसद पर। संविधान में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि मन्त्रिपरिषद् संसद के प्रति उत्तरदायी होगी और राष्ट्रपति किसी के प्रति नहीं। यदि संविधान निर्माताओं की इच्छा ऐसी होती कि राष्ट्रपति अपनी शक्तियों का प्रयोग स्वयं करे तो वह उनके कार्यों के बारे में उसी को संसद या सर्वोच्च न्यायालय के सामने उत्तरदायी ठहराते। उन्होने मन्त्रिपरिषद को उत्तरदायी माना है। इसका अर्थ यह है कि राष्ट्रपति जो कुछ भी करता है तथा उसके नाम से जो भी आदेश निकाले जाते है वे सब मन्त्रिपरिषद् के निर्णय हैं तथा उनके लिये मन्त्रिपरिषद् लोक-सभा के सामने उत्तरदायी है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् संघ की वास्तविक कार्यपालिका है। आगे हम उसका अध्ययन विविध पहलुओं से करेंगे।

मन्त्रिपरिषद् की रचना

मन्त्रिपरिषद् के सदस्य उस दल के प्रमुख नेता होते है जिस दल का संसद मे बहुमत होता है। उनके लिये संसद के किसी भी सदन का सदस्य होना आवश्यक है। जब किसी नई लोक-सभा का निर्माण होता है, तब उसके भीतर विभिन्न दलों के सदस्य अपने-अपने दलीय नेता का चुनाव करते है। राष्ट्रपति लोक-सभा के भीतर बहुमत रखने वाले दल के नेता को प्रधानमन्त्री पद स्वीकार करने के लिये आमन्त्रित करता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री की नियुक्ति हो जाने पर वह अपनी मन्त्रिपरिषद (Council of Ministers) का चुनाव करता है। वह उन लोगों को परिषद में लेता है, जो—

१. उसके विश्वासपात्र होते हैं,

२. उसके दल के सदस्य होते है,

३. दल के विश्वासपात्र होते है,

४. अपने उत्तरदायित्वों को निबाहने की योग्यता रखते हैं, तथा जो

५. प्रधानमन्त्री के नेतृत्व को स्वीकार करते है।

मन्त्रियों का चुनाव करते समय प्रधानमन्त्री को यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि वे देश के विभिन्न प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते हो। कोई भी प्रधानमन्त्री इसकी अवहेलना नहीं कर सकता। यदि मन्त्री लोग देश के विविध भागों के प्रतिनिधि होते हैं तो—

१. मन्त्रिपरिषद् को समूचे देश की सही स्थिति का ज्ञान रहता है,

२. देश के सभी भागों के लोग उसमे अपने प्रतिनिधि को पाकर सन्तुष्ट होते हैं, तथा

३. मन्त्रिपरिषद् राष्ट्र की सच्ची प्रतिनिधि परिषद् हो जाती है।

मत्रिपरिषद् की रचना में प्रधानमंत्री आधार-शिला का काम करता है। उसी के आधार पर समूची मन्त्रिपरिषद् का निर्माण होता है। मन्त्रियों के वेतन और भत्ते समय-समय पर संसद निश्चित करती है।

कार्यकाल और उत्तरदायित्व

मंत्रिपरिषद् का कार्यकाल अनिश्चित होता है, वह तब तक अपने पद पर रहती है जब तक कि उसे लोकसभा के भीतर बहुमत दल का विश्वास प्राप्त रहता है। वैसे संविधान मे यह कहा गया है कि मन्त्री लोग 'राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यंत' अर्थात् जब तक राष्ट्रपति चाहे तब तक अपने पदों पर रहते है। परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है कि राष्ट्रपति कभी भी मंत्रियों को पदच्युत कर सके। वह तभी उनसे त्याग-पत्र माँग सकता है जबकि लोक सभा का बहुमत उनके पक्ष मे न रहे।

उत्तरदायी शासन की व्यवस्था—हमारे संविधान ने देश मे लोकतन्त्रीय और संसदात्मक शासन की स्थापना की है। संसद हमारे देश की जनता की प्रतिनिधि होती है। शासन की सत्ता उसके हाथ में मानी गई है। मन्त्रिपरिषद् संसद की ओर से शासन चलाने का काम करती है अतः यह स्वाभाविक है कि ससद मन्त्री-परिषद् के ऊपर अपना नियंत्रण रखे। मत्रिपरिषद् ससदात्मक शासन में अपने कामों और अपनी नीतियों के लिये संसद के सामने जवाबदेह अर्थात् उत्तरदायी होती है। संसद के सदस्यों को अधिकार होता है कि वे मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों से उनके कामो के बारे में प्रश्न पूछें और यदि उत्तर से उनका समाधान न हो तो वे मन्त्रिपरिषद को हटा दें। ससद मन्त्रिपरिषद् को निम्न प्रकार से हटा सकता है:—

१. अविश्वास का प्रस्ताव पास करके,
२. बजट की अस्वीकृति अथवा कटौती से,
३. मन्त्री या मन्त्रियों के वेतन मे कटौती या अस्वीकृति से,
४. मन्त्रिपरिषद् द्वारा समर्थित विधेयक की अस्वीकृति से,
५. मन्त्रिपरिषद् द्वारा असमर्थित विधेयक की स्वीकृति से,
६. मन्त्रिपरिषद् की इच्छा के विरुद्ध स्थगन-प्रस्ताव (Adjournment motion) स्वीकार करके मन्त्रिपरिषद् के विरुद्ध मत-प्रदर्शन करके।

मन्त्रिपरिषद् का यह उत्तरदायित्व संयुक्त (Joint Responsibility) होता है। अर्थात् मंत्रिपरिषद् लोक-सभा के सामने एक संयुक्त निकाय (Joint Body) के रूप में जवाबदेह होती है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य एक साथ डूबते और एक साथ तैरते है। मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्य उस नीति का अनुसरण करते हैं जो मन्त्रिपरिषद् अपनी बैठकों में निर्धारित करती है। यदि कोई मन्त्री उस नीति के विरुद्ध चलता है तो प्रधानमंत्री उसे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है। उसका सबसे सरल ढंग यह है कि वह एक बार त्यागपत्र देकर मन्त्रिपरिषद् को

भंग कर दे। संसद के बहुमत दल का नेता होने के कारण राष्ट्रपति फिर उसे ही प्रधानमंत्री बनायेगा। इस बार वह उस मन्त्री को मन्त्रिपरिषद् में नहीं रखेगा।

इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी मन्त्री की ऐसी निर्णय सम्बन्धी भूलों के लिए जो उसके विभाग से सम्बन्धित हैं, तथा उसकी बेईमानी के लिये भी समूची मन्त्रिपरिषद् ही उत्तरदायी होगी। यदि लोक-सभा किसी मन्त्री को बेईमान सिद्ध करके उस पर अविश्वास का प्रस्ताव लाती है तो शेष मन्त्रियों को अपने पद से त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। परन्तु यदि लोक सभा किसी मन्त्री के लिये ऐसे कारणों से अविश्वास प्रगट करती है, जिनका सम्बन्ध मन्त्रिपरिषद् की नीतियों से है तब उस स्थिति में समूचा मन्त्रिपरिषद् पद त्याग करेगा।

सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का अर्थ यह भी है कि मन्त्रिपरिषद् की बैठकों की कार्यवाही गुप्त होती है। प्रत्येक मन्त्री को गोपनीयता की शपथ लेनी पड़ती है, तथा यदि वह मन्त्रिपरिषद् की बैठकों में हुई चर्चाओं को किसी पर भी प्रगट करता है तो उसे अलग किया जा सकता है।

शक्तियां और कृत्य (Powers & Functions)

मन्त्रिपरिषद् की शक्तियां और उसके कार्यों का विस्तार दोहरा होता है। संघ शासन में राष्ट्रपति और संसद के मध्य उसकी केन्द्रीय स्थिति (Central Situation) है। एक ओर वह राष्ट्रपति को उसकी शक्तियों के प्रयोग और उसके कामों में परामर्श देती है, दूसरी ओर वह संसद का नेतृत्व करती है। मन्त्रिपरिषद् संघ शासन में कार्यपालिका और विधायिका दोनों अङ्गों की संचालिका है।

१. कार्यपालिका-कृत्य—राष्ट्रपति की जितनी शक्तियों को पिछले अध्याय में गिनाया गया है उन सबका प्रयोग मन्त्रिपरिषद् करती है। समस्त कार्यपालिका आदेश उसके निर्णय पर ही राष्ट्रपति के नाम से जारी किये जाते है। राष्ट्रपति तो केवल एक रबड़ की मुद्रा (Seal) के समान है जो निश्चित रूप से मन्त्रिपरिषद् के निर्णयों पर लगाई ही जाती है। राष्ट्रपति के कुछ औपचारिक कृत्य—जैसे, विदेशी राजदूतों का स्वागत, अपने राजदूतों को राज्याधिकार से सम्पन्न करना आदि ऐसे है जिन्हें वह अपने शरीर से करता है परन्तु किसे राजदूत नियुक्त किया जाना है, यह मन्त्रिपरिषद ही निर्णय करती है। मन्त्रिपरिषद् स्वयं अपने नाम से कोई कार्य-पालिका आदेश जारी नहीं करती। यह निर्णय करती है, निर्णयों की घोषणा राष्ट्र-पति के नाम से होती है तथा निर्णयों को क्रियान्वित करने का कार्य विविध मन्त्री लोग, जो किसी न किसी विभाग से जुड़े होते हैं, करते हैं।

संसद देश के प्रशासन के लिए उत्तरदायी होती है। वह अपना काम मन्त्रि-परिषद् पर डाल देती है। उसकी ओर से मन्त्री लोग प्रशासकीय विभागों की अध्यक्षता भी ग्रहण करते हैं। वे संसद द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार इन विभागों के प्रशासन के लिये संसद के सामने उत्तरदायी होते है। संसद के सदस्य संसद के

किसी भी सदन में किसी भी सरकारी विभाग से सम्बन्धित कोई प्रश्न सदन के अध्यक्ष या सभापति को पूर्व सूचना देकर पूछ सकते है। मन्त्रियों का कर्त्तव्य है कि वे इन प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक दे। यदि वे उत्तर ठीक प्रकार नही दे पाते है तो वह उनकी अयोग्यता का प्रमाण माना जायगा और इस स्थिति मे संसद उनसे त्याग-पत्र मांग सकती है।

२. **विधायी-कृत्य**—मन्त्रिपरिषद के विधायी कृत्य बहुत महत्वपूर्ण है। उनका वर्णन करने से पूर्व हमें उसके स्वरूप का फिर एक बार अध्ययन कर लेना चाहिये तथा यह देख लेना चाहिए कि उसे ये विधायी शक्तियां कैसे प्राप्त हो गई हैं। संसद में विधियों का निर्माण बहुमत के आधार पर होता है अर्थात् जिस विधेयक (Bill) को संसद का बहुमत स्वीकार कर लेता है वह विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के पश्चात् अधिनियम (Enact) बन कर विधि (Law) का स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार संसद की शक्ति बहुमत के हाथ में रहती है। मन्त्रिपरिषद इसी बहुसंख्यक-दल (Majority Party) में से बनती है। इसमें बहुमत के प्रतिनिधि और नेता होते हैं जिनका समर्थन बहुसंख्यक-दल सदा करता है। यों, बहुसख्यक दल के नेता की हैसियत से मन्त्रिपरिषद् ने विधि निर्माण की समूची शक्ति अपने हाथ में ले ली है।

मन्त्रिपरिषद् एक प्रकार से ससद की कार्यकारिणी समिति होती है, उसे ससद की ओर से निम्न कार्य करने होते है:—

१. विधेयकों की रचना और उनको संसद में पेश करना।

२. वित्तीय प्रस्तावों का निर्माण एवं अन्य वित्तीय व्यवस्था।

३. नीति-निर्माण।

१. **विधेयकों की रचना आदि**—ससद के भीतर प्रस्तुत होने वाले सभी सरकारी विधेयक मन्त्रिपरिषद तैयार करती है, तथा वही उन्हे संसद में पेश भी करती है। विधेयकों के तैयार कराने का काम मन्त्रिपरिषद वैधानिक विशेषज्ञों से कराती है। नीति वह स्वयं निर्धारित करती है तथा विधेयकों की भाषा विशेषज्ञ बनाते है। ये विधेयक सम्बन्धित विभाग के मन्त्री द्वारा संसद के भीतर प्रस्तुत किये जाते हैं। मन्त्रियों का काम केवल विधेयकों का संसद में पेश करना ही नहीं है, वरन् उनका काम यह भी है कि वे उन विधेयकों के पक्ष में समस्त तथ्य (Facts and data) तथा तर्क सदन के सामने रखें, उसकी आलोचना का उत्तर दें तथा उसे अपने दल की शक्ति की सहायता से संसद में पारित करावे।

२. **वित्तीय विषय**—मन्त्रिपरिषद् का एक प्रमुख कार्य है कि वह संघ की वित्तीय व्यवस्था को ठीक ढग से संचालित करे, तथा प्रत्येक वर्ष संसद के सामने राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था का एक चित्र पेश करे जिसमें सघ शासन का गत वर्ष का आय-व्यय का ब्यौरा, उसके सम्बन्ध में टिप्पणी तथा आगामी वर्ष के लिये आय-व्यय के अनुमान दिये गये हों। संसद के सदस्यों को इस सम्बन्ध में यह अधिकार

नहीं दिया गया है कि वे किसी ऐसे नये कर (Tax) का प्रस्ताव अथवा शासन के किसी मद के लिए व्यय की राशि बढ़ाने का प्रस्ताव रख सकें जो बजट के प्रस्तावों में मन्त्रिपरिषद् ने नही रखा है। यह बजट मन्त्रिपरिषद् की इच्छा के अनुसार ही संसद द्वारा पारित किया जाना चाहिये अन्यथा मन्त्रिपरिषद् पद-त्याग कर देगी। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् के हाथ में एक बड़ी सत्ता आ गई है।

३. **नीति-निर्माण**—मन्त्रिपरिषद् का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह संसद के बहुमत की ओर से संघ शासन के सम्बन्ध में नीतियों का निर्माण करे तथा उन्हें ससद की स्वीकृति के लिए पेश करे। संसद की स्वीकृति इन नीतियों पर सरलता से ही मिल जाती है क्योंकि संसद में पहले से ही मन्त्रिपरिषद् के दल का बहुमत होता है। राज्य की नीतियों में सभी विषयों सम्बन्धी नीतियों का समावेश होता है जैसे—विदेश नीति, व्यापार नीति, सुरक्षा नीति आदि।

संसद और मंत्रिपरिषद्

राष्ट्रपति को संविधान ने मन्त्रिपरिषद् के हाथों की कठपुतली बना दिया है और संसद को राजनीतिक दलों की व्यवस्था एवं बहुमत-शासन (Majority rule) के सिद्धान्त ने उसके सामने झुका दिया है। भारत में हमारे संविधान ने मन्त्रिपरिषद् को संसद की शासिका बना दिया है, वह उसकी चेरी या सेविका नही रह गई है। (१) उसके पास यह शक्ति है कि वह राष्ट्रपति से एक घोषणा के द्वारा संसद (Parliament) को विघटित करादे। इस स्थिति का रहस्य बहुमत शासन के मन्त्र में अन्तर्निहित (Implied) है। जैसा पीछे कहा जा चुका है, (२) मन्त्रि-परिषद लोकसभा में बहुमत दल के नेताओं का समुदाय है। उसके दल के संसत्सदस्य (Members of Parliament) नेतृत्व के लिये हर प्रश्न पर उसका मुंह ताकते है, (३) शासन के विविध-विभागों से सम्बन्धित होने के कारण शासन की प्रत्यक्ष सत्ता उसके ही हाथों में है, वही संसद को राष्ट्रीय आंकड़ों और तथ्यों तथा शासन के रहस्यों से परिचित रखती है, (४) शासन के भीतर सभी विशेषज्ञ उसकी सेवा में लगे रहते हैं अतः उसके लिये शासन की विविध जटिलताओं को समझना सरल हो गया है जबकि संसद के साधारण सदस्य उन्हें भली-भाँति नहीं समझ पाते, (५) मन्त्रिपरिषद के सदस्य अपने दल के ही नही राष्ट्र के भी नेता हैं। उन्हीं पर विश्वास रखकर जनता उस दल के सदस्यों को अपना मत देती है जिससे कि वे नेता संसद में बहुमत प्राप्त करके अपनी निर्वाचन घोषणाओं (Election manifestoes) को पूरा कर सकें, (६) मन्त्रिपरिषद् के भीतर एक ऐसा केन्द्रीय व्यक्ति होता है जिसके व्यक्तित्व और शक्ति के सामने राष्ट्र, संसद और राष्ट्रपति सभी झुकते हैं, उस नेता अर्थात् प्रधानमन्त्री की उपस्थिति से मन्त्रिपरिषद् की शक्ति और भी दृढ़ हो गई है। भारत के वर्तमान प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा और लोकप्रियता के आधार पर मन्त्रिपरिषद् की स्थिति को बहुत दृढ़ बना दिया है।

कार्य-पद्धति

मन्त्रिपरिषद् एक संयुक्त संस्था (Joint Body) के रूप में काम करती है, परन्तु उसके सदस्यों की सख्या अधिक हो जाने के कारण यह सम्भव नही हो पाता कि उसमें आसानी से विचार विमर्श और नीतियों का निर्धारण हो सके। अतः मन्त्रिपरिषद् के भीतर आज तीन वर्ग कर लिए गये हैं और उनमें से प्रथम वर्ग के लोग ही मन्त्रिपरिषद् के नाम से सारे निर्णय करते हैं—मन्त्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे उन निर्णयों को अपना ही निर्णय मानें। वे वर्ग इस प्रकार हैं—

१. अन्तरंग मन्त्री (Cabinet Ministers)।
२. राज्य-मन्त्री (Ministers of State)।
३. उपमन्त्री (Deputy Ministers)।

अन्तरंग मण्डल (Cabinet)—आज मन्त्रिपरिषद् में ५० से अधिक सदस्य है। इतना बड़ा समुदाय नीति-निर्धारण का काम नहीं कर सकता। अतः पहली श्रेणी के मन्त्री ही उस काम में हिस्सा लेते हैं। इन्हें अन्तरंग मण्डल या केबिनेट कहते हैं। अन्तरंग मण्डल की बैठकें प्रायः प्रति-सप्ताह और आवश्यक होने पर बीच में भी होती हैं। इनकी कार्यवाही गुप्त (Secret) रक्खी जाती है। इन बैठकों में निर्णय बहुधा एकमत से होते हैं। प्रधानमन्त्री इन बैठकों का सभापति होता है तथा अन्ततः उसकी इच्छा ही किसी मामले में अन्तिम-निर्णय मानी जाती है। यदि किसी नीति के प्रश्न पर कोई मन्त्री प्रधानमन्त्री से सहमत नहीं होता है तो वह त्यागपत्र दे सकता है। हमारे देश मे ऐसे कई अवसर आ चुके हैं—डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी, श्री के० सी० नियोगी, डा० जॉन मथाई, श्री वी० वी० गिरी आदि सज्जनों को प्रधानमंत्री से मतभेद होने के कारण मन्त्रिपरिषद् से पद-त्याग करना पड़ा। अन्तरंग मण्डल की बैठकों में दूसरे मन्त्री निमंत्रित किये जाने पर भाग ले सकते हैं।

मन्त्रिपरिषद् का एक पृथक् सचिवालय होता है जिसके अनेक सचिव होते हैं। उनका काम अन्तरंग-मण्डल के निर्णयों का आलेख (Record) तैयार करना तथा तत्सम्बन्धी अन्य कार्यवाही प्रधानमंत्री के आदेशानुसार करना है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि संविधान में केवल मंत्री का उल्लेख है अतः राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश जारी करके यह घोषित किया कि दूसरी श्रेणियों के मन्त्रियों व उपमन्त्रियों तथा संसदीय सचिवों के पद 'लाभ के पद' (Offices of Profit) नहीं माने जायेंगे। अतः ये लोग संसद के सदस्य रह सकते है। अब संसद ने इनके लिये स्थायी व्यवस्था कर दी है। मन्त्रियों को २२५०) तथा उपमंत्रियों को १७५०) प्रति मास वेतन मिलता है। मंत्रियों को ५००) तक अन्य भत्ता भी मिल सकता है।

प्रधानमंत्री

यदि हमारे संघ-शासन मे किसी को सबसे शक्तिशाली पद की खोज हो तो उसे हमारे प्रधानमंत्री के पद का दर्शन करना चाहिये। शक्ति के पिरेमिड में प्रधानमंत्री का पद शीर्ष पर स्थित है।

प्रधानमन्त्री (Prime Minister)
अन्तरङ्ग-मण्डल (Cabinet)
मंत्रिपरिषद (Council of Ministers)
संसद (Parliament)
संघ-शासन (Federal Government)

यदि सचमुच राज्य में कोई प्रभुता होती है और उस प्रभुता का प्रयोग राज्य के भीतर कोई व्यक्ति कर सकता है तो वह सर्व-सत्ता-युक्त व्यक्ति भारत का प्रधानमन्त्री है। यद्यपि संविधान में कहीं ऐसा लिखा नहीं है, तथापि संविधान की सभी धारायें अन्ततोगत्वा इसी दिशा में बढ़ रही हैं।

१. **मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमन्त्री की स्थिति**—प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् के जन्म, जीवन और मरण का मूल-आधार है। वह अपनी मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों का चुनाव करके राष्ट्रपति से उनकी नियुक्ति कराता है। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह प्रधानमन्त्री द्वारा पेश की गई मन्त्री-सूची में से किसी नाम पर अपनी ओर से आपत्ति उठाये परन्तु ऐसी स्थिति में यदि प्रधानमन्त्री उस सुझाव से सहमत न हो तो आखिर उसी की बात राष्ट्रपति को माननी पड़ेगी। इस प्रकार प्रधानमन्त्री अपनी मन्त्रिपरिषद् का निर्माता है। मंत्रिपरिषद् तभी तक जीवित रहती है जब तक कि प्रधानमन्त्री अपने पद पर बना रहता है अथवा जब तक वह अपने मन्त्रिपरिषद के सदस्यों से अप्रसन्न नहीं होता। इस कारण प्रधानमन्त्री अपने मन्त्रिपरिषद् का जीवनदाता है। वह जब त्यागपत्र देकर चल देता है, अथवा लोक सभा उस पर अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर देती है या स्वयं उसका दल उसके स्थान पर किसी दूसरे नेता को चुन लेता है तभी उसकी मन्त्रिपरिषद् का भी अन्त हो जाता है।

मन्त्रिपरिषद् के भीतर प्रधानमन्त्री 'मन्त्रियों में प्रमुख' का स्थान रखता है। वह 'समकक्ष मन्त्रियों में प्रथम' (Primus Inter pares) है। प्रधानमन्त्री मन्त्रि-परिषद् में वैसी स्थिति रखता है जैसी कि माला के दानों के बीच सुमेरू की होनी है। निश्चय ही उसका व्यवहार अन्य मन्त्रियों के साथ समानता का रहता है परन्तु दलीय-नेतृत्व की शक्ति उसके हाथों में होने, तथा राष्ट्र की आकाँक्षाओं का प्रतीक होने के कारण वह उनमें सर्वाधिक सबल-साथी है, जिसकी इच्छा के विरुद्ध जाना तब तक सुरक्षित नहीं है, जब तक कि दल का बहुमत अपने साथ न हो। दल में प्रधानमन्त्री की स्थिति काफी मजबूत इस कारण भी रहती है क्योंकि प्रधानमन्त्री

प्राय: वह व्यक्ति होता है जो समूचे राष्ट्र का मान्य नेता हो। निर्वाचनों के अवसर पर जनता उसी की पुकार और उसी के नाम पर उसके दल के उम्मीदवारों को मत देती है। गत निर्वाचनों में हमने भली भाँति देखा है कि कांग्रेस के टिकट पर खड़े अप्रिय व्यक्ति को भी नागरिकों ने मत दिये क्योंकि उसे मत देने से कांग्रेस का बहुमत बनता था जिससे कि उनके प्रिय नेता और लोक-नायक श्री जवाहरलाल नेहरू प्रधानमन्त्री बन सकते है। जो उन्हें प्रधानमन्त्री बनाना चाहते थे, उन्होंने उनके हर उम्मीदवार को, चाहे वह कैसा भी हो, मत दिया।

यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि किसी समय देश में कोई ऐसा प्रमुख व्यक्ति न हो तो क्या होगा? इसका उत्तर यही है कि यदि ऐसा हुआ तो भारत की संसद में दलीय-संतुलन (Party Balance) बिगड़ जाएगा और बहुदलीय संसद (Multiple Party Parliament) में स्पष्ट-बहुमत (Clear majority) का प्राप्त होना तथा सबल मन्त्रिमण्डल का बनाना कठिन हो जाएगा जिससे कि हमारे देश में फ्रांस की भांति अस्थिर-शासन का निर्माण होगा। दूसरी ओर यदि ऐसा कोई नेता देश में न हुआ तो इस बड़े देश में राष्ट्रीय दलों का संगठन ही खतरे में पड़ जायेगा और प्रादेशिकता का जोर संसद में बढ़ने लगे यह संभव है।

मन्त्रिपरिषद् की बैठकों में प्रधानमंत्री सभापति का आसन ग्रहण करता है तथा उसका अध्यक्ष होता है।

२. **प्रधानमन्त्री के कार्य और शक्तियां**—प्रधानमन्त्री के कार्यों का विवरण हम इस प्रकार दे सकते है :—

(क) मन्त्रियों के नाम छांट कर उनकी सूची राष्ट्रपति के सामने रखना।

(ख) मन्त्रियों में प्रशासकीय विभागों का वितरण।

(ग) विभिन्न प्रशासकीय विभागों के मध्य सामन्जस्य स्थापित करना।

(घ) शासन के बारे में समस्त जानकारी राष्ट्रपति के सामने रखना।

(च) राष्ट्रीय-प्रश्नों पर नीतियों के निर्धारित करने में मंत्रिपरिषद् का नेतृत्व करना।

(छ) संसद के भीतर विधि-निर्माण आदि कार्यों में उसका (संसद) नेतृत्व करना।

(ज) राष्ट्रपति को शक्तियों के प्रयोग में मन्त्रिपरिषद् की राय जानकर राष्ट्रपति को उससे अवगत कराना।

(झ) राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद् के मध्य मध्यस्थ की भाँति कार्य करना अर्थात् दोनों को एक दूसरे की बातों से जानकारी कराना, कोई मंत्री सीधे राष्ट्रपति के साथ शासकीय प्रश्नों पर चर्चा नहीं कर सकता।

(ट) संसद में राज्य की नीतियों के लिये उत्तरदायित्व को स्वीकार करना व संसद के विश्वास को प्राप्त किये रखना।

(ठ) राष्ट्र की विदेश नीति का निर्माण, दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध

स्थापित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक हितों की रक्षा करना।

(ड) अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह (युद्ध) या सन्धि की चर्चाओं का चलाना व संसद को उसके बारे में सूचित करना।

(ढ) मन्त्रिपरिषद् की बैठक की अध्यक्षता करना।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान सांविधानिक स्थिति में प्रधानमन्त्री शक्ति का ऐसा भण्डार है जिसकी तुलना संसार के बड़े से बड़े अधिनायक (Dictator) के साथ की जा सकती है। परन्तु उस पर ऐसे प्रतिबन्ध हैं कि वह कभी भी अधिनायक नही हो सकता। सबसे बड़ा प्रतिबन्ध लोकसभा की ओर से है जो उसे किसी क्षण हटा सकती है। यदि वह अपने दल का विश्वास सदा प्राप्त किये रहे तो राष्ट्र के भीतर कुछ भी ऐसा नहीं है जो वह न कर सके। परन्तु संविधान ने उसको ये शक्तियां कहीं स्पष्ट लिखकर नहीं दी हैं। यही हमारे संविधान की विचित्रता है कि जिसे उसने सर्वोच्च शक्ति दी है वह व्यवहार में शक्ति-शून्य सम्राट है तथा जिसे उसने केवल परामर्शदाता बनाया है वह शक्ति-सम्पन्न हो गया है।

योग्यता-प्रश्न

१. भारतीय मन्त्रिपरिषद् के संगठन और उसके अधिकारों का विवरण दीजिए।

Give an account of the organisation and powers of the Indian Council of Ministers.

२. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है? क्या राष्ट्रपति इस नियुक्ति के करने में स्वतंत्र है? प्रधानमन्त्री के कर्त्तव्य और अधिकारों की व्याख्या कीजिए।

How is the Prime Minister of India appointed ? Is the President free to appoint any one to this office ? What are the powers and functions of the Prime Minister ?

३. संघीय मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री का क्या स्थान है? उसके विशेषाधिकारों का वर्णन कीजिए।

What is the place of the Prime Minister in the Union Council of Ministers ? Describe his special powers.

—: o :—

अध्याय २७

भारतीय संसद्

(Indian Parliament)

"प्राचीन भारत में राज्य या समिति न तो विधि-नियम बनाती थी, न उनको बनाने के अधिकार का दावा करती थी। ...सरकार या केन्द्रीय समिति का इस विषय में कोई अधिकार न समझा जाता था। यदि सरकार ने परम्परागत विधि के नियमों को बलात् बदलने की चेष्टा की होती तो उसका अधिक दिन टिकना असम्भव हो जाता।"

—अनन्त सदाशिव अल्तेकर

भारतीय संविधान ने संघ की समूची सत्ता एक संसद के हाथों में सौंपी है। वास्तव में यह लोकतन्त्रीय पद्धति का एक स्वाभाविक परिणाम है। लोकतंत्र के भीतर सर्वोच्च सत्ता का अधिष्ठान जनता है। सच्चे लोकतंत्र में राजसत्ता का प्रयोग स्वयं जनता को ही करना चाहिये। प्राचीन-काल में यूनान के नगर-राज्यों में प्रत्येक नागरिक सीधे ही शासन के कार्यों में भाग लेता था। आज के युग में इस प्रकार का प्रत्यक्ष जनतन्त्र कहीं भी नहीं पाया जाता। आजकल प्रतिनिधि-मूलक अथवा परोक्ष जनतन्त्र ही सर्वत्र प्रचलित है। प्रतिनिधि-मूलक जनतन्त्र में राजसत्ता का प्रयोग जनता के प्रतिनिधि करते हैं। भारतीय संसद भी जनता की प्रतिनिधि है। वह जनता की ओर से संघ शासन का संचालन करती है।

सत्ता और कार्य

संसद की सत्ता का वर्णन करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिये कि भारतीय-संसद प्रभुता-सम्पन्न नहीं है। उसकी शक्तियां केवल उन्हीं विषयों तक सीमित हैं जो कि संविधान में संघीय सरकार को दिए गये हैं।

वह केवल संघ-सूची और राज्य-सूची के विषयों पर ही विधि निर्माण कर सकती है। उसकी संविधान में संशोधन करने की शक्ति भी सीमित है। उसका वर्णन पीछे चौदहवें अध्याय में किया जा चुका है। वित्तीय विषयों में भी संविधान ने उसकी सत्ता सीमित कर दी है। संसद में सदस्यों को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वे कोई वित्तीय विधेयक संसद में बिना राष्ट्रपति की अनुमति के रख सकें। वार्षिक बजट के प्रस्ताव संसद के सामने राष्ट्रपति की ओर से ही पेश किये जा सकते हैं। संसद को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वह खर्च की किसी मद में कोई वृद्धि कर सके या

किसी नई मद का सुझाव दे सके। उसे यह अधिकार भी नहीं है कि वह जनता पर कोई ऐसा नया टैक्स लगाने का प्रस्ताव रख सके जिसका वित्त-विधेयक (Finance bill) में कोई उल्लेख नहीं किया गया हो।

मन्त्रिपरिषद् की बढ़ती हुई शक्ति ने भी संसद की शक्तियों का बहुत बड़ी सीमा तक अपहरण किया है। उसकी शक्तियों और कार्यों में प्रमुख ये हैं:—

(१) राष्ट्रीय नीतियाँ निर्धारित करना।

(२) विधियां पारित करना।

(३) विदेशों के साथ संधि व युद्ध के प्रस्तावों को स्वीकृत करना।

(४) वित्तीय-विधेयकों तथा संघ के वार्षिक बजट पर स्वीकृति देना।

(५) शासन की नीतियों की आलोचना करना।

(६) मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों से उनके विभागों के बारे में प्रश्न पूछना।

(७) मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना एवं उसे हटाना।

(८) लोक सेवा आयोग का वार्षिक विवरण सुनना।

(९) राष्ट्रीय प्रश्नों पर वाद-विवाद द्वारा लोकमत का निर्माण करना।

(१०) आपातकालीन परिस्थितियों में राज्यों के लिये भी विधि निर्माण करना।

(११) राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, न्यायाधीश आदि पदाधिकारियों को पदच्युत करना।

संसद अपने इन कृत्यों को किस प्रकार पूरा करती है यह हम आगे अध्ययन करेंगे। यहाँ इतना कह देना पर्याप्त होगा कि संसद के अधिकांश कृत्यों की पूर्ति मन्त्रिपरिषद् करती है क्योंकि उसे संसद के बहुमत का समर्थन प्राप्त रहता है।

संविधान के अनुच्छेद ७९ में लिखा है कि—"संघ के लिए एक संसद होगा जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिलकर बनेगी जिनके नाम राज्यसभा और लोक सभा होंगे"।

राष्ट्रपति—उपरोक्त अनुच्छेद की भाषा से हमें ज्ञात होता है कि राष्ट्रपति संसद का अङ्ग है। इससे यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि लोक सभा और राज्य-सभा के साथ जोड़कर संविधान ने राष्ट्रपति को कोई विधायी सत्ता (Legislative authority) प्रदान की है, परन्तु ऐसा सोचना गलत है। संसद के कार्यपालिका कृत्यों की पूर्ति के लिए ही राष्ट्रपति को उसके साथ जोड़ा गया है। उसके निम्न कार्य हैं जो कार्यपालिका-प्रकृति (Executive nature) के ही हैं—

१. राज्य सभा में निश्चित नियमों के अनुसार १२ सदस्यों को मनोनीत करना।

२. संसद के सत्रों को आह्वान, स्थगित तथा उनका सत्रावसान और विघटन करना।

३. दोनों सदनों द्वारा पारित विधेयकों पर हस्ताक्षर करके उसे स्वीकार करना। राष्ट्रपति को इस सम्बन्ध में यह अधिकार मिला है कि वह संसद द्वारा

पारित किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है। यह शक्ति उसकी नहीं है वरन् इस रूप में मन्त्रिपरिषद् को यह अवसर दिया गया है कि वह खानगी-सदस्यों (Private members) के विधेयकों पर अपने अनुभव और अपनी नीति के आधार पर संसद के सामने अन्तिम बार अपना विरोध प्रकट कर सके। यदि राष्ट्रपति स्वयं बिना मन्त्रिपरिषद् की इच्छा के कोई विधेयक पुनर्विचार के लिए लौटता है तो उसका केवल यही अर्थ है कि वह राष्ट्र के प्रतिनिधि की हैसियत से मन्त्रिपरिषद् की नीति से विरोध का खुला प्रदर्शन करता है क्योंकि संसद में प्रत्येक विधेयक मन्त्रिपरिषद् के समर्थन से ही पारित होता है। परन्तु उसके ऐसा करने से संसद की शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। राष्ट्रपति यदि पुनर्विचार के लिए कोई विधेयक लौटाता है तो उससे संसद की शक्ति कम नहीं होती। संसद उसे फिर पारित करके उसके पास भेज देगी तथा उसे इस बार हस्ताक्षर करने ही होंगे।

४. वित्तीय विधेयकों को संसद के सामने रखने की स्वीकृति देना। यह कार्य वह मन्त्रिपरिषद् की सलाह के बिना पूरा नहीं कर सकता क्योंकि सरकार की वित्तीय व्यवस्था का ज्ञान उसे ही होता है। प्रायः सभी वित्तीय प्रस्ताव मन्त्रिपरिषद की ओर से ही आते हैं। राष्ट्रपति को यह शक्ति इसलिए दी गई है जिससे कि कोई भी वित्तीय विधेयक खानगी सदस्यों (Private members) द्वारा मन्त्रिपरिषद् की जानकारी व अनुमति बिना न रखा जा सके।

राज्य-सभा (Council of States)

राज्य सभा को संविधान में 'राज्य-परिषद्' कहा गया था, परन्तु १९५४ में संसद ने एक संशोधन द्वारा इसका नाम 'राज्य-सभा' कर दिया है। इसके भीतर सदस्यों की कुल संख्या २५० रखी गई है जिसमें से १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा साहित्य, विज्ञान, कला और समाज सेवा के क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रमुख व्यक्तियों में से मनोनीत (Nominated) होंगे एवं २३८ सदस्यों का निर्वाचन किया जाएगा।

सदस्यों की योग्यता—प्रत्येक वह व्यक्ति जो निम्न शर्तों को पूरा करता है, राज्य सभा (Council of States) का सदस्य हो सकता है—

१. भारत का नागरिक हो।

२. आयु ३० वर्ष से कम न हो।

३. संसद द्वारा निर्धारित अन्य योग्यतायें रखता हो।

निर्वाचन पद्धति—राज्यसभा के प्रतिनिधियों का निर्वाचन राज्य की विधान सभा के जनता द्वारा निर्वाचित सदस्य करेंगे। निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति (Proportional Representation) के अनुसार एकल संक्रमणीय-मत (Single Transferable Vote) द्वारा होगा।

राज्यसभा का कार्यकाल—राज्यसभा का एक स्थायी सदन (Permanent House) है। उसका कभी विघटन (Dissolution) नहीं होगा। उसके सदस्यों में

से एक-तिहाई प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो जायेंगे । इस प्रकार राज्य सभा के सदस्यों की अवधि ६ वर्ष होती है। ६ वर्ष के पश्चात् वह स्वयं निवृत्त हो जाते है तथा वे जिस राज्य के प्रतिनिधि होते हैं, वह राज्य उनके स्थान पर पुनः उन्हें ही या नये सदस्यों को निर्वाचित करता है ।

अधिकारी—भारत का उपराष्ट्रपति राज्यसभा का सभापति होगा । राज्य-सभा अपने सदस्यों में से किसी एक को उपसभापति नियुक्त कर सकेगी । राज्य सभा को अधिकार है कि वह सभापति या उपसभापति को अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके उसके पद से हटा दे । साधारणतः सभापति अपने पद पर पाँच वर्ष तक रहता है तथा उपसभापति ६ वर्ष । ये लोग इस अवधि के बीच में अपने पद से स्वयं त्यागपत्र दे सकते हैं। इन दोनों अधिकारियों को संसद द्वारा निर्धारित वेतन भत्ते मिलेंगे ।

महत्व—राज्यसभा संसद का महत्त्वपूर्ण अंग है । इसका कारण यह है कि हमारे संघात्मक शासन में यह सदन राज्यों के प्रतिनिधियों से मिलकर बना है । राज्यों के हितों को संघीय शासन में सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक संघ (Federation) के भीतर एक ऐसे सदन (House) की व्यवस्था की जाती है । संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी इसी प्रकार का एक सदन है जिसे सिनेट कहते हैं । हमारा संघ अमेरिकन संघ से भिन्न है । हमने राज्यसभा को न तो राज्यों की समानता के आधार पर संगठित किया है न उसे अत्यधिक शक्ति ही दी है । अमेरिकन सिनेट में प्रत्येक संघीय राज्य को दो सदस्य भेजने का अधिकार मिला है ।

लोकसभा

भारतीय संसद का जनता द्वारा निर्वाचित सदन लोकसभा है । यह सदन राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है । संविधान के अनुच्छेद ८१ में कहा गया है कि राज्यों में क्षेत्रीय निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति से अधिक से अधिक ५०० सदस्यों का निर्वाचन हो सकेगा । इसके अतिरिक्त २० प्रतिनिधि संघीय प्रदेशों से संसद के नियमानुसार चुने जायेंगे । अनुच्छेद ३३१ में कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति को लगता है कि संसद के भीतर आंग्ल भारतीय जाति का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो वह उस जाति के २ प्रतिनिधियो को संसद में मनोनीत कर सकता है ।

संविधान के अनुच्छेद ८१ में कहा गया है कि राज्यों के बीच लोकसभा के सदस्यों की संख्या इस प्रकार बांटी जाएगी कि यथासंभव सभी राज्यों की जनसंख्या और प्रतिनिधियों की संख्या में समान अनुपात रहेगा । अर्थात् प्रत्येक राज्य से उसकी जनसंख्या के अनुपात में लोकसभा के सदस्य चुने जायेंगे । इसी अनुच्छेद में आगे कहा गया है कि प्रत्येक राज्य को समान जनसंख्या वाले निर्वाचन क्षेत्रों में बांटा जाएगा । अनुच्छेद ८२ कहता है कि जनसंख्या में परिवर्तन होने पर हर गणना के उपरान्त

निर्वाचन-क्षेत्रों की सीमाओं में आवश्यक परिवर्तन किए जा सकते हैं।

सदस्यों की योग्यता—लोक सभा की सदस्यता के लिए संविधान ने निम्न योग्यताएँ निर्धारित की हैं—

१. भारत का नागरिक हो।

२. आयु कम से कम २५ वर्ष हो।

३. ऐसी अन्य योग्यताएँ रखता हो जो संसद निर्धारित करे।

निर्वाचन पद्धति—व्यापक वयस्क मताधिकार (Universal Adult Franchise) के आधार पर नागरिक लोकसभा के लिए अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रत्यक्ष-गुप्त मतदान पद्धति (Direct-Secret Ballot System) के द्वारा करेंगे।

लोकसभा का कार्यकाल—लोकसभा का कार्यकाल पाँच वर्ष निर्धारित किया गया है परन्तु राष्ट्रपति को शक्ति दी गई है कि वह उसे उसके पूर्व भी विघटित कर सकता है। आपातकाल की घोषणा होने पर संसद लोकसभा का कार्यकाल एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। यह अवधि कितनी ही बार बढ़ाई जा सकती है। लोकसभा का विघटन राष्ट्रपति प्रायः प्रधान मन्त्री के कहने पर करेगा। प्रधान मंत्री केवल उन्हीं परिस्थितियों में लोकसभा का विघटन करना चाहेगा जबकि (१) या तो वह एक सफल प्रधानमन्त्री सिद्ध हुआ है और वह समझता है कि उस समय लोकमत उसके और उसके दल के पक्ष में है, संभव है पाँच वर्ष पूरे होते होते वह इतना अनुकूल न रहे। अतः निर्वाचनों में निश्चित सफलता का स्वप्न उसे लोकसभा का विघटन कराने के लिए प्रेरित कर सकता है। (२) इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि वह यह समझे कि सदन उसके अधिक अनुकूल नहीं है, एवं उसकी नीतियों का समर्थन नहीं करेगा ऐसी परिस्थिति में वह स्वयं त्यागपत्र देने की अपेक्षा निर्वाचन कराना पसंद करेगा। (३) ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब राष्ट्र के सामने अत्यन्त गम्भीर महत्व का मुद्दा (प्रश्न) आ जाए और प्रधान मन्त्री उस पर लोकमत जानना चाहे तब भी वह लोकसभा का विघटन कराके नये निर्वाचन करा सकता है।

अधिकारी—लोकसभा संगठित होने के उपरान्त शीघ्र अपने सदस्यों में से एक अध्यक्ष (Speaker) और एक उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) निर्वाचित करेगी तथा इन पदों के रिक्त होने पर भी वही इनका निर्वाचन करेगी।

अध्यक्ष या उपाध्यक्ष तभी तक अपने पदों पर रहेंगे जब तक कि वे लोकसभा के सदस्य बने रहते हैं। यह अवधि पाँच वर्ष की होती है परन्तु यदि निर्वाचन न्यायाधिकरण उनके निर्वाचन को रद्द कर दे अथवा संसद इस अवधि के पूर्व ही विघटित कर दी जाये तो अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष अथवा दोनों पदच्युत हो जायेंगे। वे इस अवधि के पूरा होने से पहले ही त्यागपत्र भी दे सकते हैं, तथा संसद चौदह दिन पूर्व

सूचना देकर कुल सदस्यों के बहुमत द्वारा उन्हें उनके पद से हटा सकती है। इसके लिए उसे एक प्रस्ताव पारित करना होता है।

पुराना अध्यक्ष नई लोकसभा संगठित होने के ठीक पहले तक अपने पद पर रहेगा। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष यदि दोनों ही अनुपस्थित हों तो लोकसभा जिस व्यक्ति को निर्धारित करे वह उसकी उस समय अध्यक्षता करेगा।

त्यागपत्र देने की स्थिति में अध्यक्ष अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष को और उपाध्यक्ष अध्यक्ष को देगा। सभा की जिस बैठक में अध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन होगा उसमें वह उपस्थित रहेगा परन्तु पीठासीन नहीं होगा। इसी प्रकार उपाध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन होने पर वह पीठासीन नहीं होगा। वे ऐसे अवसरों पर सभा में उपस्थित हो सकते हैं, विवाद में भाग ले सकते हैं और मत भी दे सकते हैं परन्तु निर्णायक मत नहीं दे सकते।

लोकसभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को संसद द्वारा विधिवत् निर्धारित वेतन और भत्ते मिलेंगे।

हम अपने देश में ब्रिटिश लोकतन्त्र की संसदीय पद्धति का अनुकरण कर रहे हैं। ब्रिटेन में राजनीतिक जीवन का एक सूत्र बन गया है कि एक बार लोक-सभा का अध्यक्ष बनने पर वह आजीवन उस पद पर निर्वाचित होता रहता है जब तक कि वह स्वयं ही उसका त्याग न कर दे। वहाँ अध्यक्ष जिस निर्वाचित क्षेत्र से खड़ा होता है उस क्षेत्र से कोई दल उसके विरोध में अपना सदस्य नहीं खड़ा करते जिससे वह निर्विरोध लोकसभा का सदस्य बन जाता है और बाद में अध्यक्ष निर्वाचित कर लिया जाता है। भारत मे भी हम इस परम्परा की नींव डाल रहे है। हमारी प्रथम लोकसभा के अध्यक्ष श्रीगणेश वासुदेव मावलंकर का १९५२ के निर्वाचनों में किसी ने विरोध नहीं किया और वे लोकसभा के लिये निर्वाचित होकर निर्विरोध रूप से उसके अध्यक्ष चुन लिये गये तथा मृत्यु तक लोकसभा के अध्यक्ष बने रहे। आशा है भारत के सभी राजनीतिक दल भविष्य में भी इस स्वस्थ परम्परा को निबाहेंगे।

अध्यक्ष के कार्य—अध्यक्ष के प्रमुख कार्यों की गिनती हम इस प्रकार कर सकते हैं—

१. सभा की बैठकों का सभापतित्व करना।

२. बैठकों में शान्ति बनाये रखना। सभा मे यह आवश्यक है कि सभी सदस्य उसे सम्बोधित करें, आपस में वाद-विवाद न करे जिससे झगड़ा न हो सके।

३. सभा के सदस्यों को बोलने का अवसर देना।

४. प्रधान मन्त्री की सहायता से बैठकों का कार्यक्रम निर्धारित करके सदस्यों को उसकी सूचना देना।

५. सदस्यों के प्रश्नों को इकट्ठा करना और उन्हें मन्त्रियों को देना जिससे कि वह उत्तर दे सकें।

६. लोकसभा द्वारा पारित विधेयकों को राज्य-सभा के विचारार्थ उसके सभापति के पास भेजना और राज्य-सभा से आने वाले विधेयकों को लोकसभा के सामने रखना।

७. यह निर्णय करना कि कोई विधेयक वित्तीय-विधेयक है या नहीं। यदि है तो उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेजना।

इनके अतिरिक्त अनेक औपचारिक (Formal) व अनौपचारिक (Informal) कार्य उसे करने होते हैं।

संसद के सदस्यों की विमुक्तियाँ

(Privileges of the Members of Parliament)

१. प्रत्येक संसत्सदस्य (M.P.) को भाषण की स्वतन्त्रता का अधिकार प्राप्त है।

२. संसद या किसी संसदीय-समिति में कही गई किसी बात अथवा दिये हुये किसी मत के लिये किसी संसत्सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती।

३. प्रत्येक संसत्सदस्य को संसद द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ते मिलते हैं।

४. संसद के सत्रकाल (Session) में लोकसभा के अध्यक्ष या राज्यसभा के सभापति को सूचित किये बिना उन्हें वन्दी नहीं बनाया जा सकता।

निम्न व्यक्ति संसत्सदस्य नहीं बन सकेंगे

१. जो भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हों। (मन्त्रियों या विधान मण्डलों के सदस्यों के पद लाभ के पद नहीं माने गए हैं।)

२. यदि वह पागल है अथवा किसी न्यायालय ने उसे पागल घोषित किया है।

३. यदि वह दिवालिया है।

४. यदि वह भारत का नागरिक नहीं है, या स्वेच्छा से उसे छोड़कर किसी विदेशी राज्य की नागरिकता स्वीकार कर चुका है अथवा

५. संसद ने जिसे अयोग्य ठहराया है।

संसत्सदस्यों का पद रिक्त होना

१. कोई व्यक्ति यदि ससद के दोनों सदनों का सदस्य हो तो एक सदन में उसका पद रिक्त हो जाएगा। क्योंकि वह एक साथ दो सदनों का सदस्य नही रह सकेगा।

२. कोई व्यक्ति यदि संसद के किसी सदन और किसी राज्य के विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य भी है तब यदि वह राज्य की विधान सभा की सदस्यता से त्यागपत्र नहीं देगा तो निश्चित अवधि के उपरान्त संसद में उसका स्थान रिक्त हो जायेगा।

३. यदि कोई व्यक्ति संसद का सदस्य चुने जाने के पश्चात् (क) कोई लाभ का पद धारण करले, (ख) पागल हो जाए, (ग) दिवालिया हो जाए, (घ) भारत का नागरिक न रहे अथवा संसद द्वारा संसत्सदस्य के लिए अयोग्य सिद्ध कर दिया जाए; तो उसका पद रिक्त हो जाएगा।

४. त्याग-पत्र देने पर संसत्सदस्य का पद रिक्त हो जाता है।

५. सदन की अनुमति के बिना साठ दिन तक अनुपस्थित रहने पर भी सदस्य का पद रिक्त माना जाता है।

दण्ड—यदि संसद के किसी सदन में कोई व्यक्ति सदस्य के रूप में शपथ लेने से पूर्व अथवा उसके अयोग्य होते हुए भी बैठता या मतदान करता है तो वह प्रत्येक दिन के लिए (जबकि वह इस प्रकार बैठता है या मतदान करता है) पांच सौ रुपये दण्ड का भागी होगा।

शपथ—प्रत्येक संसत्सदस्य को सदन की उपस्थिति-बही में हस्ताक्षर करने से पूर्व शपथ या प्रतिज्ञा लेनी होती है कि वह विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखेगा तथा अपने पद से सम्बन्धित कर्त्तव्यों का श्रद्धापूर्वक पालन करेगा।

विधि-निर्माण

क्षेत्र—भारतीय संसद को निम्न क्षेत्रों मे विधियां (Laws) पारित (Pass) करने का अधिकार है :—

१. संघसूची के विषय

२. समवर्ती सूची के विषय

३. अवशिष्ट विषय (Residuary Subjects)

४. संघीय प्रदेशों के समस्त विषय

५. आपात्कालीन उद्घोषणा की स्थिति में राज्यों के समस्त विषय

६. राज्य-सूची के ऐसे विषय जिन्हे राज्य-सभा संघ संसद के अधीन करने के लिये प्रस्ताव पारित करे।

विधेयक—संसद के सम्मुख विधि बनाने के लिये जो प्रस्ताव रखा जाता है उसे विधेयक (Bill) कहते हैं।

विधि या अधिनियम—कोई विधेयक संसद के दोनों सदनों द्वारा निर्धारित-प्रक्रिया के अनुसार पारित होने पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त करके जब विधि पुस्तक (Statute Book) में दर्ज हो जाता है तब उसे अधिनियम (Act) या विधि (Law) कहते हैं।

संसद दो प्रकार की विधियों का निर्माण करती है—सामान्य विधियां और वित्तीय विधियां।

सामान्य विधियां

विधायी प्रक्रिया—धन एवं वित्तीय विधेयकों को छोड़कर अन्य विधेयक राज्यसभा और लोकसभा में से किसी भी सदन में प्रारम्भ (पुरःस्थापित) किये जा सकते हैं। वित्तीय विधेयक केवल लोक-सभा में ही प्रारम्भ किये जा सकते है। कोई भी सामान्य विधेयक साधारणतः तभी पारित समझा जावेगा जबकि—

१. दोनों सदन अपने-अपने बहुमत द्वारा उसे उसी रूप मे स्वीकार करलें; अथवा—

२. उसमें ऐसे संशोधन करके उसे स्वीकार करें जो दोनों सदनों को स्वीकार हो;

परन्तु यदि दोनों सदनों में विधेयक के स्वरूप पर मतभेद हो, अर्थात् संसद के एक सदन द्वारा विधेयक पारित करके दूसरे सदन को भेजने पर दूसरा सदन—

(क) उसे उसी रूप में अस्वीकार करदे,

(ख) उसमें कोई संशोधन सुझाये जो प्रथम सदन को अस्वीकार हो, या

(ग) पहले सदन द्वारा विधेयक भेजे जाने की तिथि से ६ महीने तक उसे वापिस न भेजे,

तब राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाये। इस प्रकार दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का बहुमत यदि उस विधेयक को वैसे ही या दूसरे सदन द्वारा सुझाये गये संशोधनो सहित स्वीकार कर लेता है तो वह विधेयक संसद द्वारा पारित समझा जाता है। संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है।

सदन में प्रारम्भ होने के पश्चात् प्रत्येक विधेयक निम्न प्रक्रिया में से होकर गुजरता है—

१. प्रथम वाचन (First Reading)

२. द्वितीय वाचन (Second Reading)

३. तृतीय वाचन (Third Reading)

१. प्रथम वाचन—संसद का कोई भी सदस्य अपने सदन के अध्यक्ष या सभापति को संसद के सामने रखे जाने के लिये किसी विधेयक का प्रारूप दे सकता है। अध्यक्ष उसके लिए सदन के कार्यक्रम में कोई तिथि निश्चित कर देता है। उस निश्चित तिथि पर विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य अपने विधेयक को पढ़ेगा। विधेयक का सदन के सामने पढ़ा जाना और उसकी आवश्यकता पर सदस्य द्वारा भाषण दिया जाना प्रथम वाचन कहलाता हैं। प्रथम वाचन के समय सदन यह निश्चित करता है कि उस विधेयक को—

१. समिति (Committee) के सुपुर्द करना है, अथवा—

२. उसका द्वितीय वाचन करना है, या—

३. उसको लोकमत जानने के लिये जनता के समक्ष प्रस्तुत करना है।

महत्वपूर्ण विधेयकों को उस विषय की समिति के पास भेज दिया जाता है। समिति दो महीने के भीतर उस विधेयक पर अपना प्रतिवेदन सदन के समक्ष प्रस्तुत कर देती है।

२. **द्वितीय वाचन**—सदन के वाद-विवाद के निमित्त विधेयक द्वितीय वाचन के लिये प्रस्तुत किया जाता है। यदि प्रथम वाचन के बाद उसे समिति मे भेजा गया है तो उसके प्रतिवेदन पर सदन विचार करता है अन्यथा विधेयक के मूलस्वरूप पर प्रत्येक धारा को लेकर वाद-विवाद होता है। इसी वाचन में संसद के सदस्य विधेयक में संशोधन पेश कर सकते है। विधेयक के आकार-प्रकार में जो कुछ भी परिवर्तन होता है वह इसी अवस्था में होता है अतः द्वितीय वाचन की अवस्था को विधि-निर्माण में बहुत महत्व प्राप्त है।

३. **तृतीय वाचन**—द्वितीय वाचन की अवस्था को पार करके विधेयक तृतीय वाचन के लिए सदन के सामने प्रस्तुत किया जाता है। इस वाचन में विधेयक के भीतर कोई महत्व के संशोधन नही होते न कोई विशेष वाद-विवाद ही होता है। इस अवस्था में सदन विधेयक पर अन्तिम निर्णय करता है।

यदि सदन उस विधेयक को तृतीय वाचन में स्वीकार कर लेता है तो उसे द्वितीय-सदन में भेजा जाता है और वहाँ भी उसे इन्हीं तीन अवस्थाओं को पार करना होता है। उस सदन द्वारा उसी रूप में स्वीकृति हो जाने पर वह विधेयक संसद द्वारा पारित समझा जाता है। परन्तु यदि दूसरा सदन उससे सहमत न हो, अथवा उसमें कोई ऐसे सशोधन करे जो पहले सदन को स्वीकार न हों, अथवा ६ माह तक विधेयक पर अपना कोई निर्णय न ले तो राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठक करता है। इसका वर्णन पीछे कर चुके हैं।

संयुक्त बैठकों में लोकसभा का अध्यक्ष सभापति का पद ग्रहण करता है। इनमे निर्णय बहुमत से होते हैं।

अन्तिम स्वीकृति—दोनों सदनों द्वारा पृथक-पृथक या संयुक्त अधिवेशन में स्वीकृत हो जाने पर विधेयक को राष्ट्रपति के पास उसके हस्ताक्षर के लिए भेजा जाता है। उसे यह अधिकार है कि यदि वह अवित्तीय विधेयक के किसी अंश या सम्पूर्ण को राष्ट्रहित के विरुद्ध समझता है, तो वह उस पर हस्ताक्षर न करके अपने संदेश के साथ संसद के सामने पुनर्विचार के लिए भेज सकता है। संसद को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति के सुझावों को मानने से इन्कार करदे। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति को उस पर अपने हस्ताक्षर करके उसे अधिनियमित (Enact) एवं लागू (Enforce) करना ही पड़ता है।

इस प्रकार सामान्य-विधियों का निर्माण होता है।

वित्तीय विधियाँ

वित्तीय विधियों के दो खण्ड है—(१) राष्ट्र के वार्षिक आय-व्यय के प्रस्ताव, तथा (२) अन्य-धन विधेयक ।

१. **आय-व्यय के प्रस्ताव**—वार्षिक आय-व्यय के प्रस्तावों को दो भागों में विभाजित करना होगा—

(क) **वित्त-विधेयक** (Finance Bill)—जिसका सम्बन्ध राष्ट्रीय आय के साधनों से है तथा जो यह बताता है कि संघ के वार्षिक व्यय को पूरा करने के लिये किस किस स्रोत (Source) से कितनी आय होने का अनुमान सरकार लगाती है।

(ख) **विनियोग विधेयक** (Appropriation Bill)—इसमें संघ के पृथक-पृथक विभागों पर खर्च हो जाने वाली धन राशि का व्यौरा होता है इसका सम्बन्ध राष्ट्रीय वित्त के विनियोग से है ।

आय-व्यय के वार्षिक अथवा पूरक (Supplementary) प्रस्तावों के बारे में यह याद रखना चाहिये कि—(१) ये सभी धन-विधेयकों की नाई लोक-सभा में ही आरम्भ किये जा सकते हैं। (२) लोक-सभा में ये प्रस्ताव सरकारी-सदस्यों अर्थात् मन्त्रि-परिषद् के किसी सदस्य द्वारा ही प्रस्तुत (पेश) किये जा सकते हैं ।

इनके बारे में संसद के सदस्यों की शक्ति सीमित है । वे किसी भी वित्त-विधेयक (आय-प्रस्ताव) के भीतर किसी नये कर के लगाने और आय को बढ़ाने से सम्बन्धित संशोधन पेश नहीं कर सकते । इसी प्रकार वे किसी विनियोग विधेयक (व्यय-प्रस्ताव) के भीतर वृद्धि का संशोधन नहीं रख सकते ।

इतना ही नहीं संसद को यह प्रस्ताव लगभग जैसे के तैसे स्वीकार करने होते है क्योंकि ये मन्त्रि-परिषद् द्वारा तैयार कराए जाते है। इनमे मन्त्रि-परिषद् की नीतियां निहित होती है। इन्हें अस्वीकार करने का अर्थ है मन्त्रि-परिषद् पर अविश्वास । मन्त्रि-परिषद् का समर्थन बहुमत करता है अतः वह उसके बारे में प्रायः निश्चिन्त ही रहती है ।

२. **अन्य धन विधेयक**—धन विधेयक की परिभाषा संविधान ने इस प्रकार की है—'वे समस्त विधेयक जो निम्न बातों में से किसी एक, अनेक या सबसे सम्बन्धित हों, धन-विधेयक माने जायेंगे—

१. किसी कर का आरोपण (Imposition), उत्पाटन (Abolition), परिहार (Remission , परिवर्तन (Alteration) या विनियमन (Regulation)।

२. भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने अथवा अन्य प्रकार के वित्तीय-आभारों (Financial Obligation) से सम्बद्ध विधि के संशोधन करने का विनियमन ।

३. भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) अथवा आकस्मिकता निधि (Contingency Fund) की रक्षा तथा ऐसी किसी निधि में धन डालना या

उसमें से निकालना ।

४. भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग ।

५. किसी व्यय को भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) पर भारित (Charge) घोषित करना अथवा ऐसी किसी व्यय की राशि को बढ़ाना ।

६. भारत की संचित निधि या भारत के लोक-लेखे (Public Account) में कोई धन प्राप्त करना, ऐसे धन की रक्षा या निकासी करना, अथवा संघ या राज्यों के लेखों (Accounts) का लेखा परीक्षण (Audit) करना ।'

संविधान के अनुच्छेद ११० की तीसरी धारा में लिखा है कि "यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन-विधेयक (Money Bill) है या नहीं तो उस पर लोकसभा के अध्यक्ष (Speaker) का विनिश्चय (Decision) अन्तिम होगा ।"

राज्यसभा और राष्ट्रपति के पास उन्हें भेजते समय अध्यक्ष (Speaker) अपने हस्ताक्षर से यह प्रमाणित करेगा कि वह धन-विधेयक है ।

प्रक्रिया (Procedure)—धन विधेयक राज्यसभा (Council of States) में प्रारम्भ (पुरःस्थापित) नहीं किये जा सकेंगे । वे लोकसभा में रक्खे जायेंगे तथा उन्हें किसी प्रवर समिति (Select Committee) के सुपुर्द नही किया जायेगा ।

लोकसभा द्वारा पारित कर दिये जाने पर विधेयक राज्य-सभा में भेज दिया जाता है । राज्य-सभा उसे अस्वीकार या उसमें संशोधन नहीं कर सकती । वह उस पर अपनी सिफारिशें १४ दिन के भीतर लोकसभा के पास भेज सकती है । लोकसभा को पूर्ण अधिकार है कि वह राज्य-सभा के सुझावों को स्वीकार करे या न करे ।

अन्त में विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये भेजा जाता है । वह उसे पुर्नविचार के लिये वापस नहीं भेज सकता उसे उस पर हस्ताक्षर करना तथा लागू (Enforce) करना ही पड़ता है ।

इस प्रकार संविधान ने धन सम्बन्धी विषयों पर न कोई अधिकार राज्य-सभा को दिया है न राष्ट्रपति को । इसका एकमात्र कारण यह है कि राष्ट्रपति और राज्य-सभा दोनों का निर्वाचन प्रत्यक्ष पद्धति से न होकर परोक्ष पद्धति (Indirect election method) से होता है । अतः वे उतनी मात्रा में जनता के प्रतिनिधि होने का दावा नहीं कर सकते जितनी कि लोकसभा, क्योंकि उसका निर्वाचन सीधे जनता करती है । जनता की जेब पर हाथ डालने का काम और इस प्रकार जनता से प्राप्त धन को व्यय करने का काम लोकसभा ही कर सकती है । यदि वह इन कामों को ठीक प्रकार पूरा नहीं कर पाती तो जनता उससे पूछ सकती है तथा अगले निर्वाचनों में उसमें ऐसे प्रतिनिधि भेज सकती है जिन पर उसे अधिक भरोसा हो ।

सत्र और कार्यवाही

सत्र—एक वर्ष में संसद के कम से कम दो सत्र (Sessions) अवश्य होंगे तथा दोनों सत्रों के बीच छः मास से अधिक अवकाश नहीं होगा। एक वर्ष के अन्तिम सत्र और अगले वर्ष के प्रथम सत्र के बीच भी छः मास से अधिक नहीं बीतने चाहियें।

प्रत्येक सत्र के प्रथम दिन सत्रारम्भ होते ही राष्ट्रपति स्वयं उपस्थित होकर या सदेश भेजकर सत्र (Session) आहूत (Summon) करने अर्थात् बुलाने का कारण बताता है तथा सामान्य सरकारी नीति पर प्रकाश डालता है।

उसके पश्चात् प्रधान मन्त्री और महान्यायवादी (Attorney General) भी भाषण दे सकते है। महान्यायवादी संसद की कार्यवाही में भाग ले सकता है परन्तु मत नही दे सकता।

समान-मत होने की दशा मे अध्यक्ष अथवा सभापति अपना निर्णायक मत (Casting Vote) देता है, साधारण दशा मे वह मत नहीं देता।

गणपूर्ति—प्रत्येक सदन की सदस्य-संख्या के दसवें भाग अर्थात् राज्यसभा में २५ और लोकसभा में ५० की उपस्थति पर सदन की कार्यवाही चालू की जायगी अर्थात् गणपूर्ति (कोरम) मानी जाएगी।

भाषा—ससद के भीतर भाषण आदि समूची कार्यवाही हिन्दी या अँग्रेजी में होगी। यदि कोई सदस्य इन दोनों में से किसी भाषा में अपने विचार प्रकट करने में असमर्थ है तो अध्यक्ष की अनुमति से वह अन्य किसी भारतीय भाषा मे बोल सकता है। यह स्थिति केवल सन् १९६५ तक चल सकती है। उसके पश्चात् यदि संसद फिर से अंग्रेजी को स्वीकार न करे तो स्वतः अंग्रेजी बन्द हो जायेगी और संसद की समस्त कार्यवाही हिन्दी में हुआ करेगी।

अन्य—सदनों की कार्यवाही के बारे मे अन्य नियम सभापति या अध्यक्ष प्रधान मन्त्री के परामर्श से बनाकर प्रवर्तित (लागू) करेंगे। सभापति या अध्यक्ष को अधिकार है कि वह उद्दंड संसत्सदस्य को बैठक से कुछ समय के लिये निकाल दे।

योग्यता-प्रश्न

१. भारतीय संसद की शक्तियों का वर्णन करो। क्या भारतीय संसद को संविधान में परिवर्तन करने का अधिकार प्राप्त है ? यदि है तो कैसे ?
Describe the powers of the Indian Parliament. Is the Parliament empowered to amend the Constitution of India ? If so, how ?

२. लोक-सभा के निर्माण का वर्णन कीजिए। लोक-सभा और राज्य-सभा के पारस्परिक सम्बन्ध बतलाइए।

How is the House of the People composed ? Give an account of the relationship between the two Houses of the Indian Parliament.

३. संघ-संसद विधियाँ किस प्रकार बनाती है ? विस्तार से वर्णन कीजिए।

Describe in detail the process of law-making by the Indian Parliament.

—: o :—

अध्याय २८

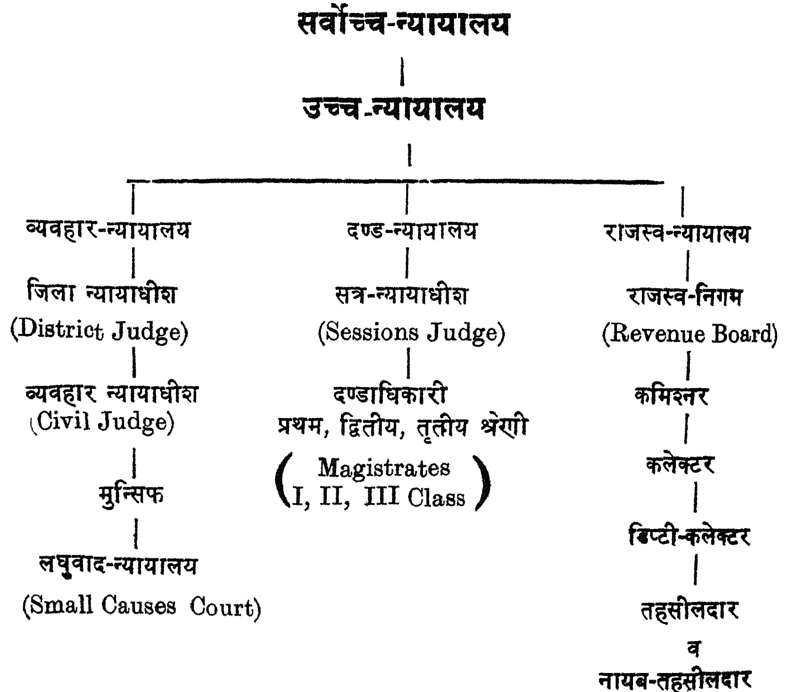
राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था

(National Judiciary)

"सर्वोच्च-न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों को बन्धनकारी होगी।" **(भारत का संविधान, अनु० १४१)**

भारत की न्याय-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता यह है कि उसको संघ और राज्य के बीच विभक्त नहीं किया गया है। हमारे संविधान ने देश में इकहरी न्यायपालिका का निर्माण किया है। राज्यों में उच्च-न्यायालयों (High Courts) को राज्य सरकारों के अधीन नहीं रखा गया है, वे सीधे सर्वोच्च-न्यायालय के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उनकी नियुक्ति आदि सभी कुछ राष्ट्रपति और संसद के हाथों में रखी गई है।

देश की न्याय-व्यवस्था के भीतर विविध न्यायालयों की स्थिति का चित्र हम इस प्रकार दे सकते हैं—



सर्वोच्च-न्यायालय

महत्व—भारत एक संघ है। उसके संविधान ने शासन की शक्तियों का संघ और राज्यों के मध्य वितरण किया है तथा राज्यों को राज्य सूची के विषयों पर सर्वोच्च सत्ता प्रदान की है। प्रत्येक संघ के भीतर यह आवश्यक होता है कि—

(१) राज्यों के पारस्परिक वैधानिक संघर्षों को ; तथा,

(२) राज्यों या किसी राज्य और संघ के बीच उठे किसी सांविधानिक-प्रश्न को सुलझाने के लिए कोई संगठन चाहिये। सर्वोच्च-न्यायालय ऐसा ही एक संगठन है।

संघवाद के अतिरिक्त हमारे संविधान ने नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किये हैं। उनकी रक्षा का काम उसने सर्वोच्च-न्यायालय के सुपुर्द किया है। अतः सर्वोच्च-न्यायालय मौलिक अधिकारों (Fundamental Rights) का संरक्षक है।

इतना ही नहीं सर्वोच्च-न्यायालय संविधान का भी रक्षक है। संविधान की व्याख्या (Interpretation) का काम उसे सौंपा गया है। संसद को संविधान ने जो अधिकार नहीं दिये हैं यदि संसद उनका प्रयोग करती है तो सर्वोच्च-न्यायालय उसके इस कार्य को अवैधानिक घोषित करके रद्द कर सकता है।

सर्वोच्च-न्यायालय देश की न्याय-व्यवस्था का शिखर है, जिसके कारण उसे अनेक न्यायिक कार्य जैसे मुकदमे सुनना, पुनर्विचार की प्रार्थना (अपील) की सुनवाई करना तथा अन्य न्यायालयों के कार्य सम्बन्धी नियम बनाना आदि करने पड़ते हैं।

क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च-न्यायालय के कार्यों और अधिकारों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यहां संक्षेप में उनका वर्णन करेंगे—

१. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को अकेले ही निम्न मामलों में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं—

(क) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यों के बीच के, अथवा,

(ख) एक ओर भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यों तथा दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच के, अथवा

(ग) दो या अधिक राज्यों के बीच के, किसी ऐसे विवाद में जिसमें किसी वैधानिक अधिकार का प्रश्न निहित हो।

सर्वोच्च-न्यायालय को संविधान की व्याख्या (Interpretation), १९४७ के स्वतंत्रता अधिनियम, तथा संसद व राज्य विधान मण्डलों द्वारा पारित विधियों पर भी प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है। परन्तु यह अधिकार केवल उसे ही नहीं उच्चन्यायालयों (High Courts) को भी प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त नागरिकों के मूल अधिकारों के संरक्षक के नाते वह कुछ

लेख जारी करने की शक्ति भी रखता है जो उसका प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार मानी जा सकती है। जैसे—बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, पद मुक्ति लेख और उत्प्रेषण लेख।

२. **पुनर्विचार क्षेत्राधिकार** (Appellate Jurisdiction) — सर्वोच्च-न्यायालय को दण्ड, व्यवहार व संविधान के निर्वाचन सम्बन्धी सभी मामलों में उच्च न्यायालयों से आने वाली पुनर्विचार की प्रार्थनायें (अपीलें) सुनने का अधिकार है।

इसके अतिरिक्त संविधान ने सर्वोच्च-न्यायालय को यह अधिकार दिया है कि वह अपने विवेक से भारत राज्य-क्षेत्र में किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या विषय में दिए हुए किसी निर्णय, आज्ञप्ति (Degree), दण्डादेश या अन्य आदेश के पुनर्विचार के लिए विशेष अनुमति दे सकेगा।

सर्वोच्च-न्यायालय को अधिकार है कि वह स्वयं अपने निर्णयों पर भी पुनर्अवलोकन (Review) कर सके। संसद संघ सूची के विषय में से किसी के बारे में सर्वोच्च-न्यायालय को अन्य क्षेत्राधिकार और शक्तियां विधि द्वारा दे सकेगी।

सर्वोच्च-न्यायालय को सैनिक न्यायालयों या न्यायाधिकरणों के निर्णयों पर कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। अन्य सब न्यायालयों को उसके द्वारा घोषित विधियां माननी होंगी। भारत के सभी असैनिक और न्यायिक अधिकारी सर्वोच्च-न्यायालय की सहायता में कार्य करेंगे, अर्थात् सर्वोच्च-न्यायालय संघ की ही नहीं अपितु राष्ट्र की सर्वोच्च-न्यायपालिका सत्ता का उपभोग करता है।

३. **राष्ट्रपति को वैधानिक परामर्श देने का कर्त्तव्य**—सर्वोच्च-न्यायालय का एक कार्य यह भी है कि जब राष्ट्रपति किसी वैधानिक प्रश्न पर उसका मत जानना चाहे तो वह उस प्रश्न को उसके सामने रख सकता है। ऐसी स्थिति में सर्वोच्च-न्यायालय को भी उस प्रश्न पर अपना मत राष्ट्रपति के सामने पेश (Report) करना होगा।

४. **अभिलेख न्यायालय**—सर्वोच्च-न्यायालय अभिलेख (Record) न्यायालय भी है तथा उसे इस प्रकार के न्यायालय की सब शक्तियां एवं अपने अपमान (Contempt of Court) के लिए दण्ड देने की शक्ति प्राप्त है। इस न्यायालय की समस्त कार्यवाही लेख-बद्ध की जाती है तथा उसके निर्णय निम्न-न्यायालयों के लिए विधि के समान शक्तिशाली होते हैं।

सर्वोच्च-न्यायालय का संगठन

सदस्य संख्या—सर्वोच्च-न्यायालय में एक मुख्य-न्यायाधिपति तथा अधिक से अधिक सात अन्य सदस्य होंगे। संसद चाहे तो इस संख्या को बढ़ा सकती है।

सदस्य का कार्यकाल—सर्वोच्च-न्यायालय का कोई न्यायाधीश पैंसठ वर्ष की आयु तक अपने पद पर आरूढ़ रहेगा। परन्तु वह—

१. राष्ट्रपति को सम्बोधित करके अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा त्यागपत्र दे सकेगा, अथवा

२. असमर्थता और सिद्ध कदाचार के आरोप (Charge of proved misconduct) पर संसद के दोनों सदन पृथक पृथक अपनी पूर्ण सदस्य संख्या के बहुमत देने वाले तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा उसको हटाने का प्रस्ताव पारित करके राष्ट्रपति के सामने यदि उसी सत्र (Session) में रखें तो राष्ट्रपति उसे पदच्युत कर सकेगा।

नियुक्ति—संविधान ने न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को दिया है। अनुच्छेद १२४ की धारा २ में कहा गया है कि राष्ट्रपति, सर्वोच्च-न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के जिन न्यायाधीशों से ठीक समझे परामर्श करके, अपने हस्ताक्षर और मुद्रा (Seal) सहित अधिकारपत्र (Authority Letter) द्वारा सर्वोच्च-न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा।

योग्यता—सर्वोच्च-न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए व्यक्ति में निम्न योग्यताएँ होनी चाहियें—

(१) वह भारत का नागरिक हो, तथा

(२) वह किसी उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम पांच वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो, अथवा

(३) वह किसी उच्च न्यायालय अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुका हो, अथवा

(४) वह व्यक्ति राष्ट्रपति की दृष्टि में पारंगत विधिवेत्ता (Expert Jurist) हो।

सर्वोच्च-न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति की अनुमति से सेवा निवृत (Retired) न्यायाधीश को कुछ समय के लिए काम करने की प्रार्थना कर सकेगा। ऐसे समय में उसे पद के वेतन और भत्ते आदि मिलेंगे।

वेतन—सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते, छुट्टी के नियम आदि के बारे मे संसद निर्णय करेगी। परन्तु किसी न्यायाधीश के वेतन या उसके विशेषाधिकार उसके कार्यकाल मे न छीने जा सकते हैं, न कम किये जा सकते हैं। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि राष्ट्रपति राष्ट्रीय वित्त के आपातकाल में इनके वेतन आदि में कटौती की आज्ञा दे सकेगा।

शपथ—प्रत्येक न्यायाधीश पद ग्रहण करने से पूर्व अपने पद के कार्यों के विषय में प्रतिज्ञा या शपथ लेगा और उस पर हस्ताक्षर करेगा।

प्रतिबन्ध—सर्वोच्च-न्यायालय का कोई न्यायाधीश भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय में अथवा किसी अधिकारी के समक्ष वकालत का कार्य नहीं करेगा।

सर्वोच्च-न्यायालय की स्वतन्त्रता

देश के भीतर शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने तथा नागरिकों के हितों की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि न्याय-विभाग को राष्ट्रपति, मन्त्रि-परिषद् और संसद के अनुचित दबाव से मुक्त रखा जाये। इसके लिये संविधान ने निम्न योजना की है—

(१) राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश को स्वयं नहीं हटा सकता,

(२) संसद किसी न्यायाधीश को हटाना चाहे तो उसे उसका दोष सिद्ध करना होगा एवं दोनों सदनों की कुल संख्या का बहुमत और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई मतों की आवश्यकता पड़ेगी। यह सब आसानी से जुटाना सम्भव नहीं है।

(३) सर्वोच्च-न्यायालय के सभी व्यय भारत की संचित-निधि (Consolidated fund) में से खर्च होंगे। संसद की वार्षिक आय-व्ययक पर विचार करते समय उन पर मत देने का अधिकार नहीं है।

(४) संसद किसी न्यायाधीश का वेतन, भत्ता और दूसरी सुविधायें उसके कार्यकाल में कम नहीं कर सकती।

(५) संसद का कोई सदन न्यायालय के किसी निर्णय पर कोई विवाद या विचार नहीं कर सकता।

(६) सर्वोच्च-न्यायालय को अपनी व अपने अधीन न्यायालयों की कार्य-प्रणाली निर्धारित करने का अधिकार है, तथा

(७) न्यायाधीश निवृत्त (Retire) होने के बाद किसी न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते।

इस प्रकार राष्ट्रपति और संसद दोनों मिलकर भी उसे दबाव में नहीं रख सकते। इसके विपरीत सर्वोच्च-न्यायालय को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति और संसद के किन्हीं आदेशों और अधिनियमों को असांविधानिक घोषित करदे। राष्ट्रपति या संसद को यह अधिकार नहीं है कि वे सर्वोच्च-न्यायालयों के निर्णयों का उल्लंघन कर सकें। केवल राष्ट्रपति को कुछ मामलों में सीमित क्षेत्र के भीतर सर्वोच्च-न्यायालय द्वारा दिये गये दण्ड आदि घटाने व क्षमा करने का अधिकार है। उस अधिकार का कोई सांविधानिक महत्व नहीं है। इस प्रकार संविधान में सर्वोच्च-न्यायालय की स्वतंत्रता की स्थापना की रक्षा की गई है।

उच्च न्यायालय

प्रत्येक राज्य में संविधान ने एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की है। यह न्यायालय भी सर्वोच्च-न्यायालय की भाँति एक अभिलेख न्यायालय (Court of Record) होगा और उसके निर्णय उसके अधीन सभी न्यायालयों को मान्य होंगे।

नियुक्ति—प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति होगा तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होंगे जिनकी संख्या राष्ट्रपति निर्धारित करेगा। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति राष्ट्रपति भारत के मुख्य-न्यायाधिपति तथा उस राज्य के राज्यपाल से परामर्श करके अपने हस्ताक्षर व मुद्रा सहित अधिकारपत्र (Authority letter) द्वारा करेगा, एवं अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति वह भारत के मुख्य-न्यायाधिपति व राज्यपाल के अतिरिक्त उस राज्य के मुख्य-न्यायाधिपति से परामर्श करके उपरोक्त रीति से करेगा।

कार्यकाल—ये लोग ६० वर्ष की आयु तक पद धारण करेंगे। परन्तु कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को अपने हस्ताक्षर से लिखकर अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है अथवा भारतीय संसद उसे सिद्ध-कदाचार (Misconduct) या असमर्थता के दोष पर उसी प्रकार उसके पद से हटा सकती है जैसे कि पीछे सर्वोच्च-न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने की रीति बताई गई है। इसके अतिरिक्त कोई न्यायाधीश यदि राष्ट्रपति द्वारा सर्वोच्च-न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्ति कर दिया जाय या किसी अन्य राज्य के उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित (Transfer) कर दिया जाय तब भी उसका पद रिक्त समझा जायगा।

योग्यता—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश निम्न प्रकार के व्यक्ति हो सकेंगे—

(१) वे भारत के नागरिक हों ; तथा

(२) भारत के राज्य क्षेत्र में कम से कम दस वर्ष तक न्यायिक पद (Judicial Office) धारण कर चुके हों ; अथवा

(३) किसी राज्य के उच्च न्यायालय या न्यायालयों के लगातार कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता (Advocate) रह चुके हों।

राज्य का प्रमुख न्यायाधिपति राष्ट्रपति की अनुमति से उच्च न्यायालय के किसी सेवा निवृत (Retired) न्यायाधीश से कुछ समय के लिए काम करने की प्रार्थना कर सकेगा। इस अवधि में ऐसे व्यक्ति को उसके पद के वेतन और भत्ते प्राप्त होंगे।

शपथ—उच्च न्यायालय के लिए नियुक्त प्रत्येक न्यायाधीश पद ग्रहण करने से पूर्व राज्य के राज्यपाल अथवा उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष अपने कार्यों को निष्ठापूर्वक करने के बारे में शपथ या प्रतिज्ञा लेगा।

प्रतिबंध—उच्च न्यायालय का कोई स्थायी न्यायाधीश अपने पद से मुक्त या निवृत्त (Retire) होने के पश्चात् भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सर्वोच्च-न्यायालय अथवा अन्य उच्च न्यायालयों के अतिरिक्त किसी दूसरे न्यायालय या प्राधिकारी (Authority) के सामने वकालत का कार्य न कर सकेगा।

वेतन वा विमुक्तियाँ—उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि के बारे में संसद को नियम बनाने का अधिकार होगा। परन्तु संसद किसी न्यायाधीश के वेतन, भत्ते आदि को उसके कार्यकाल में घटा नहीं सकती। राष्ट्रीय वित्त के

आपातकाल की घोषणा करके राष्ट्रपति उतने समय के लिए जितने में वह घोषणा लागू रहे उनके वेतन व भत्तों आदि में कमी कर सकता है।

स्थानांतरण—(Transfer) राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति (Chief Justice of India) से परामर्श करके उच्च न्यायालय के किसी भी न्यायाधीश को किसी अन्य उच्च न्यायालय में हस्तान्तरित कर सकेगा।

उच्च-न्यायालयों का क्षेत्राधिकार

(Jurisdiction of High Court)

नये संविधान के अन्तर्गत उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार वही निर्धारित किया गया है जैसा कि इस संविधान के लागू होने के पूर्व था, उसमें प्रारम्भिक व पुनर्विचार सम्बन्धी दण्ड व व्यवहार (Original, Criminal and Civil) क्षेत्राधिकार सम्मिलित हैं।

इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय को राज्य में काम करने वाले अधीन न्यायालयों की व्यवस्था का अधिकार भी है।

उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह किसी अधीन न्यायालय में चलने वाले किसी मामले को अपने पास मंगा सकता है यदि उसके निपटाने के लिए विधि (Law) का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न सुलझाना आवश्यक हो। वह स्वयं उस मामले को निपटा सकता है अथवा यदि वह चाहे तो वैधानिक प्रश्न पर अपना निर्णय लिख कर निम्न न्यायालय को भेज देगा जिसके आधार पर वह न्यायालय अपना निर्णय देगा।

उच्च न्यायालय को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह सर्वोच्च-न्यायालय की भाँति बन्दी प्रत्यक्षीकरण, उत्प्रेषण आदि के लेख जारी कर सके।

उसकी शक्तियाँ राज्य के भीतर काम करने वाले सैनिक न्यायालयों या न्यायाधिकरणों पर लागू नहीं होंगी। असैनिक मामलों में संसद उच्च न्यायालय की शक्ति बढ़ा और घटा सकती है।

अधीन न्यायालयों के अधिकारियों की नियुक्ति राज्यपाल उच्च न्यायालय के मुख्य-न्यायाधिपति के परामर्श से करेगा।

उच्च-न्यायालयों की स्वतंत्रता

संविधान ने उच्च-न्यायालयों को भी सर्वोच्च-न्यायालय की भाँति कार्यपालिका (Executive) के प्रभाव से मुक्त रखा है। उसका समस्त व्यय-न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि राज्य की संचित निधि पर भारित होते हैं। उनमें परिवर्तन का अधिकार राज्य-विधान मण्डल को न होकर संसद को है। संसद भी किसी न्यायाधीश के कार्यकाल में उसके वेतन और भत्तों को कम नहीं कर सकती। उन्हें संसद द्वारा ही हटाया जा सकता है वह भी असमर्थता या कदाचार (Misconduct) सिद्ध हो जाने पर।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश निवृत्त (Retire) होने के बाद किसी न्यायालय या अधिकारी के सामने वकालत का कार्य नहीं कर सकते। इससे उन्हें अपने कार्यकाल में किसी का पक्षपात करके उसकी सहानुभूति जीतने की आवश्यकता नहीं रहती।

उच्च न्यायालय का कोई निर्णय संसद या राज्य-विधानमण्डल में वाद-विवाद के लिए पेश नहीं होगा। उसके निर्णय के विरुद्ध केवल सर्वोच्च-न्यायालय में पुनर्विचार की प्रार्थना (Appeal) की जा सकती है।

राष्ट्रपति या राज्यपाल के क्षमा आदि के अधिकार का न्यायालय की स्वतन्त्रता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जिला-न्यायालय (District Courts)

संविधान में जिला न्यायालय का उल्लेख भी किया गया है। उसमें कहा गया है कि किसी राज्य में जिला न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति तथा उनकी पद स्थापना और पदोन्नति उस राज्य के उच्च न्यायालय से परामर्श करके राज्य का राज्यपाल करेगा।

जिला न्यायाधीश होने के लिए यह आवश्यक है कि कोई व्यक्ति कम से कम सात वर्षों तक वकील या अधिवक्ता रहा हो और उच्च न्यायालय ने उसकी सिफारिश की हो।

जिला न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को राज्यपाल अपने राज्य के 'लोक सेवा आयोग' व 'उच्च न्यायालय' से परामर्श करके राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्त करेगा।

जिला न्यायाधीश से निचले किसी पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक-सेवा के व्यक्तियों की पद स्थापना, पदोन्नति और उनको छुट्टी देने के नियम आदि एवं जिला न्यायालयों तथा उनके अधीन न्यायालयों का नियंत्रण राज्य का उच्च न्यायालय करेगा।

जिला व सत्र न्यायालय (District and Sessions Court) दो प्रकार के होते हैं—

(१) व्यवहार-न्यायालय (Civil Courts) तथा

(२) दंड-न्यायालय (Criminal Courts)

जिला व सत्र न्यायालय दीवानी (व्यवहार) और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमों की अपील सुनता है तथा दोनों प्रकार के मुकदमों की सुनवाई भी कर सकता है। जिला न्यायालय का न्यायाधीश जब व्यवहार (दीवानी) के मुकद्दमें सुनता है तब वह जिला न्यायाधीश (District Judge) तथा जब वह दंड (फौजदारी) के मुकद्दमें सुनता है तब सत्र न्यायाधीश (Sessions Judge) कहलाता है। राजस्थान में १५ के लगभग ऐसे न्यायालय हैं।

व्यवहार न्यायालय (Civil Courts)

जिला व सत्र न्यायालय के अतिरिक्त राजस्थान में एक दूसरे प्रकार के न्यायालय व्यवहार न्यायालय (सिविल कोर्टस) हैं। ये न्यायालय व्यवहार (दीवानी) के ऐसे मुकदमे सुनते हैं जिनमें २०००) से १०,०००) तक की रकम का झगड़ा होता है। राजस्थान में ऐसे न्यायालय लगभग २४ हैं। इनके न्यायाधीश को सिविल जज कहते हैं।

मुन्सिफी—व्यवहार न्यायालय के अधीन व्यवहार (दीवानी) के ऐसे मुकद्दमों की सुनवाई के लिए जिनमें ५००) से लेकर २०००) तक की रकम का झगड़ा होता है मुन्सिफ का न्यायालय होता है। राजस्थान में ६४ के लगभग ऐसे न्यायालय हैं।

लघुवाद न्यायालय (Small Causes Court)—राजस्थान के तीन प्रमुख नगरों जयपुर, जोधपुर और उदयपुर में व्यवहार (दीवानी) के ऐसे मुकद्दमों की सुनवाई करने के लिए जिनमें ५००) तक का झगड़ा होता है लघुवाद न्यायालय होते हैं।

दण्ड-न्यायालय

प्रत्येक जिले का जिलाधीश जिला दण्डाधिकारी (District Magistrate) भी होता है। वह तथा उसके सहायक जो प्रथम, द्वितीय व तृतीय श्रेणी के दण्डाधिकारी (Magistrates) होते हैं अपने क्षेत्र में दंड फौजदारी के मुकद्दमों का फैसला करते हैं।

राजस्व न्यायालय—सरकारी लगान व मालगुजारी के मामलों की सुनवाई के लिए तहसीलदार से कमिश्नर तक सभी को अधिकार है। राज्य में इस विषय का बड़ा न्यायालय राजस्व निगम (Revenue Board) कहलाता है। उसके निर्णय की अपील उच्च न्यायालय में नहीं की जा सकती, यदि कोई वैधानिक गलती हो तब उच्च न्यायालय में अपील हो सकती है।

ग्राम व तहसील पंचायत—राज्य सरकार ने अपनी पंचायतों को ग्राम व तहसील स्तर पर अनेक मामलों में न्याय करने का अधिकार दिया है। इसका विस्तृत वर्णन अध्याय ३३ में किया गया है।

योग्यता-प्रश्न

१. सर्वोच्च-न्यायालय की शक्तियों व रचना का वर्णन कीजिए। भारतीय संविधान में उनका क्या महत्व है ?

Give an account of the powers and composition of the Supreme Court of India. What is its importance in the Constitution of India ?

२. उच्च न्यायालयों की रचना और शक्तियों का वर्णन कीजिए।
Describe the composition and powers of High Courts in India.

३. भारत की न्याय-व्यवस्था पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
Write a detailed essay on the Judicial System of India.

४. न्यायालय की स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं ? भारत में उस स्वतन्त्रता का क्या प्रबन्ध किया गया है ?
What do you understand by the independence of Judiciary ? How is that independence guaranteed in India ?

—: o :—

अध्याय २६

राज्यपाल और मंत्रिपरिषद्

(Governor & Council of Ministers)

सच तो यह है कि मैं राज्य सरकारों की आलोचना बिरले ही कभी करता हूं। मेरा विचार है कि ये सरकारें विशेष गौरव प्राप्त स्थानीय स्वायत्त सरकार ही हैं।

—आचार्य कृपलानी

भारतीय संविधान ने पन्द्रह राज्यों में प्रत्येक में पृथक पृथक कार्यपालिका और विधानमंडल का संगठन किया है। राज्य-कार्यपालिका के दो प्रधान अंग हैं—(१) राज्यपाल और (२) मंत्रिपरिषद्। आगे हम इनका विस्तार से वर्णन करेंगे।

राज्यपाल

(Governor)

पद और नियुक्ति—संविधान के अनुच्छेद १५३ और १५४ में कहा गया है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा, तथा राज्य की कार्य-पालिका-शक्ति उसमें निहित होगी। राज्यपाल राज्य का वैधानिक प्रधान (Constitutional Head of the State) है। उसकी नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है। कोई व्यक्ति तब तक राज्यपाल नियुक्त नहीं किया जा सकेगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो और ३५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। वह 'राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त' अर्थात् जब तक राष्ट्रपति चाहे तब तक पद धारण कर सकेगा यदि इस बीच में वह स्वयं पद-त्याग करना चाहे तो वह अपने हस्ताक्षर से राष्ट्रपति को सम्बोधित करके अपना त्याग-पत्र दे सकेगा।

अनन्य पद—राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने के पश्चात् कोई व्यक्ति अन्य कोई लाभ-का पद (Office of Profit) ग्रहण नहीं कर सकेगा। वह संसद या किसी राज्य के विधान मण्डल का सदस्य भी नहीं बन सकेगा। यदि नियुक्ति के पूर्व वह ऐसे किसी सदन का सदस्य था तो नियुक्ति के पश्चात् उस सदन में उसका पद रिक्त मान लिया जायगा।

कार्य-काल—राज्यपाल की कार्य अवधि पांच वर्ष मानी गई है। परन्तु वह तब तक अपने पद पर बना रहेगा जब तक कि उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति नहीं हो जाती।

वेतन आदि—प्रत्येक राज्यपाल को मुफ्त निवास-स्थान मिलता है तथा उसे उसकी पदावधि में संसद द्वारा निश्चित वेतन, भत्ते और विशेषाधिकार मिलते है । उसके वेतन आदि उसके कार्यकाल में घटाये नहीं जा सकते ।

शपथ—अपना पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल उस राज्य के मुख्य-न्यायाधिपति या उसकी अनुपस्थिति में अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष अपने पद के कृत्यों के श्रद्धापूर्वक निर्वहन, अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि के परि-रक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण तथा जनता की सेवा और कल्याण मे निरत रहने की शपथ या प्रतिज्ञा लेता है ।

शक्तियाँ—राज्यपाल की शक्तियों के बारे में भी हमारा वही मत है जो हम पीछे राष्ट्रपति की शक्तियों के बारे में प्रकट कर चुके है । राज्यपाल की शक्तियां मूलत: कार्यपालिका प्रकृति की हैं, भले ही उनका सम्बन्ध विधि-निर्माण से हो या न्यायालयों के निर्णयों से ।

नियुक्ति की शक्ति—राज्यपाल की शक्तियां राज्यसूची के विषयों तक ही सीमित हैं । समवर्ती सूची के विषयों पर उसकी शक्ति संघ के अधीन हैं । उसका एक प्रमुख कार्य राज्य के मुख्य मन्त्री और उसकी सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करना है । उनके अतिरिक्त वह राज्य के अन्य बड़े-पदाधिकारियों की नियुक्ति भी करता है, जैसे—राज्य लोकसेवा आयोग के सदस्य, महाधिवक्ता (Advocate General), जिला न्यायाधीश इत्यादि ।

राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह अपनी सरकार से राज्य के प्रत्येक विषय पर आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सके ।

क्षमा की शक्ति—संविधान ने राज्यपाल को यह अधिकार दिया है कि वह अपने राज्य के दण्ड प्राप्त अपराधियों के दण्ड को कम या क्षमा कर सकता है । परन्तु यदि उस अपराधी ने उसी के विधान मण्डल द्वारा बनाई हुई या बनाई जा सकने वाली विधि का उल्लंघन किया है तभी राज्यपाल अपनी क्षमा-शक्ति का प्रयोग कर सकेगा ।

वह केवल उन्हीं अपराधियों को क्षमा कर सकता है जिन्होंने उसके राज्य की विधि तोड़ी हो न कि सघ की । वह राज्य के अध्यक्ष की हैसियत से वैसा करता है । जिन मामलों में राज्य एक पक्ष है उनमें यदि राज्य विजयी होता है अर्थात् न्यायालय अभियुक्त को दण्डित करता है तो सहज ही राज्य को क्षमा करने का अधिकार होता है क्योंकि अपराधी ने उसी के विरुद्ध अपराध किया है । राज्य की इस शक्ति का प्रयोग राज्यपाल कार्यपालिका-अध्यक्ष के नाते करता है ।

सामान्य शक्ति—नियुक्ति और क्षमा की शक्तियों के प्रयोग के अतिरिक्त उसके कुछ सामान्य कृत्य (General Functions) भी है, जिनका वर्णन हम

क्रमशः इस प्रकार कर सकते हैं—

१. मन्त्रि-परिषद् की सिफारिश पर धन-विधेयकों को विधान मण्डल में पेश करने की अनुमति देना।

२. जिन राज्यों में दो सदन हों उनकी विधान परिषद् (Legislative Council) में विज्ञान, कला तथा साहित्य व समाज की सेवा के क्षेत्र में प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से कुछ को सदस्य मनोनीत (Nominate) करना।

३. यदि विधान सभा (Legislative Assembly) के भीतर आंग्ल-भारतीय जाति (Anglo-Indian Community) का पर्याप्त प्रतिनिधित्व न हुआ हो तो उसके प्रतिनिधियों को विधान सभा का सदस्य मनोनीत करना।

४. विधान-मण्डल (Legislature) को आहूत (Summon) सत्रावसान (Prorogue), स्थगित (Adjourn) और विघटित (Dissolve) करना।

५. द्वि-सदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्यों में दोनों सदनों का संयुक्त-सत्र (Joint Session) आहूत करना (बुलाना) तथा उसमें भाषण करना।

६. विधान-मण्डल का नया सत्र (Session) आरम्भ होने पर विधान-मण्डल को सम्बोधित करके राज्य की नीति पर भाषण देना।

७. आवश्यक जान कर किसी विषय पर विधान मन्डल के विचारार्थ लिखित-सन्देश भेजना।

८. विधान मण्डल द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक पर हस्ताक्षर करके उसे अधि-नियमित (Enact) और प्रवर्तित (Enforce) करना। यदि ठीक समझे तो राज्यपाल ऐसे किसी विधेयक को अपने संदेश (Message) सहित विधान मण्डल के पुनर्विचार के लिये उसके पास भेज सकता है। परन्तु दोबारा वह विधेयक चाहे विधान मण्डल से संशोधित रूप में आवे या चाहे पहले जैसा ही आवे, राज्यपाल को इस बार उस पर हस्ताक्षर करके उसे अधिनियमित या प्रवर्तित करना ही होगा। वित्तीय विधेयकों (Financial Bills) को वह वापिस नहीं भेज सकेगा उन पर उसे प्रथम बार में ही स्वीकृति प्रदान करनी होगी।

९. विधान मंडल द्वारा पारित कुछ विशेष विधेयकों को (जिनका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा) राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये रोकना तथा उन्हें राष्ट्रपति के सन्मुख रखना।

१०. राज्य के विधान मण्डल की बैठक न होने की स्थिति में राज्य-सूची के किसी आवश्यक विषय पर अध्यादेश (Ordinance) जारी करना तथा विधान-मण्डल का सत्रारम्भ होने पर तुरन्त उन्हें उसके सामने रखना।

११. राष्ट्रपति को राज्य की स्थिति से अवगत (Inform) कराना व राज्य में सांविधानिक-तन्त्र (Constitutional machinery) असफल हो जाने पर

उसको परामर्श देना कि वह आपात् घोषणा करके उस राज्य के शासन भार को संभाल ले।

१२. राष्ट्रपति द्वारा आपात्काल की घोषणा किये जाने पर उसकी ओर से राज्य शासन का संचालन करना।

१३. औपचारिक अवसरों तथा राष्ट्रीय उत्सवों व राज्य-अतिथियों के सम्मान आदि के अवसरों पर राज्य का प्रतिनिधित्व करना।

शक्तियों की प्रकृति—राज्यपाल राष्ट्रपति की अपेक्षा कही अधिक शक्ति-हीन राज्य प्रधान है। एक ओर उसकी मन्त्रि-परिषद् है और दूसरी ओर राष्ट्रपति। शक्तियों के प्रयोग में राष्ट्रपति की इच्छा का ध्यान उसे बहुत सीमा तक रखना पड़ता है, साथ ही राज्यों में उत्तरदायी शासन होने के कारण शक्तियों का वास्तविक प्रयोग मन्त्रि-परिषद् के हाथों में चला गया है। अपनी शक्तियों के प्रयोग मे राज्य-पाल उसी प्रकार अपनी मन्त्रि-परिषद् पर निर्भर रहता है जैसे कि राष्ट्रपति संघ-शासन में। समूचे निर्णय मंत्रि-परिषद् करती हैं राज्यपाल तो अनिवार्य रूप से उन पर केवल हस्ताक्षर करता है।

मन्त्रि-परिषद्

(Council of Ministers)

रचना—राज्यों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई है अतः उनमे कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति मन्त्रि-परिषद के हाथों मे सौंपी गई है। संघ की भांति राज्यों में भी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण विधानमण्डल की दलीय स्थिति (Party Position) के आधार पर होता है। विधानमण्डल के निर्वाचन होने अथवा एक मन्त्रिपरिषद् के पद त्याग के पश्चात् राज्यपाल या राजप्रमुख विधान सभा में बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री पद के लिये आमन्त्रित व नियुक्त करता है। मन्त्री अपनी दलीय स्थिति के अनुसार अन्य मंत्रियों के नाम छांट लेता है तथा उनकी सूची राज्यपाल या राजप्रमुख के सामने रखता है। मुख्यतः वह उस पर अपनी स्वीकृति देकर उन्हें नियुक्त करता है। राज्यपाल या राजप्रमुख किसी नाम पर आपत्ति कर सकता है परन्तु यदि मुख्यमन्त्री उस व्यक्ति को मन्त्रि-परिषद् में रखने का आग्रह करे तो राज्यपाल को उसे मंत्री नियुक्त करना ही पड़ेगा। प्रत्येक मन्त्रि-को राज्य-विधान मडल का सदस्य होना चाहिए। यदि वह नियुक्ति के समय विधान मण्डल का सदस्य नहीं है तो छः मास के भीतर उसे उसकी सदस्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए अन्यथा वह मंत्रि-परिषद् में मंत्री नहीं रह सकेगा।

मुख्यमंत्री के लिए मंत्रियों का चुनाव करना बहुत कठिन पड़ता है। वह प्रायः निम्न आधारों पर उन्हें चुनता है—

१. उसके विश्वासपात्र हों;

२. उसके दल के सदस्य हों;

३. दल में उन्हें समर्थन प्राप्त हो;
४. राज्य के प्रत्येक भाग का प्रतिनिधित्व हो जाए;
५. अपने उत्तरदायित्वों को निबाहने के योग्य हों;
६. मुख्य-मन्त्री के नेतृत्व को स्वीकार करे।

मन्त्रिपरिषद् की रचना में मुख्य-मंत्री आधारशिला का काम करता है। उसी के आधार पर समूचे मन्त्रि-परिषद् का निर्माण होता है। मन्त्रियों के वेतन और भत्ते राज्य का विधान मण्डल तय करता है।

कार्यकाल और उत्तरदायित्व—मंत्रिपरिषद् का कार्यकाल अनिश्चित होता है। वह तब तक अपने पद पर रहती है जब तक कि उसे लोकसभा के भीतर बहुमत दल का विश्वास प्राप्त रहता है। वैसे संविधान में यह कहा गया है कि मन्त्री लोग 'राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त' अपना पद ग्रहण करेंगे। अर्थात् राज्यपाल उन्हें पदच्युत नहीं कर सकेगा। परन्तु यह सही नहीं है। वह कभी भी मन्त्रियों को पदच्युत नहीं कर सकता। राज्यपाल तभी उनसे त्यागपत्र मांग सकता है जबकि उस राज्य की विधान-सभा का बहुमत उनके विरुद्ध हो जाये।

मंत्रिपरिषद् का कार्यकाल उसके उत्तरदायित्व पर आधारित है। जब वह विधान सभा की दृष्टि में अपने उत्तरदायित्व को ठीक ढंग से पूरा नही कर पाती तभी उसका कार्यकाल समाप्त हो जाता है। विधान-सभा मंत्रिपरिषद् के प्रति अपने अविश्वास को निम्न रीतियों से प्रकट कर सकती है—

१. अविश्वास का प्रस्ताव;
२. बजट की अस्वीकृति अथवा उसकी कटौती;
३. मन्त्रियों के वेतन में कटौती या अस्वीकृति;
४. मंत्रिपरिषद् द्वारा समर्थित विधेयक की अस्वीकृति;
५. मंत्रिपरिषद् द्वारा असमर्थित विधेयक की स्वीकृति;
६. मंत्रिपरिषद की इच्छा के विरुद्ध स्थगन-प्रस्ताव स्वीकार करके मंत्रिपरिषद के विरुद्ध मत प्रदर्शन।

मंत्रिपरिषद विधान सभा के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी होती है अर्थात वह विधान सभा के सामने एक निकाय (Body) के रूप में सरकार के कामों के लिए जवाबदेह होती है। मंत्रिपरिषद् के सदस्य एक साथ डूबते और एक साथ तैरते हैं। वे उसी नीति का अनुसरण करते है जो मंत्रि-परिषद् निर्धारित करती है। यदि कोई मंत्री उस नीति के विरुद्ध चलता है तो मुख्य-मंत्री उसे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है। उसका सबसे सरल ढग यह है कि वह एक बार त्यागपत्र देकर मंत्रिपरिषद् को भग कर दे। मुख्यमंत्री विधान सभा में बहुमत दल का नेता होता है अतः राज्यपाल उसे सरकार बनाने के लिये फिर से आमंत्रित करेगा। इस बार वह अपनी मंत्रिपरिषद् में उस मंत्री को नहीं रक्खेगा जो उसकी इच्छा के विपरीत नीतियों पर चलता है।

किसी मंत्री की ऐसी निर्णय-सम्बन्धी भूलों के लिए जो उसके विभाग से सम्बन्धित हैं तथा उसकी बेईमानी के लिए समूची मंत्रिपरिषद् उत्तरदायी नही होगी। यदि विधान सभा किसी मंत्री पर बेईमानी के आरोप में अविश्वास का प्रस्ताव पास करती है तो केवल वही मंत्री पदच्युत होगा, शेष मंत्री अपने पदों पर बने रहेंगे। परन्तु यदि विधान सभा किसी मंत्री के ऊपर ऐसी नीतियों के कारण अविश्वास प्रगट करती है जो मन्त्रिपरिषद् द्वारा बनाई गई है तो समूची मंत्रिपरिषद् अपने पद का त्याग कर देगी।

सामूहिक उत्तरदायित्व (Joint Responsibility) का यह अर्थ भी है कि मन्त्रिपरिषद् की बैठकों की कार्यवाही गुप्त होती है। प्रत्येक मन्त्री को गोपनीयता की शपथ (Oath of Secrecy) लेनी पड़ती है, तथा यदि वह मंत्रिपरिषद् की बैठकों में हुई चर्चाओं को किसी पर भी प्रगट करता है तो उसे अलग किया जा सकता है।

शक्तियां और कृत्य—मंत्रिपरिषद् की शक्तियों और उसके कार्यों का विस्तार दोहरा होता है। राज्य शासन में उसकी राज्यपाल या राजप्रमुख और विधान-मण्डल के मध्य केन्द्रीय स्थिति है। राज्यपाल या राजप्रमुख की ऐसी शक्तियों को छोड़कर जिनके अन्तर्गत उसे स्वविवेक (Discretion) से काम करने की छूट दी गई है अन्य सभी कार्य-पालिका कामों के करने का उत्तरदायित्व मंत्रिपरिषद् पर होता है। दूसरी ओर वह विधान मण्डल की नेता होने के नाते उसका भी समस्त कार्य करती है। इस प्रकार यह शासन की दोहरी शक्ति का प्रयोग करती है—कार्यपालिका शक्ति एवं विधायी शक्ति। उसके कार्य भी दो प्रकार के हैं (१) कार्यपालिका कृत्य और (२) विधायी कृत्य।

(१) **कार्यपालिका कृत्य**—राज्यपाल या राजप्रमुख की समस्त कार्य-पालिका सत्ता का प्रयोग मंत्रिपरिषद करती है। समस्त कार्यपालिका आदेश उसके निर्णय पर ही राज्यपाल या राजप्रमुख के नाम से प्रवर्तित (Enforce) किये जाते हैं। निर्णय मंत्रिपरिषद् करती है परन्तु वह उन्हें अपने नाम से घोषित नहीं कर सकती। उन निर्णयों की घोषणा राज्यपाल या राजप्रमुख करता है तथा उन निर्णयों का पालन मंत्री लोग अपने अपने विभाग के कर्मचारियों द्वारा कराते हैं।

(२) **विधायी कृत्य**—मंत्रिपरिषद् के विधायी कृत्य बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। विधानसभा का बहुमत उसके पक्ष में होता अतः वह बहुमत की ओर से विधानसभा की समस्त विधायी-सत्ता का प्रयोग करती है। मंत्रिपरिषद विधानसभा की ओर से निम्न कार्य करती है—

१. विधेयकों की रचना और उन्हें विधान सभा में रखना;

२. वित्तीय प्रस्तावों का निर्माण एवं अन्य वित्तीय व्यवस्था;

३. प्रशासन;

४. नीति निर्माण;

मंत्रिपरिषद् का अधिनायकत्व—कुछ आलोचकों का मत है कि राज्यों में मंत्रिपरिषद् डिक्टेटर बनती जा रही है। यह एक सत्य है। हमारे राज्यों में संसदात्मक प्रणाली का शासन है। राज्यो के शासन की सत्ता विधान-सभा के हाथों में है। जब तक विधान सभा के भीतर किसी एक राजनीतिक दल का स्पष्ट बहुमत (Clear majority) अर्थात् आधे से अधिक सदस्य है तब तक मंत्रिपरिषद् उसकी समूची शक्ति का प्रयोग करती है क्योंकि उसे यह भय नहीं है कि कोई उसे पदच्युत कर सकता है। परन्तु यदि राज्यों में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि बहुदलीय व्यवस्था (Bi-Party System) के कारण किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले और संयुक्त-मंत्रिपरिषद् (Coalition ministry) बनानी पड़े तो उसकी स्थिति इतनी मजबूत नही होगी।

कार्य पद्धति—मन्त्रिपरिषद् एक संयुक्त निकाय (Joint Body) के रूप में कार्य करती है, परंतु उसके सदस्यों की संख्या बढ़ जाने के कारण यह सम्भव नहीं रह गया है कि सभी उसकी नीतियों के निर्माण मे भाग ले सकें। अतः मंत्रियो को तीन वर्गों में बाँट लिया गया है—

१. मत्री (Cabinet Ministers)

२. उप-मंत्री (Deputy Ministers)

३. संसदीय-सचिव (Parliamentary Secretaries)

मंत्रिपरिषद् के भीतर एक अंतरंग-मण्डल (Cabinet) का निर्माण होता है। मत्री लोग इसके सदस्य होते है तथा इसकी चर्चाओं में भाग लेते है। अंतरंग-मण्डल (Cabinet) की बैठक में उप-मन्त्री और संसदीय सचिव प्रायः भाग नही लेते। आवश्यकता पड़ने पर मुख्य-मन्त्री उनमे से किसी को, कुछ को अथवा सब को आमन्त्रित कर सकता है। अन्तरंग-मण्डल के निर्णय मन्त्रिपरिषद् के निर्णय माने जाते हैं।

मन्त्रि-परिषद् की बैठकों की अध्यक्षता मुख्य-मन्त्री करता है। बैठकों की कार्यवाही गुप्त होती है। कोई भी मन्त्री उसकी चर्चा किसी से नहीं करता। मन्त्रि-परिषद् का एक पृथक सचिवालय (Secretariat) होता है जिसमें स्थायी सचिव (Permanent Secretaries) होते है जो बैठकों की कार्यवाही का अभिलेख (Record) रखते है। ये मुख्यमन्त्री के आदेशानुसार कार्यवाही करते हैं।

मुख्यमन्त्री—राज्य-शासन मे मुख्यमन्त्री केन्द्रीय-व्यक्ति है। मन्त्रिपरिषद् उसी के सहारे बनता है तथा उसके हटते ही टूट जाता है। संघ में जो स्थिति प्रधान मन्त्री की है वही राज्य मे मुख्यमन्त्री की है।

वह मंत्रियों में प्रमुख अथवा मुख्य होता है। अन्य मन्त्रीयों पद में उसके समान ही है परन्तु उसकी शक्ति सबसे अधिक होती है। उसकी शक्ति का मूल-आधार यह है कि वह विधान सभा में बहुमत दल का नेता और राज्य का एक प्रतिष्ठित नेता होता है। उसके कार्यों का वर्णन हम निम्न रूप में कर सकते हैं—

(१) मन्त्रिपरिषद की बैठकों की अध्यक्षता करना,

(२) मन्त्रियों के नाम छांटकर राज्यपाल के सामने रखना।

(३) मन्त्रियों में प्रशासकीय-विभागों (Administrative Departments) का वितरण करना,

(४) विभिन्न मन्त्रियों और विभागों के बीच सामञ्जस्य (Co-ordination) स्थापित करना,

(५) शासन के बारे में समस्त जानकारी राज्यपाल के समक्ष रखना,

(६) राज्य-सूची के विषयों पर नीतियों के निर्माण में मन्त्रि-परिषद् का नेतृत्व करना,

(७) विधान सभा के भीतर विधि निर्माण आदि कामों में उसका नेतृत्व करना,

(८) राज्यपाल को शक्तियों के प्रयोग में मन्त्रिपरिषद् की राय जानकर उसके सामने रखना,

(९) विधान सभा में राज्य की नीतियों के लिए उत्तरदायित्व को स्वीकार करना और उसका विश्वास प्राप्त किये रखना,

(१०) संघ से प्राप्त आदेशों का पालन करना,

विशेष उपबन्ध—संविधान के अनुच्छेद १६४ में कहा गया है कि उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों में आदिम जातियों के कल्याण के लिए एक मन्त्री होगा जो साथ साथ अनुसूचित जातियों और पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण का अथवा अन्य किसी कार्य का उत्तरदायित्व भी सम्हालेगा।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्यपाल की शक्तियों का वर्णन कीजिए।
Describe the Powers of Governor.

२. राज्यपाल की नियुक्ति किस प्रकार होती है ? उसमें क्या योग्यतायें होनी चाहियें ? उसके क्या अधिकार हैं ?
Give an account of the method of appointment, qualifications and powers of Governor.

३. भारतीय राज्यों में राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल में क्या सम्बन्ध है ?
What is the relationship between the Governors and the Council of Ministers in the States of India ?

—: ० :—

अध्याय ३०

राज्यों के विधान मण्डल

"द्वितीय सदन शीघ्रता में बनाने वाले और अविचारपूर्ण विधि निर्माण पर एक प्रतिबन्ध का काम करता है। इसके द्वारा विविध हितों का प्रतिनिधित्व भी सम्भव हो जाता है। परन्तु राज्यों में इसकी आवश्यकता और उपयोगिता में विविध आधारों पर शंका की जा सकती है—(अ) यह प्रतिक्रिया और रूढ़िवादिता की दिशा में प्रवृत्त होता है, (ब) यह अ-लोकतांत्रिक हो जाता है, (स) यह व्ययशील है।"

—जी० एन० जोशी

संविधान में कहा है कि प्रत्येक राज्य के लिए एक विधान मण्डल होगा।

(१) आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, मद्रास, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, बम्बई, उत्तर प्रदेश और मैसूर राज्यों में दो सदन तथा राज्यपाल मिलकर विधान मण्डल बनेगा; तथा

(२) अन्य राज्यों में एक सदन और उनका राज्यपाल मिलकर विधान मण्डल का निर्माण होगा।

द्वि-सदनात्मक विधान मंडलों में एक सदन का नाम विधान सभा और दूसरे का नाम विधान परिषद् होगा।

एक-सदनात्मक विधान मण्डलों में सदन का नाम विधानसभा होगा।

इसके अतिरिक्त संसद को यह अधिकार दिया गया है कि यदि किसी राज्य की विधान सभा अपनी कुल सदस्य संख्या के बहुमत और उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पारित करदे कि उस राज्य में विधान परिषद् को भंग कर दिया जाय अथवा वहाँ विधान परिषद् की स्थापना करदी जाय तो संसद् विधान परिषद वाले राज्य में उसको समाप्त कर सकती है—अथवा विधान परिषद् से रहित राज्य में विधान परिषद् के निर्माण की व्यवस्था कर सकती है।

विधान सभा

(Legislative Assembly)

सदस्य संख्या—विधान सभा राज्य का लोकप्रिय एवं लोक-प्रतिनिधि सदन होगा। उसके सदस्यों की संख्या पाँच सौ से अधिक व साठ से कम नहीं होगी।

सदस्य योग्यता—विधान सभा का सदस्य होने के लिए यह आवश्यक है कि

कोई व्यक्ति—

१. भारत का नागरिक हो।

२. उसकी आयु पच्चीस वर्ष से कम न हो।

३. विधि द्वारा निर्धारित अन्य योग्यता रखता हो।

निर्वाचन प्रणाली—प्रत्येक राज्य की विधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन व्यापक-वयस्क मताधिकार (Universal Adult Franchise) के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct-Election) की पद्धति द्वारा गुप्त मतदान प्रणाली (Secret Ballot-System) से होगा। परन्तु यदि किसी राज्य के राजपाल को विश्वास हो जाये कि उस राज्य की विधान सभा में आंग्ल भारतीय जाति का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हुआ है तो वह जितने सदस्य आवश्यक समझे विधान सभा में मनोनीत कर सकता है।

निर्वाचन क्षेत्र—विधान सभा का निर्वाचन एक सदस्यीय-निर्वाचन क्षेत्र (Single Member Constituency) के आधार पर होता है। प्रत्येक जन-गणना (Census) की समाप्ति पर निर्वाचन क्षेत्रों का नये सिरे से बंटवारा होगा। ये निर्वाचन क्षेत्र अगले निर्वाचनों के समय प्रयोग में आयेंगे तथा इनकी जनसंख्या प्रायः बराबर होगी।

कार्य-काल—राज्यपाल को अधिकार है कि वह अपने राज्य में विधान सभा को जब चाहे विघटित (Dissolve) कर सकता है। परन्तु साधारण परिस्थिति में विधान सभा का कार्य-काल उसके प्रथम सत्र (First Session) के आरम्भ होने की तिथि से पांच वर्ष माना गया है।

संसद को अधिकार दिया गया है कि आपातकाल की स्थिति में विधान सभा के कार्य-काल को एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। संसद इस प्रकार उसकी अवधि कई बार बढ़ा सकती है। जिस विधान सभा का कार्यकाल इस प्रकार बढ़ाया गया है वह आपातकाल की समाप्ति के ६ मास के पश्चात् अवश्य ही भंग हो जायेगी।

पदाधिकारी—राज्य की प्रत्येक विधान-सभा नये चुनाव होने के पश्चात् यथासंभव शीघ्र अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष (Speaker and Deputy-Speaker) चुनेगी तथा उनके पद रिक्त होने पर अपने सदस्यों में से किसी को उन पदों पर यथासम्भव शीघ्र चुनने का काम विधान सभा करेगी।

अध्यक्ष या उपाध्यक्ष यदि सदन के सदस्य नहीं रहते तो वह अपना पद छोड़ देंगे, अथवा जब चाहें तब अध्यक्ष उपाध्यक्ष को और उपाध्यक्ष अध्यक्ष को सम्बोधित (Address) करके अपने पद से त्यागपत्र दे सकेगा। इसके अतिरिक्त यदि विधान सभा अपने समस्त सदस्यों के बहुमत से अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष को पदच्युत करने का प्रस्ताव पारित कर दे तो भी वे अपना पद छोड़ देंगे। इस प्रकार का प्रस्ताव पारित करने से पहले चौदह दिन की सूचना देना आवश्यक है।

अध्यक्ष विधान सभा के विघटन के पश्चात् नयी विधान सभा के प्रथम सत्र के ठीक पहले तक अपने पद पर बना रहेगा। अध्यक्ष का पद रिक्त होने पर उपाध्यक्ष उसकी जगह काम करेगा। यदि वह पद भी रिक्त हो तो विधान सभा का कोई सदस्य जिसे राज्यपाल नियुक्त करे अध्यक्ष पद के कर्त्तव्यों का पालन करेगा।

अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष और दोनों की अनुपस्थिति में नियम के अनुसार कोई सदस्य सभा की बैठकों की अध्यक्षता करेगा। यदि इनमें से कोई भी उपस्थित न हो तो अन्य व्यक्ति जिसे सभा निर्धारित करे अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा।

अध्यक्ष या उपाध्यक्ष ऐसी बैठकों में पीठासीन नहीं होगा (अध्यक्षता नहीं करेगा) जिसमें उसके हटाने का प्रस्ताव विचाराधीन हो। ऐसी बैठक में अध्यक्ष को सभा में बोलने उसकी कार्यवाही में भाग लेने तथा शुरू में ही मत देने का अधिकार होगा। मत-साम्य (Equal Votes) की स्थिति में उसे मत देने का हक नहीं होगा।

अध्यक्ष का स्थायित्व—ब्रिटिश संसदीय परम्परा के अनुसार संघ की भाँति राज्य भी अध्यक्ष को स्थायित्व देने के अभिसमय अथवा परिपाटी (Convention) का विकास कर रहे हैं। एक बार अध्यक्ष बन जाने पर वह व्यक्ति आजीवन अध्यक्ष बना रह सकेगा यदि वह चाहे उसको उसके निर्वाचन क्षेत्र से निर्विरोध निर्वाचित कर लिया जाता है।

अध्यक्ष का दलातीत चरित्र—विधान सभा के निष्पक्ष कार्य संचालन के लिये यह आवश्यक है कि सभी दलों के प्रतिनिधियों को सभा की कार्यवाही में भाग लेने का समान अवसर मिले। अतः अध्यक्ष को किसी दल का सदस्य नही होना चाहिए। यदि वह अपने पद पर बने रहने के लिए सदा बहुमत दल पर आश्रित रहेगा तो निश्चय ही वह उसके साथ पक्षपात करेगा तथा अन्य दलों के सदस्यों को वाद-विवाद में उतनी स्वतन्त्रता नहीं देगा। यह आवश्यक है कि अध्यक्ष एक निष्पक्ष सभापति की भाँति कार्य करे और सभा में शांति, व्यवस्था और सद्भावना बनाये रखे।

अध्यक्ष के कार्य—अध्यक्ष को विधान सभा के भीतर निम्न कार्य करने पड़ते हैं:—

१. सभा की बैठकों का सभापतित्व करना।
२. सभा में शांति, व्यवस्था और सुरक्षा बनाये रखना।
३. सदस्यों को बोलने का अवसर देना।
४. बैठकों का कार्यक्रम निर्धारित करना।
५. सदस्यों के प्रश्नों को इकट्ठा करके, उन्हें छाँटना और उत्तर के लिए मन्त्रियों को देना।
६. यह निर्णय करना कि कोई विधेयक वित्तीय अथवा धन-विधेयक हैं या नहीं।

७. परिषद् से आने वाले विधेयकों को लेकर सभा के सामने रखना और सभा में पारित विधेयकों को परिषद में भेजना।

विधान परिषद् (Legislative Council)

द्वि-सदनात्मक विधान मण्डलों में द्वितीय सदन को विधान-परिषद् कहा गया है।

सदस्य संख्या—किसी राज्य में विधान-परिषद् के भीतर अधिक से अधिक उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की संख्या के एक तिहाई तथा कम से कम चालीस सदस्य होते हैं।

सदस्य योग्यता—परिषद् का सदस्य भारत का नागरिक और कम से कम तीस वर्ष आयु वाला हो तथा उसके भीतर वह सब योग्यता हों जो विधि द्वारा निर्धारित की जायें।

निर्वाचन प्रणाली परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा।

निर्वाचन क्षेत्र—(१) परिषद् के एक तिहाई सदस्य उस राज्य की नगर-पालिकाओं, जिला-मण्डलों तथा अन्य स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के सदस्यों के एक सम्मिलत निर्वाचन मण्डल द्वारा निर्वाचित किये जायेंगे।

(२) परिषद् के सदस्यों का बारहवाँ भाग उस राज्य के भीतर रहने वाले उन व्यक्तियों द्वारा निर्वाचित किया जाएगा जो कम से कम तीन वर्ष से किसी भारतीय विश्वविद्यालय के स्नातक (Graduate) हों अथवा संसद द्वारा स्नातक के तुल्य मान लिये गये हों।

(३) परिषद् के सदस्यों के बारहवें अंश का निर्वाचन एक ऐसा निर्वाचक मण्डल करेगा जिसमें माध्यमिक-विद्यालयों (उससे नीचे के नहीं) के भीतर कम से कम तीन वर्ष से पढ़ाने का काम करने वाले निर्वाचक (Electors) होंगे।

(४) परिषद् के अन्य एक-तिहाई के सदस्यों का निर्वाचन विधान-सभा के सदस्य बाहर से (अपने सदस्यों में से नहीं) करेंगे।

(५) परिषद् के शेष सदस्यों को राज्यपाल साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में ज्ञान और व्यावहारिक-अनुभव प्राप्त लोगों में से मनोनीत करेगा।

कार्यकाल—विधान-परिषद् एक स्थायी-निकाय (Permanent Body) है। वह कभी विघटित न होगी। उसके सदस्यों में से एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर निवृत हो जायेंगे एवं उनके स्थान पर नये सदस्य निर्वाचित कर लिये जाएँगे।

पदाधिकारी—विधान-परिषद् अपने दो सदस्यों को क्रमशः सभापति और उपसभापति चुनेगी तथा उनमें से किसी का या दोनों का पद रिक्त होने पर किसी अन्य सदस्य को उस पद के लिए चुनेगी।

सभापति या उपसभापति के लिए आवश्यक है कि यदि वह सदन का सदस्य नहीं रहता है तो वह अपना पद रिक्त कर देगा। जब चाहे सभापति अपना त्यागपत्र उप-सभापति को एवम् उप-सभापति सभापति को देकर अपने पद से मुक्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त परिषद् अपने तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से एक प्रस्ताव पारित करके ऐसे किसी पदाधिकारी को पदच्युत कर सकती है। पदच्युत करने का प्रस्ताव सदन में रखने से चौदह दिन पूर्व इस अभिप्राय की सूचना देना आवश्यक है।

परिषद् के सभापति को सभा के अध्यक्ष की ही भांति कार्य करना होता है, केवल वह धन विधेयकों पर अपना निर्णय नहीं देता। उन्हें राज्य के विधान-मण्डल द्वारा निर्दिष्ट वेतन मिलता है।

विधान-मण्डल के अन्य नियम

पद-रिक्तता—(१) कोई व्यक्ति मण्डल के दोनों सदनों का सदस्य नहीं हो सकता। ऐसा होने पर एक सदन में उसका स्थान रिक्त माना जायेगा।

(२) यदि कोई व्यक्ति दो या अधिक राज्यों के विधान मन्डलों का सदस्य निर्वाचित हो जाता है तो उसे एक राज्य के एक सदन की सदस्यता बनाये रखकर अन्य राज्यों की सदस्यता का त्याग करना होगा। परन्तु यदि वह निश्चित समय के भीतर ऐसा नहीं करता तो सभी राज्यों के विधान मन्डलों में उसका स्थान रिक्त माना जायेगा।

(३) यदि कोई सदस्य अपना त्यागपत्र अध्यक्ष या सभापति को दे देता है तो उसका स्थान उस सदन मे रिक्त हो जाता है।

(४) यदि किसी सदस्य में निम्न-दोष मिलते है तो उसका स्थान रिक्त माना जायेगा—

(क) वह कोई लाभ का पद धारण किये हो,

(ख) पागल हो,

(ग) दीवालिया हो,

(घ) राज्य का नागरिक न रहे या किसी विदेशी नागरिकता को स्वीकार कर ले, अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा प्रगट करे।

(च) संसद ने उसे अयोग्य ठहरा दिया हो।

(५) यदि कोई सदस्य अपने सदन की अनुमति के बिना लगातार साठ दिन, तक सदन से अनुपस्थित रहे तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगा।

यदि यह प्रश्न उठे कि किसी सदस्य को किसी सदन की सदस्यता के अयोग्य ठहराया जाए या नहीं तो वह प्रश्न उस राज्य के राज्यपाल के पास भेजा जाएगा, जो उस पर निर्वाचन आयोग से परामर्श करके निर्णय देगा।

दण्ड—यदि कोई सदस्य शपथ लेने के पूर्व या यह जानकर भी कि वह सदन

की सदस्यता के अयोग्य है अथवा अयोग्य घोषित कर दिया गया है सदन की बैठक में सम्मिलित होता और मतदान करता है तो वह प्रत्येक दिन के लिए पांच सौ रुपये के दण्ड का भागी होगा। यह रुपया संघ को देय-ऋण के रूप में वसूल होगा।

शपथ—प्रत्येक सदस्य को सदन में बैठने से पूर्व अपने पद की शपथ या प्रतिज्ञा लेनी पड़ती है कि वह निष्ठापूर्वक कार्य करेगा।

विमुक्तियाँ—(Privileges)—विधान मण्डल के प्रत्येक सदन में वाक् स्वातंत्र्य (Freedom of Speech) होगा। कोई सदस्य मण्डल के किसी सदन में जो कुछ कहता है वह उसके लिए किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं होगा उसे सदन के भीतर अध्यक्ष या सभापति की अनुमति के बिना बन्दी नहीं बनाया जा सकेगा।

वेतन भत्ते—मण्डल के सदस्यों को ऐसे वेतन और भत्ते मिलेंगे को राज्य का विधान मण्डल समय-समय पर निर्धारित करे।

गणपूर्ति—विधान मण्डल के किसी भी सदन की बैठकों में कम से कम दस सदस्यों का उपस्थित होना आवश्यक होगा परन्तु यदि यह संख्या सदन की संख्या के दशमांश से कम है तो दशमांश की संख्या ही कोरम अथवा गणपूर्ति की संख्या मानी जायेगी।

अध्यक्ष या सभापति आरम्भ में मतदान नहीं करेगा तथा सदन के उपस्थित सदस्यों के बहुमत से सदन का कार्य तथा विधि-निर्माण होगा। परन्तु यदि सदन में दोनों पक्षों को समान मत प्राप्त हों तो अध्यक्ष या सभापति निर्णायक-मत (Casting Vote) दे सकता है। वह जिस पक्ष में मत देगा वही विजयी समझा जाएगा।

गणपूर्ति न होने पर अध्यक्ष वा सभापति का कर्त्तव्य है कि वह या तो सब को स्थगित कर दे या सदन के सत्र (Session) को तब तक के लिए निलम्बित (Suspend) करदे जब तक कि गणपूर्ति न हो जाए।

सत्र (Sessions)—मण्डल के सदन प्रतिवर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिए समवेत (Meet) होंगे तथा एक सत्रावसान की तिथि और दूसरे सत्रारम्भ की तिथि के बीच में छः महीने से अधिक समय नहीं बीत सकता।

विधान मण्डल और राज्यपाल

संविधान ने राज्यपाल को विधान मडल का एक अग माना है परन्तु वह उसका विधायी अंग (Legislative Organ) न होकर कार्यपालिका अंग (Executive Organ) है। उसके जिम्मे विधि-निर्माण का कोई काम नहीं है। वह इस सम्बन्ध में निम्न कार्यपालिका कृत्यों की पूर्ति करता है—

१. मंडल के किसी सदन को आहूत (Summon) और स्थगित (Adjourn) करना तथा उसका सत्रावसान (Prorogue) करना और विधान सभा को विघटित (Dissolve) करना,

२. एक या दोनों सदनो को एक साथ समवेत करके उन्हें सम्बोधित करना,

३ एक या दोनों सदनों की किसी विधि सम्बन्धी प्रश्न पर अपना सन्देश भेजना,

४. प्रत्येक सत्र के आरम्भ में सभा में अथवा दो सदन होने पर दोनों सदनों के संयुक्त-अधिवेशन में अभिभाषण देना और सदनों को आहूत करने के कारण बताना,

५. विधान मंडल द्वारा पारित विधेयकों पर—

(क) स्वीकृति देना,

(ख) सन्देश सहित उन्हें मंडल में लौटा देना, अथवा

(ग) राष्ट्रपति की अनुमति के लिए उसके पास भेजना।

राज्यपाल राष्ट्रपति की भाँति विधि-निर्माण को प्रभावित कर सकता है। उसे कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि वह स्वयं किसी विधि का निर्माण करा सके या उसे रोक सके। वास्तव में मंत्रिपरिषद् की इच्छा ही उसकी इच्छा होती है। वह केवल उस इच्छा को अभिव्यक्त मात्र करता है।

विधि-निर्माण

क्षेत्र—जिन राज्यों में केवल विधानसभा ही होती है। वहाँ वही समस्त विधि का निर्माण करती है, परन्तु जिन राज्यों में द्वि-सदनात्मक विधान मंडल हैं उनमें सभा और परिषद् दोनों ही विधि-निर्माण में भाग लेती हैं। राज्यों के विधान मंडलों को निम्न क्षेत्रों में विधि निर्माण की शक्ति प्राप्त है—

१. राज्य सूची के समस्त विषय तथा

२. समवर्ती सूची के वे विषय जिन पर संघ की कोई विधियाँ न हों अथवा वे स्पष्ट न हों,

३. अन्य विषय जो संघ संसद उन्हें सौपे।

वर्गीकरण—संघ की ही भाँति राज्य की विधियों को भी दो वर्गों में बाँटना ठीक होगा—

१. साधारण-विधि,

२. वित्तीय-विधि,

इन दोनों प्रकार की विधियों की विधायी प्रक्रिया (Legislative procedure) में अन्तर है। इसका वर्णन आगे करेंगे।

विधेयक और अधिनियम—जब विधि-सम्बन्धी कोई प्रस्ताव मंडल के सामने रखा जाता है तो उसे बिल या विधेयक कहते हैं। जब यह विधेयक अपने मूल स्वरूप में या आवश्यक संशोधनों के साथ मंडल द्वारा पारित कर दिया जाता है और उस पर राज्यपाल या राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल जाती है तो यह अधिनियम (Act) बन जाता है और विधि पुस्तक (Statute Book) में दर्ज होने के बाद विधि (Law) का रूप ले लेता है।

साधारण विधियों का निर्माण—सविधान के अनुच्छेद १६६ में कहा गया है कि वित्तीय व धन-विधेयक के अतिरिक्त अन्य समस्त साधारण विधेयकों (Ordinary Bills) का विधान मंडल के किसी भी सदन विधान सभा या विधान परिषद् में उपक्रमण (Initiation) किया जा सकता है।

कोई भी साधारण विधेयक तभी पारित समझा जावेगा जब कि दोनों सदन उसे मूल रूप में या ऐसे संशोधनो के साथ जिन पर दोनों सहमत हों, अपने बहुमत द्वारा स्वीकृत कर लें।

परन्तु यदि विधान सभा और विधान परिषद् में मत-भेद होता है तो विधान सभा का निर्णय ही अन्तिम माना जायगा। विधान परिषद् कोई विधेयक पारित करके यदि विधान सभा में भेजे और वहाँ वह विधेयक पारित न हो सके अथवा संशोधित कर दिया जाय तब उसे दोबारा विधान परिषद् में भेजा जायेगा। विधान परिषद् सभा के निर्णय को स्वीकार कर सकती है। उस स्थिति में विधेयक दोबारा सभा में जायगा और वहाँ जिस रूप में वह स्वीकृत, या संशोधित होता है वही उस पर विधान मंडल का अन्तिम निर्णय माना जायगा।

जब कोई विधेयक विधान सभा द्वारा पारित करके परिषद् मे भेजा जाय और परिषद्—

१. उस विधेयक को अस्वीकार कर दे अथवा

२. तीन महीने पूरे हो जाने पर भी विधेयक को सभा में न लौटायें, अथवा

३. ऐसे संशोधन करदे जो सभा को स्वीकार न हों, तो विधान सभा उस विधेयक को उसी या अगले सत्र में उसके मूल रूप में अथवा संशोधित रूप में पुन: पारित करके परिषद् में भेज देगी। यदि इस प्रकार दोबारा आये हुए विधेयक पर परिषद्—

१. अपनी अस्वीकृति दे दे, अथवा

२. एक मास पूरा हो जाने पर भी उसे सभा को न लौटाये, अथवा

३. ऐसे संशोधन करे जो सभा को स्वीकार न हों, तो वह विधेयक राज्य के विधान मंडल द्वारा उसी रूप में पारित समझा जावेगा जिसमे कि विधान सभा ने दूसरी बार में उसे पारित किया है।

राज्य की विधान सभा अथवा विधान मंडल द्वारा पारित किये जाने के पश्चात् प्रत्येक साधारण विधेयक राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिए भेजा जाता है। उसे अधिकार है कि वह—

(क) चाहे तो उस पर हस्ताक्षर करदे।

(ख) चाहे उसे रोककर उसे अपने संदेश के साथ मडल को लौटा दे। मंडल का कर्त्तव्य है कि उस सन्देश में दिए गए सुझावों पर विचार करे। अन्त में विधान-मंडल उन सुझावों को मानकर या न मानकर विधेयक को दोबारा पारित करके चाहे किसी भी रूप में राज्यपाल के पास भेजे उसे उस पर हस्ताक्षर करके अपनी अनुमति

देनी ही होगी।

(ग) यदि वह विधेयक उच्च न्यायालय की शक्तियों पर अकुश लगाता हो तो राज्यपाल उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है। राष्ट्रपति उसे सन्देश सहित राज्यपाल के द्वारा विधान मंडल में वापिस भेजेगा। मंडल छः मास के भीतर उस पर पुनः विचार करेगा तथा जिस किसी रूप में भी वह इस प्रकार दोबारा पारित होता है उसे पुनः राष्ट्रपति के समक्ष उसके विचार के लिए उपस्थित किया जायगा। संविधान के जिस अनुच्छेद २०१ मे यह कहा गया है वहाँ यह स्पष्ट नहीं किया गया कि मंडल द्वारा दोबारा पारित किए गये ऐसे विधेयक पर राष्ट्रपति को स्वीकृति देनी ही पड़ेगी। अतः ऐसा समझा जा सकता है कि राष्ट्रपति उस विधेयक को स्वीकार न करके समाप्त कर सकता है, परन्तु इससे राज्य के किसी अधिकार का हनन न होता हो, यह उसे अवश्य देखना होगा।

धन सम्बन्धी विधियों का निर्माण—निम्न विषयों में से किसी, कुछ या सबसे सम्बन्धित विधेयक धन-विधेयक (Money Bills) माने जायेंगे।

(१) करारोपण (टैक्स लगाना), करोत्पाटन (टैक्स हटाना), कर-परिहार (टैक्स घटाना), कर-परिवर्तन अथवा कर-विनियम;

(२) उधार लेने अथवा राज्य के अन्य धन सम्बन्धी उत्तरदायित्वों का विनियमन (Regulation);

(३) राज्य की संचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की रक्षा, उसमे धन डालना या निकालना;

(४) राज्य की सचित निधि में से धन का विनियोग (Appropriation)

(५) राज्य की संचित निधियाँ लोक लेखे (Public account) के खाते में जमा कराना, उसकी रक्षा करना या निकासी करना; अथवा

(६) उपरोक्त विषयों से सम्बन्धित कोई विषय।

कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं इस प्रश्न पर राज्य की विधान सभा के अध्यक्ष (Speaker) का निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होगा। अध्यक्ष विधेयक को परिषद् या राज्यपाल के समक्ष रखने से पूर्व उस पर अपने हस्ताक्षर से यह प्रमाणित करेगा कि वह धन विधेयक है।

धन-विधेयक विधान सभा में ही पेश हो सकेगा, विधान परिषद् मे नहीं। सभा द्वारा पारित कर दिए जाने पर वह परिषद् में भेजा जायगा। प्राप्ति की तिथि से चौदह दिन के भीतर परिषद् विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित सभा को लौटा देगी। विधान सभा को अधिकार है कि वह परिषद् द्वारा सुझाये संशोधनों को माने या न माने। विधान सभा जिस रूप में उसे अन्त में पारित करे वह उसी रूप मे राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जायेगा। वह ऐसे विधेयकों पर पहली बार में ही अपनी स्वीकृति देगा, उन्हें लौटा नहीं सकेगा।

प्रत्येक वित्तीय वर्ष (Financial Year) के बारे में राज्यपाल राज्य के

अनुमानित आय और व्यय का व्यौरा विधान मंडल के सामने रखवायेगा ।

इसे वार्षिक-वित्त-विवरण (Annual Budget) के नाम से पुकारा जाता है । इसके दो भाग होते हैं—विनियोग विधेयक (Appropriation Bill) और वित्त विधेयक (Finance Bill) ।

विनियोग विधेयक के दो खंड होते है । एक भाग तो वह, जिसमे व्यय की ऐसी मदें होती है जो राज्य की संचित-निधि पर भारित होती हैं । उन पर मंडल का कोई सदन मतदान नहीं करता । उन पर केवल चर्चा की जा सकती है । दूसरा भाग वह, जिसमें व्यय की ऐसी मदें होती हैं जो राज्य के राजस्व (Revenue) पर भारित होती हैं उन पर विधान मंडल के सदस्य संशोधन, कटौती और मतदान कर सकते हैं ।

विधान मंडल के भीतर किसी भी अनुदान की माँग राज्यपाल की अनुमति के बिना पेश नहीं की जा सकती । विधान मंडल अनुदानों की माँग को स्वीकार करने में संसद की पद्धति का ही अनुकरण करता है ।

वित्त-विधेयक भी राज्यपाल की अनुमति से ही मंडल में पेश हो सकते हैं । विधान मंडल के किसी सदन का कोई सदस्य किसी नये कर के लगने, अथवा बढ़ाने का प्रस्ताव नहीं रख सकता । सदन वित्त-विधेयक में करों के घटाने या हटाने सम्बन्धी संशोधन रख सकते है ।

वित्तीय-विधेयकों अर्थात् विनियोग-विधेयक और वित्त-विधेयक के पारित करने का ढंग धन-विधेयक जैसा ही होता है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ।

राज्यों के विधान मंडलों में भी विधेयकों को तीन वाचनों अर्थात् प्रथम, द्वितीय और तृतीय वाचन में से होकर गुजरना पड़ता है । आवश्यक विधेयकों को समितियों के पास भी विचारार्थ भेजा जाता है । इस सब प्रक्रिया का उल्लेख हम भारतीय संसद के प्रसंग में कर चुके हैं ।

विधान मंडल के किसी सदन में उच्च-न्यायालय या किसी उच्च-न्यायालय के किसी न्यायाधीश के अपने कर्त्तव्यपालन में किए गए आचरण के विषय में कोई चर्चा न हो सकेगी । न्यायालय भी विधान मंडल की कार्यवाही के सम्बन्ध में कोई जाँच या उस पर कोई वैधानिक आपत्ति नही कर सकेगे ।

अध्यादेश—राज्यपाल को अधिकार है कि वह विधान मडल की बैठक न होने की स्थिति में किसी आवश्यक प्रश्न पर अध्यादेश जारी कर सके । ये अध्यादेश विधि के समान ही प्रभावशाली होंगे परन्तु ऐसा प्रत्येक अध्यादेश विधान मंडल की बैठक होते ही छः सप्ताह के भीतर उसके सामने स्वीकृति के लिए रखा जायेगा । यदि विधान मंडल उसे ठीक समझता है तो उस पर विधि बना देगा अन्यथा वह उसे रद्द कर देगा ।

निम्न विषयों पर अध्यादेश जारी करने के लिए उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति लेनी पड़ती है:—

(क) यदि वह विषय ऐसा है जिस पर विधान मंडल में पेश करने के लिए राष्ट्रपति की अनुमति आवश्यक होती है, अथवा

(ख) यदि वह विषय ऐसा है जिस पर कोई विधेयक विधान मडल द्वारा पारित किए जाने पर राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित रखना उसकी दृष्टि से आवश्यक होता है, अथवा

(ग) यदि वह विषय ऐसा है जिस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति के बिना विधान मंडल का कोई अधिनियम अमान्य होता।

दोनों सदनों की तुलना—विधान मंडल वाले राज्यों में यद्यपि यह नियम लागू किया गया है कि वित्तीय एवं धन विधेयकों के अतिरिक्त अन्य साधारण विधेयक किसी भी सदन में शुरू किये जा सकते है तथापि संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विधान सभा विधान परिषद् की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। विधि-निर्माण में अन्तिम सत्ता उसके हाथ में रहती है। वह तीसरी बार किसी विधेयक को जिस स्वरूप में पारित करली है, विधेयक उसी रूप में विधान मंडल द्वारा पारित माना जाता है।

परिषद् के आर्थिक मामलों में कोई शक्ति नहीं दी गई है। उसके भीतर धन विधेयकों को पेश नहीं किया जा सकता तथा धन सम्बन्धी विधेयकों को विधान सभा दोबारा परिषद् के सामने नहीं रखती, स्वयं ही उन्हे पारित कर देती है।

मन्त्रिपरिषद् के उत्तरदायित्व के बारे में भी यही स्थिति है मन्त्रिपरिषद् केवल विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

योग्यता-प्रश्न

१. राज्य विधान-सभा के महत्त्व तथा उसकी सदस्यता, अवधि निर्वाचन पद्धति का वर्णन कीजिए।

Discuss in detail the importance, rules of membership, tenure and mode of election of State Legislative Assembly.

२. विधान परिषद भारत के किन राज्यों में स्थापित की गई हैं ? उनकी रचना व शक्ति का वर्णन कीजिए।

In which of the States of Indian Union Legislative Councils have been established ? Describe their composition and powers.

३. भारतीय राज्यों में साधारण विधिया किस प्रकार बनाई जाती हैं ?

How are the Ordinary Laws made in the States of Indian Union ?

४. भारतीय राज्यों में वित्तीय-विधियों के निर्माण की प्रक्रिया विस्तार से लिखिए।

Write in detail the process of Financial Legislation in Indian States.

—: o :—

अध्याय ३१

भारतीय संघ और राज्यों के सम्बन्ध

"राज्यों के सिर पर डेमॉक्लीस की तलवार लटक रही है, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि ये आत्म-विश्वास पूर्वक संघ शासन के विरुद्ध अपने अधिकारों पर डटे रह सकें।"

—एम० पी० शर्मा

स्वाधीनता के पश्चात् २६ जनवरी १९५० को हमने अपने देश में जिस संविधान को लागू किया, उसके द्वारा हमारे भारत में एक संघीय-व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। हमारे संविधान ने हमारे देश के भीतर एक दोहरी शासन व्यवस्था की स्थापना की, अर्थात् शासन व्यवस्था का संचालन दो केन्द्रों से होता है—संघ व राज्य। शासन के प्रत्येक केन्द्र में अलग-अलग कार्यपालिका (Executive) और विधान मण्डल (Legislature) का संगठन किया गया है। शासन के विषयों को तीन खण्डों में बाँटा गया है—संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। राज्य सूची के विषय सामान्य स्थिति में राज्य विधान मण्डल के अन्तर्गत होते हैं। राज्यों को समवर्ती सूची के विषयों पर भी तब तक कानून बनाने का अधिकार है जब तक संघ सरकार उनमें से किसी विषय पर कानून नहीं बनाती। इतना ही नहीं संघ सरकार और राज्य सरकारों के मध्य उठने वाले तथा विविध राज्यों के मध्य उठने वाले झगड़ों का निपटारा करने के लिए एक सर्वोच्च-न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना की गई है।

संघ शासन राज्य शासनों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली है। उसको शक्तिशाली बनाने के लिए समवर्ती सूची के विषयों में उसे यह शक्ति दी गई है कि यदि वह चाहे तो उस सूची के किसी विषय पर राज्य की विधियों को रद्द करके अपनी नई विधि बना सकता है। इतना ही नहीं तीनों सूचियों में जो विषय गिनने से रह गये हों या जो विषय भविष्य में नये पैदा हों जिन्हें संविधानिक भाषा में अवशिष्ट शक्तियाँ कहते हैं, संघ को प्रदान किये गये हैं। इस प्रकार भविष्य में सघ की स्थिति निरन्तर दृढ़ होती जाए ऐसी योजना बनाई गई है। राज्य सूची के विषय यद्यपि राज्यों को दिए गये हैं तथापि संविधान के अनुच्छेद २४९ में कहा गया है कि यदि संसद का द्वितीय सदन जिसका नाम राज्य सभा है और जिसमें राज्यों के प्रतिनिधि बैठते हैं अपने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से यह निर्णय करदे कि राष्ट्रीय

हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि संघ संसद राज्य सूची के किसी विषय पर विधि बनावे तो संघ-संसद वैसा कर सकती है और उसकी ऐसी विधियाँ समस्त राज्यों अथवा कुछ राज्यों पर जैसा भी संसद चाहे लागू होंगी। संविधान के इस अनुच्छेद के द्वारा सारी संघीय व्यवस्था को एक प्रकार से नष्ट कर दिया गया है। यद्यपि यह कहा गया है कि राज्य सभा एक बार में यह शक्ति संघ को एक वर्ष के लिए ही दे सकती है परन्तु हर वर्ष ऐसा निर्णय करने में उसे कोई कठिनाई नहीं है उस पर इस बारे में कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया है।

संघ शासन को अधिक दृढ़ करने के लिए यह व्यवस्था की गई है कि राज्य शासन का प्रधान अधिकारी अर्थात् राज्यपाल संघ शासन के अध्यक्ष अर्थात् राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और उसका नाम संघीय मन्त्रिपरिषद् की ओर से प्रस्तावित होता है। राज्य शासन में अपना दखल संघ ने राज्यपाल के द्वारा बहुत गहरा कर लिया है। राज्यपाल के द्वारा राष्ट्रपति राज्यों में आपातकाल की घोषणा करके उनके शासन को संघ के हाथों में सौंप सकता है। राज्यपाल के अतिरिक्त राज्य के प्रशासकीय कार्य को चलाने वाले प्रमुख राज्य कर्मचारी अखिल भारतीय प्रशासकीय एवं पुलिस, लेखा, वन आदि सेवाओं के सदस्य होते हैं जिनकी नियुक्ति संघीय लोक सेवा आयोग द्वारा होती है तथा जिनका नियंत्रण संघ सरकार का गृह विभाग करता है। ये लोग सदा ही संघ सरकार के प्रति वफादार रहेंगे और उनके आदेशों का पालन करेंगे। इनके द्वारा संघ शासन राज्यों की नीतियों में हस्तक्षेप करा सकता है क्योंकि राज्य की नीतियों का निर्माण भले ही मन्त्रिपरिषद् और विधान सभा करे परन्तु प्रशासकीय अधिकारियों की राय का स्थान सर्व प्रमुख होता है, उनके पास सम्बन्धित जानकारी होती है तथा वे ही नीतियों को क्रियान्वित करते हैं। अतः नीतियों के निर्धारण में उनकी राय का वजन और महत्त्व होता ही है।

भारतीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए संविधान ने संघ और राज्यों में इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की है। जो व्यक्ति संघ का नागरिक होता है वह राज्य का नागरिक भी होता है। इतना ही नहीं न्यायपालिका का संगठन भी इकहरा ही है। राज्य अपने लिए अलग न्यायालयों की स्थापना नहीं करते, न्याय व्यवस्था संघ के हाथ में रक्खी गई है, सर्वोच्च-न्यायालय भारत की समूची न्याय व्यवस्था करता है। राज्यों में यद्यपि उच्च न्यायालयों की स्थापना की गई है तथापि वे राज्य सरकार के आधीन न होकर सीधे सर्वोच्च न्यायालय के अधीन काम करते हैं। सर्वोच्च न्यायालय संविधान का अर्थ निकालने का कार्य भी करता है उसके स्वरूप के कारण ऐसी आशंका की जा सकती है कि वह संविधान की प्रायः ऐसी व्याख्या करेगा जिससे संघ की शक्ति में वृद्धि हो।

हमारे संविधान के निर्माताओं ने केवल संघ का ही नहीं राज्यों का संविधान भी तैयार कर दिया है, उन्होंने राज्यों को स्वयं अपना संविधान बनाने की सत्ता नहीं दी है। इतना ही नहीं राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकार तो राज्यों की सारी

सत्ता छीनकर निर्धारित अवधि के लिए देश में एकात्मक शासन की भी स्थापना कर सकते हैं। उसके अतिरिक्त निर्वाचन आयोग और नियंत्रक महालेखा परीक्षक की स्थिति भी केन्द्रीय है। राज्यों में अलग निर्वाचन आयोग नहीं होता, संघ व राज्यों के समस्त हिसाब किताब की देखरेख का काम नियंत्रक महालेखा परीक्षक के जिम्मे है।

संविधान के ग्यारहवें खण्ड के द्वितीय अध्याय में यह कहा गया है कि संघ और राज्यों के बीच कुछ प्रशासकीय सम्बन्ध है, जैसे—संघ कार्यपालिका को यह सत्ता दी गई है कि वह राज्य क्षेत्र के भीतर सघीय विधियों के पालन के बारे में राज्यों की कार्यपालिका को आदेश दे सकेगी। राज्यों की कार्यपालिका का सत्ता का प्रयोग इस प्रकार किया जायगा कि संघ की सत्ता के प्रयोग में कोई बाधा न पड़े।

संघ को यह सत्ता दी गई है कि राष्ट्रीय सेना के लिए आवश्यक संचार के साधनों के निर्माण और उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी राज्य सरकारों पर डाल सके। ऐसे कार्यो पर होने वाले व्यय संघ को देना होता है। इसी प्रकार संघ सरकार रेल मार्गों की रक्षा के बारे में राज्यों को आवश्यक निर्देश दे सकती है। संघ सरकार संसद के बनाये कानून द्वारा राज्यों के अपने काम करने के लिए कह सकती है परन्तु उसे ऐसे कामों पर होने वाला व्यय राज्य सरकारों को देना होता है।

विविध राज्यों के बीच होने वाले जल सम्बन्धी झगड़ों का फैसला कौनसा न्यायालय करेगा यह निर्णय संघ संसद करेगी। वह राज्यों के बीच जल का वितरण और उससे सम्बन्धित व्यवस्थाओं का नियंत्रण करती है। अनुच्छेद २६३ में कहा गया है कि यदि राष्ट्रपति राज्यों और संघ के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक समझें तो एक अन्तर्राज्य परिषद् की स्थापना की जा सकती है।

संविधान के खण्ड १२ के अनुच्छेद २६८ से २८१ तक संघ और राज्य के बीच वित्तीय सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है उसमें कहा गया है कि संसद कुछ ऐसे कर (Taxes) लगायेगी जो राज्यों की सरकारें द्वारा अपने अपने प्रदेशों में वसूल किये जायेंगे और इस प्रकार इकट्ठी होने वाली राशि राज्यों के अपने अपने कोष में राज्य के अपने खर्च के लिए जमा हो जाएगी। संघीय प्रदेशों में भारत सरकार उन्हें वसूल करके उन्हीं प्रदेशों के लिए खर्च कर देगी। दूसरे कर इस प्रकार के होंगे जिन्हें संसद लगायेगी और संघ सरकार उन्हें एकत्रित करके संसद की विधियों के आधार पर विविध राज्यों के मध्य उनका वितरण कर देगी। तीसरे, कुछ ऐसे कर होंगे जिन्हें संघ संसद लागू करेगी और संघ सरकार उन्हें इकट्ठा करके संघ और राज्यों के बीच एक निश्चित प्रतिशत के आधार पर बाँट देगी।

आसाम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल और बिहार राज्यों से पटसन से बनी हुई वस्तुएँ बाहर जाती हैं संघ सरकार उन वस्तुओं पर निर्यात कर (Export-duty) वसूल करती है। संविधान ने कहा है कि निर्यात-कर से प्राप्त होने वाली राशि को इन राज्यों में बांटने के बजाय संघ सरकार इन राज्यों को सहायता अनुदान (Grants-in-aid) के तौर पर कुछ रकम भारत की संचित निधि

(Consolidated Fund of India) में से देती रहेगी। इसके अतिरिक्त दूसरे राज्यों को भी संघ सरकार संसद की विधियों के अनुसार भारत की संचित निधि में से सहायता अनुदान दे सकती है, विशेषतः ऐसे राज्यों को जो अनुसूचित और आदिम जातियों के कल्याण पर भारत सरकार की अनुमति से खर्च करते हैं। आसाम राज्य को भारत सरकार विशेष आर्थिक सहायता देती है जिससे कि वह अपने व्यय को पूरा कर सके। इसका कारण यह है कि आसाम एक सीमा स्थित राज्य है, उस की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है तथा उसमें प्राकृतिक प्रकोप जैसे बाढ़ आदि बहुत होते हैं।

संविधान ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया है कि प्रत्येक पाँचवें वर्ष एक वित्त आयोग (Finance Commission) की नियुक्ति करे जिसमें एक अध्यक्ष और चार सदस्य होंगे। यह आयोग राष्ट्रपति को संघ और राज्यों के बीच करों के बँटवारे, राज्यों को भारत की संचित निधि में से सहायता अनुदान देने, संघ और राज्यों के बीच किसी सविदा के उपबन्धों (Provision of a Contract) को चालू रखने अथवा बदलने, अथवा राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गये किसी अन्य वित्तीय प्रश्न पर अपनी सिफारिशें और इनके आधार पर उठाये गये कदमों की कार्यवाही को राष्ट्रपति नियमित रूप से संसद के समक्ष पेश करता है।

संघ और राज्यों के बीच सम्बन्धों के बारे में यह कहा जा सकता है कि जब तक संघ और राज्य सरकार एक ही राजनीतिक दल के हाथों में रहेगी तब तक इस विषय में कोई गंभीर समस्या उठने की सम्भावना नहीं है, जैसे आजकल कांग्रेस दल संघ और राज्यों की सरकारों का संचालन आपसी सहयोग के आधार पर मिल-जुल कर चला रहा है। वरिष्ठ नेता संघ सरकार में बैठते हैं और राज्यों के नेता स्वाभाविक रूप से उनके नेतृत्व का अनुगमन करते हैं। परन्तु जब संघ और राज्य की सरकारें विभिन्न एवं विरोधी दलों के हाथों में होंगी तब संघ और राज्यों के सम्बन्धों में तनाव पैदा हो सकता है। संविधान ने बहुत बारीकी के साथ दोनों के आपसी सम्बन्धों की मर्यादाएँ निर्धारित करदी हैं तथापि जब व्यक्तियों, दलों और विचारों में भेद तथा विरोध होता है तो मतभेद और संघर्ष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है, ऐसी स्थिति में सर्वोच्च-न्यायालय दोनों के बीच उठने वाले विवादों का निराकरण करेगा।

योग्यता-प्रश्न

१. भारतीय संघ और राज्यों के मध्य क्या सम्बन्ध है ? विस्तार से समझाइए।
   Explain in detail the relationship between the union and the States in India.

२. 'भारत में राज्यों की उपेक्षा करके एक सुदृढ़ संघ की स्थापना की गई है।' इस वक्तव्य की समीक्षा कीजिए।
   Critically examine the view that a strong Union is established in India at the cost of States.

—: ० :—

अध्याय ३२

राजस्थान का प्रशासकीय संगठन

(Administrative Organisation of Rajasthan)

भारत के अन्य राज्यों की भाँति राजस्थान का शासन चलाने के लिए भी संविधान ने राज्यपाल, मंत्रिपरिषद, विधान-सभा और उच्च-न्यायालय की स्थापना की है। इनका वर्णन पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। यहाँ हम शासन के उस स्थायी अंग की चर्चा करेंगे, जो अराजनीतिक होता है तथा जिसे प्रशासन कहा जाता है। राज्य का प्रशासन चलाने के लिए राजधानी जयपुर में एक सचिवालय (Secretariat) है जिसमें राज्य-शासन के विविध-विभागों के मंत्री और सचिव (Secretaries) बैठते हैं। ये लोग अपने-अपने विभाग की नीतियां विधान-सभा के आदेशानुसार तैयार करते हैं तथा राज्य में उन्हें लागू करते हैं। कुछ प्रमुख विभागों के नाम इस प्रकार हैं—शिक्षा विभाग, गृह-विभाग, वित्त-विभाग, स्थानीय-स्वायत्त शासन विभाग, सार्वजनिक निर्माण विभाग, रसद व पूर्ति विभाग, आबकारी विभाग, स्वास्थ्य-विभाग, उद्योग-विभाग, न्याय-विभाग, विकास विभाग।

प्रत्येक विभाग में एक सचिव तथा अनेक उप-सचिव व सहायक-सचिव होते हैं। उनके अतिरिक्त उनकी सहायता के लिए अनेक पदाधिकारी व लेखक (क्लर्क) भी होते हैं।

कमिश्नर—समस्त राज्य को पांच कमिश्नरियों में बाँटा गया है—जयपुर, जोधपुर, कोटा, बीकानेर और उदयपुर। इनमें से प्रत्येक में एक कमिश्नर होता है। कमिश्नर अपने क्षेत्र के जिलों के प्रशासन की देखभाल करता है तथा राजस्व (Revenue) सम्बन्धी मुकदमें एवं अपीलें सुनता है।

जिलाधीश—सारे राज्य को २६ जिलों में विभाजित किया गया है। जिले के प्रधान अधिकारी को जिलाधीश (Collector and District Magistrate) कहते हैं। वह जिले भर में मालगुजारी (भूमि का लगान) वसूल कराने के लिए उत्तरदायी होता है। जिले की सीमा में वह शांति, सुव्यवस्था की स्थापना करता है तथा फौजदारी के मामलों में वह अपराधी को दो वर्ष की कैद व १००० रु० तक जुर्माना कर सकता है। वह जिले के प्रत्येक मामले की जानकारी राज्य-सरकार तक पहुँचाता है तथा जिले के सरकारी कोष का जिम्मेदार होता है। वह आमतौर पर अखिल-

भारतीय प्रशासकीय सेवा का सदस्य होता है।

जिलाधीश अपने जिले की स्वायत्त शासन-संस्थाओं का निरीक्षक होता है। एक प्रकार से वह जिले में होने वाले हर काम का निरीक्षण कर सकता है तथा उसके लिए राज्य-सरकार के सामने जिम्मेदार होता है।

जिलाधीश का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह अपने जिले में होने वाले लोक-सभा, विधान-सभा व अन्य स्वायत्त-संस्थाओं के निर्वाचनों का मुख्य-प्रबन्धक होता है।

तहसील—प्रत्येक जिला अनेक तहसीलों में बँटा होता है। इनमें एक तहसीलदार, नायब तहसीलदार, कई गिरदावर व बहुत से लेखपाल (पटवारी) होते है। ये लोग मिलकर तहसील के गाँवों की भूमि-व्यवस्था का लेखा रखते है तथा राजस्व इकट्ठा करते है। तहसील का प्रधान-अधिकारी डिप्टी-कलक्टर कहलाता है, इन्हें एस० डी० ओ० या नाजिम भी कहते हैं। उसकी शक्तियां अपने क्षेत्र में जिलाधीश के समान होती है, वह जिलाधीश को अपने क्षेत्र के सारे समाचार देता है। वह राजस्थान प्रशासकीय सेवा का सदस्य होता है।

उसे प्रथम श्रेणी के दंडाधिकारी (First Class Magistrate) की शक्तियाँ प्राप्त होती है जिनके अनुसार वह १००० रु० तक जुर्माना और दो वर्ष तक की कड़ी कैद का दंड दे सकता है। वह अपने क्षेत्र की नगरपालिकाओं व पंचायतों की देख-रेख भी करता है। उसका प्रधान कार्यालय जिला हेडक्वार्टर पर होता है।

तहसीलदार अपनी तहसील का सारा काम देखता है। तहसील में राज्य के कोष का वह अध्यक्ष होता है तथा मालगुजारी व जलकर भी संचय कराता है। वर्ष में कम से कम दो मास तक उसे तहसील के गाँवों में घूमना होता है। वह विशेष स्थिति में १००० रु० तक की तकाबी प्रदान कर सकता है। तहसील पंचायतों का निर्वाचन उसी की अध्यक्षता में होता है, अन्य पंचायतों के चुनाव भी वही कराता है। नगरपालिकाओं की देख-रेख भी वह करता है। इन संस्थाओं को राज्य-सरकार से जो धन मिलता है, उसका सदुपयोग होता है या नही, तहसीलदार इस बात की जानकारी रखता है। वह तहसील के भीतर द्वितीय श्रेणी का दंडाधिकारी (Second Class (Magistrate) होता है। इस नाते वह फौजदारी के मामलों में १ मास की जेल व ५० रु० तक जुर्माना कर सकता है। उसकी सहायता के लिए नायब तहसीलदार आदि अनेक कर्मचारी होते हैं।

पटवारी और नम्बरदार—गाँवों में सरकारी प्रशासन का अन्तिम व्यक्ति नम्बरदार होता है। यद्यपि वह सरकारी कर्मचारी नहीं होता तथापि यह समझा जाता है कि वह गाँव में सरकार का आदमी है तथा वह हर मौके पर सरकार की मदद करता है।

तहसील की ओर से गाँव में एक पटवारी होता है जो गाँव की भूमि का

पूरा हिसाब रखता है। गाँव में जीने-मरने, भूमि के लेन-देन आदि की सारी जानकारी उसे होती है और वह उस जानकारी को तहसील में पेश करता है। गाँव में बाढ़, अकाल, महामारी, टिड्डी के आक्रमण या अन्य किसी आकस्मिक संकट अथवा दुर्घटना की सूचना वह तहसील में देता है। अपने गाँव के मतदाताओं की सूची उसे ही तैयार करनी होती है तथा तकावी इत्यादि की राशि गाँव में वही बाँटता है। उसका पद बहुत महत्वपूर्ण है। उसके रेकार्ड (लेखा) ही भूमि-व्यवस्था के आधार हैं।

पुलिस व जेल

राज्य में पुलिस का सर्वोच्च अधिकारी इन्सपेक्टर-जनरल ऑफ पुलिस तथा जेलों का इन्सपेक्टर-जनरल ऑफ प्रिजन्स होता है। इन्सपेक्टर-जनरल ऑफ पुलिस के अधीन हर कमिश्नरी में एक सहायक इन्सपेक्टर-जनरल ऑफ पुलिस रहता है। हर जिले में पुलिस विभाग का सर्वोच्च-अधिकारी सुपरिन्टेडेन्ड ऑफ पुलिस होता है। उसके अधीन एक या अनेक डिप्टी-सुपरिन्टेडेन्ट होते हैं और जिले भर में अनेक पुलिस इन्सपेक्टर, सब-इन्सपेक्टर, हेड-कान्सटेबल व कान्सटेबल तथा चौकीदार होते हैं जो जिले के भीतर गांवों और शहरों में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने तथा अपराधियों को पकड़ने का काम करते हैं।

पुलिस विभाग में एक गुप्तचर दल होता है जो गुप्त रूप से अपराधों की खोज करता है।

राजस्थान में राजस्थान आर्म्ड कांस्टेबुलेरी (सशस्त्र पुलिस) भी है जिसका काम सरकारी खजाने, जेल आदि पर पहरा देना तथा विद्रोह या दंगे के समय शान्ति स्थापित करना है।

इनके अतिरिक्त ट्रैफिक पुलिस होती है जो सड़कों व चौराहों पर यातायात का नियंत्रण और मार्ग-दर्शन करती है। रेलवे पर पहरा देने और रेलगाड़ियों में चलने के लिए अलग से रेलवे प्रोटेक्शन पुलिस (सुरक्षा दल) होती है।

आजकल पुलिस के कुछ कर्मचारी सादे वस्त्रों में जनता में घुल-मिल जाते हैं और वे इस प्रकार अपराधों और षड्यंत्रों का पता लगाते हैं। इसे सिक्योरिटी पुलिस कहते है। बड़े-बड़े मंत्रियों, राज्यपालों व राष्ट्रपति के साथ ऐसी पुलिस के दल चलते हैं।

जेल—प्रत्येक जिले में एक जेल होती है। उसका प्रबन्ध जेलर करता है। जिले में जेल का सर्वोच्च अधिकारी सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ प्रिजन्स कहलाता है। जेलर की सहायता के लिए डिप्टी जेलर, वार्डर आदि अनेक कर्मचारी होते हैं।

आजकल जेलों की व्यवस्था पहले से सुधरी है, वे अब भय के स्थान नहीं रहे वरन् वहाँ अपराधियों के सुधार, उनकी शिक्षा व उद्योग-धन्धों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है।

जेलों में बन्दियों के स्वास्थ्य की देखभाल के लिए चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

शिक्षा-विभाग—राज्य में शिक्षा-विभाग को दो खंडों में विभाजित किया गया है—(१) बुनियादी शिक्षा, और (२) उच्च शिक्षा। शिक्षा-विभाग में एक सचिव होता है। राज्य भर में शिक्षा की व्यवस्था के लिए शिक्षा-संचालक (Director of Education) के कार्यालय की स्थापना की गई है। शिक्षा-संचालन महोदय स्वयं विश्व विद्यालयों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा का संचालन करते हैं। अन्य शिक्षा का संचालन एक अतिरिक्त शिक्षा-संचालक (Additional Director of Education) करते हैं। इनका कार्यालय बीकानेर में है।

प्रत्येक डिवीजन में एक-एक सहायक शिक्षा-संचालक (Deputy Director of Education) होते है तथा उनके अधीन प्रत्येक जिले में एक शिक्षा निरीक्षक (Inspector of Schools) तथा अनेक सहायक-निरीक्षक होते हैं। ये सब लोग मिलकर राज्य की शिक्षा योजना का संचालन और निरीक्षण करते हैं।

राज्य में आठवीं कक्षा तक निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। उच्च-शिक्षा के लिए भी विद्यालयों और महाविद्यालयों में दूसरे राज्यों की अपेक्षा बहुत कम शुल्क रखी गई है।

राजस्थान में पाठ्य पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया जा रहा है, अभी तक आठवीं कक्षा तक पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है।

राज्य भर में राज्य-सरकार की ओर से प्राइमरी से लेकर उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था की गई है। जयपुर और बीकानेर में मेडीकल कॉलेज खोले गये हैं। जोधपुर में सरकारी और पिलानी में बिड़ला शिक्षा-ट्रस्ट का इंजीनियरिंग कॉलेज चल रहे हैं। इनके अतिरिक्त महिला-शिक्षा के लिए उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था भी की गई है।

राज्यों में राजस्थान विश्वविद्यालय एवं उच्चत्तर-माध्यमिक शिक्षा बोर्ड शिक्षा के पाठ्यक्रम निर्धारित करते हैं और परीक्षाएँ लेकर डिग्रियाँ व प्रमाण-पत्र देते हैं।

अन्य-विभाग—राज्य के कार्यों का बड़ी तेजी से प्रसार हो रहा है। राज्य भर में स्वास्थ्य व चिकित्सा सेवाओं का जाल बिछाया जा रहा है। इसके अतिरिक्त विकास-योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए विकास खंड खोले गये हैं जिनमें अनेक अधिकारी व कार्यकर्ता काम कर रहे हैं। इसी प्रकार कृषि व सार्वजनिक-निर्माण विभाग आदि का विस्तार राज्य में फैला हुआ है।

न्याय-व्यवस्था का उल्लेख पीछे कर चुके हैं।

योग्यता-प्रश्न

१. जिलाधीश के कार्यो व शक्तियो का वर्णन कीजिए।

Give an account of the functions and powers of Collector & District Magistrate.

२. राज्य में पुलिस व शिक्षा-विभाग के संगठन का विस्तृत वर्णन कीजिए।

Describe the organisation of Police and Education Departments in the State.

३. तहसील के विविध अधिकारियों के पद और कार्यो का वर्णन कीजिए।

Write the names of different officers in a tehsil and mention their functions.

—: ० :—

अध्याय ३३

राजस्थान में स्थानीय स्वायत्त शासन

(Local Self-Government in Rajasthan)

"स्थानीय स्वायत्त शासन का अभ्यास लोक-तन्त्र का सर्वश्रेष्ठ विद्यालय तथा उसकी सफलता का अचूकतम आश्वासन है। इससे नागरिकों के भीतर सार्वजनिक विषयों में सामूहिक हित तथा उन विषयों के कुशल एवम् सम्यक प्रशासन के बारे में अपने व्यक्तिगत एवम् सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होती है।"

—लार्ड ब्राइस

सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य को एक सामूहिक जीवन का निर्माण करना आवश्यक होता है। इस सामूहिक जीवन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि लोग स्वयं अपनी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं को हल करें अर्थात् उन्हें आत्म-निर्णय का अधिकार (Right of Self-Determination) केवल राष्ट्रीय पैमाने पर ही नहीं वरन् स्थानीय मामलों में भी प्राप्त हो।

स्थानीय स्वराज्य का अर्थ है **'घर का शासन स्वयं घर के मालिक द्वारा'**। लोक शाही के इस युग में जबकि जनता को हम प्रभुता-सम्पन्न मानते हैं यह सम्भव नहीं कि लोगों के घरों, गांवों और नगरों पर राष्ट्रीय राज्य का शासन स्थापित किया जाय। उनके घर के सामने का कूड़ा उठाने की व्यवस्था दिल्ली, जयपुर, भोपाल, पटना या लखनऊ में बैठी सरकार करे। यह एक अत्यन्त अव्यवहारिक कल्पना है।

स्वराज्य तथा जनतंत्र की चरम सिद्धि तभी होती है, जब जनता अधिक से अधिक मात्रा में प्रत्यक्ष (Directly) अपनी शासन-व्यवस्था में भाग ले, स्वयं अपनी समस्याओं का हल निकालकर उसे क्रियान्वित करे, तथा उस पर कम से कम परोक्ष-शासन (प्रतिनिधियों का शासन) हो।

स्थानीय-स्वशासन लोकतंत्र का प्रारंभिक विद्यालय

स्थानीय-स्वशासन लोकतंत्र की दृष्टि से अनिवार्य होता है, इसके बिना कोई भी लोकतंत्र सफलता के साथ नहीं चल सकता। उसके अनेक कारण हैं, इनका संक्षेप में वर्णन करना यहाँ उचित होगाः—

१. स्थानीय-स्वशासन के द्वारा जनता अपने मत का प्रयोग करना सीखती है।

२. इसके द्वारा जनता के मन में अपनी समस्याओं के प्रति रुचि उत्पन्न होती है तथा वह सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करना आरंभ कर देती है, साथ ही स्थानीय संस्थाओं के प्रबन्ध में भी वह रुचि लेने लगती है तथा उसके बारे में अपनी राय प्रकट करने लगती है। यह लोकतंत्र के लिए एक प्रारंभिक शिक्षा मानी जाएगी, क्योंकि जब तक किसी देश की जनता सार्वजनिक समस्याओं में रुचि नहीं लेती तथा शासन की बातों को नहीं समझती तब तक लोकतंत्र सफल नही हो सकता। जब जनता स्थानीय प्रश्नों से परिचित हो जाती है तो उसकी समझ की शक्ति बढ़ जाती है तथा वह राष्ट्रीय समस्याओं को भी समझ लेती है तथा उनके बारे में अपना मत बना सकती है।

३. इसी प्रकार स्थानीय स्वशासन की संस्थाये लोकतंत्र में नेतृत्व तैयार करती हैं। किसी भी लोकतंत्र को चलाने के लिए योग्य राजनीतिज्ञों का होना आवश्यक हैं जिन्हें लोकतंत्रात्मक पद्धति से शासन चलाने का अनुभव और अभ्यास हो। यह अनुभव और अभ्यास राजनीतिक कार्यकर्ता अपने-अपने स्थान पर स्थानीय संस्थाओं में प्राप्त कर सकते हैं, वहाँ वे भाषण देना, चर्चा करना, और आलोचना करना सीखते हैं, साथ ही शासन के यंत्र और उसके संचालन की रीति से भी परिचित हो जाते हैं। उनका यह अनुभव आगे जाकर उनके बहुत काम आता है। वास्तव में यह कहना बहुत सही है कि स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ लोकतंत्र की प्रारम्भिक पाठशालायें हैं उनके भीतर जनता और उसके नेता दोनों को लोकतंत्र के संचालन की शिक्षा दीक्षा प्राप्त होती है।

स्थानीय स्वशासन का एक महत्त्व यह है कि जनता अपनी स्थानीय समस्याओं को इसके द्वारा स्वयं सुलझा लेती है, उसके लिए अनावश्यक देरी नहीं होती। केन्द्रीय सरकार के लिए वह संभव नहीं है कि वह प्रत्येक ग्राम और नगर की स्थानीय समस्याओं को भली-भांति समझ सके तथा उन्हें संतोषजनक रूप में हल कर सके। स्थानीय स्वशासन के द्वारा सरकार का भार हल्का होता है तथा जनता का अधिक हित होता है।

यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्थानीय स्वशासन की सफलता के लिए जनता को सच्चरित्र और समझदार होना चाहिये। वह निरंतर जागरूक रहेगी तभी स्थानीय स्वशासन की संस्थायें ठीक ढंग से काम कर सकेंगी। यदि लोग अपने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों में फँसे रहे तथा उन्होंने सामूहिक हित का ध्यान न दिया तो स्थानीय-स्वशासन असफल हो जायेगा। इसकी सफलता उनके सक्रिय सहयोग पर निर्भर है।

राजस्थान में स्वायत्त शासन

राजस्थान राज्य में स्वायत्त शासन की निम्न संस्थाएँ स्थापित की गई हैं:—

(१) पंचायत, (२) तहसील पंचायत, (३) पंचायत समितियाँ, (४) जिला-परिषद् और (५) नगरपालिका।

यहाँ हम इन संस्थाओं की रचना, उनके कर्त्तव्यों और उनकी शक्तियों का वर्णन विस्तार से करेंगे।

(१) पंचायत

भारत सदा से पंचायत-शासन का देश रहा है। प्राचीन काल में ये पंचायतें राजस्थान में 'पंचकुल' के नाम से पुकारी जाती थीं। स्वतंत्रता के पश्चात् १९५३ ई० में राजस्थान सरकार ने राजस्थान-पंचायत अधिनियम पारित किया तथा यह अधिनियम १ जनवरी, १९५४ को लागू किया गया। इस अधिनियम के द्वारा राजस्थान के ३३००० गांवों में पंचायत-राज्य की स्थापना की गई है। आज इस प्रदेश में लगभग ३५०० पंचायतें हैं। पंचायतों का काम सम्भालने के लिए सरकार ने अलग से पंचायत विभाग की स्थापना की है। इस विभाग के उच्च-अधिकारी को 'अध्यक्ष, पंचायत विभाग' कहते हैं। इस विभाग में क्षेत्रीय-पंचायत अधिकारी और जिला-पंचायत निरीक्षक भी होते हैं जो पंचायतों के संचालन और निरीक्षण के लिए प्रमुख रूप से जिम्मेदार होते हैं।

निर्वाचन—कई गांवों को मिलाकर एक पंचायत क्षेत्र बनाया जाता है। पंचायत में पांच पंच (प्रतिनिधि) अनिवार्य तौर पर होते हैं। गांव को निर्वाचन के लिए वार्डों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक स्त्री पुरुष जो भारत का नागरिक है और जिसकी आयु २१ वर्ष या उससे ऊपर है पंचों के निर्वाचन में भाग लेता है। चुनाव गुप्त मतदान द्वारा होता है। निर्वाचन बहुमत से होता है।

मनोनीत पंच--यदि किसी स्थिति में गाँव की जनता आवश्यक संख्या में पंचों को निर्वाचित नहीं कर पाती या उस गांव की अनुसूचित जातियों का कोई व्यक्ति पंच नहीं चुना जाता तो राज्य-सरकार ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत कर सकती है जिन्हें वह ठीक समझे। मनोनीत पंचों की स्थिति व उनके अधिकार निर्वाचित पंचों के समान ही होते हैं।

पंच की योग्यता--पंच के पद का चुनाव लड़ने के लिए प्रत्येक उम्मीदवार को कम से कम २५ वर्ष आयु का होना चाहिए। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह राज्य-कर्मचारी न हो, उसे किसी न्यायालय द्वारा नैतिक-अपराध में सजा न मिली हो तथा वह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हो।

पंचायत के अधिकारी—पंचायत में दो उच्च--अधिकारी होते हैं। इनमें पहले को सरपंच व दूसरे को **उप-सरपंच** कहते हैं। सरपंच का चुनाव जनता सीधे चुनाव (प्रत्यक्ष निर्वाचन) द्वारा करती है और उप-सरपंच का चुनाव निर्वाचित पंच बहुमत से करते हैं।

यदि इन अधिकारियों का विधिवत् निर्वाचन न हो सके तो छः मास के लिए सरपंच व उप-सरपंच को राज्य सरकार मनोनीत कर सकती है। इस अवधि

के भीतर इन अधिकारियों का निर्वाचन विधिवत् हो जाना आवश्यक है।

सरपंच व उप-सरपच को साधारण पचों के समान योग्यता तो रखनी ही चाहिए, इसके अतिरिक्त उन्हें सामान्य हिन्दी का ज्ञान भी होना चाहिए।

सरपंच—ग्राम-पंचायत का सबसे बड़ा अधिकारी सरपंच होता है। उसको अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य करने पड़ते हैं। जैसे—(१) पंचायत की सभाओं को बुलाना और उनकी अध्यक्षता करना; (२) पंचायत के धन का हिसाब रखना और उसके लिए जवाबदेह होना; (३) पंचायत के मंत्री की नियुक्ति नियमानुसार करना; (४) पंचायत की ओर से जारी की जाने वाली रसीदों पर हस्ताक्षर करना; (५) अभियोगों (मुकदमों) की सुनवाई के अवसर पर दोनों पक्षों एवं गवाहों को शपथ दिलाना।

परन्तु सरपंच पंचायत की ओर से स्वयं कोई निर्णय नहीं कर सकता। पंचायत के सभी निर्णय बहुमत से होते हैं।

उप-सरपंच उन समस्त कार्यो को करता है जो सरपंच उसे सौंपता है। सरपंच की अनुपस्थिति में उप-सरपंच उस पद की सारी जिम्मेदारी को निबाहता है तथा उस पद के समस्त कार्यो को पूरा करता है।

पंचायत की अवधि—पंचायत का कार्यकाल सामान्यतः उसकी पहली बैठक के दिन से तीन वर्ष माना गया है परन्तु यदि राज्य सरकार आवश्यक समझे तो उस अवधि को घोषणा करके एक वर्ष के लिए और बढ़ा सकती है।

कार्य पद्धति—पंचायतें तीन प्रकार के काम करती हैं—(१) प्रशासन सम्बन्धी, (२) न्याय सम्बन्धी और (३) सांस्कृतिक कार्य। इन कार्यो को पंचायतें बहुमत-निर्णय से करती हैं। निर्णय पंचायत की सभा में होते हैं। सभा बुलाने का काम सरपंच करता है। पन्द्रह दिन में एक सभा होनी आवश्यक है। सभा की सूचना पंचों को कम से कम ४८ घण्टे पूर्व मिल जानी चाहिए। यदि पन्द्रह दिन से पहले भी सरपंच चाहे तो पंचायत की सभा बुला सकता है। सभा के लिए सरपंच सहित पंचायत के तिहाई सदस्यों की उपस्थिति कोरम या गणपूर्ति के तौर पर अनिवार्य मानी गई है। पंचायत की सभाएं आम तौर पर पंचायत सभा भवन या लेखपाल (पटवारी) के कार्यालय में होती हैं।

नये संशोधन के अनुसार पंचायतों के निर्णय उपस्थित व मत देने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से होंगे। समान मत होने पर सरपंच को दूसरा अर्थात् निर्णायक मत देने का अधिकार है। कुछ मामलों में दो-तिहाई बहुमत चाहिये।

पंचायत के प्रशासनिक कार्य

जनतंत्र का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि जनता स्थान-स्थान पर अपनी प्रारम्भिक-व्यवस्था स्वयं करे। पंचायतें गाँवों में यह व्यवस्था करती हैं, इसमें निम्न बातें आती हैं—

(१) पीने तथा सिंचाई के पानी व प्रकाश का प्रबन्ध ।
(२) मकान बनाने के नियम ।
(३) सड़कों व पुलों की व्यवस्था ।
(४) मृत पशुओं का प्रबन्ध ।
(५) स्वास्थ्य रक्षा व परिवार नियोजन ।
(६) मेलों का प्रबन्ध ।
(७) कृषि सुधार के कार्य व सांड पालन ।
(८) गांव की सुरक्षा ।
(चौकीदार और सेवादल)
(९) उद्योगों की व्यवस्था ।
(१०) गांव की जनसंख्या का लेखा रखना ।
(११) स्वेच्छिक कार्य ।
(क) दीन-दुखियों की सेवा ।
(ख) नागरिकों को रोजगार दिलाना ।
(ग) लोक-कल्याण के कार्य ।

पंचायत के न्यायिक कार्य

ग्राम-पंचायत न्याय-सम्बन्धी अनेक कार्य करती है। पंचायत दण्ड (फौजदारी) और व्यवहार (दीवानी) दोनों प्रकार के अभियोगों (मुकदमों) की सुनवाई करती है ।

दण्ड अभियोग—साधारण दण्ड अभियोगों की सुनवाई पंचायत करती है । उसे अधिकार है कि वह सन्तुष्ट हो जाने पर अपराधी को पचास रुपये तक का जुर्माना देने का दण्ड दे । यदि यह राशि तीन माह तक जमा नहीं की जाती तो पंचायत अपराधी के नाम वारण्ट जारी कर सकती है ।

व्यवहार अभियोग—दीवानी के मामलों में पंचायतें निम्न दावों की सुनवाई कर सकती हैं—

(१) सौ रुपये तक के दावे,

(२) पंचायत द्वारा की गई डिग्री का भुगतान न होने पर उस पर अधिक-तम छः प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज के दावे ।

पंचायतें कई मामलों को मुन्सिफ या दंडाधीश (मजिस्ट्रेट) की अदालत में भेज सकती हैं । मुकदमों को खारिज भी कर सकती हैं तथा अपने क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति को ऊंची अदालत के द्वारा अपने सामने बुलवा सकती हैं ।

पंचायत के सांस्कृतिक कार्य

ग्राम जीवन में पंचायत के सांस्कृतिक कार्यों का बहुत महत्व है । आज हमारे सामने हमारे गांवों के राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक जागरण का प्रश्न है । यह

सब जागृति सांस्कृतिक जागृति के द्वारा ही हो सकती है। पंचायतें इस दिशा में निम्न महत्वपूर्ण कार्य करती हैं—

(१) शिक्षा का प्रबन्ध
  (क) प्राथमिक शिक्षा
  (ख) प्रौढ़ शिक्षा
  (ग) महिला शिक्षा
  (घ) पुस्तकालय-वाचनालय का प्रबन्ध
  (ङ) स्कूल का भवन व शिक्षकों के लिए क्वार्टर्स बनाना व उनकी मरम्मत आदि।

(२) महिला-जागृति
  ग्राम काकी आन्दोलन, प्रसूति केन्द्र

(३) युवक और बाल संगठन
  यूथ-क्लब, बाल मंडल शिशुपालन केन्द्र।

(४) मनोरंजन व लोक शिक्षण
  (क) मेले
  (ख) लोकगीत, नाटक आदि
  (ग) प्रदर्शनियाँ
  (घ) सांस्कृतिक-यात्राएँ

पंचायतों की आय के स्रोत

ग्राम पंचायतों को अपने कार्यो को पूरा करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। उसको पूरा करने के लिए निम्न स्रोतों से धन प्राप्त होता है :—

(१) उद्योग, मकान, खेती के अतिरिक्त अन्य भूमि, मनोरंजन आदि से प्राप्त कर,
(२) मवेशीखानों की आय,
(३) न्याय-शुल्क,
(४) जुर्माना,
(५) हड्डी, गोबर, कूड़े, मृत-पशुओं से होने वाली आय,
(६) निवास के योग्य भूमि के नीलाम अथवा शुल्क से प्राप्त आय,
(७) राज्य से प्राप्त सहायता—
  (क) पंचायत विभाग से
  (ख) विकास विभाग से
(८) पंचायत समिति द्वारा सहायता
(९) राज्य और पंचायत समिति से ऋण

(१०) राज्य से प्राप्त होने वाले राजस्व (Revenue) का ३½ प्रतिशत अंश

(११) यात्री-कर तथा व्यापारिक फसलों पर कर द्वारा प्राप्त राशि ।

(२) ग्राम-सभा

राज्य-सरकार ने "राजस्थान पंचायत समिति और जिला-परिषद् अधिनियम १९५९" के द्वारा पंचायत के ऊपर यह जिम्मेदारी सौंपी है कि वह समय-समय पर अपने क्षेत्र के समस्त निवासियों की ग्राम-सभा बुलायेगी तथा उसके सामने पंचायत के कामों का पूरा ब्यौरा पेश करेगी । ग्राम-सभा में पंचायत के कामों के प्रति जो रुख रहेगा तथा उसके जो सुझाव होंगे उन्हें पंचायत की बैठक में विचारार्थ पेश किया जायेगा ।

यह प्रबन्ध बहुत महत्वपूर्ण है । इसका परिणाम यह होगा कि पंचायत हमेशा सोच-समझकर काम करेगी अन्यथा ग्राम सभा में उसे अपमानित होना पड़ेगा । एक प्रकार से ग्राम सभा के सामने पचायत उत्तरदायी बना दी गई है । इसके अतिरिक्त ग्राम सभा कुछ सिफारिशें करेगी । ये सिफारिशें एक प्रकार से जनता की इच्छा की प्रतीक होंगी और उनके द्वारा पंचायतों को जनता की इच्छा का आसानी से पता लग जायेगा । लोकतंत्र की दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है ।

(३) तहसील-पंचायत

पंचायती शासन की दूसरी कड़ी तहसील-पंचायत है । प्रत्येक तहसील में जितनी पंचायतें होती हैं, उनके पंच मिलकर गुप्त मतदान द्वारा तहसील-पंचायत के पंचों का निर्वाचन करते हैं । तहसील से पंचायत में छः से आठ पंच और एक सरपंच होता है । सरपंच का निर्वाचन पचों के निर्वाचन के पश्चात् इसी रीति से होता है । तहसील-पंचायत के पंच के लिए यह आवश्यक है कि वह उस तहसील का निवासी हो और अपनी ग्राम-पंचायत का पंच बनने की योग्यता रखता हो ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तहसील पंचायत का निर्वाचन परोक्ष पद्धति से होता है, प्रत्यक्ष से नहीं । हर उम्मीदवार को १०) रु० जमानत जमा करनी होती है जो कुल मतों के १/५ अंश मत प्राप्त न होने पर जब्त हो जाती है । यह संस्था तहसील की जनता और ग्राम पंचायतों की प्रतिनिधि होती है ।

तहसील-पंचायतों की आय के साधन—तहसील पंचायत को अपने क्षेत्र की पंचायतों की कुल आय का ५% अंश प्राप्त होता है ।

उसके अतिरिक्त इसे न्यायशुल्क तथा लाइसेंस शुल्क से भी आय होती है ।

तहसील-पंचायत की स्थापना होने पर प्रारम्भिक व्यय के लिए राज्य-सरकार ५००) रु० का अनुदान स्वीकृत करती है ।

कार्य—तहसील-पंचायतें प्रमुखतः न्याय का कार्य करती हैं । वे अपने क्षेत्र की समस्त ग्राम-पंचायतों के निर्णयों की अपील सुनतीं तथा उन पर अपना निर्णय

देती हैं। पंचायतों के काम के निरीक्षण की सत्ता अब पंचायत समितियों के निर्माण से बहुत घट गई है।

तहसील-पंचायत की बैठक मास में एक बार होनी अनिवार्य है, यदि सरपंच चाहे तो अनेक बार भी बुला सकता है। सरपंच के अतिरिक्त चार अन्य पंचों के उपस्थित होने पर गणपूर्ति हो जाती है और सभा की कार्यवाही शुरू हो जाती है।

(४) पंचायत समितियाँ

राजस्थान सरकार ने लोकतांत्रिक विकेन्द्रीयकरण के नाम से २ अक्टूबर १९५९ को ग्राम-प्रशासन और विकास योजनाओं के सचालन की एक नई व्यवस्था को जन्म दिया है, जिसका उद्घाटन उस दिन भारत के प्रधान मंत्री ने नागौर नगर में आयोजित एक विशेष समारोह में किया। इस नई व्यवस्था का आधार राजस्थान विधान सभा द्वारा पारित "राजस्थान पंचायत समितियाँ एवं जिला-परिषद् अधिनियम १९५९" है।

इस अधिनियम द्वारा पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों का संगठन करने की योजना रखी गई है जो निम्न प्रकार है :—

पंचायत समिति की रचना—प्रत्येक पंचायत समिति राज्य सरकार द्वारा बनाये गये विकास-क्षेत्र (Block) के समस्त क्षेत्र की संस्था होगी।

अधिनियम के दूसरे अध्याय में कहा गया है कि राज्य-सरकार ब्लाक के निर्माण, परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि के मामले में पूर्णतया स्वतंत्र होगी। प्रत्येक खंड (ब्लाक) में एक पंचायत समिति होगी। पंचायत समिति की स्थापना राज्य-सरकार अपनी घोषणा के द्वारा करायेगी यह घोषणा सरकारी गजट (राजपत्र) में प्रकाशित की जायेगी। प्रत्येक पंचायत समिति अपने खंड (ब्लाक) के नाम से पुकारी जायेगी उसका नाम राज्य सरकार बदल सकती है। खंड की सीमा और क्षेत्र बदलने पर पंचायत समितियों की सीमाएं और क्षेत्र भी बदल जायेंगे।

पंचायत समिति में निम्न सदस्य होंगे—

(१) खंड की समस्त पंचायतों के सरपंच

(२) खंड की समस्त तहसील पंचायतों के सरपंच।

ये लोग मिलकर अपने अलावा अपने खंड में से निम्न व्यक्तियों को पंचायत समिति का सदस्य बनायेंगे—

(१) कृषि निपुण (खंड का एक कार्यकर्त्ता)

(२) दो स्त्रियाँ (यदि कोई स्त्री सरपंच न हो तो) अथवा एक स्त्री (यदि एक स्त्री सरपंच हो तो)

(३) अनुसूचित जाति का एक सदस्य (यदि कोई अनुसूचित सरपंच न हो तो)

(४) अनुसूचित जन जातियों का एक सदस्य (यदि कोई सरपंच वैसा न हो और उस ट्राइब की जनसंख्या उस खंड में ५ प्रतिशत से अधिक हो)

(५) एक व्यक्ति खंड की सहकारी समितियों की प्रबन्ध-समितियों में से,
(६) दो अनुभवी व्यक्ति जो प्रशासन, सार्वजनिक जीवन अथवा ग्राम विकास मामले में पंचायत-समिति के लिए सहायक सिद्ध हो सकें। इन व्यक्तियों का उस खंड में रहना आवश्यक नहीं है, वे उस जिले के निवासी होने चाहियें। यदि किसी व्यक्ति के अनुभव आदि को लेकर झगड़ा खड़ा हो जाये तो राज्य-सरकार का निर्णय उस मामले में अन्तिम होगा।

अतिरिक्त-सदस्य—यदि ग्राम-पंचायत या तहसील-पंचायत का कोई सरपंच या उप-सरपंच पंचायत-समिति का प्रधान निर्वाचित हो जाता है तो वह अपनी ग्राम या तहसील-पंचायत के सरपंच या उप-सरपंच पद से त्याग-पत्र दे देगा परन्तु पंचायत समिति का अतिरिक्त सदस्य बना रहेगा।

सहयोगी सदस्य—प्रत्येक विधान-सभासद (M. L. A.) अपने निर्वाचन क्षेत्र के प्रत्येक खंड की पंचायत समिति का तब तक सहयोगी सदस्य रहेगा जब तक कि वह अपने पद पर बना रहता है। वह पंचायत-समिति की या उसकी किसी समिति की किसी भी बैठक में उपस्थित हो सकता है परन्तु न वह वहाँ मत दे सकता है, न उसका प्रधान, उप-प्रधान, सदस्य या अध्यक्ष बन सकता है।

पंचायत समिति के कार्य—अधिनियम द्वारा पंचायत समितियों को निम्न कार्य सौपे गये हैं, जिनका पालन वे करेंगी—

(१) सामूहिक-विकास—
  (क) अधिक रोजगार, उत्पादन और सुविधाओं के लिए ग्राम-संगठन,
  (ख) पारस्परिक सहयोग के आधार पर स्वैच्छिक सहायता और स्वावलम्बन,
  (ग) श्रमदान
(२) कृषि—
  (क) परिवार, ग्राम व खंड स्तर पर अधिक उत्पादन की योजना बनाना,
  (ख) भूमि व जल के साधनों का पूरा उपयोग और खेती के नये साधनों का प्रसार,
  (ग) २५,०००) तक में बनने वाले सिंचाई साधनों का निर्माण और उनकी रक्षा,
  (घ) अन्य प्रकार से कृषि विकास।
(३) पशु पालन और नस्ल सुधार,
(४) स्वास्थ्य और ग्रामीण-स्वच्छता,
(५) शिक्षा (प्रारम्भिक शिक्षा)

(६) सामाजिक-शिक्षा
  (क) सूचना व मनोरंजन केन्द्र बनाना,
  (ख) युवक-संगठन बनाना,
  (ग) पुस्तकालय स्थापित करना,
  (घ) स्त्री, बच्चों का संगठन,
  (च) प्रौढ़ शिक्षा,
(७) यातायात (सड़कें और पुल)
(८) सहकारिता,
(९) ग्रामोद्योग,
(१०) पिछड़ी-जातियों का पुनरुत्थान,
(११) आपातकालीन सहायता,
(१२) आंकड़े इकट्ठे करना,
(१३) न्यास (Trusts)
(१४) वन (Forests)
(१५) ग्रामीण-भवन-निर्माण (निवास)
(१६) प्रचार-प्रकाशन
(१७) फुटकर—
  (क) ग्राम-पंचायतों का निरीक्षण एवं उनकी सहायता करना,
  (ख) हानिकारक धन्धों का नियमन,
  (ग) मेलों आदि का प्रबन्ध,
  (घ) अन्य कार्य।

पंचायत-समिति के सदस्यों की योग्यता, पदाधिकारी और उनकी शक्तियाँ

पंचायत-समिति की सदस्यता के लिये निम्न व्यक्ति योग्य नहीं माने जायेंगे, अर्थात् वे उसके सदस्य नहीं बन सकते—

(१) केन्द्रीय या राज्य सरकार की नियमित सेवाओं का सदस्य या किसी स्थानीय-संस्था का नौकर।

(२) २५ वर्ष से कम आयु के व्यक्ति।

(३) जिसे नैतिक पतनयुक्त दुराचार के कारण सरकारी नौकरी से हटाया गया है या लोकसेवाओं के लिये अयोग्य घोषित कर दिया गया है।

(४) पंचायत समिति में किसी लाभ के पद पर कार्य करता है या उससे किसी प्रकार लाभ प्राप्त करता है।

(५) प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समिति के साथ किये जाने वाले किसी संविदा में साझीदार हो।

(६) कोढ़ी या अन्य शारीरिक व मानसिक दोष या रोग से पीड़ित व्यक्ति जिसे कार्य करने के अयोग्य घोषित कर दिया गया है।

(७) न्यायालय ने जिसे नैतिक पतन युक्त अपराध, छुआछूत या राज्य सरकार द्वारा निर्धारित अन्य किसी विधि के अन्तर्गत दोषी ठहराया हो।

(८) अनुन्मुक्त दिवालिया।

(६) पचायत समिति या पंचायत द्वारा लगाये गये करों, शुल्कों या अन्य रकमों का भुगतान जो व्यक्ति दो मास के भीतर नही कर देता।

(१०) जो व्यक्ति पंचायत समिति की ओर से या उसके विपक्ष में वकील के रूप में काम कर रहा हो।

(११) किसी पंचायत के सरपंच, उप-सरपंच या पंच होने के लिये जिसे अयोग्य घोषित कर दिया गया हो, अथवा

(१२) जो व्यक्ति पंचायत समिति का प्रधान या उप-प्रधान चुने जाने के लिये अयोग्य मान लिया गया है।

परन्तु, यदि कोई व्यक्ति अपनी बर्खास्तगी या अपराधी घोषित होने के ६ वर्ष बाद समिति का सदस्य होना चाहता है तो वह चुनाव में खड़ा हो सकता है। राज्य सरकार को भी अधिकार है कि वह किसी व्यक्ति की इस प्रकार की अयोग्यताओं को हटा सकती है। जहाँ तक कर या शुल्क न अदा करने वालों का प्रश्न है यदि वे देय राशियों को अपना नामांकन-पत्र देने से पहले चुका देंगे तो वे निर्वाचन के लिये योग्य माने जायेंगे।

सदस्यता का समाप्त हो जाना—पंचायत-समिति के सदस्यों की सदस्यता निम्न कारणों से समाप्त हो सकती है—

(१) उपरोक्त में से किसी अयोग्यता के उत्पन्न हो जाने पर,

(२) निर्वाचन या सहवरण या मनोनयन की तिथि के बाद एक वर्ष में प्रधान होने पर कुल मिलाकर २४० दिन व उप-प्रधान या सदस्य होने पर कुल मिलाकर १८० दिन समिति के क्षेत्र से बाहर रहने पर। यह नियम उन लोगों पर लागू नहीं होगा जो विशेष योग्यता के कारण समिति के सदस्य के रूप में सहवरण किये गये हैं यदि वे प्रधान के पद पर काम न कर रहे हों।

(३) प्रधान की पूर्व अनुमति के बिना समिति की लगातार पांच बैठकों में अनुपस्थित रहने पर, परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रधान अपनी अनुमति से तभी इन्कार करेगा जब समिति उसे स्वीकार करे।

(४) त्याग-पत्र दे देने पर।

(५) मर जाने पर।

पंचायत समिति के पदाधिकारी—अधिनियम में कहा गया है कि प्रत्येक

पंचायत समिति का एक प्रधान तथा एक उप-प्रधान होगा जो पंचायत-समिति के सदस्यों द्वारा निर्धारित रीति से चुना जायेगा। ये दोनों अधिकारी समिति के सदस्यों में से ही चुने जायेंगे।

समिति के सदस्यों के सहवरण के बाद शीघ्र ही अथवा जब कभी पद रिक्त हो जाये, पंचायत समिति की एक बैठक जिले के कलक्टर द्वारा बुलाई जायेगी जिसका सभापति वह स्वयं या अतिरिक्त कलक्टर करेगा।

उप-प्रधान को निर्वाचित करने के लिये बैठक प्रधान द्वारा बुलाई जायेगी। दोनों चुनाव गुप्त मतदान प्रणाली से होंगे। पंचायत समिति का प्रधान या उप-प्रधान चुने जाने पर पदाधिकारी अपने पूर्व पदों को छोड़ देगा।

प्रधान या उप-प्रधान अपने त्याग-पत्र विकास अधिकारी को देंगे, उप-प्रधान का त्याग-पत्र उसी तारीख से प्रभावी हो जायेगा जिस तारीख में वह विकास अधिकारी को प्राप्त होता है तथा प्रधान का त्याग-पत्र उस तारीख से लागू होगा जिसमें समिति उसे स्वीकार करती है।

प्रधान तथा उप-प्रधान के कार्य और उनकी शक्तियाँ—किसी पंचायत समिति का प्रधान निम्न कार्य करेगा—

(१) समिति की बैठकें बुलायेगा, उनका सभापतित्व तथा कार्य संचालन करेगा,

(२) उसके समस्त अभिलेखों को देख सकेगा,

(३) पंचायतों में अभिक्रम (इनीशियेटिव) और उत्साह जागृत करेगा एवं उन्हें अपने मार्गदर्शन द्वारा कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करेगा।

(४) अपने क्षेत्र में कार्य करने वाले कर्मचारियों तथा विकास-अधिकारी पर प्रशासनिक नियंत्रण रखेगा।

(५) विकास अधिकारी के स्थानांतरण के बारे में राज्य सरकार को परामर्श दे सकेगा।

(६) निम्न आपातकालीन शक्तियों का प्रयोग करेगा। इन शक्तियों का प्रयोग वह विकास अधिकारी से परामर्श करके करेगा—

(क) समिति या उसकी किसी स्थायी समिति के निर्णय की इन्तजार किये बिना ही वह अपनी दृष्टि में सार्वजनिक हित के लिये किसी भी कार्य को करने का आदेश दे सकता है कार्य बन्द करने का आदेश दे सकता है तथा पंचायत समिति के किसी भी कार्यक्रम को जिला परिषद् की स्वीकृति के अधीन बन्द कर सकता है।

इसमें शर्त यह है कि उन सब कामों के लिये जिन्हें वह करता या बन्द करता है उसे लिखित रूप में कारण देने होंगे। वह राज्य सरकार के किसी आदेश का उल्लंघन किये जाने के लिये आदेश जारी नहीं करेगा तथा अपने आपातकालीन कार्यों का ब्योरा समिति के सामने रखेगा।

(७) प्रधान को यह अधिकार है कि वह खंड विकास अधिकारी के काम के बारे में प्रत्येक वर्ष एक गुप्त प्रतिवेदन जिला विकास अधिकारी को भेजेगा तथा जिला विकास अधिकारी उस प्रतिवेदन को अपने एक गुप्त प्रतिवेदन के साथ राज्य-सरकार के पास भेजेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रधान को काफी महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं तथा इस भय के लिये कोई कारण नही है कि विकास-अधिकारी ही पंचायत-समिति का सर्वेसर्वा हो जायेगा तथा प्रधान के पास कोई महत्व की शक्ति नहीं रह जायेगी। यदि प्रधान अपने काम में रुचि लेगा तो उसके पास बहुत काम होगा और वह अपने खंड की पर्याप्त सेवा कर सकता है।

विकास अधिकारी और उसकी शक्तियाँ

पंचायत समितियों की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करने का काम विकास अधिकारी को सौंपा गया है। अधिनियम में बताया गया है कि राज्य-सरकार नियमों के अनुसार प्रत्येक पंचायत-समिति के लिये एक विकास अधिकारी व अन्य विस्तार-अधिकारियों की नियुक्ति करेगी तथा उनकी सेवायें पूरी तरह राज्य-सरकार के नियंत्रण में होंगी, हाँ, समिति के प्रधान को यह अधिकार होगा कि वह उसके काम के बारे में राज्य-सरकार के पास गुप्त प्रतिवेदन जिला विकास अधिकारी के द्वारा भेज सकता है तथा सरकार से विकास अधिकारी के स्थानांतरण की सिफारिश कर सकता है।

शक्तियाँ—विकास अधिकारी को दो प्रकार की शक्तियाँ दी गई हैं—साधारण और आपातकालीन। उसकी साधारण शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) प्रधान तथा स्थायी समितियों के अध्यक्षों के आदेशों के अनुसार पंचायत-समिति अथवा स्थायी-समितियों की बैठकों के लिये सूचना निकालना,

(२) ऐसी समस्त बैठकों में उपस्थित होना तथा उनकी कार्यवाही को लिखवाना व सुरक्षित रखना, तथा उनके विचार विमर्श में भाग लेना,

(३) यदि प्रधान उसे न रोके तो पंचायत समिति की निधि में से धन निकालना व उसे वितरित करना,

(४) पंचायत-समिति के आदेशों के अनुसार उसकी ओर से संविदायें करना,

(५) पंचायत समिति की ओर से समस्त कागजों को प्रमाणित करना,

(६) पंचायत समिति की निधि के बारे में देख-रेख रखना व चोरी आदि की सूचना रखना, तथा लेखापरीक्षण के समय ध्यान में लाई जाने वाली अनियमितताओं को दूर करना,

(७) राज्य सरकार, जिला परिषद या अन्य किसी संबंधित अधिकारी के सामने पंचायत समिति व स्थायी समितियों के प्रस्तावों व निर्णयों आदि की प्रतिलिपियाँ पेश करना,

(८) खंड की पंचायतों का निरीक्षण करना तथा पंचायत समिति के अंतर्गत आने वाले समस्त कार्यों की देखभाल करना।

आपातकालीन शक्तियाँ

यदि प्रधान अनुपस्थित हो तो विकास अधिकारी आपात् की स्थिति में जैसे, आग, बाढ़ या रोग की अवस्था में ऐसे कार्य करने की आज्ञा दे सकता है जिनके लिये साधारणतया पंचायत समिति की स्वीकृति आवश्यक होती है।

सरकारी अधिकारियों को बुलाने की शक्ति

यदि पंचायत समिति या उसकी किसी स्थायी समिति को यह आवश्यक प्रतीत हो कि विचार जानने या सूचना प्राप्त करने के लिये जिला-स्तर के किसी अधिकारी को बुलाना आवश्यक है तो वह उसको १५ दिन पहले सूचना देगी तथा बुलाये गये अधिकारी के लिये उपस्थित होना अनिवार्य होगा।

पंचायत समिति के कर्मचारी

अधिनियम में बताया गया है कि चपरासियों की नियुक्ति सीधे विकास अधिकारी कर सकेगा तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति राजस्थान-पंचायत समिति और जिला परिषद सर्विस के लिये चुने गये लोगों में से होगी। पदों का निर्माण व उनके वेतन भत्ते का निश्चय राज्य सरकार करेगी तथा इस प्रकार नियुक्त कर्मचारी स्थायी सेवाओं के सदस्य माने जायेंगे।

पंचायत समिति की आय के साधन

पंचायत समितियों को अपने लिये धन संग्रह करने का अधिकार दिया गया है। वे अपने व्यय के लिये निम्न साधनों से धन प्राप्त कर सकती हैं—

(१) राज्य सरकार अपने जिन कामों को उसके द्वारा कराती है उनके लिये अनुदान,

(२) राज्य सरकार द्वारा निश्चित अनुदान,

(३) खादी ग्रामोद्योग कमीशन, हाथकर्घा बोर्ड, लघु उद्योग बोर्ड व राज्य सरकार की इसी प्रकार की संस्थाओं से ग्रामोद्योगों आदि के लिये प्राप्त होने वाली राशियाँ,

(४) राज्य सरकार द्वारा दिये जाने वाले या उसके अनुमोदन से पंचायत समिति द्वारा लिये जाने वाले ऋण,

(५) किसी भी ओर से प्राप्त होने वाले दान,

(६) राज्य सरकार द्वारा संग्रह किये जाने वाले भू-राजस्व में से खंड की जनसंख्या पर प्रतिव्यक्ति २५ नये पैसे की दर से प्राप्त होने वाली रकम,

(७) कर और शुल्क,

(८) चल और अचल संपत्ति की बिक्री से होने वाली आय,

(९) खंड में जानवरों की हड्डियों के इकट्ठा करने के लिये दिये गये पट्टों से होने वाली आय,
(१०) अधीन पंचायतों के निर्णयों के विरुद्ध सुनी जाने वाली अपीलों से होने वाली आय,
(११) मनोरंजन कर,
(१२) अन्य साधन जो समय-समय पर निश्चित किये जायें।

पंचायत समिति की कार्यप्रणाली

पंचायत समिति अपने कामों को करने के लिये निम्न स्थायी समितियों का संगठन करती है—

(१) उत्पादन कार्यक्रम,
(२) समाज सेवायें,
(३) वित्त, करारोपण और प्रशासन,
(४) अन्य जिन्हें वह आवश्यक समझे।

स्थायी-समिति—स्थायी समिति में सात सदस्य होते हैं तथा उनमें अधिक से अधिक दो सदस्य पंचायत समिति के सदस्यों के अतिरिक्त हो सकते हैं, इनका सहवरण योग्यता के आधार पर किया जायेगा। स्थायी-समिति का एक अध्यक्ष होता है। स्थायी समिति का कार्यकाल पंचायत समिति के कार्यकाल के बराबर ही होगा। उसके सदस्यों में से एक तिहाई के लगभग प्रत्येक वर्ष निवृत्त हो जायेंगे।

पंचायत समिति को यह अधिकार है कि वह अपनी किसी भी स्थायी समिति से आवश्यक अभिलेख मंगा सके। वह पंचायतों के द्वारा अपने कामों को पूरा करा सकती है।

पंचायत समिति प्रत्येक वर्ष अपने लिये एक बजट पास करती है तथा उसे जिला परिषद् के विचार के लिये भेजती है। परिषद् यदि उसमें कोई परिवर्तन का सुझाव देती है तो पंचायत समिति उस पर विचार करती है तथा जैसा उचित समझती है वैसा बजट अंतिम रूप में पारित कर लेती है। राज्य-सरकार को अधिकार है कि वह उस बजट में हस्तक्षेप कर सके। इतना ही नही वह उसके प्रत्येक कार्य में दखल दे सकती है। वह उसे तोड़ भी सकती है।

(५) जिला परिषद्

राजस्थान में जिला बोर्ड तोड़ कर नई जिला-परिषदें बनाई गई हैं। प्रत्येक जिले में एक जिला-परिषद् है जिसके सदस्य निम्न प्रकार के लोग होते हैं—

(१) जिले की समस्त पंचायत-समितियों के प्रधान,
(२) जिले में रहने वाले राज्य-सभा (Council of States) के सदस्य,
(३) जिले के किन्हीं निर्वाचन क्षेत्रों से चुने गये लोक-सभा के सदस्य,

(४) जिले से चुने गये राज्य-विधान सभा के सदस्य,

(५) जिले के केन्द्रीय-सहकारी बैंक का अध्यक्ष,

ये सब सदस्य मिलाकर कुछ और सदस्यों को मनोनीत कर सकते हैं। मनोनीत सदस्य इस प्रकार होते हैं—

(१) यदि जिला-परिषद् में एक महिला-सदस्य हो तो एक महिला और यदि कोई महिला न हो तो दो महिलाएं,

(२) यदि जिला-परिषद् का कोई सदस्य परिगणित-जातियों में मे न हो तो उनमें से एक सदस्य,

(३) यदि जिला-परिषद् में परिगणित ट्राइब्स (जन-जातियों) का कोई सदस्य न हो तथा जिले में इन ट्राइब्स की आबादी ५% हो तो उनमें से एक सदस्य,

(४) दो ऐसे व्यक्ति जो प्रशासन, सार्वजनिक-जीवन या ग्राम-विकास में अनुभवी हों और जिनकी उपस्थिति जिला-परिपद् के लिए लाभदायक हो सकती है,

(५) जिले का विकास अधिकारी भी जिला-परिषद् का पदेन सदस्य होता है परन्तु उसे मत देने का अधिकार नहीं है,

(६) किसी पंचायत समिति का प्रधान यदि जिला-परिषद् का प्रमुख निर्वाचित हो जाये तो वह पंचायत-समिति का प्रधान नहीं रहता परन्तु वह जिल-परिषद् का प्रमुख तथा उसका अतिरिक्त सदस्य बना रहेगा।

जिला परिषद् के अधिकारी—जिला परिषद् के सदस्य अपने में से ही एक प्रमुख और एक उप-प्रमुख का निर्वाचन करते हैं। इनका निर्वाचन करने के लिए परिषद् की सभा कमिश्नर बुलाता है तथा उसमें वह स्वयं या अतिरिक्त कमिश्नर अध्यक्षता करता है।

कार्य अवधि—जिला परिषद् और उसके अधिकारियों का कार्यकाल तीन वर्ष होगा। परिषद् अपने दो तिहाई बहुमत से अपने प्रमुख और उप-प्रमुख के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हें हटा सकती है।

कार्य प्रणाली—जिला-परिषद् की बैठकें अनेक बार हो सकती हैं परन्तु उसकी दो बैठकों में तीन-मास से अधिक समय का अन्तर नहीं होना चाहिए। वह अपने कार्यों की पूर्ति के लिये उप-समितियाँ बना सकती है।

सचिव—राज्य सरकार प्रत्येक जिला-परिषद् के लिए एक ऐसे व्यक्ति को सचिव मनोनीत करेगी जो राज्य-सेवाओं का सदस्य हो। यह सचिव निम्न शक्तियों का प्रयोग करेगा—

(१) प्रमुख के आदेश पर परिषद् या उसकी उप-समितियों की बैठकें बुलाना,

(२) इन बैठको में सम्मिलित होना और उनकी कार्यवाही लिखना,

(३) जिला परिषद् और उसकी उपसमितियो के निर्णयों को क्रियान्वित करना,

(४) धन का लेन-देन,

(५) दूसरी शक्तियां जो उसे दी जायें।

जिला परिषद् के कार्य व शक्तियां—जिला-परिषदें निम्न कार्य करने की शक्ति रखती हैं—

(१) अपने क्षेत्र में आने वाली पंचायत-समितियों के आय व्ययक (Budget) की नियमानुसार परीक्षा,

(२) राज्य सरकार द्वारा जिले को मिलने वाले अनुदानों की राशि को पंचायत-समितियों में बाँटना,

(३) पंचायत समितियों की योजनाओं में समन्वय और एकरूपता पैदा करना,

(४) पंचायतों और पंचायत समितियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना,

(५) राज्य सरकार द्वारा सौंपे गये विकास कार्यो को पूरा करना,

(६) पंचायतों और पंचायत-समितियों के बीच मेलों तथा सड़कों का वर्गीकरण,

(७) अपने क्षेत्र की पंचायतों और समितियों का निरीक्षण,

(८) जिले में पंचायतों के पंचों और सरपंचों के शिविर लगाना,

(९) पंचायतों व पंचायत-समितियों के बारे में राज्य सरकार को परामर्श देना,

(१०) जिले के विकास कार्य की देखभाल,

(११) अन्य।

जिला परिषद् की आय के साधन—जिला परिषद् को निम्न साधनों से धन प्राप्त होता है—

(१) राज्य-सरकार से अनुदान,

(२) पंचायत समितियों या जनता द्वारा दी गई सहायता।

जिला परिषद् पंचायतों और राज्य-सरकार के बीच की कड़ी है उसकी जिम्मेदारियाँ बहुत कम हैं। वह प्रधानतः समन्वय और निरीक्षण का काम करती है।

प्रमुख तथा उप-प्रमुख की शक्तियां व कार्य—किसी जिला-परिषद् का प्रमुख अनेक कार्य करेगा तथा उसके पास उन कामों को करने की शक्ति होगी। प्रमुख की अनुपस्थिति में, उसके अवकाश पर जाने की दशा में या उसका पद रिक्त होने पर उप-प्रमुख प्रमुख की शक्तियों का प्रयोग करेगा। यदि दोनों के पद रिक्त हों या दोनों अवकाश पर हों तो उस स्थिति में जिला परिषद् अपने सदस्यों में से एक अस्थायी-प्रमुख का निर्वाचन करेगी जो प्रमुख की शक्तियों का प्रयोग करेगा तथा उस समय तक अपने पद को धारण करेगा जब तक कि नियमित रूप से प्रमुख

अथवा उप-प्रमुख निर्वाचित न हो जाय तथा अपना पद ग्रहण न कर ले। प्रमुख के कार्य इस प्रकार होंगे—

(१) जिला परिषद् की बैठकें बुलाना, उसकी अध्यक्षता करना और बैठकों का संचालन करना,
(२) उसके अभिलेखों को आवश्यक समझने पर देखना,
(३) उसके सचिव और सचिवालय में काम करने वाले कर्मचारियों पर प्रशासनिक नियंत्रण रखना,
(४) पंचायतों में अभिक्रम पैदा करने के लिए चेष्टा करना तथा उन्हें उनके कामों को पूरा करने के लिए प्रोत्साहित करना,
(५) जिले की पंचायत समितियों के कार्यों का मूल्यांकन करना, तथा उस कार्य को पूरा करने के लिये जिले के खण्डों का दौरा करना व पंचायत समितियों के कामों व अभिलेखों का निरीक्षण करना,
(६) प्रत्येक वर्ष के अन्त में सचिव के कार्यों का व्यौरा जिला विकास अधिकारी के पास भेजना जो उसे अपने गुप्त प्रतिवेदन के साथ राज्य सरकार को भेजेगा,
(७) राज्य सरकार द्वारा सौंपी गई अन्य शक्तियों का प्रयोग करना।

जिला विकास अधिकारी की शक्तियां—जिला परिषदों के बारे में जिला विकास अधिकारी को निम्न शक्तियां दी गई हैं—

(१) जिला विकास अधिकारी और राज्य विकास विभाग के समस्त अधिकारियों को अधिकार होगा कि वे जिला परिषद की उपसमितियों की बैठकों में उपस्थित हो सकें तथा उनके विचार विमर्श में भाग ले सकें, इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि जिला परिषद को भी यह अधिकार दिया गया है कि यदि वह आवश्यक समझे तो जानकारी प्राप्त करने या विचार विमर्श करने के लिए वह डिविजन स्तर के किसी अधिकारी को १५ दिन पूर्व अपनी बैठकों में उपस्थित होने के लिए सूचित कर सकती है, ऐसी स्थिति में निमंत्रित अधिकारी उपस्थित होने ने लिए बाध्य होगा, तथापि वह उचित समझे तो स्वयं उपस्थित होने के स्थान पर अपने सहायक को आवश्यक सूचना के साथ सभा में भाग लेने के लिए भेज सकता है,
(२) जिला विकास अधिकारी को यह अधिकार है कि वह जिले के विभिन्न विकास कार्यों के बीच समन्वय की स्थापना करे तथा पंचायतों, पंचायत-समितियों व जिला परिषद् के द्वारा किये जाने वाले विनिश्चयों एवं संकल्पों को क्रियान्वित करने प्रगति की जांच कर सके, तथा यदि आवश्यक समझे तो जिला परिषद् को इस बारे में अपने सुझाव दे,

(३) वह यह जांच करेगा कि उसके जिले में पंचायत समितियों द्वारा निर्धारत राशियां ठीक ढंग से व्यय की जा रही हैं या नहीं तथा विकास-अधिकारी व उसका दल अपने कार्यो को ठीक ढंग से पूरा कर रहा है या नहीं,

(४) जिला परिषद को अपनी जांच की रिपोर्ट भेजेगा,

(५) ऐसे अन्य कार्य करेगा जो उसे राज्य सरकार द्वारा सौपे जायें।

जिला परिषदों के कर्मचारी—अधिनियम में कहा गया है कि जिला परिषदों के कर्मचारियों की नियुक्ति राजस्थान पंचायत समिति और जिला-परिषद सर्विस के लिए चुने गये व्यक्तियों में से की जायेगी तथा चपरासियों की नियुक्ति सचिव कर सकेगा।

राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद-सेवा

सम्पूर्ण राज्य के लिये इस नाम से एक सेवा का संगठन किया गया है। इसके लिये जिलेवार भर्ती की जाती है। इसमें निम्न सेवायें होती हैं—

(१) ग्राम सेवक, ग्राम सेविका,

(२) प्राथमिक पाठशालाओं के अध्यापक व अध्यापिकायें,

(३) क्लर्क,

(४) फील्डमैन,

(५) स्टाकमैन,

(६) टीका लगाने वाले।

इनके भीतर चपरासियों को छोड़कर अन्य सभी कर्मचारी व अधिकारी आजाते हैं। इन पदों पर नियुक्तियां सीधी भर्ती द्वारा, पदोन्नति द्वारा या स्थानान्तरण द्वारा की जाती हैं। सीधी भर्ती के द्वारा निम्न तीन सदस्यों का एक आयोग होगा जिसका नाम 'राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद सेवा आयोग' होगा—

(१) राज्य सरकार द्वारा नियुक्त ऐसे दो व्यक्ति जिनमें से कम से कम एक राज्य की सेवा में हो या रह चुका हो तथा जो निर्धारित योग्यता को पूरा करते हों, ऐसे सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष होगा, इस अवधि को बढ़ाया नहीं जा सकेगा, तथा

(२) जिस जिले के लिये कर्मचारी छांटे जा रहे हों उसकी जिला-परिषद का प्रमुख।

राज्य सरकार अपने द्वारा नियुक्त दो सदस्यों में से एक को आयोग का अध्यक्ष मनोनीत करेगी।

राज्य सरकार की शक्तियां

राज्य सरकार ने अधिनियम में अपने लिये निम्न शक्तियां रखी हैं—

(१) पंचायत समितियों के संकल्पों को रद्द करने या निलंबित करने की शक्ति,

(२) पंचायत समिति अथवा जिला परिषद की अधिक्रमित या भंग करने की शक्ति,

(३) समिति या परिषद के किसी भी स्थान या कार्यालय में प्रवेश तथा निरीक्षण की शक्ति,

(४) पंचायत समिति या जिला परिषद द्वारा बनाये गये उपनियमों को स्वीकार या अस्वीकार करने, अथवा उनको भंग करने की शक्ति,

(५) राज्य सरकार को यह शक्ति होगी कि वह पंचायत समिति या जिला परिषद की किसी कार्यवाही को नियमानुसार संशोधित कर सकेगी तथा उसका पुनर्निरीक्षण कर सकेगी,

(६) अनुशासन की कार्यवाही के लिए दिये जाने वाले दंड के नियम बनाने की शक्ति,

(७) अधिनियम के अंतर्गत किसी कठिनाई के उपस्थित होने पर उसे दूर करने की शक्ति।

राजस्थान सरकार के मुख्य-सचिव का मन्तव्य

पंचायत-समितियों और जिला परिषदों के निर्माण के समय राजस्थान के मुख्य सचिव श्री भगवतसिंह मेहता ने कहा था—

"व्यक्ति को काबू में रखने के केवल दो ही उपाय हैं। या तो उस पर कोई दूसरा व्यक्ति नियंत्रण रखे या फिर वह स्वयं दूसरे लोगों के साथ किसी आम समझौते द्वारा अपने पर अनुशासन रखे। हमने लोकतन्त्रीय व्यवस्था का मार्ग अपनाया है इसलिए भावी प्रशासन की ऐसी नई व्यवस्था लागू करने के लिए सत्ता का विकेन्द्रीयकरण कोई नया प्रयोग मात्र ही नहीं है जो जनता की जरूरतों को पूरा कर सके और जनसमुदाय में आत्मविश्वास एवं अपनी सहायता आप करने की भावना का विकास कर सके। स्वतन्त्रता का लाभ सबको तुरन्त और सब जगह महसूस होना चाहिए। इसे किसी एक धारा में डालने का अर्थ इसकी सदा प्रवाहमान गति में विघ्न डालना और उसे कृत्रिम बना देना होगा। इसलिए स्वायत्त शासन की त्रिसूत्री योजना को लागू करना ही एक मात्र ऐसा लोकतंत्रीय मार्ग है जो हमारे चारों ओर फैले एकतन्त्रवाद का प्रभावशाली उत्तर है।

ग्रामीण संस्थाएं ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का अभिन्न अंग रही हैं जब तक कि अंग्रेजों द्वारा उनके स्थान पर योग्य किन्तु केन्द्रीभूत प्रशासन व्यवस्था लागू नहीं कर दी गई। गत ६० या ७० वर्षों में स्थानीय स्वशासन का नया स्वरूप विकसित हुआ है। इसका गठन एवं कार्य प्रायः सब जगह एक से ही थे। स्थानीय स्वशासन संस्थाओं में चुने हुए सदस्य होते थे और कुछ सरकार द्वारा नामजद। उनका कार्य भी एक प्रकार से कतिपय प्रतिवन्धों के अधीन हुआ करता था। वे सदा ही, विशेषकर जिला स्तर पर सरकारी नियन्त्रण और निर्देशों के अनुसार कार्य

करती थीं। इसलिए इन संस्थाओं में आत्मविश्वास की उस भावना का अभाव रहा जो किसी प्रतिनिधि संस्था की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बाद के कुछ वर्षों में यद्यपि स्थानीय संस्थाओं को कुछ अधिक सत्ता सौंप दी गयी थी किन्तु पहले जो भय और अवचेतन एव दमित अविश्वास की भावना उनमें पैदा हो गयी थी उसके कारण उनका भली प्रकार विकास नहीं हो सका। साथ ही उनमें कोई एकसूत्रता भी नही थी। कर्मचारियों एवं जनता के प्रतिनिधि सदस्यों के बीच हितों की समानता का अभाव स्पष्ट झलकता था।

विकेन्द्रीयकरण की किसी भी योजना में यह तथ्य भली भांति समझ लिया एवं स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि सारी सत्ता जनता में निहित है और केवल उन्हीं कार्यों पर सरकार का अधिकार रहना चाहिये जो कार्य स्थानीय संस्थाएं योग्यतापूर्वक पूरे नही कर सकतीं। स्थानीय संस्थायें किसी विभाग या ठेकेदार की तरह सरकार की कोई एजेन्सी नहीं समझी जानी चाहियें। वस्तुतः यह ग्राम या खंड स्तर पर जनता की प्रतिनिधि लोकतन्त्रीय सरकार है। इन संस्थाओं के प्रति ऐसी आस्था रखने पर ही इनमें पहल करने की चेतना आत्मविश्वास और जन समुदाय के हित के लिए काम करने की क्षमता का विकास हो सकता है।

यह ठीक ही कहा गया है कि अधूरे मन से या ठहर ठहर कर उठाये गये कदम कभी कारगर नहीं हो सकते। एक बार लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार करने के बाद लोकतन्त्रीय व्यवस्था एवं जनता की योग्यता में पूरी आस्था के बाद इसे क्रियान्वित किया जाना चाहिए। यह भावना नहीं रखनी चाहिए कि यह एक प्रयोग है जिसे अभी परखा जा रहा है। इसी पृष्ठभूमि में सारे राजस्थान में २ अक्टूबर, १९५९ से २३२ पंचायत समितियां और २६ जिला परिषदों का गठन किया जाएगा। सारे राज्य में ग्राम पंचायतें पहले ही स्थापित की जा चुकी हैं।

इस योजना के अनुसार ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत प्रशासनिक इकाई के रूप में मान्य होगी और जहां उसके अधिकार क्षेत्र में एक से अधिक गाँव होंगे वहां ग्राम समितियों के माध्यम से वह काम करेगी। सभी हितों का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से इन समितियों के सदस्य पंचायत द्वारा नामजद किये जायेंगे। विकास खण्ड स्तर पर पंचायत समिति में ग्राम पंचायतों के सरपंच सदस्य होंगे जो सीधे जनता द्वारा निर्वाचित है। इनके अलावा कृषि, अनुसूचित जाति, जन जातियों, महिलाओं आदि विशेष हितों के प्रतिनिधि भी पंचायत समिति के सदस्य होंगे जिन्हें नामजद करने का अधिकार सरकार को न होकर स्वयं समिति के सदस्यों को होगा। ज़िला स्तर पर जिला परिषद् एक प्रकार से वरिष्ठ सदन होगा जिसमें उस क्षेत्र की पंचायत समितियों के प्रधान, लोक-सभा एवं विधान सभा के सदस्य होंगे। जिला कलेक्टर भी परिषद् का सदस्य होगा किन्तु उसे मत देने का अधिकार नही होगा।

ग्राम स्तर पर विकास कार्यक्रमों का आयोजन करने तथा उन्हें क्रियान्वित करने के लिए पंचायत ही आधारभूत संस्था होगी। पंचायत समिति उस क्षेत्र के लिए कार्यक्रम तैयार करेगी और उन्हें पंचायतों और कार्यकारी समितियों के द्वारा क्रियान्वित करेगी। यह ग्राम संस्थाओं के कार्य की देखरेख करेगी और उन्हें धन एवं टैक्नीकल व प्रशासनिक सहायता उपलब्ध करेगी। समिति को पंचायत की भाँति ही, अपना वार्षिक आय व्ययक तथा विकास कार्यक्रम तैयार करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। हाँ, ये सारी योजनाएँ राज्य की योजना के व्यापक ढांचे के अनुरूप ही होंगी। यह भी देखा जायगा कि दोनों संस्थाओं के बीच कार्य में कहीं दोहरान तो नहीं हो रहा है।"

नगरपालिका

नगरों की व्यवस्था के लिए नगर के नागरिकों द्वारा नगरपालिका का निर्माण किया जाता है तथा राज्य-सरकार उसे मान्यता प्रदान करती है। राजस्थान में देश की स्वतन्त्रता के पूर्व स्थानीय स्वायत्त शासन का शहरों में बहुत विकास नहीं हुआ था, फिर भी यहाँ के प्रमुख नगरों में नगरपलिकाएं स्थापित की गई थीं, जैसे—जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, कोटा आदि। राजस्थान के निर्माण के समय यहां १०७ नगरपालिकाएं थीं परन्तु आजकल उनकी संख्या १६० के लगभग है।

सन् १६५६ में राजस्थान विधान सभा ने टाउन-म्युनिसिपल ऐक्ट पास किया जिसके आधार पर ५००० की आबादी वाले छोटे नगरों में भी नगरपालिकाओं की स्थापना की गई है।

चुनाव—नगरपालिका के सदस्यों का निर्वाचन नागरिक विभिन्न वार्डों में गुप्त मतदान प्रणाली के आधार पर करते हैं। वोट देने का अधिकार उस व्यक्ति को होता है जो भारत का नागरिक हो और नगर में कम से कम १८० दिन से निवास कर रहा हो। स्त्री-पुरुष सब लोग मतदान करते हैं।

निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त कुछ सदस्यों को राज्य सरकार मनोनीत कर सकती है जैसे स्त्रियां व पिछड़ी जाति के सदस्य।

अध्यक्ष व उपाध्यक्ष—नगरपालिका के दो पदाधिकारियों अध्यक्ष व उपाध्यक्ष का निर्वाचन नगर की जनता प्रत्यक्ष रूप से गुप्त मतदान प्रणाली से करती है।

अध्यक्ष नगरपालिका का सर्वोच्च अधिकारी होता है, वह नगर का प्रथम व्यक्ति माना जाता है। नगरपालिका का सभी कार्य उसके नाम पर होता है, वह उसकी सभा बुलाता और उसमें अध्यक्षता करता है। नगरपालिका की ओर से राज्य सरकार के साथ सारा पत्र व्यवहार उसी के नाम से होता है। नगरपालिका की सभाओं में किसी प्रस्ताव पर मतदान के समय यदि समान मत प्राप्त होते हैं तो वह निर्णायक-मत (Casting Vote) देकर निर्णय करता है।

अध्यक्ष नगरपालिका के पूरे समय अर्थात् तीन वर्ष तक अपने पद पर बना

रह सकता है, परन्तु पालिका के सदस्य यदि चाहें तो उस पर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे हटा सकते हैं। यदि वह बिना पूर्व अनुमति लिए एक मास तक अपने पद से अनुपस्थित रहता है तो राज्य सरकार उसे हटा सकती है। उसे अपने कार्यालय में निर्धारित वेतन दिया जाता है, वह कोई सरकारी नौकरी नहीं कर सकता है।

अध्यक्ष अपने मंत्री और अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति राज्य सरकार की अनुमति लेकर करता है। जिन नगरपालिकाओं में कार्यकारी अधिकारी (Executive Officer) नहीं होता वहाँ अध्यक्ष उसके कार्य भी करता है।

उपाध्यक्ष अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसके पद से सम्बन्धित कार्य करता है। इसके अतिरिक्त दिन-प्रतिदिन वह अध्यक्ष द्वारा सौंपे गये कार्य करता है। उसे भी अविश्वास का प्रस्ताव पास करके पद से हटाया जा सकता है। यदि वह बिना इजाजत लिये दो मास तक नगरपालिका के अपने कार्यों से अनुपस्थित रहता है तो उसे भी राज्य सरकार द्वारा हटा दिया जायेगा। उसका कार्यकाल भी तीन वर्ष है।

नगरपालिका की अवधि—नगरपालिका का चुनाव हर तीन वर्ष पश्चात् होता है, इस प्रकार हर तीन वर्ष पश्चात् उसका नया गठन होता है।

नगरपालिका की कार्यवाही—नगरपालिका के सारे निर्णय उसके सदस्य बहुमत से करते हैं। सदस्यों की बैठक प्रति मास बुलाना अनिवार्य है परन्तु अध्यक्ष चाहे तो शीघ्र भी बैठक बुला सकता है। यदि उसके १/३ सदस्य लिखकर अध्यक्ष से बैठक बुलाने का अनुरोध करें तो १५ दिन के भीतर बैठक बुलाता है, यदि वह न बुलाये तो उपाध्यक्ष २१ दिन के भीतर बैठक बुला सकता है।

साधारण बैठकों में १/३ सदस्यगण पूर्ति (कोरम) के लिए काफी समझे जाते हैं परन्तु विशेष बैठकों में १/२ सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। सभा प्रारम्भ होने के समय से १५ मिनट के भीतर यदि गणपूर्ति न हो तो सभा स्थगित हो जाती है।

सभा की बैठकें सब के लिए खुली होती हैं, गोपनीय बैठकें बन्द कमरे में की जा सकती हैं।

नगरपालिका के अधिकार व कार्य—नगरपालिका को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपने किसी भी कर को हटा सके या स्थगित कर सके। वह राज्य सरकार की अनुमति ने उपनियम तैयार कर सकती है। जनता के स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर अध्यक्ष दुकानों, दुग्धशालाओं, भोजनालयों, होटलों, जलपान गृहों व माँस गृहों का निरीक्षण कर सकता है। नगरपालिका अनेक कामों के लिए आज्ञा पत्र (Licence) जारी करती है, नाप-तौल के प्रमाणों और बाँटों की जाँच करा सकती है, वेश्यावृत्ति को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठा सकती है। उसकी

सीमा में प्रत्येक भवन उसकी अनुमति से बनता है और उसका नक्शा वह मंजूर करती है। वह किसी भी मार्ग को बन्द कर सकती है एवं किसी रास्ते को सीधा करने के लिए मुआवजा देकर मकान गिराने का आदेश भी दे सकती है।

इनके अतिरिक्त नगरपालिकायें अनेक कार्य करती हैं जो (१) अनिवार्य तथा (२) ऐच्छिक दो श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं।

अनिवार्य श्रेणी में निम्न कार्यों का समावेश होता है—स्वास्थ्य रक्षा, यातायात की व्यवस्था और मार्गों का निर्माण, जल व प्रकाश की व्यवस्था, जन्म-मृत्यु का विवरण रखना, अनाथों व अपाहिजों की व्यवस्था, प्रसूति गृह आदि खोलना तथा प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करना।

नगरपालिका के ऐच्छिक कार्यों में निम्न कार्य आते हैं—उद्यान व वाटिकायें तथा मनोरजनशालाओं का निर्माण; मकान व दूकानें बनवाना, उद्योग-धन्धों का विकास तथा उनके लिए ऋण आदि देना, सड़कों पर वृक्ष व पार्क लगाना आदि।

नगरपालिका की आय के स्रोत—नगरपालिका की आय निम्न साधनों से होती है—

(१) यातायात कर,
(२) मनोरजन कर,
(३) चुंगी,
(४) लाइसेन्स शुल्क,
(५) भवन-कर (House Tax),
(६) पशु-कर,
(७) जुर्माने,
(८) राज्य सरकार से प्राप्त सहायता,
(९) भूमि व मकानों का किराया,
(१०) ऋण।

अधिकांश नगरपालिकाओं की स्थिति अच्छी नहीं है, इस दिशा में प्रयत्न हो रहा है।